प्रकाशक :-
आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, लुधियाना।

प्रथम प्रवेश १०००
वीर सम्वत २४९०
विक्रम सम्वत २०२१

मूल्य चार रुपया

प्राप्ति-स्थान :—
आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, लुधियाना। (पंजाब)

किस को ?

जिन की अध्यात्म साधना,
तथा आदर्श ज्ञान-आराधना,
के अनुपम प्रकाश को पाकर,
मैं अपनी जीवन – यात्रा में,
चलता चला आ रहा हूं।

उन परम श्रद्धेय आचार्य–सम्राट् गुरुदेव

पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

के पवित्र चरण–कमलों में

स वि न य

स भ क्ति

स म र्पि त

–ज्ञान मुनि

* धन्यवाद *

"प्रश्नों के उत्तर" (द्वितीय खण्ड) के प्रकाशन में जिन दानी सज्जनों ने दान देने की कृपालुता की है, उन दानी सज्जनों के शुभ नाम इस प्रकार हैं—

१ वहिन राम मूर्ति जैन, धर्मपत्नी ला० नसीब चंद जी जैन मोगा।
२ सेठ प्यारे लाल जी अग्रवाल मोगा।
३ सेठ कस्तूरी लाल जी अग्रवाल जगराओं।
४ सेठ त्रिलोक चन्द्र जी अग्रवाल, ठेकेदार भट्ठे वाले।
मैनेजर—जैन स्थानक फिलौर।
५ श्रीमती दर्शनादेवी जैन, धर्मपत्नी सेठ मणिलाल जी अग्रवाल बुढलाडा मण्डी
६ श्री चन्द्रभान जी अग्रवाल, तलवण्डी।
७ श्री वारूमल जी तख्तुपुरा
८ श्री ज्ञानी राम जी तख्तुपुरा

मैं समिति की ओर से इन सभी दानी सज्जनों का हृदय से धन्यवादी हूं और आशा करता हूं कि आप सब महानुभाव भविष्य में भी धार्मिक साहित्य के प्रकाशन में इसी तरह अपना सहयोग देते रहेंगे।

पन्ना लाल जैन
मंत्री
आचार्य श्री आतमा राम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, लुधियाना।

प्रकाशकीय

हम सहर्ष पाठकों के कर-कमलों में श्रद्धेय श्री ज्ञान-मुनि जी महाराज द्वारा विनिर्मित "प्रश्नों के उत्तर" का द्वितीय खण्ड प्रस्तुत कर रहे हैं। इस पुस्तक का प्रकाशन हमारा प्राथमिक प्रयास है। ऐस०ऐस० जैन बरादरी लुधियाना द्वारा निर्वाचित "आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति" का निर्माण हुए अभी थोड़ा समय हुआ है। हमें हार्दिक प्रसन्नता अनुभव हो रही है कि इस समिति ने अल्प समय में ही यह अनुपम ग्रन्थरत्न पाठकों के समक्ष ला दिया है।

उक्त समिति का मूल उद्देश्य महामहिम, जैनधर्म-दिवाकर, साहित्यरत्न, जैनागम—रत्नाकर, जैनजगत के मनोनीत अध्यात्म नेता आचार्य-सम्राट् परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा लिखित, अनुवादित तथा सम्पादित ग्रन्थों को प्रकाशित करना है। इसके अलावा, यह समिति अन्य सुप्रसिद्ध मनोनीत लेखकों की अध्यात्म कृतियों को भी प्रकाशित करने का विचार रखती है। वस्तुतः समिति का ध्येय तो ऐसे सुगम साहित्य का निर्माण करना है जो मानव का भविष्य सुन्दर, सुखद और स्वस्थ बना सके।

प्रस्तुत पुस्तक "प्रश्नों के उत्तर" दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड छप चुका है। यह द्वितीय खण्ड आप की सेवा में उपस्थित है। परमश्रद्धेय आचार्य भगवान पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के सुशिष्य प्रसिद्ध वक्ता, श्रद्धेय श्री ज्ञान मुनि जी महाराज ने प्रथम खण्ड की भाँति इस द्वितीय खण्ड में भी समय-समय पर सामने आने वाले प्रश्नों को लिख कर उनके उत्तर तैयार किए हैं।

आज के हिन्दी युग में ऐसी पुस्तक की महान आवश्यकता थी। विद्वान मुनि श्री ने अपने अनवरत परिश्रम द्वारा इस आवश्यकता को पूर्ण करने का स्तुत्य प्रयास किया है, इस के लिए हम मुनि श्री के अत्यन्त आभारी हैं।

पन्नालाल जैन
मंत्री-आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, लुधियाना।

किसने क्या कहा ?

जयपुर से 'अहिंसा' नाम का एक पाक्षिक पत्र निकलता है, पत्र के सम्पादक-इन्द्र लाल जी शास्त्री, विद्यालंकार हैं। इस पत्र में ता० १ फरवरी १९६३ के अंक में "प्रश्नों के उत्तर" (प्रथम खण्ड) की समालोचना छपी है। वह पाठकों की जानकारी के लिए ज्यों की त्यों उद्धृत की जा रही है—

"प्रस्तुत पुस्तक में तल-स्पर्शी, बहुश्रुत विद्वान लेखक ने प्रायः समस्त भारतीय दर्शनों पर विवेचन कर के जैन दर्शन की विशिष्टता तुलनात्मक दृष्टि से बताई है। जगत की अनादिता, कर्म-सिद्धान्त, ईश्वर-विचार, भागवतादि ग्रन्थों में जैनधर्म का उल्लेख आदि विषयों पर पर्याप्त गवेषणा के साथ प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त, लेखक ने अपने सम्प्रदाय सम्बन्धी दृष्टिकोण और मान्यताओं को समझाने का प्रयत्न किया है। सारी पुस्तक पढ़ने योग्य और तत्त्वज्ञान में सहायक सिद्ध होती है। भाषा सरल व सुबोध है। ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन की आवश्यकता है।"

अपनी बात

'प्रश्नों के उत्तर' का प्रथम खण्ड पाठकों की सेवा में समर्पित किया जा चुका है। आज द्वितीयखण्ड समर्पित किया जा रहा है। पहले खण्ड में दार्शनिक और तात्त्विक चर्चा थी तथा दूसरे खण्ड में धार्मिक एवं सैद्धान्तिक विचारों की चर्चा की गई है। दोनों खण्डों में १८ अध्याय है। ९ अध्याय प्रथम खण्ड में और ९ द्वितीय खण्ड में हैं। प्रथम खण्ड की अपेक्षा द्वितीय खण्ड बड़ा हो गया है। पहले खण्ड में ३६२ पृष्ठ हैं, दूसरे में ५८२। इस तरह पूरी पुस्तक के ९४४ पृष्ठ होते हैं। इस पुस्तक में निम्नोक्त १८ अध्याय हैं—

इस पुस्तक की रचना के लिए जिन-जिन पुस्तकों का साहाय्य लिया गया है, वे ५१ पुस्तकें हैं। इन का नाम-निर्देश प्रथम-खण्ड में कर दिया गया है। जिन-जिन विद्वान मुनिराजों तथा गृहस्थों के सतत परिश्रम से लिखी पुस्तकों का सहयोग पाकर मैं अपने चिर-संकल्प को मूर्तरूप देने में सफल हो सका हूं, हृदय से मैं उन सब का आभारी हूं, धन्यवादी हूं।

दूसरे खण्ड में कुछ अध्याय ऐसे मिलेगें, जिन में केवल

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण व मान्यता का परिचय कराया गया है। यह सब कुछ लिखने का मेरा उद्देश्य केवल स्थानकवासी युवकों व युवतियों को स्थानकवासी परम्परा की मान्यताओं से परिचित करवाना है। अपनी मान्यताओं तथा मर्यादाओं से अपने सामाजिक लोगों को परिचित कराना मेरी दृष्टि में कर्तव्य की परिपालना है।

पुस्तक के सम्पादक हमारे परम स्नेही, मान्य लेखक पण्डित मुनि श्री समदर्शी जी हैं। समदर्शी जी स्थानकवासी जैन श्रमणों में एक सिद्धहस्त और लब्धप्रतिष्ठ लेखक श्रमण हैं। इन की सम्पादन कला की विशेषता मैं क्या कहूं? संक्षेप में इतना ही निवेदन किए देता हूं कि आदरणीय श्री समदर्शी जी की लेखनी का स्पर्श पाकर 'प्रश्नों के उत्तर' का कायाकल्प ही हो गया है। स्नेहास्पद श्री समदर्शी जी की इस प्रेमभरी साहित्य-साधना के लिए हृदय से मैं इन का आभारी हूं।

'प्रश्नों के उत्तर' की प्रैस कापी बनाने में वक्तृत्व कला की सजीव प्रतिमा, धर्मोपदेष्टा, परमश्रद्धेय महासती श्री चन्दा जी महाराज की सुयोग्य शिष्यानुशिष्याएं विदुषी महासती श्री लज्जावती जी महाराज तथा तपस्या भगवती की महान आराधिका, तपस्विनी महासती श्री सौभाग्यवती जी महाराज की मधुर आज्ञा पाकर मधुर गायिका महासती श्री सीता जी महाराज, मनोहर व्याख्यात्री महासती श्री कौशल्या जी महाराज, साहित्यरत्न महासती श्री महेन्द्रा जी महाराज इन पूज्य महासतियों का पर्याप्त सहयोग प्राप्त रहा है। इस चिर-स्मरणीय सहयोग के लिए मैं महासती-मण्डल का हृदय से आभारी हूं।

मैं अपने परम आराध्य, परम उपास्य, परम श्रद्धेय जैन-धर्मदिवाकर, साहित्यरत्न, जैनागमरत्नाकर, आचार्य-सम्राट् गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के पावन चरणों का बड़ा कृतज्ञ हूं।

क्योंकि मैं इन्हीं पावन चरणों के प्रताप से पुस्तक लिखने की क्षमता प्राप्त कर सका हूं। जैन दर्शन एक अगाध समुद्र है, जिस का किनारा प्राप्त करना मेरे जैसे अल्पबुद्धि के वश की बात नहीं है। तथापि इस पुस्तक में मैं जैनधर्म के सम्बन्ध में जो भी कुछ लिख सका हूं उसके पीछे मेरे धर्माचार्य आचार्य-सम्राट् श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज का प्रबल अनुग्रह ही काम कर रहा है। मेरा अपना इसमें कुछ नहीं है। इसके मूलस्रोत तो मेरे गुरुदेव श्रद्धास्पद आचार्य-सम्राट् ही हैं।

अन्त में, मैं अपने बड़े गुरुभाई, संस्कृत-प्राकृत-विशारद, पण्डित श्री हेम चन्द्र जी महाराज का आभारी हूं, जो समय-समय पर मेरा मार्ग-दर्शन करते रहते हैं और मुझे प्रत्येक दृष्टि से, पूर्णतया अपना मधुर सहयोग देते रहते हैं।

—ज्ञान मुनि।

अम्बाला शहर
महावीर जैन भवन,
भादों शुदि १२, २०२१

प्रश्नों के उत्तर

[द्वितीय खण्ड]

विषयानुक्रमणिका

सप्त कुव्यसन-परित्याग=दशम अध्याय

आगारधर्म=एकादश अध्याय

❀ ❀ ❀

अनगार-धर्म=द्वादश अध्याय

चौबीस तीर्थंकर=त्रयोदश अध्याय

स्थानकवासी और अन्य जैन सम्प्रदाएं—चतुर्दश अध्याय

जैन पर्व=पन्द्रहवाँ अध्याय

भाव पूजा=सोलहवां अध्याय

जैन-धर्म और विश्वसमस्याएं—सतरहवां अध्याय

लोक-स्वरूप—अठारहवां अध्याय

लेखक की रचनाएं

क्रम	रचना			
१.	विपाकसूत्र (हिन्दी विवेचन सहित)	६	०	०
२.	हैम-शब्दानुशासन (प्राकृतव्याकरण) (प्रैस में)			
३.	आचार्य-सम्राट् (द्वितीय संस्करण।	१	०	०
४.	सम्वत्सरी पर्व क्यों और कैसे ?	०	२	०
५.	भगवान महावीर और विश्वशान्ति (हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, अंग्रेजी)	०	२	०
६.	दीपमाला और भगवान महावीर	०	६	०
७.	दीपक के अमर सन्देश	०	६	०
८.	सच्चा साधुत्व	०	२	०
९.	प्रश्नों के उत्तर (प्रथम खण्ड)	१	१२	०
१०.	प्रश्नों के उत्तर (द्वितीय खण्ड)	४	०	०
११.	सामायिक सूत्र (व्याख्या सहित)	१	०	०
१२.	भगवान महावीर के ५ सिद्धान्त	१	०	०
१३.	जीवन-झांकी (शास्त्रार्थ-महारथी परम श्रद्धेय गणी श्री उदय चन्द जी महाराज)	०	४	०
१४.	स्थानकवासी और तेरहपन्थ	०	५	०
१५.	नित्यनियम बड़ा ५ आने, छोटा	०	२	०
१६.	ज्ञान सरोवर (भजन संग्रह)	०	४	०
१७.	ज्ञानगंगा उर्दू (भजन संग्रह)	०	२	०
१८.	सामायिक सूत्र उर्दू	०	२	०

प्राप्ति स्थान :—

आचार्य श्री आत्मा राम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, लुधियाना।

प्रश्नों के उत्तर

[द्वितीय खण्ड]

सप्त कुव्यसन परित्याग

दशम अध्याय

प्रश्न– जैनशास्त्रों ने आत्म–गुण–घातक कौन–कौन से भयंकर दोष बतलाए हैं?

उत्तर– एक बार एक आचार्य से पूछा गया कि "किं जीवनम्! " जीवन क्या है? आचार्य ने सरल और स्पष्ट भाषा में कहा 'दोष वर्जितं यत्'' अर्थात् दोषों का परित्याग करके जीना ही जीवन है। दोष जीवन के लिए कलंक है, काले धब्बे हैं। दोषयुक्त जीवन स्व और पर सब के लिए खतरनाक है। इसलिए दोषों की कालिख को धोकर जीवन-चादर को उज्ज्वल, समुज्ज्वल बनाना चाहिए। ऐसे दाष तो अनेक हैं, उनकी गणना करके निश्चित संख्या बताना कठिन है। फिर भी पूर्वाचार्यों ने सात दोष भयंकर कहे हैं। उन से बच कर चला जाए तो मनुष्य अनेक दोषों से अपने आप को बचा सकता है, अपने जीवनको साधना के पथ पर आगे बढ़ा सकता है। यों भी कह सकते हैं कि सात दोषों का ,परित्याग करने पर ही जीवन में आध्यात्मिक ज्योति जग सकती है, मनुष्य के अन्तंमन में धर्म की भावना उद्बुद्ध हो सकती है। अतः साधना के पथ पर गतिशील व्यक्ति को सात दोषों का परित्याग करना ज़रूरी है। इन दोषों को जैन परिभाषा में सात कुव्यसन कहते हैं। वे इस प्रकार हैं– १-जूआ, २-मांस, ३-मदिरा, ४-वेश्यागमन

५-शिकार, ६-चोरी, और ७ परस्त्रीगमन। इन कुव्यसनों से होने वाले नुकसान को वतलाते हुए गौतम ऋषि ने गौतम कुलक में कहा है-

"जूए पसत्तस्स धणस्स नासो, मंस-पसत्तस्स दयापणासो।
वेसा-पसत्तस्स कुलस्स नासो, मज्जे पसत्तस्स सरीरणासो॥
हिंसा-पसत्तस्स सुधम्म-नासो, चोरी-पसत्तस्स सरीरणासो।
तहा परित्थीसु पसत्तयस्स, सव्वस्स नासो अहमा गई य॥"

अर्थात्-- जूए में आसक्त व्यक्ति के धन का नाश होता है। मांसाहारी मनुष्य के हृदय में दया-करुणा नहीं रहती। वेश्या में अनुरक्त रहने वाले व्यक्ति के कुल का नाश होता है, इज्जत का नाश होता है। शराबी व्यक्ति का अपयश फैलता है। हिंसा कर्म में प्रवृत्त मनुष्य के हृदय में दया का झरना नहीं बहता। चोरी करने वाला व्यक्ति कभी कभी जीवन से हाथ धो बैठता है और परस्त्री के साथ विषय-वासना का सेवन करने वाला मानव अपना सर्वस्व गंवा बैठता है। सातों कुव्यसन इन्सान को हैवान बनाने वाले हैं, नीच गति की ओर ले जाने वाले हैं। अतः मनुष्य को सातों कुव्यसनों से बच कर रहना चाहिए। नीचे की पंक्तियों में इन दोषों पर जरा विस्तार से विचार करेंगे-

१-जूआ

जूआ एक आध्यात्मिक दूषण है। इस से आत्म-गुणों में ह्रास होता है। यह आध्यात्मिक, नैतिक, व्यावहारिक एवं आर्थिक सभी दृष्टियों से जीवन का पतन करने वाला है। जीवन की बाह्य और अभ्यांतर शांति का विनाशक है। मानव को दुःख के अथाह सागर में

धकेलने वाला है। इतिहास इस बात का साक्षी है। धर्म-ग्रन्थों एवं इतिहास के पन्नों पर ऐसे अनेकों उदाहरण अंकित हैं, जो इस सत्य का पूरा-पूरा समर्थन करते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, अर्जुन जैसे धनुर्धारी, भीम जैसे गदाधारी, नकुल-सहदेव जैसे वीर योद्धाओं को जंगलों में परिभ्रमण कराने वाला कौन था? यही जूआ तो था। यदि धर्मराज में जूए का दुर्गुण नहीं होता तो दुनिया में कोई शक्ति नहीं थी कि जो भरी सभा में द्रौपदी की लज्जा का अपहरण करने का तथा पाण्डवों को राजसिंहासन से उतार कर बन में भेजने का दुःसाहस कर सकती। इस शैतान जूए ने ही नल जैसे शक्तिशाली राजा को भी दुर्दशा की थी और उसकी पत्नी महासती दमयन्ती को जंगलों की खाक छाननी पड़ी थी। इस तरह जूआ जीवन का सर्वतोमुखी विनाश करने वाला है। यह दुर्गुणों का स्रोत है, दुःख, संकट और मुसीबतों का जनक है।

ताश (P.aycard) शतरंज आदि खेलों पर पैसा लगा कर खेलना जूआ कहलाता है। इस तरह के और भी खेल जिनमें शर्त लगा कर खेला जाता है तथा सट्टा आदि व्यापार भी जूए के अन्तर्गत ही गिने जाते हैं। इसे जूआ कहने का कारण यह है कि यह मनुष्य को सद्-गुणों एवं सुख-संपत्ति से जूआ (जुदा अलग) करके दुःखी एवं दुगुर्णी बना देता है। इस दुर्व्यसन का सेवी व्यक्ति शासन एवं समाज का अपराधी गिना जाता है। पुलिस उस पर सदा कड़ी निगाह रखती है। उसे कोई मान-सम्मान की निगाह से नहीं देखता। वह जहां जाता है वहां अपयश एवं निरादर पाता है। दुनिया में उसका कोई विश्वास नहीं करता। वह हमेशा चिन्ताओं से घिरा रहता है, रात-

दिन संकल्प–विकल्प एवं आर्त-रौद्र ध्यान में फंसा रहता है। उस के मन में एक क्षण के लिए भी शान्ति की अनुभूति नहीं होती।

वस्तुतः जुआरी का जीवन पतनोन्मुखी जीवन है। आर्थिक दृष्टि से भी वह कभी ऊपर नहीं उठता। जूए के द्वारा प्राप्त किया गया धन कभी लाभप्रद एवं शान्तिदायक नहीं होता। फिर भी कुछ लोग जूआ खेलने में गौरवानुभूति करते हैं। जुआरियों का कहना है कि दीपावली के दिन जूआ अवश्य खेलना चाहिए। इससे किस्मत की परीक्षा होती है। कुछ लोग यह भी कहते नहीं सकुचाते कि जो व्यक्ति दीपावली को जूआ नहीं खेलता, वह मर कर गधा होता है। परन्तु यह विल्कुल असत्य है। क़िस्मत की परीक्षा इमानदारी से होती है। प्रामाणिकता एवं सत्यनिष्ठा से प्राप्त किया हुआ पैसा पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होता है तथा सदा धर्म के काम में व्यय होता है। रहो गधे वनने, न वनने की बात, वह जूए पर नहीं, कर्म पर आधारित है। जो व्यक्ति माया-छल, कपट एवं ठगी करता है, झूठ बोलता है, और झूठ तोलता है, वह पशु योनि (गधे आदि) को प्राप्त होता है। यह सब बातें जूआ खेलने वाले व्यक्तियों में पाई जा सकती हैं। छल, कपट, दग़ा, विश्वासघात आदि दुर्गुण उनमें विशेष रूप से पाए जाते हैं और गधे आदि जानवरों की योनि उन्हीं को मिलती है जो दुर्व्यसनों में फंसे रहते हैं। अस्तु, यह मानना नितांत असत्य है कि जूआ नहीं खेलने से मनुष्य गधा वनता है। भले आदमियों को ऐसे पापकार्यों से वचे रहना चाहिए जिनमें प्रामाणिकता, ईमानदारी एवं सत्यनिष्ठा का त्याग करके छल-कपट से दूसरों के धन पर हाथ फेरा जाता है।*

* इस संबंध में जानकारी प्राप्त करने के जिज्ञासु पाठक मेरी 'दीपमाला और भगवान महावीर' नामक पुस्तक देखें।

२—मांसाहार

आहार की आवश्यकता

आहार — भोजन जीवन–निर्वाह एवं शरीर-संरक्षण के लिए आवश्यक पदार्थ है। जीवन की अन्य आवश्यकताओं में आहार सब से पहली आवश्यकता है। जब संसारी आत्मा एक योनि के आयुष्य को भोग कर दूसरी योनि में जन्म लेता है, तो सबसे पहले आहार लेता है और उसके बाद औदारिक शरीर, अंगोपांग, इन्द्रिय आदि के पुद्गलों को ग्रहण करता है। इस तरह शरीर को स्वस्थ एवं व्यवस्थित रखने के लिए आहार आवश्यक साधन है। क्योंकि धर्म–साधना के लिए शरीर का होना जरूरी है। नर-देह के द्वारा ही मनुष्य धर्म के, मोक्ष के पथ पर आगे बढ़ सकता है और शरीर को टिकाए रखने के लिए आहार-भोजन पहली आवश्यकता है।

आहार और मन का संबंध

भारतीय संस्कृति के सभी विचारक एव महापुरुष इस बात में एकमत है कि मनुष्य के जीवन पर आहार का असर होता है। जैनागमों में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि मन को, विचारों को शुद्ध एवं सात्त्विक रखने के लिए आहार एवं आहार प्राप्त करने के साधन-व्यापार एवं उद्योग-धन्धे सात्त्विक एवं अल्प आरंभ वाले होने चाहिए। महारंभ से प्राप्त पदार्थ मन को अशान्त बनाए बिना नहीं रहते। यह लोक कहावत बिल्कुल सत्य है कि ' जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।" आजकल प्राय: यह प्रश्न पूछा जाता है कि माला फेरने में, संवर-सामायिक करने में तथा अन्य धार्मिक साधना करने में मन नहीं लगता, इसका क्या कारण है? इसका एक कारण हमारे भोजन की

तथा भोजन प्राप्त करने के साधनों की सात्त्विकता की कमी है। आप देखते हैं कि एक व्यक्ति किसी का कत्ल करके आता है, तो उसका मन कभी शान्त नहीं रहता। यहां तक कि वह शांत एकान्त जंगल में चला जाए, किसी धर्म स्थान में चला जाए, तब भी उसके चित्त को चैन नहीं पड़ता। कारण कि खून से रंगे हाथ तथा जीवन पर पड़े रक्त के छींटे उसे शांत चित्त से चिन्तन नहीं करने देते। इसी तरह दूसरों का शोषण करके प्राप्त किया पैसा तथा दूसरे जीवों के खून, चर्बी एवं मांस से परिपुष्ट बनाया गया शरीर भी शांति की बंसरी नहीं बजाने देता। वह पाप एवं खून उसके मन को सदा-सर्वदा कुरेदता रहता है।

इस से स्पष्ट है कि आहार का हमारे मन, विचारों एवं जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध रहा हुआ है। आहार हमारे जीवन को शांत, सरस एवं मधुर भी बना सकता है और कटु भी बना सकता है। इसी-लिए आहार-भोजन के अन्दर विवेक रखना बहुत जरूरी है। विकास की दिशा में गतिशील मानव के लिए भक्षाभक्ष्य का ज्ञान होना आव-श्यक है। अभक्ष्य एवं तामसिक पदार्थों से बचना मानव का, इन्सान का पहला कर्त्तव्य है। जब मानव सात्त्विक आहार का परित्याग कर देता है तो वह मानवता एवं इन्सानियत से कुछ दूर हो जाता है या यों कहना चाहिए कि वह प्रकाश से अंधेरे की ओर गति करने लगता है। मानवता के पथ पर बढ़ने वाले मानव को अभक्ष्य आहार से सदा बचना चाहिए। यह विकास की सबसे पहली सीढ़ी है।

प्रश्न– मांसाहार क्यों नहीं करना चाहिए? इसके सेवन से क्या हानि है?

उत्तर– मांस का सेवन करना एक भयंकर पाप है, मांसाहार करने से

मनुष्य का कोमल हृदय कठोर और निर्दय बन जाता है। इसलिए मांसाहार का निषेध किया गया है। आप ही विचार करें, कि मांस किसी खेत में तो पैदा नहीं होता, वृक्षों पर नहीं लगता, आकाश से नहीं बरसता, वह तो चलते फिरते प्राणियों को मार कर, उनके जीवन को लूट कर उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब आदमी के पांव में कांटा लग जाए, तो वह उसका दर्द भी सहन नहीं कर सकता, रात भर छटपटाता रहता है, तब भला मूक प्राणियों की गरदन पर छुरी चला देना उनको मुश्कें बांध कर समाप्त कर देना किस प्रकार न्याय-संगत हो सकता है ? ज़रा शांति से सोचिए, उस समय उनको कितनी भीषण वेदना होती होगी ? कविता की भाषा में इसी तथ्य को कितनी सुन्दरता से कथन किया गया है—

एक कांटे ने तेरी रग-रग को मुर्दा कर दिया।
क्या छुरी का दर्द मज़लूमों को तड़पाता नहीं ?

अपने क्षणिक जिह्वा के स्वाद के लिए दूसरे जीवों को मार कर लाश बना देना कितना निन्दनीय तथा नीच आचरण है ? जब आदमी किसी को जीवन नहीं दे सकता, तो उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरों का जीवन लूट ले ?

मृतक को छू कर लोग अपने आप को अपवित्र समझते हैं और पवित्र होने के लिए स्नान आदि क्रियाएं करते हैं किन्तु इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है कि वे जीभ की लोलुपता के शिकार हो कर मृतक के कलेवर को अपने पेट में डाल लेते हैं? कितनी अधमता है यह ?

एक आचार्य ने मांस शब्द की व्युत्पत्ति बड़े हृदयस्पर्शी ढंग से

की है। वह कहता है कि मांस शब्द में दो पद हैं- मां और स। 'मां' का अर्थ होता है- मुझ को। स 'वह' इस अर्थ का बोधक है। दोनों पदों को मिला कर यह फलितार्थ होता है कि जिसको मैं खाता हूं, वह भी कभी मुझे खाएगा। मांस शब्द की यह व्युत्पत्ति स्पष्टतया प्रमाणित कर रही है कि मांसाहार हेय है, त्याज्य है, दुःखों का उत्पादक है, तथा जन्म-मरण की परम्परा का वर्धक है। धर्मशास्त्रों ने मांसाहार का बड़ा ज़बर्दस्त विरोध किया है, साथ में उसके त्याग को बड़ा सुखद प्रशस्त और सुगतिप्रद माना है। इस संबंध में शास्त्रीय प्रमाण तो बहुत उपस्थित किए जा सकते हैं, किन्तु विस्तारभय से अधिक न लिख कर कुछ एक शास्त्रीय प्रमाणों का वर्णन नीचे की पंक्तियों में किया जायगा।

धर्मशास्त्र और मांसाहार

जैनशास्त्र श्री स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थान में नरकायु के चार कारण बतलाए हैं— महा आरंभ-हिंसा, २-महा परिग्रह-लोभ लालच, ३-पञ्चेन्द्रिय प्राणी का वध, ४-मांसाहार। इन कारणों में मांसाहार को स्पष्ट रूप से नरक का कारण माना है। और इसी सूत्र के आयु बन्ध-कारण-प्रकरण में जीवदया को मनुष्यायु के बन्ध का कारण स्वीकार किया है।

आचारांग सूत्र के अध्याय द्वितीय तथा उद्देशक तृतीय में लिखा है कि संसार के सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है*। सभी सुख चाहते हैं। सभी दुःख से घबराते हैं। सब को वध अप्रिय लगता है और जीवन प्रिय लगता है। सब दीर्घायु चाहते हैं।

* सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीवणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं।

सबको अपना-अपना जीवन प्यारा है।

जैनशास्त्र तो इस प्रकार के मांसाहार विरोधी वचनों से भरपूर हैं। जैनधर्म की तो नींव ही अहिंसा पर है। किसी जीव की हत्या करना दूर रहा, वह तो किसी का अनिष्ट चिन्तन करना भी पाप समझता है। जैनेतर धर्मशास्त्र भी इसी का समर्थन करते हैं। उनके कुछ प्रमाण निम्नोक्त हैं-

न किर्देवा मिनीमसी न किरा योपयामसि।

(ऋग्वेद १-१३८-७)

अर्थात्- हम न किसी जीव को मारें और न धोखा दें।

न स्त्रे धन्तं रयिर्नशत् (ऋग्वेद-७-३२-२१)

अर्थात्- हिंसक को धन नहीं मिलता।

सर्वे वेदा न तत्कुर्युः, सर्वे यज्ञाश्च भारत!
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत्कुर्यात् प्राणिनां दया॥

(महाभारत शांतिपर्व)

अर्थात्- प्राणियों की दया जो फल देती है, वह चारों वेद और समस्त यज्ञ भी नहीं दे सकते, और तीर्थों के स्नान तथा वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते।

यावन्ति पशुरोमाणि; पशुगात्रेषु भारत!
तावद् वर्षसहस्राणि, पच्यन्ते पशुघातकाः॥

अर्थात्-हे अर्जुन! पशु के शरीर में जितने रोम होते हैं, उतने हज़ार वर्ष पशु का घात करने वाले नरकों में जाकर दुःख पाते हैं।

प्राणिघातात्तु यो धर्म-मीहते मूढ मानसः।

स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥

अर्थात्- प्राणियों का घात करके जो मूर्ख धर्म उपार्जन करने की इच्छा करता है, वह काले सांप के मुख से अमृत की वर्षा की इच्छा करता है।

एकतः कांचनो मेरुः, बहुरत्ना वसुन्धरा ।

एकतो भयभीतस्य, प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥

अर्थात्- एक ओर सुवर्णमय मेरु पर्वत, और बहुत से रत्नों से परिपूर्ण पृथ्वी का दान, तथा दूसरी ओर भय-ग्रस्त प्राणो के प्राणों की रक्षा करना, दोनों का फल समान है।

अगस्त्य संहिता में शिव दुर्गा से कहते हैं-

'अहं हि हिंसको, अतः हिंसा मे प्रियः इत्युक्त्वा आवाभ्यां पिशितं रक्तं सुराञ्च वर्णाश्रमोचितं धर्मविचार्यार्पयन्ति ते भूत-पिशाचाश्च भवन्ति ब्रह्मराक्षसाः ।'

अर्थात्- मैं हिंसक हूं, मुझे हिंसा प्यारी है, ऐसा कह कर जो व्यक्ति वर्णाश्रम के उचित धर्म को न विचार कर हम दोनों को मांस, रक्त और मदिरा अर्पण करते हैं, वे व्यक्ति भूत, पिशाच एवं ब्रह्मराक्षस होते हैं अर्थात् मर कर इन नीच योनियों में जन्म लेते हैं।

वैदिक धर्म के ग्रन्थों के इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिकधर्म के ग्रन्थकार अहिंसा और मांसाहारत्याग पर कितना अधिक बल देते हैं? अब भारत के तीसरे प्रधान धर्म बौद्धधर्म की ओर दृष्टिपात कीजिए। बौद्धधर्म के एक ग्रन्थ में लिखा है-

इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।

तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ! ॥

अर्थात्-इस भव से एकानवें भव पहले मैंने बलपूर्वक एक पुरुष की हत्या की थी। उससे उत्पन्न हुए पापकर्म के फलस्वरूप मेरे पैर में यह कांटा लगा है। इस कथन से स्पष्ट है कि जीव - हत्या का पाप जन्म-जन्मातरों तक अपना अशुभ फल देता है।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के दसवें समुल्लास में लिखा है कि जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं उनके शरीर और वीर्य आदि धातु भी दुर्गंध आदि से दूषित हो जाते हैं। भेड़, बकरी, घोड़े, गाय आदि उपकारी पशुओं को मारने वाले को सब मनुष्यों की हत्या करने वाला जानिएगा।

कबीर जी ने जीवहत्या और मांसभक्षण का अत्यन्त निषेध किया है। उन्होंने लिखा है—

तिल भर मछली खाय के, करोड़ गौ करे दान।
काशी करवत ले मरे, तो भी नरक निदान॥
मुसलमान मारे करद से; हिन्दू मारे तलवार।
कहे कबीर दोनों मिली; जाए यम के द्वार॥

महात्मा तिरुवल्लुवर ने लिखा है कि "जानवरों को मारने एवं खाने से परहेज़ करना, सैंकड़ों यज्ञों में आहूति देने से बढ़कर है।" §

सिक्ख शास्त्र में भी मांसभक्षण के विरुद्ध कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं। गुरु ग्रन्थसाहिब में लिखा है—

जे रत्त लागे कापड़े, जामा होय पलीत।
ते रत्त पीवे मानुषा,तिन क्यों निर्मल चीत॥

§ श्रमण वर्ष ९ अंक २।

अर्थात् हमारे वस्त्र को यदि रक्त का स्पर्श हो जाय तो हम उसे अपवित्र मानते हैं, किन्तु जो मनुष्य रक्त का सेवन करते हैं, उनका चित्त निर्मल कैसे रह सकता है ? इसके अलावा, ग्रन्थसाहिब में और भी प्रमाण मिलते हैं। जैसे कि–

भंग माछली, सुरापान, जो–जो प्राणी खाय।
धर्म नियम जितने किए, सभी रसातल जाय।

इन झटका उन बिसमिल कीनी, दया दुहूं ते भागी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो!, आग दोहां घर लागी।
सुच्चम करके चौका पाया, जीव मार के चढ़ाया मांस।
जिस रसोई चढ़ाया मांस, दयाधर्म का होया नास॥

मुस्लिम धर्म पुस्तकों में भी जीवदया की सराहना प्राप्त होती है। शेखसादी कहते हैं कि एक बार शेख शिबली एक बनिए की दुकान से आटा मोल लेकर घर गए, उन्होंने देखा कि आटे के अन्दर एक कीड़ी बड़ी व्याकुलता से चारों ओर दौड़ रही है। उन्होंने रात को सोना हराम समझा। उसी समय उस बनिए की दुकान पर जा कर उन्होंने उस कीड़ी को छोड़ दिया और कहा, कि मेरे कारण इस बेचारी चिउण्टी का घर नहीं छूटना चाहिए। इसके अतिरिक्त हज़रत मुहम्मद का कथन है कि जहां पशु मरते हों, वहां निमाज़ नहीं पढ़नी चाहिए। मुसलमानों को आज्ञा है कि जिस दिन से हज्ज करने का विचार बने उस दिन से लेकर मक्का में पहुंचने तक किसी जीव की हत्या न करो! यहां तक कि जूं को भी दूर हटा दो, मारो मत।

मांसाहार का बहुत कड़े शब्दों में विरोध करते हुए हज़रत अली

ने कहा– "अपने पेट को पशुओं की कब्र मत बनाओ।*

ईसाई धर्म की मान्य पुस्तक इंजील में भी हिंसा के विरोध में बहुत सुन्दर कहा है। वहां लिखा है– Thou shalt not kill– अर्थात् तू किसी जीव का घात मत कर। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार में कोई ऐसा धर्म या मत नहीं है, जिसके पवित्र धर्म ग्रन्थों में दया धर्म की शिक्षा न दी गई हो, और जीवहिंसा का निषेध न किया गया हो। एक फारसी के कवि तो यहां तक कहते हैं–

हज़ार गंजे कनाअत, हज़ार गंजे करम।
हजार इताअत शबहा, हजार बेदारी॥
हजार सिजदा व हर सिजदा रा हजार नमाज।
क़बूल नेस्त; गर तायरे बयाजारी।

अर्थात्– चाहे मनुष्य धैर्य में उच्च श्रेणी का हो, हजार खज़ाने प्रतिदिन दान करता हो, हज़ारों रातें केवल भक्ति में व्यतीत करता हो, हजारों सिजदे (नमस्कार) करे, और एक-एक सिजदे के साथ हज़ार-हज़ार नमाज पढ़े, तो यह सब पुण्य क्रियाएं व्यर्थ ही होंगी, यदि वह पुरुष किसी पक्षी को कष्ट देने वाला होगा।

पशु बलि का निषेध करते हुए ईसाई मत के एक फकीर हिब्रू ने लिखा हैं—

"Neither by the blood of goats or calves but by his own blood he entered at once into the holy place having obtained eternal redemption. For it is not

* श्रमण वर्ष ९ अंक २।

possible that the blood of bulls and goats should take away sins." अर्थात्- वकरों या वछड़ों के खून से नहीं किन्तु अपने ही परिश्रम से वह पवित्र स्थान में गया है और नित्य मुक्ति को पा लिया है। क्योंकि यह संभव नहीं कि बैलों और बकरों का खून पापों को धो सकेगा।

पारसी मत में भी पशुघात के लिए इन्कार किया है। उस के धर्म ग्रन्थ में लिखा है—

He will not be acceptable to God, who shall thus kill any animal. Angle Asfundermad says, "O holy man, such are the commands of God that the face of the earth be kept clean from blood filth and carrion." § अर्थात् 'इस तरह जो पशु को मारेगा, उसे परमात्मा स्वीकार नहीं करेगा। पैगम्बर एसफन्दर ने कहा है— "हे पवित्र मानव! परमात्मा की यह आज्ञा है कि पृथ्वी का मुख रुधिर, मल, मांस से बचाकर रखा जाए।"

इस्लाम में भी पशु वलि की मनाई कीहै। उसका अंग्रेजी अनुवाद देखिए।

"By no means can this flesh reach into God, neither their blood but piety on your part reaches there." अर्थात्- किसी भी तरह वलि किए हुए पशुओं का मांस परमात्मा को नहीं पहुंचता है और न उनका खून। परन्तु तुम जो दया, करुणा एवं धर्म का पालन करोगे वही वहां पहुंचेगा। †

---

§ Jartusht Namap, Page, 415.

† श्रमण वर्ष७ अंक२ पृ.२८ श्री राजकुमार के 'अहिंसा' शीर्षक लेख से।

मानवप्रकृति और मांसाहार

मांसाहार धर्मशास्त्रों द्वारा निषिद्ध है, किन्तु यह मानव प्रकृति के भी सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य प्रकृति (स्वभाव) से शाकाहारी प्राणी है, मांसाहारी नहीं। मांसाहारी और शाकाहारी प्राणियों की शारीरिक बनावट में बड़ा अन्तर होता है। मांसाहारी और शाकाहारी प्राणियों का प्रकृतिगत अन्तर नीचे की पंक्तियों में देखिए—

मनुष्य के पंजे, पेट की नालियां और आन्तें उन पशुओं के समान बनी हुई हैं जो मांसाहार नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए जैसे गौ, घोडा, बन्दर आदि पशु मांसाहारी नहीं हैं। इसके विपरीत, शेर, चीता आदि पशु मांसाहारी हैं। जो शारीरिक अवयव गौ आदि पशुओं के होते हैं, शेर आदि पशुओं के वैसे अवयव नहीं होते। मनुष्य के शरीर की रचना भी मांसाहारी पशुओं की शरीर-रचना से सर्वथा भिन्न पाई जाती है। अतः मांसाहार मनुष्य का प्राकृतिक भोजन नहीं है।

मांसाहारी पशुओं की आंखें वर्तुलाकार-गोल होती है, जबकि मनुष्य की आंखों की ऐसी स्थिति नहीं होती।

मांसाहारी पशु कच्चा मांस खाकर उसे पचा सकता है जबकि मनुष्य की ऐसी दशा नहीं होती।

मांसाहारी पशुओं के दांत लम्बे और गाजर के आकार के समान तीक्ष्ण पैने होते हैं, और एक दूसरे से दूर-दूर अर्थात् पृथक्-पृथक् होते हैं, जब कि शाकाहारी पशुओं के दांत छोटे-छोटे, चौड़े-चौड़े और परस्पर मिले हुए होते हैं। मनुष्य के दांतों की स्थिति शाकाहारी पशुओं के समान होती है।

मांसाहारी पशुओं के नवजात बच्चों की आंखें बिल्कुल बन्द होती हैं, जबकि मनुष्य के बच्चे की स्थिति ऐसी नहीं होती।

मांसाहारी पशु जिह्वा से चाट-चाट कर पानी पीते हैं, जबकि मनुष्य, गाय, बकरी आदि पशुओं के समान घूण्ट भर-भर कर पीता है।

मांसाहारी पशुओं के शरीर में पसीना नहीं आता, जबकि मनुष्य के शरीर से पसीना छूटता है। तथा मांसाहारी पशु पक्षियों का चमड़ा कठोर होता है और उस पर घने बाल होते हैं, जबकि मनुष्य के शरीर की ऐसी स्थिति नहीं होती।

मांसाहारी पशुओं के मुख में थूक नहीं रहता है, जबकि अन्ना-हारी फलाहारी तथा शाकाहारी मनुष्य और गौ आदि पशुओं के मुख से थूक निकलता है।

मांसाहारी पशु गर्मी से हांपने पर जिह्वा बाहिर निकाल लेता है, जबकि मनुष्य की ऐसी दशा नहीं होती। मांसाहारी जीवों को गरमी बहुत लगती है, और सांस शीघ्रता से आने लगता है, किन्तु अन्नाहारी तथा शाकाहारी जीवों को न इतनी गर्मी लगती है, और न सांस तीव्रता से चलता है।

मांसाहारी पशुओं का जीवन निर्वाह फलों से नहीं हो सकता, जबकि मनुष्य मांस के बिना ही अपने जीवन को चला सकता है।

मनुष्य को यदि मनोरंजन के लिए कहीं जाना हो तो वह बागों, फुलवाड़ियों और वनस्पति से लहलहाते हुए स्थानों को टटोलता है, और वहीं भ्रमण करता है, किन्तु मांसाहारी जीव वहीं आमोद मा-नते हैं, जहां मृतक शरीरों की दुर्गंध से वायुमण्डल व्याप्त हो रहा है। जहां मृतक शरीरों की दुर्गंध से वायुमण्डल परिपूर्ण हो रहा है, ऐसे स्थान में यदि मनुष्य को रखा जाए तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता,

शीघ्र ही स्वास्थ्य से हाथ धो वठता है, किन्तु मांसाहारी जीव ऐसे दुर्गन्धपूर्ण स्थान में जितना समय चाहें ठहर सकते हैं, उनके स्वास्थ्य को किसी प्रकार की भी कोई हानि नहीं होने पाती।

इन वातों से स्पष्ट हो जाता है कि मांसाहारी जीव और अन्नाहारी तथा शाकाहारी प्राणियों की शारीरिक रचना में महान अन्तर रहता है। यदि मांसाहार मनुष्य का प्राकृतिक (स्वाभाविक) भोजन होता तो मनुष्य की भी शारीरिक वनावट मांसाहारी जीवों के समान ही होती। मानव की शारीरिक विभिन्न वनावट ही इस वात का जवर्दस्त प्रमाण है कि मांसाहार करना मानव की प्रकृति के सर्वथा विपरीत है।

आज के विज्ञान ने भी यह प्रमाणित कर दिया है कि वन्दर तथा लंगूर एकदम शाकाहारो प्राणी हैं। जीवनभर ये फल फूल खाकर ही जीवन का निर्वाह करते हैं। मनुष्य की आन्तरिक तथा वाह्य वनावट भी हू-वहू वन्दर तथा लंगूर से मिलती जुलती है। अतः मनुष्य मांसाहारो प्राणी नहीं है, प्रत्युत अन्नाहारी तथा फलाहारी है। मांसाहार की आदत उसने वाह्य विकृति से प्राप्त की है, किन्तु वह उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती।

आर्थिक दृष्टि से मांसाहार

धार्मिक दृष्टि से मांसाहार त्याज्य है, मानव प्रकृति की दृष्टि से मांस हेय है। इस सम्बन्ध में पूर्व कहा जा चुका है। आर्थिक दृष्टि से भी यदि विचार किया जाए तो भी मांसाहार देश के लिए घातक ठहरता है। गाय, भैंस, वकरी आदि देश के लिए वड़े ही उपयोगी पशु हैं। मांसाहारियों द्वारा इन का संहार कर देना, देश हित के लिए वड़ा ही भयंकर सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए गाय को ही ले

लीजिए। गाय से हमें दूध, दही, घी, गाय, बैल, गोबर आदि उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। एक गाय की पूरी पीढ़ी से चार लाख, बहत्तर हज़ार, छः सौ मनुष्यों को सुख पहुंचना है। जीव विज्ञान विशारदों ने गहरी छानबीन के पश्चात् हिसाब लगाया है कि गोवंश में से प्रत्येक गाय के दूध का मध्य मान ग्यारह सेर का आता है। उसके दूध देने का समय औसत बारह महीने रहता है। इस प्रकार प्रत्येक गाय के जन्म-भर के दूध से २४,९,६० मनुष्यों की एक बार तृप्ति होती है।

मध्य मान के नियमानुसार प्रत्येक गाय से छह बछिया और छह बछड़े मिल जाते हैं। इनमें से यदि एक-एक मर भी जावे तो पांच बछियों के जीवन भर के दूध से १,२४,८०० मनुष्य एक बार में तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पांच बैल। अपने जीवनकाल में, मध्य मान के अनुसार, कम से कम ५,००० मन अनाज पैदा कर सकते हैं। यदि प्रत्येक आदमी एक बार में तीन पाव अनाज खावे तो उससे साधारण ढाई लाख आदमियों को एक बार में उदरपूर्ति हो सकती है। बछियाओं के दूध और बैलों के अन्न को मिला देने से ३,७४,८०० आदमियों की भूख एक बार में बुझ सकती है। दोनों संख्याओं को मिला कर एक गाय की पीढ़ी में ४,७५,६९० मनुष्य एक बार में पालित हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात और समझ लेनी चाहिए। वह यह कि गौ की बछड़ियों से पुनः अनेकों बछड़ियां तथा बछड़ों की प्राप्ति होती है, जो हज़ारों मनुष्यों को लाभ पहुंचाते हैं। इतना ही नहीं, बैलों से गाड़ियां चलती हैं, सवारी का काम उनसे लेते हैं, भार उठाने के काम में भी वे आते हैं। यही कारण है कि भारतीय लोगों ने गाय को 'माता' तक कह कर पुकारा है।

इसी प्रकार एक बकरी के जन्मभर के दूध से भी २५,९,२० आदमियों का परिपालन एक बार हो सकता है। हाथी, घोड़े, ऊंट,

भेड़ आदि प्राणियों से भी इसी प्रकार के अनेकों उपकार मनुष्य के लिए होते रहते हैं। अतः इन उपकारी पशुओं को जो लोग खुद मारने तथा दूसरों से मरवाने का काम करते हैं, उनको सारे मानव-समाज की हत्या करने वाला ही समझना चाहिए।

मांस, वनस्पति और अन्न की अपेक्षा महंगा भी पड़ता है। यही कारण है कि यूरोप के देशों में आवश्यकता होने पर मांस का राशन हो जाता है, किन्तु वनस्पति का राशन नहीं होता।

स्वास्थ्य की दृष्टि से मांसाहार

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांसाहार का सेवन नहीं करना चाहिए। मांसाहार से प्रायः कैंसर, क्षय, पायोरिया, गंठिया, सिरदर्द, मृगी, उन्माद, अनिद्रा, लकवा, पथरी आदि भयंकर रोगों का आक्रमण होता है। शारीरिक बल और मानसिक बल पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। यूरोप के ब्रूसेल्स विश्व विद्यालय आदि में जो परीक्षाएं हुई हैं उनमें भी शाकाहारी ही श्रेष्ठ प्रमाणित हुए हैं।

मांसाहार और शाकाहार के परिणाम को जानने के लिए एक बार दश हज़ार विद्यार्थियों का परीक्षण किया गया था। इनमें से पांच हज़ार को केवल शाकाहार, फल-फूल अन्नादि पर और शेष पांच हज़ार को मांसाहार पर रखा गया था। छह महीने के बाद जांच करने पर मालूम हुआ कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी सब बातों में तेज रहे। शाकाहारियों में दया, क्षमा, प्रेम आदि गुण प्रकट हुए और मांसाहारियों में क्रोध, क्रूरता, भीरुता आदि। मांसाहारियों से शाकाहारियों में बल, सहनशक्ति आदि गुण भी विशेष रूप से पाए गए।

प्रोफेसर सर चार्ल्स बेल ने अपने अनुभवों के आधार पर लिखा है कि मनुष्यों में दांतों के रोग मांसाहार के कारण बढ़ गए हैं।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता के पांचवें अध्याय में लिखा है कि मांस मनुष्य के पेट में शीघ्र नहीं पचता, अतः वह मनुष्य का भोजन नहीं है।

डाक्टर एल्फ्रेड साहिब ने लन्दन के डाक्टरों की सभा में अपना निबंध पढ़ते हुए कहा था कि मांस ८० से ९० प्रतिशत रोगों के कीड़ों से भरा रहता है।

डाक्टर फोर्ड एम. डी. कहते हैं कि मटर, चना आदि अन्नों में २३ से ३० प्रतिशत तक नाइट्रोजन होता है और ५५ से ५८ प्रतिशत तक नशास्ता और तीन प्रतिशत के लगभग नमक वाले पदार्थ होते हैं किन्तु मांस में नाइट्रोजन केवल ८ से ९ प्रतिशत होता है और नशास्ता तो न होने के समान ही है। इस आधार पर उनका कहना है कि मांस का आहार मनुष्य के लिए लाभकारी नहीं हो सकता।

फ्रांस के कैंसर विशेषज्ञ डाक्टर लिब्रसन का कहना है कि "जानवर जो भी पदार्थ खाते हैं, उसका पाचन होने के बाद उक्त तत्त्व का कुछ अंश जानवर के शरीर में विष के रूप में रह जाता है। यह अंश धीरे-धीरे शरीर से पसीना या अन्य किसी रूप में बाहर जाता रहता है। यदि हम किसी जानवर को मार देते हैं, तो उस पशु की शरीर संचालन क्रिया बंद हो जाती है। इससे उसके शरीर में से विष बाहर नहीं जाने पाता और वह मांस और पेशियों में चला जाता है और यही कारण है कि मांसाहारी देखने में बलवान होने पर भी भीतर से कमज़ोर रहता है।*

जिन देशों में मांसाहार का अधिक प्रचार है, वहां स्वभावतः रोग भी अधिक होते हैं। जहां रोगों की अधिकता होती है, वहां वैद्यों

* श्रमण वर्ष ९, अंक २, पृ० ३३।

और डाक्टरों की संख्या भी अधिक पाई जाती है। इस सत्य की जानकारी निम्नलिखित नक्शे से भली भांति हो सकेगी—

देश का नाम	प्रति मनुष्य मांस का खर्च	दस लाख मनुष्य संख्या के पीछे डाक्टरों की संख्या
जर्मनी	६४ पौंड	३५५
फ्रांस	७७ ,,	३८०
ब्रिटेन	११८ ,,	५७८
आस्ट्रेलिया	२७६ ,,	७८०

इस नक्शे से स्पष्ट हो जाता है कि आस्ट्रेलिया मांसभक्षण में सब से आगे है। वहां के निवासियों में मांसभक्षण का सबसे अधिक प्रचार है। यही कारण है कि वहां पर अन्य देशों की अपेक्षा डाक्टरों की संख्या भी अत्यधिक है।

भारतवर्ष में हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों मांसाहार का प्रचार बढ़ रहा है, त्यों-त्यों रोगों की संख्या भी बढ़ती जा रही है और इसी कारण डाक्टरों की संख्या भी वृद्धि पर है। आज से सौ, पचास वर्ष पहले कहीं-कहीं कोई डाक्टर या वैद्य दिखाई देता था। किन्तु आज कल तो नगर का कोई मुहल्ला या गली ऐसी नहीं, जहां डाक्टर की दुकान न हो। कई-कई नगरों में तो डाक्टरों के ही विशेष बाज़ार या मुहल्ले बन गए हैं। इस रोगवृद्धि का सब से बड़ा कारण मांसाहार का प्रचार ही है।

यदि किसी जेल में आपको जाना पड़े, तो आप वहां के अपराधियों के भोजन का पता लगाइए। तो आप को पता चलेगा कि उन में अधिक संख्या मांसाहारियों की ही है। इसका एक कारण तो यह है

कि मांसाहारी को मदिरापान,व्यभिचारी तथा अन्य कुकर्मों की आदत पड़ जाती है और इस आदत के कारण वह चोरी, हत्या आदि घोर से घोर कृत्य करता हुआ भी शंकित नहीं होता। दूसरा कारण यह है कि मांसाहारी की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, मस्तिष्क विचारशील ही नहीं रहने पाता और दिल कठोर बन जाता है। जहां यह त्रिदोष मिल कर आक्रमण करते हैं वहां मनुष्य किसी भी अधम से अधम कृत्य को निस्संकोच हो कर, कर बैठता है। जहां बुद्धि, विवेक का दिवाला निकल गया वहां मनुष्य की खैर नहीं।

इस प्रकार मांसाहार धार्मिक दृष्टि से, मानव-शरीर की रचना की दृष्टि से, आर्थिक दृष्टि से तथा स्वास्थ्य दृष्टि से भी त्याज्य है, और हेय है। समझदार मनुष्य को इस हिंसापूर्ण और अधर्मपूर्ण मांस-भक्षण से सदा वचना चाहिए, तथा इसका परित्याग कर देना चाहिए।

शाकाहार और मांसाहार

प्रश्न– पेट भरने के लिए आहार तो करना ही होता है और शाकाहार में भी हिंसा होती ही है। एक रोटी वनाने में हज़ारों गेहूं के दानों के जीवों की हिंसा करनी पड़ती है और मांस पकाने में एक बकरा कई व्यक्तियों के लिए पर्याप्त होता है। अतः हिंसा की दृष्टि से मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार में अधिक प्राणियों की हिंसा होती है; फिर मांसाहार का क्यों निषेध किया गया?

उत्तर– यह नितान्त सत्य है कि गृहस्थ को आहार प्राप्त करने में

आरम्भ-हिंसा होती है। गृहस्थ का जीवन पूर्णतः हिंसा से मुक्त नहीं होता है। गृहस्थ के दायित्व को निभाने के लिए थोड़ी-बहुत हिंसा हो ही जाती है; परन्तु हिंसा-हिंसा में भी अन्तर है। आगार धर्म प्रकरण में यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रावक-गृहस्थ एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का पूरा त्याग नहीं कर सकता। वह निरपराधी त्रस जीवों को जान-बूझ कर, निरपेक्ष बुद्धि से मारने का त्याग करता है और एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की मर्यादा करता है। कारण यह है कि वनस्पति-पानी आदि के जीवों की चेतना अव्यक्त है और पशु-पक्षी की चेतना व्यक्त है। जब पशु-पक्षी पर छुरी, तलवार या गोली से प्रहार करते हैं तो वह उस समय उस संकट से बचने के लिए हर संभव प्रयत्न करता है और वधिक उसे मारने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। जब कभी वह छट-पटा कर बचने को कोशिश करता है तो वधिक का आवेश तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होता जाता है, उसकी आंखों से आग बरसने लगती है। इस तरह पशु-पक्षी का वध करते समय क्रोध, आवेश एवं क्रूरता स्पष्ट दिखाई देती है, परन्तु अन्न एवं सब्जी का इस्तेमाल करते समय मन में क्रूर भावना नहीं होती। यही कारण है कि पशु-पक्षी की हिंसा सब्जी की हिंसा की अपेक्षा बड़ी है और प्रगाढ़ पाप-बन्ध का कारण है। वस्तुतः देखा जाए तो बन्ध की प्रगाढ़ता एवं हल्केपन का कारण क्रिया के साथ हो रही कषायों की तीव्र एवं मन्द परिणति है। यदि परिणामों में शुद्धता है, क्रोध, मान, माया और लोभ की भावना न्यून है, तो बन्ध भी साधारण-सा होगा और कषायों की तीव्रता है तो बन्ध भी उतना ही गहरा होगा। कषायें एक तरह-से रंग हैं, अतः रंग जितना गहरा होगा वस्त्र उतना ही अधिक गहरा रंगा जायगा और रंग हल्का होगा तो वस्त्र पर भी इसी रंग की झलक-सी ही आयगी। इसी तरह कषा-

यों में जितनी अधिक तीव्रता होगी, आत्मा के गुणों को आवृत्त करने वाले कर्म भी उतने ही अधिक गहरे होंगे और जितनी अधिक मन्दता होगी उतना ही अधिक कर्म का आवरण हल्का होगा। और यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि शाक-सब्जी का इस्तेमाल करते समय भावों में, विचारों में क्रूरता नहीं रहती। परन्तु पशु-पक्षी का वध करते समय क्रूरता स्पष्ट दिखाई देती है। जितने बड़े प्राणी को मारने का प्रयत्न करते हैं, उतनी ही अधिक क्रूरता बढ़ती है और जहां क्रूरता का आधिक्य होता है, वहां पाप कर्म का बन्ध भी प्रगाढ़ होता है। अतः पशु-पक्षी की हिंसा महारंभ एवं प्रगाढ़ पाप बन्ध का कारण है। यह हम पीछे बता चुके हैं कि नरकायुष्य बन्ध के चार कारणों में मांसाहार को भी एक कारण बताया गया है। क्योंकि मांसाहार महारंभ से प्राप्त होता है, अतः विवेकशील मनुष्य के लिए यह सर्वथा त्याज्य है।

शाकाहार एवं मांसाहार में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि एक आबी है और दूसरा पेशाबी। आब पानी को कहते हैं, अतः पानी के बरसने एवं सींचने पर जिस शाक-सब्जी-अन्न आदि की उत्पत्ति होती है, उसे आबी कहते है और पशु-पक्षी आदि जिन जीवों का जन्म मैथुन क्रिया से होता है उन्हें पेशाबी कहते हैं। अर्थात् स्त्री-पुरुष के रज एवं वीर्य के मिलने से पैदा होने वाले प्राणियों को पेशाबी कहते हैं। इस तरह दोनों की उत्पत्ति के अनुरूप भावों में अन्तर आ जाता है। पृथ्वी में बीज बो देते हैं और वह बीज अनुकूल हवा, पानी, प्रकाश एवं खाद के मिलने पर अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होकर लहर-लहर कर लहराने लगता है। जब खेत एवं उद्यान फलते-फूलते हैं तो उनके आस-पास की प्रकृति में उनकी सौम्यता प्रतिबिम्बित हो उठती है, चारों तरफ का वातावरण हरा भरा

हो जाता है। वर्षा के समय जिधर देखो उधर हरा-भरा मैदान दिखाई देता है। उसे देखकर मन में हिंसा एवं प्रतिहिंसा की ज्वाला नहीं जगती, बल्कि मन में शान्ति का झरना बहता है, विचारों में सौम्यता आती है, नेत्र शीतलता की अनुभूति करते हैं। परन्तु किसी पशु-पक्षी को सामने देख कर शिकारी एवं मांसाहारी की आंखें एकदम बदल जाती हैं। उसके मन में क्रूरता अट्ठखेलियां करने लगती है। उसके प्राणों का अपहरण करने की भावना साकार रूप लेने लगती है। जब वधिक उस मूक एवं असहाय प्राणी पर प्रहार करता है, तब तो उसकी क्रूरता मानवता की सीमा को लांघ जाती है। और इधर मरने वाले प्राणी के मन में भी प्रतिहिंसा के भाव उद्बुद्ध होने लगते हैं। वह भी प्रतिशोध लेने का प्रयत्न करता है। यह बात अलग है कि कमजोर होने से वह वधिक का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। परन्तु उस समय उसके आवेश युक्त नेत्रों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसकी भावना वधिक को भी समाप्त करने की रहती है। इस हिंसा-प्रतिहिंसा एवं क्रूर भावना के परमाणु उसके सारे शरीर में फैल जाते हैं। इसलिए मांसाहार को तामसिक भोजन कहा है। वह वध्य एवं वधिक दोनों के मन में हिंसा एवं क्रूरता की भावना को जगाने वाला होता है, इसलिए मांसाहार मनुष्य के लिए सर्वथा त्याज्य है। वह मनुष्य के मन में काम-क्रोध एवं वासना की आग को बढ़ाने वाला है, उसकी मानवीय प्रकृति को विषम बनाने वाला है। इसी कारण श्रमण भगवान महावीर एवं अन्य विचारशील विचारकों ने मांसाहार का सर्वथा निषेध किया है।

शाकाहार और मांसाहार में एक अन्तर और है। वह यह कि जैन दर्शन में संसारी जीव में दस प्राण * माने गए हैं। एकेन्द्रिय

* जिसके संयोग से जीव जीवित समझा जाता है और वियोग होते ही

जीवों में चार प्राण पाए जाते हैं और पशु-पक्षी में दस ही प्राण पाए जाते हैं। इस तरह इन्द्रिय एवं प्राणों की दृष्टि से भी पञ्चेन्द्रिय की हिंसा महाहिंसा है। जैसे एक व्यक्ति राजा को मारता है और दूसरा किसी साधारण व्यक्ति को तलवार के घाट उतारता है। कानून की दृष्टि से अपराधी तो दोनों ही है, फिर भी दोनों के दंड में अन्तर रहता है। राजा की हत्या साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक गुरुतर समझी जाती है। कारण स्पष्ट है कि राजा देश का प्रधान है, देश की सर्वोपरि शक्ति है; अत: उसे समाप्त करने के लिए उतनी ही अधिक विनाशक शक्ति या छल-कपट एवं क्रूरता का संग्रह करना पड़ता है। परन्तु साधारण व्यक्ति के प्राण लेने में उतनी तैयारी नहीं करनी पड़ती। इसी क्रूरता एवं विनाशक शक्ति का अन्तर ही उनके दण्ड के अन्तर का कारण है। साथ में यह भी दृष्टि रही हुई है कि राजा का नाश देश का बहुत बड़ा नुकसान है। इसी तरह पशु—पक्षी एवं इन्सान भी प्रकृति के शक्ति-संपन्न प्राणी हैं। शाक-सब्जी की अपेक्षा इनके पास इन्द्रिय एवं प्राणों की शक्ति अधिक है। अतः उसे लूटने के लिए अधिक क्रूरता का आना स्वाभाविक है। और जहां क्रूरता अधिक होती है, वहां पाप बन्ध अधिक होता ही है, यह हम पहले बता ही चुके हैं। अतः इस दृष्टि से भी पशु—पक्षी की हिंसा महान् है, उससे बचना मानव का सर्वप्रथम धर्म है।

हिंसा और अहिंसा की अधिकता एवं न्यूनता का हिसाब जीवों

मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसे प्राण कहते हैं। उनकी संख्या दस है। जैसेकि—१-श्रोत्र इन्द्रिय बल-प्राण, २-चक्षु: इन्द्रिय बल-प्राण, ३-घ्राण इन्द्रिय बल-प्राण, ४-रस इन्द्रिय बल-प्राण, ५-स्पर्श इन्द्रिय बल-प्राण, ६-मन बल-प्राण, ७-वचन-बल प्राण, ८-काया बलप्राण, ९—आयुष्य बलप्राण और १०-श्वासोच्छ्वासबलप्राण।

की संख्या पर ही निर्धारित नहीं, परन्तु भावों पर निर्धारित है। यह हम देख चुके हैं कि जहां परिणामों में कषायों की अधिक तीव्रता होती है, वहां पापकर्म का वन्ध भी प्रगाढ़ होता है। इस दृष्टि को सामने रख कर जैनागमों में 'कियाए वन्ध' नहीं परन्तु 'परिणामे वन्ध' कहा है। अर्थात् कर्म का वन्ध जो होता है, वह केवल क्रिया से नहीं, वल्कि राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामों से होता है। अतः पाप कर्म के वन्ध में जीवों की संख्या की अपेक्षा कषायों की तीव्रता का अधिक मूल्य है। जैसे एक तरफ करोड़ दमड़िएं हैं और दूसरी तरफ एक हीरा है। संख्या की दृष्टि से दमड़िएं अधिक हैं परन्तु कीमत की दृष्टि से वे सव हीरे के सामने नगण्य हैं, कोई मूल्य नहीं रखतीं। इसी तरह अन्न के हजारों दाने हैं, परन्तु उसका उपभोग करते समय मन में कषायों की तीव्रता नहीं रहती और पशु-पक्षी की हिंसा के समय परिणामों में अधिक कलुषता एवं क्रूरता दिखाई देती है, अतः अन्न की अपेक्षा पशु-पक्षी की हिंसा में महापाप है और यही कारण है कि मांसाहार महारंभ एवं महाहिंसा का जन्य होने से महापाप कर्म के वन्ध का कारण एव नरक का द्वार कहा है। परन्तु शाकाहार में ऐसी वात नहीं। अतः मांसाहार किसी भी अवस्था में विवेकशील इन्सान के लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है। यह हर हालत में मानव की मानवता एवं सद्बुद्धि का नाशक है और सद्गति का अवरोधक है। इसलिए मनुष्य को सदा मांसाहार से दूर रहना चाहिए।

प्रश्न– आत्मा अजर है, अमर है, यह तो कभी मरती नहीं है। फिर किसी के मरने या मारने का क्या प्रश्न हो सकता है? आत्मा को अमर मान लेने पर किसी को मारने से पाप

और बचाने से पुण्य होता है, यह कहने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर– यह सत्य है कि आत्मा अमर है, वह कभी मरती नहीं है, और मारी जा भी नहीं सकती है, परन्तु शरीर में कायम रहने के लिए और अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए आत्मा को जो शक्तियां प्राप्त हो रही हैं, उन शक्तियों को आत्मा से पृथक कर देना, उनको लूट लेना ही आत्मा की मृत्यु है; आत्मा को मार देना है। आत्मा की शक्तियों को आत्मा से जो पृथक् करता है, वह पाप का उपार्जन करता है। अतः आत्मशक्तियों का कभी घात नहीं करना चाहिए। जैनदर्शन में आत्मा की शक्तियों को प्राण के नाम से व्यवहृत किया जाता है। सभी संसारी आत्माएं प्राणों के अधीन हैं। प्राणों की सहायता से ही आत्मा सुख-दुःख अनुभव करती है। आत्मा चेतन है, और प्राण जड़ हैं। आत्मा अविनाशी है और प्राण नाशवान हैं। तथापि जिस प्रकार धनी के धन का अपहरण कर लेने पर धनी को दुःख होता है, ऐसे ही प्राणों का नाश होने पर आत्मा को कष्ट होता है, आत्मा दुःखानुभव करती है। किसी को कष्ट देना या दुःख देना पाप है, यह एक जघन्य प्रवृत्ति है।

जैनदर्शन ने प्राण १० माने हैं— श्रोत्र, नेत्र, नासिका, रसना, स्पर्शन, मन, वाणी, शरीर, श्वासोच्छ्वास और आयु। कान की वह शक्ति जिसके द्वारा मनुष्य शब्द सुनता है, उसको श्रोत्र कहते हैं। पांच इन्द्रियों में श्रोत्र अंतिम इन्द्रिय मानी जाती है। श्रोत्रेन्द्रिय का जीवन में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रोत्र द्वारा मनुष्य धर्मशास्त्र सुनता है, हिताहित की बातें सुनता है। विद्यार्थी अध्यापक की बातें सुन कर ही धीरे-धीरे विद्वान बनता है। विद्वान बन कर वह संसार को ज्ञान देता

है, उसकी अज्ञानता और मूढ़ता का परिहार करता है। अपने उज्ज्वल और प्रामाणिक प्रवचन सुना–सुना कर मानवजगत की बुराई को दूर करता है। इन सब बातों का मूल श्रोत्रेन्द्रिय है। यदि मनुष्य के पास श्रोत्र न हों तो वह इन सब बातों के बोध से वञ्चित ही रह जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय की शक्ति ऐसी अनमोल शक्ति है कि जिसे करोड़ों रुपयों के व्यय करने पर भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता। ऐसी अनमोल शक्ति को समाप्त कर देना कितना भयंकर पाप है ?

नेत्रों की ज्योति, दूसरी प्राणशक्ति है। नयनों के द्वारा ही मानव गुरुदर्शन करता है, शास्त्रों को पढ़ता है, खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने आदि सब वस्तुओं को देखता है। जिसके पास नयन नहीं होते उसका संसार सूना होता है। इसलिए लोग कहा करते हैं कि 'दांत गए तो खान गया, आंख गई तो जहान गया।' प्रति दिन सड़कों पर अन्धों को यह कहते सुना जाता है 'कि आंखें वालो! आंखें बड़ी न्यामत हैं।' अतः शारीरिक अवयवों में नेत्रशक्ति का भी अपना विशिष्ट स्थान है। ऐसी विशिष्ट और सर्वथा उपयोगी नेत्रशक्ति का हनन कर देना पाप क्षेत्र में महान पाप माना गया है।

तीसरी प्राणशक्ति नासिका है। नासिका के द्वारा सुगन्ध और दुर्गन्ध का बोध होता है। कई बार दुर्गन्धपूर्ण पदार्थ आंखों से दिखाई नहीं देता, कहीं इधर–उधर प्रच्छन्न रहता है किन्तु उस परोक्ष दुर्गंधमय पदार्थ का बोध नासिका द्वारा ही प्राप्त किया जाता है, और वह बोध ही अध्यात्मशास्त्र के "अपवित्र और अस्वच्छ स्थान पर शास्त्रस्वाध्याय नहीं करना" इस आदेश के परिपालन में सहायक प्रमाणित होता है। जिनकी नासिका शक्ति नष्ट हो जाती है, उनके आस-पास चाहे कितनी भी गन्दगी पड़ी हो पर बिना देखे उसका उन

को बोध नहीं होने पाता। अतः शरीर में घ्राणशक्ति का भी अपना एक विशेष स्थान है। इस का नाश कर देना एक बहुत बड़ी अक्षम्य भूल है।

चतुर्थ प्राण शक्ति का नाम रसना है। रसना के द्वारा भगवान का भजन,स्तवन किया जाता है, गुरुदेवों का गुणग्राम किया जाता है, भोजन, पानी आदि खाद्य और पेय पदार्थों के कटुक, कषाय और अम्ल आदि रसों का बोध भी रसना द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। जीवन में रसना का कितना मूल्य होता है ? यह वही व्यक्ति जानता है, जो बोलना चाहता है, पर रसनेन्द्रिय की सदोषता के कारण बोल नहीं पाता, अपने विचारों को प्रकट करना चाहता हुआ भी प्रकट नहीं कर पाता। ऐसी महान शक्ति को जीवन से पृथक कर देना एक भीषण पाप है।

* स्पर्शनेन्द्रिय पांचवां प्राण है। पांच इन्द्रियों में यह सर्वप्रथम इन्द्रिय है। स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा उष्ण, शीत, स्निग्ध, रूक्ष, कोमल आदि स्पर्शों का बोध होता है। यदि यह दुर्बल हो जाती है या अधरंग हो जाता है तो उष्ण,शीतादि स्पर्शों का व्यक्ति को ज्ञान नहीं होने पाता। स्पर्शन-संबंधी सुख और दुःख की अनुभूति में स्पर्शनेन्द्रिय का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्पर्शजन्य सुख-दुःख इसी के माध्यम से आत्मा को हो पाता है। ऐसे अनमोल धन का हरण करना बड़ा भारी पाप है।

छठी प्राण शक्ति का नाम मन है। जिसके द्वारा मनन किया जाए, चिन्तन किया जा सके उसे मन कहते हैं। जड़,चेतन, पुण्य,पाप,

* श्रोत्र, चक्षु, नासिका, रसना और स्पर्शन इन पांचों प्राणशक्तियों को शास्त्रीयभाषा में पांच ज्ञानेन्द्रियां भी कहा जाता है।

धर्म-अधर्म, बन्ध–मोक्ष, आत्मा, महात्मा और परमात्मा आदि का मनन और चिन्तन आत्मा मन के माध्यम से ही किया करता है। मन प्रत्येक प्राणी के पास नहीं होता। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के पास मन नहीं होता है। वनस्पति कायिक, जल कायिक, पृथ्वी कायिक आदि स्थावर प्राणी एकेन्द्रिय, जोंक, अलसिया आदि जीव द्वीन्द्रिय, चिउण्टी, लीख आदि त्रीन्द्रिय, मक्खी, मच्छर आदि जीव चतुरिन्द्रिय कहे जाते हैं।एकेन्द्रिय जीव केवल स्पर्शनेन्द्रिय वाला होता है। द्वीन्द्रियजीव,स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों का धनी होता है। त्रीन्द्रिय जीव स्पर्शन,रसना और नाक ये तीनों इन्द्रियें रखता है। और चतुरिन्द्रिय जीव के पास स्पर्शन, रसना, नाक और आंख ये चार इन्द्रियां होती हैं। जिन जीवों के पास स्पर्शन से श्रोत्र तक पांच इन्द्रियां होती हैं, वे पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। पञ्चेन्द्रिय जीवों के पास ही मन होता है। मन के द्वारा ही इन में सोचने समझने और विचारने की शक्ति होती है। मन इन्द्रियों का राजा माना गया है। इसकी महिमा शास्त्रों में बहुत गाई गई है। आत्मा के बन्ध और मोक्ष का उत्तरदायित्व मन पर ही है। ऐसे अनमोल धन मन को नष्ट कर देना कितना बड़ा अत्याचार है।

सातवीं प्राण शक्ति वचन है। इसके द्वारा बोला जाता है। आत्मा के संकल्प-विकल्पों को इसी के द्वारा भाषा का मूर्तरूप मिलता है। इसके बिना जीवन गूंगा होता है और स्पष्टता के साथ अपना आशय व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए आत्म-जीवन में इस शक्ति का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस शक्ति को आत्मा से अलग कर देना पापों में एक बड़ा पाप है।

कायबल आठवीं प्राणशक्ति है। इस शक्ति का भी अपना अद्-

भुत स्थान है। इसी के माध्यम से उठना, बैठना, आना, जाना, खाना-पीना आदि सभी क्रियाएं सम्पन्न होती हैं। इसके अभाव में आत्मा कोई भी शारीरिक उन्नति नहीं कर सकता। शरीर द्वारा जो जप,तप आदि धार्मिक अनुष्ठान किए जाते हैं, इसके नष्ट हो जाने पर उन सब का अभाव हो जाता है। ऐसी परम उपयोगी और प्रधान शक्ति को नष्ट कर देना एक भयंकर पाप माना जाता है।

नवीं प्राणशक्ति का नाम श्वासोछ्वास है। जीवन की सभी प्रवृत्तियों का उत्तरदायित्व इसी शक्ति पर है। इसीलिए संसार में "जब तक सांस तब तक आस" यह किम्वदन्ती प्रचलित हो रही है। यदि श्वासोच्छ्वास की शक्ति समाप्त हो जाए तो जीवन की आशा भी समाप्त हो जाती है। यह शक्ति किसी से उधार नहीं ली जा सकती। मूल्य दे कर यह खरीदी भी नहीं जा सकती। जो सांस हाथ से निकल गए हैं, संसार की कोई शक्ति उनको वापिस नहीं ला सकती। बन्दूक से निकली गोली संभव है कि वापिस हो जाए, और धनुष से छूटा तीर भी वापिस हो जाए किन्तु यह सर्वथा असंभव है कि गए हुए सांस वापिस आ जाएं। ऐसी अनमोल शक्ति को लूट लेना कितना भीषण पाप है ?

आयु दसवीं प्राणशक्ति है। यह शक्ति सर्वोपरि शक्ति है। इसमें पूर्व की सभी प्राणशक्तियों का समावेश हो जाता है। जैसे वृक्ष का मूल काट देने पर उसकी शाखाएं, प्रतिशाखाएं, पत्ते, फल, फूल आदि सब नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही आयुवृक्ष के टूटते ही उसके श्रोत्र, चक्षु आदि सब शेष भाग अपने-आप समाप्त हो जाते हैं। जैसे बादशाह के मर जाने पर समस्त प्रजा अनाथ हो जाती है, वैसे ही इस शक्ति के समाप्त हो जाने पर पांचों ज्ञानेन्द्रियां और समस्त अंग-उपांग सब के

सब बेकार हो जाते हैं, एक माटी के ढेले के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। घड़ी तभी तक चलती है, जब तक उसमें चाबी है, यदि चाबी समाप्त हो जाए तो उसके सब पुर्जे भले ही निर्विकार और निर्दोष क्यों न हों, किन्तु सब बेकार, निष्क्रिय हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवन रूपी घड़ी में आयु भी चाबी के समान है। इसके समाप्त होते ही जीवन की घड़ी भी निश्चेष्ट और निष्क्रिय हो जाती है, सदा के लिए खड़ी हो जाती है, उसमें किञ्चित् भी स्पन्दन नहीं होने पाता। आयु की शक्ति एक विलक्षण और सर्व-प्रिय शक्ति है। इसका वियोग कोई नहीं चाहता, भले ही कोई राजा हो या रंक, सुखी हो या दुःखी, कोई भी क्यों न हो, किसी भी दशा में इसका वियोग कोई पसन्द नहीं करता है. संसार के छोटे-बड़े सभी जीव इस शक्ति से प्यार करते हैं और सर्वस्व देकर भी उसकी सुरक्षा चाहते हैं। ऐसी अनमोल और अलभ्य आयु-शक्ति को समाप्त कर देना घोरातिघोर पाप है।

आत्मा इन दस प्राणों से शरीर में जीवित रहती है, अपनी सभी क्रियाएं सम्पन्न करती है। ये दस प्राण आत्मा की विभूति हैं, सर्वस्व हैं, इन्हें लूट लेना, समाप्त कर देना ही आत्मा का मरण कहा जाता है। इसके अलावा, जैन दर्शन आत्मा को एकांत रूप से अजर, अमर भी स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि आत्मत्व की दृष्टि से भले ही आत्मा अजर, अमर है, किन्तु प्राणों की दृष्टि से वह विनाशशील है। प्राणों के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है, शरीर से पृथक् हो जाती है। अतः आत्मा को कथंचित् अमर मान लेने पर भी पुण्य-पाप की मान्यता सत्य ही रहती है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। आत्मा की प्राण शक्ति को नुक्सान पहुंचाने पर पाप होता है, और उसकी सुरक्षा करने पर पुण्य का लाभ होता है।

प्रश्न– यदि बकरा आदि पशुओं को काम में न लाया जावे,

तो इनका क्या बनाना है? परमात्मा ने इनकी रचना मनुष्य के खाने के लिए ही तो की है। फिर उनका मांस खाने में क्या दोष है?

उत्तर– यह स्वार्थी दिमाग की सूझ-बूझ है कि वह अपना स्वार्थ साधने के लिए अंट-संट बोला करता है। दैवी उपासकों ने बकरे, भैंसे आदि के लिए स्वर्ग की कल्पना करके अपनी ज़बान का स्वाद पूरा करने का रास्ता निकाल लिया। तो अन्य मांसाहारियों ने यह दलील देनी शुरु कर दी कि खुदा या परमात्मा ने पशु-पक्षी खाने के लिए ही बनाए हैं। यह इन्सान के पतन की पराकाष्ठा है। पतन एवं गिरावट की भी सीमा होती है, सीमा में रहे हुए दोष सुगमता से दूर हटाए जा सकते हैं। परन्तु स्वार्थ का चश्मा मनुष्य की दृष्टि को, विचारों को इतना धुंधला बना देता है कि उसमें सत्य को समझने की भावना ही नहीं रह जाती; वह जब भी सोचता है, तब दूसरे के सुखों, हितों एवं जीवन को लूट–खसोट कर अपने जीवन को अधिक आमोद-प्रमोदमय एवं हृष्ट-पुष्ट बनाने की ही सोचता है। मांसाहारियों द्वारा दिया जाने वाला प्रस्तुत तर्क इसी स्वार्थी भावना का प्रतीक है।

सबसे पहली बात तो यह है कि ईश्वर किसी भी वस्तु का निर्माता नहीं है। † जगत में जितने भी जीव दिखाई देते हैं, वे स्वयं ही अपने-अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि में गति करते हैं। स्वयं ही अपने जीवन के स्रष्टा हैं। अपने जीवन को विकास एवं पतन, जिस ओर भी चाहे ले जाने के लिए प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। कोई ईश्वर या दैवी शक्ति न किसी को पशु बनाता है और न किसी को मनुष्य। या यों कहिए वह न किसी को भक्षक बनाते

† इस पर हम पीछे छठे अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं।

हैं और न भक्ष्य ही। संसार में गतिशील प्रत्येक आत्मा अपने कर्म के अनुरूप ही गति को प्राप्त करता है।

दूसरी बात यह है कि पशु इन्सान की खुराक नहीं है। यह हम स्पष्ट देख चुके हैं कि मनुष्य के नाखून, दांतों एवं ओष्ठों की तथा आंतों की बनावट ऐसी है कि वह मांसाहार के उपयुक्त नहीं कही जा सकती। प्रकृति की बनावट के विपरीत भी मनुष्य मांसाहार की ओर इतना तेजी से बढ़ रहा है कि मांसाहारी पशुओं एवं जंगली जानवरों को भी मात कर रहा है। यदि यह मान लिया जाए कि पशु-पक्षी मनुष्य के खाने के लिए बनाए हैं, तो शेर आदि हिंसक पशु भी यह प्रश्न उठा सकते हैं कि मनुष्य उस के खाने के लिए बनाया गया! क्या मांसाहारी मनुष्य को यह स्वीकार है? यदि स्वीकार है तो फिर अपने ऊपर झपटने वाले शेर से बचने का या उसे बन्दूक से मार गिराने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। और यह बात स्वीकार नहीं है तो फिर यह तर्क देना भी नितांत असत्य है कि पशु-पक्षी का निर्माण मनुष्य के खाने के लिए किया गया है। प्रत्येक प्राणी संसार का शृंगार है, प्रकृति की शोभा है। जब हम किसी भी प्राणी को बना नहीं सकते, तो हमें संसार की शोभा को नष्ट करने का, बिगाड़ने का क्या अधिकार है? हमारी इन्सानियत एवं बुद्धिमानी इसी बात में है कि हम कमजोर एवं निराश्रय प्राणियों को आश्रय देने, सुख-शांति पहुंचाने तथा उन की सुरक्षा करने का प्रयत्न करें।

प्रश्न— कहा जाता है कि मांसाहारी पशु जैसे क्रूर स्वभाव वाले क्रोधी एवं जड़बुद्धि होते हैं, उसी तरह सामिष-भोजी मनुष्य भी क्रूर एवं क्रोधी स्वभाव वाला तथा स्थूल बुद्धि वाला होता है। साथ में यह भी कहा जाता है कि वह कभी उन्नति नहीं

करता, वल्कि सदा पतन के गर्त में गिरता है ? किन्तु वस्तु-स्थिति इस सत्य से विपरीत है। व्यवहार इस वात का समर्थक नहीं है। पाश्चात्य देशों के अधिकांश व्यक्ति मांसाहारी हैं। फिर भी वुद्धि, वल एवं सम्पत्ति में ये सभी पूर्वीय देशों से आगे हैं। अंग्रेज़ों की कूटनीति तो प्रसिद्ध ही है। रूस एवं अमेरिका शक्ति एवं सम्पत्ति में भी सवसे आगे है। रूस का राकेट चन्द्र-लोक पहुंचने का दावा कर रहा है। वैज्ञानिक चेत्र में की गई उन्न-ति इस वात का ज्वलन्त प्रमाण है। हां तो वौद्धिक एवं वैज्ञानिक चेत्र में जितनी उन्नति पाश्चात्य देशों के मांसाहारियों ने की है, उतनी तो क्या, भारतीय शाकाहारियों ने उसके शतांश भी उन्न-ति नहीं की। अतः क्या यह कथन सत्य से परे एवं केवल द्वेष का प्रतीक नहीं है कि मांसाहारियों का सर्वतोमुखी पतन ही होता है, उनमें वुद्धि की स्थूलता ही रहती है ?

उत्तर- इतना तो सूर्य के उजेले की तरह स्पष्ट है कि मांसाहार स्वयं ही एक दोष है। क्योंकि अपने स्वार्थ के लिए, जिह्वा के क्षणिक स्वाद के लिए किसी भी निरपराध त्रस प्राणी को मारना जघन्य दुष्कृत्य है, सबसे वड़ा पाप है। अब रहा प्रश्न स्वभाव एवं उन्नति का ? इसका उत्तर यह है कि स्वभाव में क्रूरता, वुद्धि की स्थूलता एवं पतन के कई कारण हैं, ये दोष केवल मांसाहार जन्य ही नहीं है। मोहनीय एवं ज्ञा-नावरणीय कर्म के उदय से भी व्यक्ति अनेक दोषों के प्रवाह में वह जाता है। अतः जब यह कहा जाता है कि मांसाहारी का स्वभाव क्रूर होता है, उसकी वुद्धि में स्थूलता होती है तथा उसका जीवन विकास

की पगडंडी पर गतिशील नहीं होता, तो इसका तात्पर्य इतना ही है, कि उक्त दोषों के अन्य कारणों के साथ मांसाहार भी एक कारण है, अर्थात् इससे जीवन में अनेक दोष आ घुसते हैं।

स्वभाव के लिए भी ऐसी बात नहीं है कि कोई व्यक्ति २४ घण्टे क्रूर ही दिखाई दे। मनुष्य तो क्या, हिंसक जन्तु भी चौबीस घण्टे क्रूर नहीं दिखाई देते। शेर भी अपने बच्चों को प्यार करता है, अपने बच्चों एवं शेरनी के साथ खेलता-कूदता है। परन्तु, अपने से इतर पशु को देखते ही उसकी आंखों में आग बरसने लगती है, क्रूरता अट्ठखेलियां करने लगती है। यही स्थिति मांसाहारी मनुष्य की है। यह हम पहले बता चुके हैं कि मोह कर्म के उदय से अन्य व्यक्तियों में भी आवेश आता है। परन्तु वे फिर भी किसी बात को कुछ हद तक बर्दाश्त भी कर लेते हैं। परन्तु, मांसाहारी में सहिष्णुता की कमी होती है। जरा-सा निमित्त मिलते ही उसकी सुषुप्त क्रूरता जाग उठती है और वह शान्त-सा प्रतीत होने वाला मनुष्य खूंखार एवं भूखे भेड़िये की तरह सामने वाले प्राणी पर टूट पड़ता है, बरसने लगता है। यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि ज़रा-ज़रा-सी बात पर उसे आवेश आ जाता है। और उस समय वह अपने को भूल जाता है, उसकी आत्म चेतना सो जाती है, उसकी सोचने-समझने की शक्ति एवं बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। एक पाश्चात्य विचारक ने ठीक ही कहा है कि-

"An angry man opens his mouth and shuts his eyes"

क्रोध के समय मनुष्य की आंखे बंद हो जाती है और मुँह खुल जाता है। या यों कह सकते हैं कि उसके ज्ञान चक्षु, सूझ-बूझ की आंखें बंद हो जाती हैं और दोषों का द्वार खुल जाता है। और यह हम सदा अपनी आंखों से देखते हैं कि क्रोध एवं क्रूरता का समय व्यक्ति में सोचने की शक्ति नहीं रहती, वह उस समय सही एवं गलत बात की

पहचान नहीं कर सकता, वह तो पागल कुत्ते की तरह काटने दौड़ता है। और मांसाहारी व्यक्ति में आवेश की मात्रा अधिक होती है। ज़रा-सी बात को भी वह सह नहीं सकता। और पाश्चात्य देश के व्यक्ति भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। अंग्रेजों के क्रोध से भारतीय परिचित ही हैं। वे ज़रा-सी बात को भी सह नहीं सकते। ज़रा-से अपमान का बदला थप्पड़, बेंत या गोली से लेते हैं। छोटी-छोटी बातों एवं थोड़े-से स्वार्थों के लिए युद्ध की आग प्रज्वलित कर देते हैं।

दूसरा प्रश्न रहा बुद्धि की स्थूलता या ज्ञान की कमी का? वह भी स्पष्ट है। हम यह नहीं मानते कि मांसाहारी में ज्ञान नहीं होता। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और वह प्रत्येक आत्मा में रहता ही है। परन्तु जब हम यह कहते हैं कि मांसाहारी व्यक्ति में बुद्धि या ज्ञान का विकास नहीं होता, तो हमारा तात्पर्य अक्षरी ज्ञान से नहीं, विवेक से है। क्योंकि भारतीय संस्कृति में उसी ज्ञान को महत्त्व दिया है, जो विवेक से युक्त है। विद्या या ज्ञान की परिभाषा करते हुए एक महान विचारक एवं चिन्तक ने कहा है- "सा विद्या या विमुक्तये" अर्थात् वही विद्या या अक्षरी ज्ञान वास्तविक विद्या है, जो व्यक्ति को जन्म-मरण के दुःख से मुक्त कराती है, छुटकारा दिलाती है। वस्तुतः ज्ञान वही सार्थक है, जो विवेक-युक्त है और सर्व जगत के हित में गतिशील है। और मांसाहारी व्यक्ति में इस विवेक की कमी है।

यह सत्य है कि पाश्चात्य व्यक्तियों ने भौतिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विकास किया है और अंग्रेज़ भी कूटनीति में निपुण हैं। परन्तु यह बात सारे अंग्रेज़ों एवं पाश्चात्य देश के सभी निवासियों में नहीं पाई जाती। अंग्रेज़ों में भी बहुत से निरक्षर भट्टाचार्य मिलेंगे, जिन्हें A, B, C, D भी लिखना पढना नहीं आता। पर हमारा तात्पर्य तो

अक्षरी एवं भौतिक ज्ञान की न्यूनता एवं अधिकता नहीं, बल्कि विवेक की न्यूनता-अधिकता का है। और विवेक की कमी पाश्चात्य देश के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों, इंजिनियरों, राजनेताओं एवं व्यापारियों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। उनकी दृष्टि अपने तक ही सीमित है। वे सबसे पहले अपना स्वार्थ देखते हैं और अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए अपने ज्ञान का प्रयोग करते हैं। अतः उन की दृष्टि में जग का हित नहीं, अपना हित ही समाया रहता है और अपने हित एवं स्वार्थ को साधने के लिए मार्ग में आने वाले सभी प्राणियों को— चाहे पशु-पक्षी हो, कीड़ा-मकौड़ा हो—रौंदते, कुचलते चलते हैं, चारों तरफ हाहाकार मचा देते हैं। बम्ब, रिवॉलवर, राइफल्स से ले कर राकेट, अणु, उद्-जन-हाइड्रोजन एवं नाइट्रोजन बम्ब जैसे विनाशक एवं भयावने शस्त्रों के निर्माता मांसाहारी दिमाग ही है। हां, तो मैं बता रहा था कि उन का दिमाग चलता है-- दुनिया के प्राणियों का संरक्षण करने की ओर नहीं, बल्कि विश्व का विनाश करने की ओर। और इसी का परिणाम है कि उन्होंने आज विश्व को विनाश के कगारे पर ला खड़ा किया है। आणविक शस्त्रों की घुड़दौड़ ने सारे विश्व में तहलका मचा दिया है। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति भयभीत है, संत्रस्त है। इसका कारण यही है कि उनमें विवेक की कमी रही है। और विवेक के अभाव में विज्ञान आज मानव के लिए वरदान नहीं अभिशाप बन रहा है।

पाश्चात्य देशों में ज्ञान-शिक्षा का विकास अवश्य हुआ है, परन्तु उसके साथ मुक्ति की दृष्टि न होने से उसका भी विशेष मूल्य नहीं रह जाता है। जीवन मुक्ति की बात जरा दूर रहने दें, पर पारिवारिक एवं राष्ट्रीय दुःखों तथा संक्लेशों से मुक्त करने वाला तो होना चाहिए। परन्तु वर्तमान शिक्षा इस दिशा में भी असफल रही है। आज पाश्चात्य एवं पूर्वीय देशों में जितने शिक्षित व्यक्ति संक्लेशों से

घिरे हैं, उतने अशिक्षित कष्टों से पीड़ित नहीं मिलेंगे। कारण स्पष्ट है कि उनके पास अक्षरीज्ञान तो है, परन्तु कष्टों से मुक्त होने की कला नहीं है, या सीधी-सी भाषा में यों कहिए कि उनका दिमाग़ तो चलता है, पर हाथों-पैरों में गति नहीं है। वे सिर्फ कुर्सी पर बैठना जानते हैं और कुर्सी सब को सुलभ नहीं होती और यदि सबको कुर्सी दे भी दी जाए तो भी समस्या हल नहीं होती। क्योंकि उन कुर्सीनुमा बाबुओं के पेट एवं जेबें भरने के लिए अन्न एवं पैसा कहां से आएगा? जबकि सभी बाबू बने बैठे हैं। और आज की शिक्षा में सबसे बड़ा दोष है तो यही है कि वह क्लर्क, मास्टर एवं इंजिनियर तैयार कर देती है, पर उत्पादक एवं जगत का परिपोषक तैयार नहीं करती यही कारण है कि चारों ओर शोषण एवं स्वार्थ के दौर चल रहे हैं। तो मैं बता रहा था कि विद्या तो है, पर कष्टों, संक्लेशों एवं मुसीबतों से उबारने के स्थान में उनमें धकेलने वाली है। और इस शिक्षा या ज्ञान पद्धति के जनक रहे हैं– पाश्चात्य देश के व्यक्ति या यों कहिए मांसाहारी। इससे स्पष्ट हो गया कि मांसाहारियों का ज्ञान स्वार्थ से भरा है। उनकी शिक्षा प्राणी जगत का शोषण करके अपना पोषण करने की रही है। और उसी के परिणाम–स्वरूप सारा विश्व आज दुःख की आग में जल रहा है, संकटों एवं मुसीबतों की चक्की में पिस रहा है।

अब रही बात उन्नति एवं तरक़्क़ी की, वह तो हम देख ही रहे हैं। यह ठीक है भौतिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों ने कुछ विकास किया है, परन्तु जीवन केवल भौतिक पदार्थों पर ही तो आधारित नहीं है। शरीर को खाने–पीने, पहनने-ओढने एवं रहने आदि के लिए भौतिक पदार्थों की आवश्यकता रहती है। परन्तु यह ही तो सब कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त और भी कुछ है, जो इस शरीर का संचालक है। और

पाश्चात्य देश उस 'और कुछ' को ही भूले हुए हैं। वे शरीर-पोषण के लिए तो रात-दिन दौड़ते हैं, नई-नई योजनाएं तैयार करते हैं, परन्तु इस 'और कुछ' अर्थात् आत्मा के लिए कभी एक मिण्ट भी नहीं सोचते। यही कारण है कि उनका भौतिक विकास आत्म विकास शून्य होने से आज विश्व के लिए खतरे का कारण बन गया है।

भौतिक उन्नति एवं एश्वर्य-संपन्नता भी बाहर से अधिक दिखाई देती है। परन्तु आन्तरिक स्थिति उतनी उन्नत नहीं है, जितनी बाहर प्रापेगण्डे में दिखाई जाती है। डूंगर–पहाड़ सदा-दूर से ही सुहावने लगते हैं, यह कहावत उन पर बिल्कुल चरितार्थ होती है। लोग कहते हैं कि अमरीका में सभी धनवान हैं, परन्तु यथार्थ में ऐसी बात नहीं है। वहां ग़रीब भी हैं। धनवान दिखाई देने वालों में भी सभी की आन्तरिक स्थिति अच्छी नहीं है। यह ठीक है कि वहां के लोगों का बाहरी रहन–सहन का स्टैंडर्ड ज़रा ऊंचा है, वे भोग-विलास में अधिक डूबे हुए हैं। इसलिए बाहरी दिखावा ऐश्वर्य की संपन्नता को लिए हुए है। आन्तरिक स्थिति यह है कि विवाह होते ही दम्पती को घर से पृथक कर दिया जाता है। रहने के लिए एक मकान मिल जाता है। मासिक या वार्षिक किश्तों के आधार पर उन्हें मोटर, रेडियोसैट आदि अन्य सुख-साधन एवं ऐशोराम के साधन उधार मिल जाते हैं, होटल में खाना खाते हैं। कुछ महीने या वर्ष तो आराम से गुजर जाते हैं, पर थोड़े दिनों के बाद जब क़र्ज़ का भूत सिर पर आ कर खड़ा होता है, तो उनके होश-हवास गुम हो जाते हैं, सारे मौज-मज़े एवं ऐशोराम को भूल जाते हैं और फिर रात-दिन काम में लगना पड़ता है। पति–पत्नी दोनों नौकरी की तलाश करते हैं और नौकरी भी एक जगह नहीं कई जगह करते हैं और नियमित समय से भी अधिक काम करके

कर्ज़ के खड्डे को तथा मौज-शौक एवं ऐयाशी के राक्षसी पेट को भरने का प्रयत्न करते हैं। बाहर से संपन्न दीखते हैं, पर अन्दर-अन्दर ही चिन्ता एवं दुःख का संवेदन करते हैं। और इस तरह सारा जीवन केवल क्षणिक आमोद-प्रमोद के पीछे वर्बाद कर देते हैं। यह स्थिति एक-दो परिवार की नहीं अनेकों परिवार कर्ज़ के बोझे से कराह रहे हैं। तो मैं बता रहा था कि भौतिक उन्नति ही वास्तविक उन्नति नहीं है। आध्यात्मिक उन्नति के अभाव में केवल भौतिक उन्नति जीवन के लिए बहुत ही खतरनाक है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि पाश्चात्य देशों का विकास विनाश एवं खतरे से युक्त है। वह स्वयं के तथा प्राणी जगत के लिए भयावह है। परन्तु भारतियों का विकास— जितना भी उन्होंने किया है, दुनिया के लिए उतना खतरनाक नहीं रहा है। यह कहना एवं समझना भारी भूल है कि भारतियों के पास वैज्ञानिक उन्नति करने का दिमाग़, सूझ-बूझ एवं तरीक़ा नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय दिमाग़ पाश्चात्य देशों से पीछे नहीं हैं। यह बात अलग है कि आध्यात्मिक संस्कृति के संस्कारों के पले-पोसे होने के कारण विनाशक शस्त्रास्त्र बनाने में उनका दिमाग़ गतिशील कम रहा। परन्तु वैज्ञानिक अन्वेषण में भारतीय भी सदा लगे रहे हैं। वनस्पति भी सजीव है, इसकी शोध करने वाले एवं वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा उसमें सजीवता सिद्ध करने वाले जगदीश चन्द्र बोस भारतीय ही थे। उनसे पहले और उनके बाद भी अनेक विज्ञान वेत्ता हुए हैं। वर्तमान में भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा पाश्चात्य विज्ञान क्षेत्र में भी प्रसिद्ध हैं, जो आजकल आणविक शक्ति का निर्माण एवं उसे शान्ति के कार्य में कैसे उपयोग किया जाए? इस खोज में संलग्न हैं और इस दिशा में

उन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किया है।

इस से स्पष्ट है कि भारतियों ने भी विकास किया है। यह बात अलग है कि दोनों के विकास का ढंग एवं क्षेत्र भिन्न रहा है और दृष्टि संस्कार एवं खान-पान की भिन्नता के अनुसार कार्य-क्षेत्र में भी भिन्नता का आना स्वाभाविक था। पाश्चात्य दिमाग़ भौतिक प्रगति में लगे और उन्होंने बड़े-बड़े यन्त्रों को खड़ा कर दिया, जो भूत पिशाच की तरह भयावने प्रतीत हो रहे हैं, केवल प्रतीत ही नहीं हो रहे हैं पर वास्तव में भयावने सिद्ध भी हो रहे हैं। परन्तु भारतीय विचारकों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में सोचा-विचारा एवं विकास भी किया। परिणाम स्वरूप उन्होंने भयानक यन्त्र तो खड़े नहीं किए, परन्तु विनाश से बचने की ताकत उसे दी, जिसके सामने बम्बों की शक्ति भी दब जाती है। वह शक्ति थी—सत्य और अहिंसा की, जीओ और जीने दो की "Live and Let Live." इस क्षेमकरी एवं कल्याणकारी भावना के विकास ने भारत को ही नहीं, बल्कि विश्व को विनाश से बचाया है। यही कारण है कि भगवान महावीर, बुद्ध एवं गांधी जैसे व्यक्ति भारत में पैदा होते रहे हैं और मानव को सदा यह पाठ सिखाते रहे हैं कि युद्ध एवं शस्त्रों से शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरे का खून बहा कर कोई व्यक्ति या राष्ट्र सुख की नींद नहीं सो सकता। दूसरों को सुख देकर ही इन्सान सुखी रह सकता है। हथियारों से नहीं, बल्कि प्रेम-स्नेह, त्याग एवं सेवा भाव से मनुष्य विश्व में शान्ति की सरिता बहा सकता है। आज के वैज्ञानिक एवं राजनेता— जो युगों से, शताब्दियों से युद्धों एवं शस्त्र की शक्ति पर विश्वास करते रहे हैं, कहने लगे हैं कि विश्व-शान्ति के लिए सेना एवं हथियार उपयोगी नहीं हैं, उनको समाप्त

करके ही हम सुख-शान्ति से जी सकते हैं। परन्तु उनकी यह वाणी अभी तक सिर्फ कहने तक ही सीमित है। कथनी के अनुरूप चिन्तन एवं आचरण बना हो, ऐसा अभी तक दिखाई नहीं देता और इसका कारण यह है कि वह तामसिक भोजन या मांसाहार उन्हें शस्त्रों की भयानकता को जानते-देखते हुए भी उनके समाप्त करने की ओर क़दम नहीं उठाने देता। क्योंकि तामसिक भोजन से विचारों में उत्तेजना जागती है और वह तुरन्त युद्ध का भयावना रूप धारण करने लगती है। इसी उत्तेजक मनोवृत्ति के कारण सभी राजनेता शास्त्रों की भयानकता को जानते हुए भी उनका परित्याग नहीं कर पाते। यह मांसाहार का ही कारण है कि उनका विचार संहार की ओर ही अधिक गतिशील है। तो मैं बता रहा था कि भारत ने आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति की है। और इसी के फल स्वरूप भारत ने सत्याग्रह का आविष्कार किया अर्थात् बिना खून के बहाए, अहिंसा एवं प्रेम से आज़ादी प्राप्त की, शत्रु के साथ भी मित्रता के संबंध को निभाया और अब भी निभाए जा रहे हैं। इस तरह शान्ति की इस महाशक्ति का स्रोत भारत में ही बहा है, अन्यत्र नहीं। आज भी विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए भारत अपना योग दे रहा है। जहां पाश्चात्य वैज्ञानिक एवं राजनेता विश्व को मिटाने के लिए भयानक से भयानक आणविक शस्त्र तैयार करने में लगे हैं, वहां भारत विश्व को इस आग से, महा दावानल से बचाने के लिए प्रयत्नशील है और सभी राष्ट्र भारत की इस महाशक्ति की ओर उत्सुकता से देख रहे हैं और इसी शक्ति के कारण वैज्ञानिक विकास में पिछड़े हुए भारत का भी विश्व के सम्पन्न राष्ट्रों के बीच महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्या यह भारत के लिए कम गौरव की बात है? बस, यही भारत का विकास है, जिसे हम

वास्तविक विकास कह सकते हैं। दुर्भाग्य से, आजकल इस विकास में कमी आ रही है। हमारा चिन्तन भी स्वार्थ-साधने में लग रहा है। यह भारत के लिए चिन्ता की बात है। काश! भारतीय अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक स्वार्थों से ऊपर उठ कर अपने पूर्वजों के मार्ग पर गतिशील हों तो भारत की उन्नति में चार चांद लगते देर न लगे।

इतने लम्बे विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो गया कि मांसाहार स्वभाव में उत्तेजना एवं क्रूरता जागृत करता है, विवेक को समाप्त करता है तथा पतन या विनाश की ओर ले जाता है। और वस्तुतः आज तक मांसाहार के आधार पर किसी ने विकास नहीं किया। यदि कोई भौतिक क्षेत्र में फूला-फला भी है, तो वह स्वयं के एवं जगत के जीवों के लिए दुःख रूप एवं कष्टकर ही सिद्ध हुआ है। अतः यह कहना ग़लत है कि मांसाहार के आधार पर पाश्चात्य देशों ने उन्नति की है। वस्तुतः उन का भौतिक एवं दिखावटी विकास विनाश एवं पतन रूप में ही हुआ है, अतः उसे विकास का नाम देकर मांसाहार को परिपुष्ट करना बुद्धि का दिवाला निकालना है।

प्रश्न– मांसाहार से शक्ति एवं साहस बढ़ता है। शाकाहारी दुर्बल और कायर होते हैं। उन में अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार करने का सामर्थ्य नहीं रहता। इससे अत्याचारियों का हौसला बढ़ जाता है। अतः उनका दमन करने के लिए मांस सेवन करना चाहिये। संसार के सभी सैनिक शक्ति से संपन्न देश समिष-भोजी हैं। फिर इस का निषेध क्यों?

उत्तर– मांस खाने से बल बढ़ता है, यह कहना ग़लत है। यह तो सूर्य

के उजेले की तरह साफ है कि शक्ति-संवर्धक मांसाहार नहीं, शाकाहार है। शरीर विशेषज्ञों ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया है। और भारतीय संस्कृति के विचारकों ने शाक शब्द का प्रयोग उसके शक्ति संवर्धक गुण को देख कर ही किया है। शाक शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है— "शकनात् शाकः" या "शाकः शक्ति-प्रदो ज्ञेयः" अर्थात्—शाक जीवन शक्ति, साहस एवं स्फूर्ति का संचार करता है।

यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं कि सैनिक देश ताक़तवर ही होते हैं। वास्तव में देखा जाए तो उनके पास जो ताक़त दिखाई देती है, वह उनकी शारीरिक एवं आत्मिक शक्ति नहीं, बल्कि हथियारों की शक्ति है। यह हम पहले बता चुके हैं कि मांसाहारी में साहस एवं सहिष्णुता का अभाव होता है। हम स्वयं देखते हैं कि मांसाहारी कितना डरपोक एवं बुज़दिल होता है। वह बिना हथियार के एक कदम नहीं रख पाता। बड़े-बड़े ताक़तवर देशों के राजनेताओं की सुरक्षा के लिए उनके आस-पास पुलिस एवं मिलट्री का जाल बिछा रहता है, फिर उन्हें भय बना रहता है। उनके मन में हर समय खतरा बना रहता है।

असहयोग आंदोलन के समय की बात है। जय प्रकाश नारायण, क्रांतिकारी पार्टी में थे। सरकार को उनसे बहुत खतरा था। उन पर बहुत कड़ी निगाह रखी जाती थी। जय प्रकाश बाबू एक दिन रेल में यात्रा कर रहे थे। एक अंग्रेज औफिसर ने उनके सूटकेस का निरीक्षण करना चाहा। जय प्रकाश जी ने कहा–इसमें ऐसी कोई वस्तु नहीं जिस पर सरकार की पाबन्दी लगी है। पर औफिसर को विश्वास नहीं आया। उसने सूटकेस खोला, परन्तु मजबूत कागज में मजबूती के साथ लपेटी हुई वस्तु को देख कर वह कांपने लगा। उसका साहस

नहीं हो रहा था कि उसे खोल कर देखे । उसे भय हो रहा था कि कहीं इसमें बम्ब तो नहीं छिपाया है, जो हाथ का स्पर्श पाते ही फट जाए या न मालूम किस समय फट पड़े । उसने डरते हुए पूछा– इस में क्या है ? जय प्रकाश जी ने मुस्कराते हुए कहा— यह आप ही के लिए है । अब तो उसका भय और बढ़ गया । पर उसे सूटकेस में स्थित एक-एक वस्तु की जांच करनी थी । अतः एक सिपाही को बुलाया और उसे बण्डल खोलने को कहा। उसने बिना किसी हिचक के बंडल खोलकर अफसर के हाथ में रखा तो साहब का चेहरा फ़क़ हो गया, उसका सिर शर्म से झुक गया और जय प्रकाश एवं अन्य देखने वाले खिल-खिल्ला कर हंस पड़े। उसमें से निकला क्या ? देशी जूतों का एक जोड़ा । इतना साहस शौर्य है मांसाहारियों का कि जूते का बंडल भी उनके लिए पिशाच बन गया ।

सत्य यह है कि मांसाहार शक्ति को बढ़ाता नहीं, क्षय करता है। वह तो क्रूरता को बढ़ाता है और क्रूरता एवं नृशंसता को शक्ति का नाम देना,शक्ति का उपहास करना है। क्रूरता ताकत नहीं बल्कि सबसे बड़ी कमज़ोरी है । अतः मांसाहार को शक्ति सम्वर्धक मानना सर्वथा ग़लत है । आप अंग्रेजों की शक्ति एवं ताकत देख चुके हैं । वे रिवॉ– लवर के बिना बाहर घूम-फिर नहीं सकते । शस्त्रों से सुसज्जित होते हुए भी उन्हें खतरा बना रहता है । यह है उनकी शक्ति एवं शौर्य का परिचय । दूसरी ओर है महात्मा गांधी का जीवन, जो तोप और बन्दूकों के बीच भी खाली हाथ साहस के साथ घूमते फिरते रहे हैं। नो- आखली की डांडी यात्रा किसी मांसाहारी अंग्रेज के लिए स्वप्न में भी संभव नहीं हो सकती । तो महात्मा गांधी में यह आत्मिक शक्ति, साहस एवं शौर्य था कि वे बिना शस्त्र के एक सैनिक - शक्ति से युक्त

राष्ट्र के साथ लड़ते रहे और अन्त में विना शस्त्र के ही उसे परास्त कर दिया। उन्हें यह शक्ति, ताक़त मांसाहार से नहीं, शाकाहार से ही मिली थी। वापू सदा शाकाहारी रहे हैं। अपने अध्ययन काल में इंग्लैंड में रहते हुए भी आपने सामिष भोजन को छूआ तक नहीं। यहां तक कि भयंकर रोग से ग्रस्त अवस्था में भी आपने मांस एवं अंडे का शोरवा तथा शराब पीने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। वे मांस खाने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ समझते थे। तो वापू में जो इतनी शक्ति, साहस एवं शौर्य था,वह सात्त्विक आहार एवं सात्त्विक रहन-सहन का ही प्रतिफल था।

इसके अतिरिक्त विश्व के माने हुए दो पहलवानों के शक्ति सामर्थ्य का अवलोकन करने पर हम अच्छी तरह समझ सकेंगे कि वनस्पत्याहार कितना ताक़तवर है। एक ओर किंग-कांग का शरीर है- जिसका आहार एक दानव से कम नहीं है। जिसने अपने पेट को कब्रिस्तान वना रखा है। वह नाश्ते में ३ सेर दूध और ३६ अंडे लेता है। भोजन के समय ६ मुर्गे, आध सेर मक्खन, डेढ़ सेर शाक-रोटी और १ सेर फलों का रस। रात के भोजन में ३ वतक, डेढ़ सेर शाक-रोटी और सोते समय दो सेर दूध पीता है। उसका चेहरा भी दानव-सा भयावना प्रतीत होता है। दूसरी ओर भारतीय पहलवान दारासिंह है— जो जन्म से शाकाहारी रहा है और अब भी शाकाहारी है। दूध, वादाम और फल जिसका भोजन है। किंग कांग की तरह उसका शरीर मोटा नहीं है,परन्तु सुगठित, सुडौल,फुर्तीला और ताक़तवर है। आपने समाचारपत्रों के पृष्ठों पर पढ़ा होगा कि दारासिंह उसे- दैत्याकार किंगकांग को कई वार कुश्ती में हरा चुका है। जवकि किंगकांग शरीर में अपने से दुबले दिखने वाले भारतीय पहलवान को एक वार

भी नहीं पछाड़ सका। यह मांसाहार पर शाकाहार की विजय है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि जो शक्ति,जो ताक़त शाकाहार में है वह मांसाहार में नहीं है। मांसाहार से– आवेश, क्रोध एवं वासना में अभिवृद्धि होती है और शाकाहार से क्षमा, शान्ति एवं सात्त्विकता का विकास होता है।

प्रश्न– आज देश में जनसंख्या बढ़ रही है और अन्न का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में नहीं हो रहा है। अतः अन्न की कमी को पूरा करने के लिए मांस खाया जाए तो उसमें क्या दोष है?

उत्तर– यह तर्क बिल्कुल ग़लत है कि अनाज की कमी मांस से पूरी हो जाती है। यदि ऐसा होता तो बंगाल-बिहार आदि प्रांतों के लोग जो अधिक संख्या में मांसाहारी हैं, अकाल के समय भूख से क्यों मरते हैं और अन्न की मांग क्यों करते हैं? इससे स्पष्ट है कि मांस अन्न की कमी को पूरा नहीं करता। क्योंकि मनुष्य जंगली जानवरों की तरह केवल मांस खाकर पेट नहीं भर सकता। यदि वास्तव में देखा जाए तो वह मांस-मछली पेट भरने के लिए ही नहीं, बल्कि जिह्वा के स्वाद के लिए खाता है। इसलिए मांस से अन्न की कमी पूरी नहीं होती, बल्कि बढ़ती है। जैसे – केवल रूखी-सूखी रोटी खाई जाए तो मनुष्य थोड़े-से भोजन से काम चला सकता है। परन्तु जब वह घी एवं मक्खन लगा कर शाक–सब्ज़ी, मिर्च-मसाले एवं चटनी आदि के साथ खाता है, तो शाक-सब्ज़ी आदि के कारण रोटी में कमी नहीं होती, बल्कि अधिक खाता है। इसी तरह मांस आदि के साथ भी अन्न की खपत बढ़ती है। अतः अन्न की कमी मांस खाने से पूरी हो जाएगी, यह आशा रखना बिल्कुल ग़लत है। जितना मांसाहार बढ़ेगा, उतना ही अन्न का अकाल पड़ेगा। क्योंकि मांस के

साथ अन्न की खपत तो बढ़ जाएगी और उत्पादन कम हो जाएगा। कारण स्पष्ट है कि कृषि से भी अधिक जगह मांसाहार के उत्पादन में घेर ली जाती है। कृषि-वैज्ञानिकों का कहना है कि मांसाहार प्राप्त करने के लिए प्रति व्यक्ति को ढाई एकड़ जमीन चाहिए। परन्तु शाकाहार के लिए प्रति व्यक्ति डेढ़ एकड़ जमीन पर्याप्त है। इस मांस-मत्स्य उद्योग को बढ़ावा दिया गया तो वह अधिक जगह घेर लेगा और परिणामस्वरूप अन्न का उत्पादन घट जाएगा। अतः कृषि-योग्य भूमि को राक्षसी भोजन प्राप्त करने के लिए लगाना उचित एवं युक्तिगत ही नहीं, राष्ट्रद्रोह है, देश में अकाल की भयानक स्थिति को पैदा करना है। अस्तु, मांसाहार से अन्न की कमी पूरी होनी असंभव है। उसे पूरा करने के लिए अन्य तरीके हैं; मांसाहार से अन्न का उत्पादन नहीं बढ़ेगा। उसके लिए श्रम एवं कृषि-योग्य भूमि अपेक्षित है। अतः यह तर्क कोई मूल्य नहीं रखता। मांसाहार हर हालत में दोषयुक्त है। उससे दोष, दुःख एवं संकटों में अभिवृद्धि ही होती है।

'मत्स्य-न्याय' मानव प्रकृति के विरुद्ध है

प्रश्न– प्रकृति का नियम है कि सबल निर्बल को खा जाता है। मच्छर को मक्खी खा जाती है, मक्खी को मेंढ़क, मेंढ़क को सर्प और सर्प को न्यौला समाप्त कर देता है। तथा बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। "मत्स्य गलागल न्याय" तो प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थिति में यदि मनुष्य किसी पशु-पक्षी को उदरस्थ कर जाता है, तो इसमें प्रकृति के विपरीत कार्य

करने जैसी बात तो नहीं है। फिर मांसाहार का निषेध क्यों किया जाता है?

उत्तर— यह नियम प्रकृति का नहीं, पशु जगत का है और वह भी उन्हीं पशु पक्षियों का है, जो मांसाहारी हैं, हिंस्र जन्तु हैं, सर्व-साधारण पशु-पक्षियों का भी ऐसा स्वभाव नहीं है। परन्तु, मनुष्य सारे प्राणी जगत से ऊपर है। अतः उसकी हिंस्र पशुओं के साथ तुलना करना तथा अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए "मत्स्य-न्याय" का उदाहरण देना अपनी अज्ञानता को प्रकट करना है। हिंस्र पशुओं में एक-दूसरे को या बड़े द्वारा छोटे को निगलने का जो दोष पाया जाता है, यह उनकी अज्ञानता का परिचायक है। उनमें बुद्धि, विवेक एवं सोचने-समझने की शक्ति का पूरा विकास नहीं हो पाया है। परन्तु, मनुष्य को सोचने-विचारने के लिए दिमाग़ मिला है और उसकी बुद्धि भी काफ़ी विकसित है। फिर वह विवेक-पूर्वक गति नहीं करता है, अपनी शक्ति निर्बल एवं कमज़ोर प्राणियों के संरक्षण में नहीं लगाता है, तो वह हिंस्र पशु से ऊपर नहीं उठ पाया है, ऐसा कहना चाहिए। आकार-प्रकार से इन्सान होते हुए भी कर्तव्य एवं कार्य की अपेक्षा से वह हैवान है, राक्षस है, खूंखार जानवर है। भारतीय संस्कृति के गायक ने भी कहा है—

> "आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च,
>
> सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणां।
>
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषः,
>
> धर्मेण हीना पशुभिः समाना ॥"

अर्थात्– आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन सेवन की दृष्टि से मनुष्य और पशु में विशेष अन्तर नहीं है। ये चारों बातें साधारणतः दोनों में पाई जाती हैं। परन्तु दोनों में अन्तर करने वाला धर्म है, विवेक है। इसी विशेषता के कारण मनुष्य पशु से श्रेष्ठ माना जाता है। अतः जो व्यक्ति धर्म एवं विवेक से रहित है, वह मनुष्य होते हुए भी पशु के समान है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य की मनुष्यता निर्बल एवं असहाय को निगलने में नहीं, बल्कि उसकी सुरक्षा करने में है। अपने पेट को मुर्दा जानवरों की कब्र बनाना इन्सान का काम नहीं है, यह तो गृद्ध और कौवों का काम है। वे भी जीवित जानवर को मार कर खाने का प्रयत्न नहीं करते, परन्तु बुद्धि का दीवाना बना इन्सान जीवित पशुओं पर छुरी, तलवार एवं गोली चलाते हुए विचार नहीं करता। यह उसकी अज्ञानता एवं अमानुषिक वृत्ति ही है। इस तरह के कार्य को उचित नहीं कहा जा सकता और न प्रकृति के नियम का पालन ही कहा जा सकता है। 'मत्स्य-न्याय' हिंस्र जन्तुओं में चलता है, पर उसे कोई आदर एवं सम्मान के साथ नहीं देखता। मानव-जगत में जहां कहीं बड़ा छोटे को दबाता हुआ देखा जाता है, वहां तुरन्त 'मत्स्य न्याय' का कड़े शब्दों में विरोध होता है, उसे समाप्त करने के लिए आन्दोलन चलाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि मानव 'मत्स्य-न्याय' से ऊपर उठ चुका है। वह अपने लिए 'मत्स्य-न्याय' नहीं चाहता। वह नहीं चाहता कि कोई बड़ा व्यक्ति मुझे निगल जाए। जब वह अपने लिए 'मत्स्य-न्याय' नहीं चाहता, तब उसे दूसरे प्राणी को निगलने के लिए उसका सहारा लेना सर्वथा अनुचित है। मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है कि वह अपने से कमज़ोर पशु-पक्षियों को निगल जाए। मनुष्य के लिए यही उचित है कि वह 'मत्स्य-

न्याय' या हिंस्र पशु-जगत से ऊपर उठ कर प्राणी जगत की रक्षा करने का प्रयत्न करे। अपनी शक्ति निर्बल प्राणियों को समाप्त करने में नहीं, वल्कि उनके संरक्षण में लगाए।

अण्डा मांसाहार है

प्रश्न– अण्डे में तो जीव नहीं होता, अतः इसका सेवन करने में कोई पाप या दोष नहीं हो सकता ?

उत्तर– हम सदा देखते हैं कि पक्षी अंडे में से निकलते हैं और वे पक्षी सजीव माने जाते हैं। जव अंडे में निकलने वाले पक्षी सजीव हैं, तव अंडा निर्जीव कैसे हो सकता है। निर्जीव अंडे से सजीव पक्षी की उत्पत्ति असंभव है। वही वीज अंकुरित, पल्लवित एवं फलित हो सकता है, जो सजीव है। भूने हुए या अन्य शस्त्र से निर्जीव वना दिया गया वीज कभी भी अंकुरित नहीं होता। उसी तरह उसी अंडे में से पक्षी का जन्म होता है, जो सजीव है। जो अंडा किसी कारण से खराव हो गया है या हिला-हिला कर निर्जीव कर दिया गया है, वह शीघ्र ही सड़ जाएगा, परन्तु उसमें से पक्षी पैदा नहीं होगा। अतः अंडा निर्जीव नहीं, सजीव है, सचेतन है, प्राणवान है।

शब्दकोष एवं धर्म शास्त्रों में पक्षी को द्विजन्मा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि पहले वह अण्डे के रूप में जन्म लेता है और फिर पक्षी के रूप में। इस तरह उसके होने वाले दो जन्मों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सजीव है। दूसरी वात अण्डे की उत्पत्ति मादा पक्षी के गर्भ से होती है। जैसे गर्भ से उत्पन्न हुए अन्य पशु एवं मानव सजीव हैं, वैसे अण्डा भी सजीव है। क्योंकि वह नर एवं मादा के संभोग का प्रतिफल है।

सजीव प्राणियों को अपने शरीर को स्वस्थ एवं व्यवस्थित रखने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। विना खाए-पीए वह अधिक दिन जीवित नहीं रह सकते और नवजात शिशु तो भोजन के अभाव में वहुत समय तक जीवित नहीं रह सकता। उसे तो जन्मते ही तुरन्त भोजन की आवश्यकता होती है। यही स्थिति अण्डे की है, उसे भी आहार न मिले तो वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। इसी कारण पक्षी अण्डे के ऊपर वैठते हैं और मादा पक्षी के शरीर की गर्मी से अंडे को पोषण मिलता है और उस से उसके शरीर का निर्माण होता है। यदि मादा पक्षी की गर्मी का पोषण अंडे को न मिले तो वह थोड़े-से समय में सूख जाएगा, निर्जीव हो जाएगा। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अण्डे में सजीवता है। वैज्ञानिकों ने भी सूक्ष्म दर्शक यन्त्रों से निरीक्षण करके उसकी सजीवता को स्वीकार कर लिया है, इतने पर कुछ लोग उसे निर्जीव वताते हैं और व्हाइट पोटेटो (White potatoes) अर्थात् सफैद आलू कह कर उसे खाने में कोई दोष नहीं मानते। यह उनके अज्ञान एवं स्वार्थी मनोवृत्ति का ही परिणाम है। अपनी ज़बान का स्वाद लेने के लिए मनुष्य जघन्य से जघन्य कार्य करते हुए भी नहीं हिचकिचाता। यह उसका हद दर्जे का नैतिक पतन है।

प्रश्न– यदि अण्डा सजीव है तो उसे तोड़ने पर दुःखानुभूति होनी चाहिए, जैसे कि अन्य पशु-पक्षियों को मारते समय दुःखानुभूति होती है, परन्तु अंडे को तोड़ते समय उसमें दुःखानुभूति नहीं होती, इससे उसे सजीव कैसे माना जाए?

उत्तर– अण्डे में भी दुःखानुभूति होती है। यह वात अलग है कि वह

उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जैसे— कोई गूंगा-बहरा एवं हाथ-पैर आदि अंगोपांगों से रहित व्यक्ति पर शस्त्र का प्रहार किया जाए तो उसे दुःख होगा या नहीं? अवश्य होगा। इसी तरह अण्डे में स्थित जीव को भी तोड़ते समय दुःखानुभूति होती है, परन्तु वह उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता। क्योंकि अंगोपांग रहित मांस के पिंडवत् व्यक्ति की तरह उसके पास भी अपने दुःख को प्रकट करने के साधनों का अभाव है। इसी कारण वह दुःख-सुख को व्यक्त नहीं कर पाता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसको उसका संवेदन ही नहीं होता। संवेदन तो होता ही है।

प्रश्न– अण्डे को तोड़ते समय उसमें से कोई शरीर-धारी जीव तो नहीं निकलता केवल स्निग्ध, तरल पदार्थ ही निकलता है। यदि वह सजीव है तो उसे तोड़ने पर उसमें सजीव प्राणी की स्पष्ट प्रतीति क्यों नहीं होती?

उत्तर– आत्मा या जीव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। वह जिस शरीर में रहता है, उसमें होने वाली हरकतों के द्वारा ही हम उसकी सजीवता को जान-देख सकते हैं। यही कारण है कि अण्डे को तोड़ते समय उसमें से जीव दिखाई नहीं देता। क्योंकि वह चाक्षुष प्रत्यक्ष वाला नहीं है और उस अण्डे में अभी तक ऐसा शरीर नहीं बना है, जिसके द्वारा उस प्राणी के जीव का स्पष्ट परिचय मिल सके। अण्डे के रूप में उत्पन्न होने के कई दिनों बाद उसमें स्थित तरल पदार्थ को जीव अपना शरीर बनाता है। मनुष्य को भी यही स्थिति है, माता के गर्भ में आते ही उसका शरीर नहीं बन जाता है। कई दिनों तक वह तरल ही रहता है उसके बाद वह अपने शरीर का ढांचा बनाता है।

यदि कभी एक-डेढ़ महीने का गर्भ ही गिर जाए तो स्त्री के गर्भाशय से भी लालिमा युक्त तरल पदार्थ का ही प्रस्रवण होता है, किसी आकार-प्रकार वाले जीव का प्रस्रवण नहीं होता। इसी तरह अण्डे में स्थित तरल पदार्थ को शरीर रूप में परिवर्तित होने में समय लगता है और उससे पहले ही तोड़ने पर उसमें किसी शरीर आकार के स्थान में तरल पदार्थ ही मिलेगा। पर इससे उसे निर्जीव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसी तरल पदार्थ से पक्षी के शरीर का निर्माण होता है। जैसे माता के गर्भ में स्थित तरल पदार्थ से बच्चे का शरीर बनता है और इसी कारण गर्भपात के समय प्रस्रवित तरल पदार्थ प्रस्रवित होने से पूर्व सजीव माना जाता है। उसी तरह अण्डे में स्थित तरल पदार्थ शरीर बनता है। अतः उसे सजीव ही मानना चाहिए।

प्रश्न– कुछ अण्डे ऐसे होते हैं कि जिनमें से पक्षी के बच्चे नहीं निकलते। अतः वे तो निर्जीव ही होते हैं, उन के खाने में कोई पाप या दोष नहीं है क्या?

उत्तर– यह तर्क सही नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिस शरीर में से – चाहे वह शरीर अण्डे का हो, पशु का हो, पक्षी का हो या मनुष्य का हो-जीव निकल जाता है,तो फिर वह निर्जीव शरीर अधिक समय तक उसी रूप में नहीं रह पाता। थोड़ी देर के बाद वह सड़ जाता है,बिगड़ जाता है, उसमें अनेक कीटाणु पैदा हो जाते हैं,उसमें से दुर्गंध आने लगती है। परन्तु अण्डे की यह स्थिति नहीं होती। वह उसी रूप में मौजूद रहता है। फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि उसमें जीव नहीं है? हो सकता है कि मादा पक्षी द्वारा दिए गए सभी अण्डों में से पक्षी न निकले, कुछ अण्डे पक्षी के निकलने के समय से पहले ही मर जाएं और फिर उसमें कुछ न रहे या किसी कारण उसमें (अण्डे में)

रहा हुआ रस—जिससे पक्षी का शरीर बनता है, समय से पहले ही सूख जाए। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जिस समय लोग अण्डा खाते हैं, उस समय भी वह निर्जीव है। यदि वह निर्जीव होगा तो फिर उसमें रस नहीं रहेगा। उसमें रहा हुआ रस उसकी सजीवता को सिद्ध करता है। इस दृष्टि से अण्डा खाना भी हिंसा है, पाप है। यदि थोड़ी देर के लिए हिंसा की दृष्टि को छोड़ भी दें तब भी अण्डा एवं मांस खाना पाप है तथा दोनों पदार्थ मानव के लिए अभक्ष्य हैं। चाहे कैसा भी अण्डा या पशु-पक्षी क्यों न हो वह नर-मादा के द्वारा सेवित मैथुन से ही पैदा होता है। आजकल कुछ वैज्ञानिक नलियों में अण्डे एवं पशु पक्षी पैदा करने का प्रयत्न करने लगे हैं, प्रयोगशालाओं में इसका परीक्षण हो रहा है। वहां भले ही नर-मादा की प्रत्यक्ष मैथुन-क्रिया दिखाई न दे, परन्तु उनका जन्म उन्हीं चीजों से होता है। और मैथुन-क्रिया से वीर्य और रज का संयोग होता है और उससे मादा के गर्भ में सन्तान की उत्पत्ति होती है। और वैज्ञानिक भी नर और मादा के वीर्य और रजकणों को एक नली में मिलाते हैं और जितनी गर्मी एवं अन्य साधन-सामग्री गर्भ में मिलती है, वही सारी सामग्री उसे वैज्ञानिक साधनों द्वारा पहुंचाई जाती है। जिससे उस प्रकार के प्राणी की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि अण्डा चाहे वह गर्भ से पैदा हुआ हो या वैज्ञानिक साधनों से भी क्यों न उत्पन्न किया गया हो, अब्रह्मचर्य हो का प्रतिफल है अतः मनुष्य के लिए अभक्ष्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से अण्डा एवं मांस मनुष्य का आहार नहीं हो सकता।

प्रसन्नता की बात है कि पूर्व में उदित हुआ अहिंसा का प्रकाश-पुञ्ज कई शताब्दियों के बाद पश्चिम के क्षितिज पर फैल रहा है। भौतिकवाद की चकाचौंध में चुंधियाए मानव अहिंसा के प्रकाश में

अपने जीवन को मोड़ दे रहे हैं। मांसाहार कम करने के लिए पाश्चात्य देशों ने मिलकर "All World Vegetarian Congress" 'विश्व शाकाहारी कांग्रेस' की स्थापना की है और उक्त कांग्रेस पाश्चात्य देशों की जनता के मन में अहिंसा, दया एवं करुणा के भाव जगा कर आमिष आहार को रोकने का प्रयास कर रही है। उसके सद् प्रयत्न से हज़ारों व्यक्तियों ने मांसाहार का परित्याग किया है। पाश्चात्य देशों में दिनों-दिन शाकाहार का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है। १५वें शाकाहार सम्मेलन नई दिल्ली एवं वाराणसी में आए हुए वर्मा के प्रतिनिधि ने गौरव का अनुभव करते हुए यह कहा कि बुद्ध जयन्ती पर वर्मा सरकार ने सारे देश में ६ दिनों तक मांसाहार पर प्रतिवन्ध लगा दिया था, इस प्रतिवन्ध में मुसलमान भी शामिल थे। इस तरह युग-युगान्तर से आमिष-भोजी रहे देश आज अहिंसा के महत्त्व को समझ रहे हैं। वे यह समझ रहे हैं कि आमिष आहार ही अशान्ति एवं युद्धों का जनक है। यह मानव के लिए वरदान नहीं, अभिशाप है। शक्ति-वर्धक नहीं, शरीर-दूषक है। वह मनुष्य की आध्यात्मिक ताक़त तथा दया, क्षमा, सहिष्णुता आदि मानवोचित गुणों का शोषक है, पोषक है तो केवल दानवी भावना का।

ऐलोपेथिक-टॉनिक-शक्तिवर्धक औषध सामिष भोजन है

आजकल ऐलोपेथिक चिकित्सा प्रणाली अधिक चल रही है। अपने आपको निरामिष-भोजी मानने वाले व्यक्ति इन्जैक्शन एवं अन्य टॉनिकों का उपभोग करते हैं— जिनमें मांस, चर्बी, अण्डे का शोरवा एवं मछली का तेल (Cod Liver oil) मिला रहता है। बुखार एवं अन्य बीमारी से उत्पन्न हुई कमज़ोरी को दूर करने के लिए डाक्टर प्रायः कॉड लिवर आयल देते हैं या Vitamin A

(विटामिन ए) की गोलियें देते हैं— जिसमें Cod Liver oil मिला रहता है। इसके सिवाय आजकल लीवर ऐक्सट्रेक्ट Liver Extract के इन्जैक्शनों का भी अत्यधिक प्रयोग होने लगा है। ये इन्जैक्शन बैल तथा घोड़ों के Liver (जिगर) से बनाए जाते हैं। ऐसी दवाईयों का उपयोग मांसाहार नहीं तो और क्या है? आजकल श्रावक एवं साधु भी सामिष इन्जैक्शन और टॉनिकों का खुले रूप से उपयोग करने लगे हैं। अहिंसा के परिपालकों के लिए यह पतन को पराकाष्ठा है।

वस्तुतः देखा जाए तो दवा रोग को दूर करने का साधन है। ऐसी अनेक जड़ी बूटिएं एवं वनस्पति तथा खनिज पदार्थों से बनो औषधिएं हैं, जो रोग-निवारण में बहुत उपयोगी हैं। और यह भी कोई निश्चय नहीं है कि भ्रष्ट दवाओं का सेवन करने से मनुष्य कभी मरेगा नहीं या पूर्णतया रोग मुक्त हो जायगा। अस्तु, मनुष्य को अपने धर्म पर विश्वास रख कर भ्रष्ट चीज़ों से सदा दूर रहना चाहिए। जब गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में थे तब कस्तूरबा सख्त बीमार हो गई थी। डाक्टर ने कस्तूरबा को मांस का शोरबा देने के लिए कहा और साथ में यह भी कह दिया कि यदि मांस का शोरबा नहीं दिया गया तो जीवन खतरे में है। गांधी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जो होना होगा वह होगा परन्तु मैं उसे शोरबा नहीं दूंगा। बापू ने जब बा को पूछा तो उन्होंने सीधी-सादी भाषा में कहा— शोरबा पीकर इस मानव देह को मैं अपवित्र नहीं करना चाहती। उनकी दृढ श्रद्धा थी। सात्त्विक उपचार चलता रहा और वे स्वस्थ हो गई। इसी तरह बापू स्वयं बीमार पड़े तथा उनका पुत्र देवदास बीमार पड़ा तब भी उन्होंने ऐसे अभक्ष्य पदार्थ स्वयं लेने एवं अपने पुत्र को देने से स्पष्ट इन्कार

कर दिया। अस्तु, अहिंसा एवं दया-प्रे   मानव के मन में दृढ़ विश्वास होना चाहिए और बीमारी के समय तो क्या, मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए भी ऐसे पदार्थों के आसेवन का संकल्प तक नहीं करना चाहिए।

इस तरह हम देख चुके हैं कि धार्मिक, आध्यात्मिक, स्वास्थ्य-शक्ति एवं आर्थिक आदि सभी दृष्टियों से मांसाहार नुक्सानप्रद है। यह नीति का वाक्य है कि मांसाहारी मनुष्य के जीवन में दया का निवास नहीं रहता- "मांसाशिनि कुतो दया ?" जिसके मन में पशु-पक्षियों के प्रति दया और करुणा का भाव नहीं होता, उसके हृदय में इन्सान के प्रति दया, करुणा एवं सम्मान की भावना नहीं जग सकती। आज जो मनुष्य में क्रूर भावना अधिक बढ़ रही है, उसका कारण तामसिक आहार ही है। आजकल भोजन के संबंध में मनुष्य इतने नीचे स्तर पर पहुंच गया है कि उसे भक्ष्याभक्ष्य का ज़रा भी विवेक नहीं रहता। १४-७-१९५९ के दैनिक हिन्दुस्तान में "यह मांसाहारी दिल्ली।" शीर्षक से एक समाचार प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा था कि "राज-धानी [दिल्ली] में मांस खाने की प्रवृत्ति किस सीमा तक पहुंच चुकी है? उसका आपको इस बात से पता चलेगा कि दिल्ली में प्रति दिन १ लाख ४० हज़ार अण्डे तथा ७०० मुर्गी की खपत है। इसमें बकरे तथा अन्य पशु-पक्षियों के गोश्त की खपत शामिल नहीं है। बताया जाता है कि राजधानी की मांग इससे भी अधिक है और इस मांग को पूरा करने के लिए कुछ ठोस क़दम उठाए जा रहे हैं। इस योजना पर ४ लाख ७५ हज़ार रुपये खर्च होने का अनुमान है।"

इन आंकड़ों से हम अनुमान लगा सकते हैं कि मनुष्यों का जीवन कितना भयावह बनता जा रहा है। अहिंसा के बल पर आज़ादी प्राप्त करने वाले भारत में मांसाहार की अभिवृद्धि होते हुए देख कर सच-

मुच दुःख होता है। जिस महात्मा गांधी ने आजादी के लिए जीवन कुर्बानी की, अहिंसा, दया, करुणा और प्रेम–स्नेह के हथियार से जो निरन्तर लड़ता रहा। उसी के अनुयायी आज मांसाहार को प्रोत्साहन दे रहे हैं। भारत-सरकार एक ओर अहिंसा और शान्ति का राग अलाप रही है और दूसरी ओर आधुनिक ढंग के नए-नए क़त्लखाने खोलने तथा मुर्गी, अण्डों एवं मत्स्य के उत्पादन को बढ़ाने के लिए मुक्त हस्त से सहयोग दे रही है। यही कारण है कि सरकार की शांति-योजनाएं सफल नहीं हो पातीं। गला फाड़-फाड़ कर शान्ति-शान्ति चिल्लाते रहने पर भी आज़ राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज में अशान्ति के बादल मंडरा रहे हैं। अशान्ति की आग प्रतिक्षण, बढ़ती ही जा रही है। इसका मूल कारण यह है कि हमारा खान-पान और रहन-सहन सात्त्विक एवं शान्तिदायक नहीं है। याद रखिए कि जिस रसोई-घर में कत्लखाना चल रहा है खून के फव्वारे उछल रहे हैं, उस घर में, उस परिवार में शान्ति कैसे बनी रह सकती है? जीवन को शान्त-प्रशान्त बनाए रखने के लिए घर का वातावरण शान्त एवं सात्त्विक होना चाहिए। भोजनशाला में ऐसे कोई वस्तु नहीं आनी चाहिए जिसके लिए हमारे जैसे प्राणधारी पशु–पक्षियों को अपने अमूल्य जीवन से हाथ धोना पड़े। याद रखिए कि भोजनशाला को कत्लखाना एवं अपने पेट को मृत पशु-पक्षियों की कब्र बना कर मनुष्य कभी भी शान्ति नहीं पा सकता। अस्तु, इन्सान को चाहिए कि वह छोटे-बड़े सभी प्राणियों की रक्षा एवं दया करे। स्वयं सुखपूर्वक जीए और साथ में संसार के अन्य प्राणियों को भी जीने दे, शांति एवं स्वतन्त्रता से विचरने दे। इसी में मनुष्य की महानता है, विशेषता है।

मनुष्य को सृष्टि का बादशाह या सिरताज कहा गया है। इसका

यह अर्थ नहीं है कि वह संसार के अन्य सभी प्राणियों को निगल जाए। याद रखिए, मनुष्य की महानता पशु–पक्षियों को खाने में नहीं है। यह काम तो पानी में रहने वाली मछली एवं अन्य जंगली जानवर तथा कीड़े-मकौड़े भी करते हैं। "मत्स्य गलागल न्याय" की कहावत हमारे यहां प्रसिद्ध ही है। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही बड़ा एवं सबसे श्रेष्ठ माना जाने वाला मानव भी पशु-पक्षियों को अपने पेट के खड्डे में डालता रहे तो वह मत्स्य एवं अन्य जंगली जानवरों से श्रेष्ठ है, यह कहना भारी भूल होगी। एक-दूसरे को खाने का काम तो जंगली जानवर भी करते हैं, परन्तु एक–दूसरे की रक्षा करने का, प्रत्येक प्राणी के जीवन को सुखी बनाने का, आगे बढ़ाने का, गिरते हुए जीवन को सहारा देने का काम पशु नहीं, मानव ही कर सकता है। और इसी कारण वह प्राणी-जगत में सबसे श्रेष्ठ है, महान् है। मानव के इसी एक गुण के कारण ही भारतीय सं–स्कृति के सभी विचारकों ने मानव की, इन्सान की श्रेष्ठता एवं महान-ता के गुण गाए हैं।

कहना चाहिए कि आज मनुष्य अपनी ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता के गुण को भूल गया है। वह दूसरों को हजम करके, खा करके बड़ा बनना चाहता है। वह दूसरों की शक्ति एवं ताक़त छीन कर शक्ति - संपन्न बनने का इच्छुक है। वह दूसरे प्राणियों को बर्बाद करके आगे बढ़ने की आकांक्षा रखता है। वह दूसरों को निर्धन एवं निष्प्राण बना कर अपने खजाने भरने का प्रयत्न करता है। और यही कारण है कि वह पशुता से ऊपर नहीं उठ पाता। आज मानव विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गया है। परन्तु जीवन-व्यवहार के क्षेत्र में वह पशु-जगत से ऊपर उठा हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। वह चील और गिद्धों की तरह

आकाश में उड़ना तो सीख गया, पर इन्सान की तरह ज़मीन पर चलना भूल गया। क्योंकि उसकी दृष्टि चील और गिद्ध से विशाल नहीं बनी। जैसे चील अनन्त आकाश में उड़ाने भरते समय भी पृथ्वी पर रेंगने वाले छोटे-मोटे जन्तुओं को खाने की ओर दृष्टि लगाए रहती है। वह उड़ती है अनन्त आकाश में, पर अभी तक उसकी दृष्टि आकाश की तरह अनन्त नहीं बनी, उसका हृदय विराट् नहीं बना। वह तो अभी तक क्षुद्रताओं से भरा पड़ा है। इसी तरह इन्सान भी आकाश में तो उड़ने लगा, परन्तु दूसरे प्राणियों को समाप्त करने की तथा दूसरे जीवधारियों के मांस और खून से अपने शरीर को मोटा-ताज़ा बनाने की संकुचित दृष्टि नहीं बदली। आकाश में उड़ना सीख कर वह भी चील और गिद्ध की तरह पशु-पक्षियों के मांस पर टूट पड़ता है। अस्तु, आकाश में उड़ने में कोई विशेषता नहीं है। विशेषता है—अपने हृदय एवं अपनी दृष्टि को विराट् एवं व्यापक बनाने की। अपने हित एवं सुख के लिये दूसरे प्राणियों के हित और सुख को भी सुरक्षित रखने की। इस दृष्टि में ही इन्सानियत छुपी हुई है। आज इन्सान को इसे ही पाना है और इसे इन्सान की तरह जमीन पर चल कर ही पाया जा सकता है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य एक इन्सान की तरह चलना सीखे। मानव की तरह जीना एवं रहना सीखे। शाकाहार पर सन्तोष करके प्रत्येक प्राणी का सम्मान करना सीखे।

३. शराब

मदिरा भी एक दुर्व्यसन है। अहिंसा-निष्ठ एवं दया-प्रेमी मानव के लिए यह भी सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि इसके बनाने में महाहिंसा

होती है और इसका सेवन करके मानव अपनी बुद्धि, ज्ञान एवं मानवता को खो बैठता है। जौ, ताड़ का रस, अंगूर का रस, गुड़ आदि कई पदार्थों से शराब बनाई जाती है। परन्तु इसे तैयार करने के लिए इन सभी पदार्थों को— जिनके द्वारा शराब बनाई जाती है, पहले सड़ाया जाता है, विकृत किया जाता है। उन्हें सड़ाये बिना उनमें मादकता नहीं आती, इसलिए उक्त पदार्थों में मादकता लाने के लिए उन्हें सड़ाना जरूरी है। जब किसी पदार्थ को सड़ाया जाता है, विकृत बनाया जाता है या वह पदार्थ स्वयं विकृत हो जाता है तो उसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। वैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि खाद्य पदार्थ जब बिगड़ जाते हैं तो उनमें कीटाणु-जन्तु पैदा हो जाते हैं। और जब उस विकृत पदार्थ को पका कर मदिरा या शराब तैयार की जाती है, तो उसमें उत्पन्न हुए अनेकों त्रस प्राणियों के प्राणों का नाश हो जाता है। इस तरह शराब के बनने में अनेक त्रस प्राणियों की हिंसा होती है। अतः अहिंसा, दया, करुणा एवं मानवता की पहली सीढ़ी पर क़दम रखने वाले मानव को मदिरा-सेवन से सर्वथा बचना चाहिए।

शराब शब्द उर्दू भाषा का है, और शर+आब शब्द के संयोग से बना है। शरारत, शैतानी या धूर्तता को शर कहते हैं और आब पानी को कहते हैं। इस तरह शराब का अर्थ हुआ— वह पानी या वह पेय पदार्थ जो इन्सान को शैतान बना दे। वस्तुतः शराब ऐसा ही पदार्थ है। इस का सेवन करने से मनुष्य के जीवन पर मादकता छा जाती है। उसके ज्ञान-तन्तु नशे से आवृत हो जाते हैं। उनमें सोचने-समझने की शक्ति नहीं रह जाती है। अपने हित-अहित का विवेक नहीं रह जाता है। वह मदिरा के नशे में बेभान हो जाता है, और तो क्या उस समय उसे

अपने शरीर का भी ख्याल नहीं रहता। वह मां-बहिन और औरत के सम्बन्ध को भी भूल जाता है। उसकी वाणी का विवेक समाप्त हो जाता है। इस तरह मदिरा मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देती। वह उसकी बुद्धि को, सोचने-समझने की शक्ति को, विवेक को समाप्त कर देती है, उसके बल को क्षीण करती है। उसे धर्म-कर्म से दूर हटाती है।

मदिरा में आसक्त व्यक्ति अपने आत्म-गुणों को भूल जाता है। उसका खान-पान एवं रहन-सहन बदल जाता है। उसके मन-मस्तिष्क में रात–दिन शैतानी छाई रहती है। और शैतानियत की भावना को पूरा करने के लिए वह अनेक पापों की ओर प्रवृत्त होता है। दुनिया का कोई ऐसा पाप नहीं, जिस में वह प्रवृत्त होने से चूकता हो। एक दुर्व्यसन के कारण अनेकों दुर्व्यसन उसे आ घेरते हैं। क्योंकि मदिरा मादक वस्तु है। उसका सेवन करने पर शरीर में मादकता छा जाती है और साथ में खुश्की भी बढ़ जाता है। खुश्की को दूर करने के लिए उसे तर पदार्थ खाने होते हैं। प्रत्येक मादक-नशीली वस्तु का सेवन करने के बाद सरस आहार खाना आवश्यक होता है। अन्यथा वह नशा सारे शरीर को जला देता है। शराब ही नहीं, अफीम, भांग, गांजा, सुलफा आदि तमाम नशीले पदार्थ गर्म एवं खुश्क होते हैं और ज्ञान-तन्तुओं को क्षीण करने वाले होते हैं। इसलिए मनुष्य को नशे मात्र से बचकर रहना चाहिए। उनकी खुश्की को दूर करने के लिये नशेबाज़ व्यक्ति पौष्टिक पदार्थ खाते हैं। कई लोग मांस-अण्डा एवं दूध-मलाई-मक्खन आदि पदार्थों का इस्तेमाल करते हैं। इससे मन में विकार जगता है, कामेच्छा बढ़ती है और उसे पूरा करने के लिये मनुष्य इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है, वेश्यालयों

की खाक छानता फिरता है। इस तरह मदिरा आदि का सेवन करने से उसका खर्च बढ़ जाता है। मदिरा का खर्च, उस पर खाये जाने वाले पौष्टिक पदार्थों का भी खर्च और फिर विषय-वासना की आग को बुझाने के लिए वेश्यालय के बिल का भुगतान। इस तरह दिन प्रतिदिन उसकी जेब खाली होती रहती है। घर में बीवी-बच्चे दाने-दाने के लिए बिलखते रहते हैं और इधर उसका जेब खर्च पूरा नहीं होता है। तब उसे जुआ खेलने की सूझती है। उसमें भी सफलता नहीं मिलने पर चोरी, ठगी एवं डाके डालने का प्रयत्न करने लगता है। इस तरह शराबी एवं नशेबाज को दुनिया के सारे पाप, सारे दुर्गुण आ घेरते हैं। और परिणाम-स्वरूप वह धन से, शक्ति से, सौन्दर्य से, बुद्धि से, ज्ञान से एवं धर्म से क्षीण हो जाता है और रात-दिन आर्त्त, रौद्र ध्यान एवं विषय-वासना तथा अन्य पाप भावना में संलग्न रहने के कारण अन्त समय में मर कर नरक-यात्रा को चल पड़ता है।

शास्त्रों में नरक जाने के चार कारण बताए हैं उनमें एक कारण मांस मदिरा सेवन करने का भी है। क्योंकि शराबी की बुद्धि नष्ट हो जाती है। वह रात-दिन दुर्ध्यान में चिन्तित रहता है। उसके मन में सदा दुर्भावना का कुचक्र चलता रहता है। वह हमेशा पाप कार्य में संलग्न रहता है। अतः नरक के अतिरिक्त वह जा ही कहां सकता है? वहां अनन्त वेदना का संवेदन करता है। नरक में वेदना देने वाले परमाधामी देव जबर्दस्ती से उबलता हुआ रस उसके मुँह में डालते हैं। उसके इन्कार करने पर या उससे बचने के लिए मुंह को इधर-उधर करने पर वे उसे कस कर पकड़ लेते हैं और मुंह चौड़ा करके उसमें उडेल देते हैं और साथ में कहते हैं कि जब शराब पीते समय संकोच नहीं किया तो इसका आस्वादन करते समय क्यों डरते

हो। इस तरह नरक में वे महान वेदना की अनुभूति करते हैं।

इस तरह आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से शराब वुरी चीज है। वह मनुष्य के ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों जीवनों को विगाड़ती है। परलोक में नरकादि दुर्गतियों में सड़ना पड़ता है और इस लोक में कोई भी भला आदमी उसकी इज्जत नहीं करता। शराब भंग, गांजा, सुलफा आदि का नशा करने वाले व्यक्तियों की आदतें विगड़ जाने एवं व्यभिचार, चोरी आदि को वुरी आदत पड़ जाने के कारण लोगों में उनका विश्वास नहीं रहता। कोई भी व्यक्ति उनकी वात का विश्वास नहीं करता और न कोई व्यक्ति उन्हें कर्ज देने को ही तैयार होता है। पुलिस भी उन पर कड़ी निगाह रखती है। चोरी आदि को घटना घटती है तो शराव के अड्डे पर भी छान-बीन की जाती है। कचहरी में भी शराबी की वात का विश्वास नहीं किया जाता। सरकार के प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी के लिए यह नियम है कि वह अपनी ड्यूटी के समय पर शराब का सेवन न करे। क्योंकि उससे उसकी बौद्धिक शक्ति कुण्ठित हो जाती है, वह अपने कर्तव्य का अच्छी तरह पालन नहीं कर सकता।

इस तरह हर दृष्टि से शराब वुरी चीज है। इससे राष्ट्रीय कोष में भले ही आमदनी होती है, परन्तु राष्ट्रीय उत्पादन में कमी ही होती है। क्योंकि इसके नशे में वेभान हुआ मानव कोई भी काम नहीं कर सकता। इससे देश का उत्पादन कम होता है और इसके पीछे खर्च अधिक वढ़ जाने के कारण गरीबी अधिक वढ़ जाती है। इसलिए आर्थिक दृष्टि से देखा जाए तो शराव निर्धनता-गरीबी को वढ़ावा देने वाली है। देश में वढ़ती हुई गरीबी के और कारणों में, एक कारण यह (शराव) भी है।

महापुरुषों ने शराब से होने वाले कुछ दुर्गुणों का बड़े सुन्दर एवं मार्मिक शब्दों में उल्लेख किया है। आचार्य श्री हरिभद्र सूरि लिखते हैं—

"वैरूप्यं व्याधिपिण्डः, स्वजन-परिभवः कार्यकालातिपातो,
विद्वेषो ज्ञाननाशः स्मृतिमति-हरणं विप्रयोगश्च सद्भिः।
पारुष्यं नीचसेवा कुलबलविलयो धर्मकामार्थहानिः,
कष्टं वै षोडशैते निरुपचयकरा मद्यपानस्य दोषाः ॥" *

अर्थात्— मदिरा के सेवन से १६ दोषों की उत्पत्ति होती है। जैसेकि—

१-शरीर कुरूप और बेडौल हो जाता है।
२-शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।
३-परिवार के लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं।
४-काम करने का सुन्दर समय यों ही बीत जाता है।
५-द्वेष उत्पन्न हो जाता है।
६-ज्ञान का नाश हो जाता है।
७-स्मृति का नाश होता है।
८-बुद्धि को ताले लग जाते हैं।
९-सज्जनों से पृथक् हो जाता है।
१०-वाणी में कठोरता आ जाती है।
११-नीच व्यक्तियों की सेवा करनी होती है।
१२-कुल की निन्दा होती है।

* हरिभद्रीयाष्टक श्लोक १९.

१३-शक्ति का ह्रास होता है।

१४-धर्म का विनाश होता है।

१५-कार्य-शक्ति का नाश होता है और

१६-धन का नुक्सान होता है।

हितोपदेश में लिखा है कि मदिरा का सेवन करने से चित्त में भ्रांति उत्पन्न होती है, चित्त के भ्रान्त होने पर मनुष्य पापाचरण की ओर प्रवृत्त होता है और पापाचरण से अज्ञानी जीव दुर्गति को प्राप्त करता है। इसलिए मनुष्य को कभी मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए। †

सिक्खों के धर्मशास्त्र में भी मदिरा का निषेध किया है। ग्रन्थों की भाषा में कहें तो – "जिसके पीने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और हृदयस्थल में खलबली मच जाती है। इसके अतिरिक्त अपने-पराए का ज्ञान नहीं रहता और परमात्मा की ओर से उसे धक्के मिलते हैं। जिसका आस्वादन करने से प्रभु का स्मरण नहीं होता और परलोक में दण्ड मिलता है। ऐसे झूठे निसार नशों का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिए।

"जित पीवे मति दूर होय बरल पवै निच आय।
अपना पराया न पछाणइ खसम हु धक्के खाय॥
जित पीते खसम विसरे दरगाह मिले सजाय।

---

† चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात्, भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढाः, तस्मान्मद्यं नैव पेयं नैव पेयं॥
—हितोपदेश

झूठ मद मूल न पीचइ जेका पार वसाय ॥"

सन्त कबीर ने कड़े शब्दों में मदिरा का विरोध किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि मदिरा मनुष्य को पशु बनाती है, उससे धन का नाश होता है। कबीर के शब्दों में ही सुनिए–

"औगुण कहौं शराब का, ज्ञानवन्त सुनि लेय;
मानस से पशुआ करे, द्रव्य गांठि का देय,
अमल आहारी आतमा, कब न पावे पार,
कहे कबीर पुकार के; त्यागो ताहि विचार ॥"

ईसाइयों के धर्म ग्रन्थ में लिखा है—

"Drink not wine nor strong drink and eat not any unclean thing †"

अर्थात्-मदिरा मत पीओ और न किसी मादक वस्तु का सेवन करो तथा न किसी अपवित्र वस्तु का भक्षण करो।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि 'मदिरा के अन्दर जाते ही बुद्धि बाहर हो जाती है। अर्थात्-मदिरा-सेवन से बुद्धि नष्ट हो जाती है— "Wine in and wit out."

मदिरा के सेवन द्वारा सब तरह से हानि होती है। इससे उन्माद एवं पागलपन के सिवाय और कुछ लाभ नहीं होता। थोड़ी देर के लिए भले ही उसे यह अनुभूति होती है कि वह सब कष्टों से मुक्त हो गया, परन्तु ऐसा होता नहीं। वास्तव में यह एक तरह से मन का भ्रम है। नशे में बेभान हो जाने से वह बेहोश-सा हो जाता है और बेहोशी की हालत में उसे सुख–दुःख का बोध नहीं होता। यह बात

† JUDGES 13–4

अलग है, परन्तु इससे दुःखों का, कष्टों का अन्त हो जाता है। ऐसा कहना एवं मानना भारी भूल है। जब मदिरा का नशा समाप्त होता है तो दुःख एवं कष्ट और बढ़ जाते हैं। अतः मदिरा दुःख-नाशक नहीं, बल्कि दुःखों कष्टों एवं चिन्ताओं की जननी है। इससे नित्य नई चिन्ताएं उत्पन्न होती रहती हैं। इसलिये महापुरुषों ने इन्सान को नशीले पदार्थों से दूर रहने का आदेश दिया। मानवता की पगडंडी पर गतिशील मनुष्य को शराब एवं भांग, गांजा, सुलफा, अफीम, तमाखू बीड़ी, सिगरेट आदि मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए।

आजकल औषध के रूप में शराब का इस्तेमाल बहुत बढ़ गया है। जम्मू-कश्मीर, शिमला, शिलांग जैसे ठंडे प्रदेशों में सर्दी की मौसम में ठंड से बचने के लिये बहुत व्यक्ति शराब, ब्रांडी का सेवन करते हैं। कुछ लोग पाचन-शक्ति को बढ़ाने के लिये द्राक्षासव आदि आसवों का सेवन करते हैं। द्राक्षासव भी एक तरह से शराब ही है। क्योंकि द्राक्षासव-अंगूरों के रस को सड़ा कर ही बनाया जाता है, इसे अंगूरी भी कहते हैं। इससे नशा भी होता है। अन्य आसव भी जिसके वे बने होते हैं उन पदार्थों के रस को सड़ाकर ही बनाये जाते हैं। अतः उनमें त्रस जीवों की हिंसा होती है। इसलिए आसव भी धार्मिक दृष्टि से त्याज्य है। अहिंसा के पथिक, श्रावक एवं साधु को हर हालत में—भले ही बीमारी की स्थिति भी क्यों न हो ऐसे पदार्थों के सेवन से दूर रहना चाहिए, उन्हें शराब एवं द्राक्षासव आदि का सेवन भी नहीं करना चाहिए।

४. वेश्यागमन

यह हम देख चुके हैं कि आहार के बिगड़ने पर व्यवहार-आच-

रण भी बिगड़ जाता है। विषय–वासना की आग भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है। यह सत्य है कि विषय–वासना पर काबू पाना कठिन है। महान् ताक़तवर आत्मा ही विषय-विकारों पर विजय पा सकता है। पर, इसका यह अर्थ नहीं कि उस पर नियंत्रण ही न रखा जाए। नियंत्रण में रही हुई आग जीवन के लिए उपयोगी होती है, परन्तु कन्ट्रोल से बाहर होने पर वही आग जीवन के सभी उपयोगी साधनों को जला कर भस्म कर देती है, हरे-भरे जीवन की फुलवाड़ी को बर्बाद कर देती है। यही स्थिति काम-वासना की है। इसलिए इस पर नियंत्रण होना ज़रूरी है।

भारतीय-संस्कृति के सभी विचारकों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि यदि मनुष्य पूर्णतः वासना का त्याग करने में असमर्थ है, तो कम से कम वह वासना पर नियंत्रण अवश्य रखे। अर्थात् अपने जीवन को मर्यादा के बाहर नहीं जाने दे। एक बार एक पाश्चात्य विचारक से एक व्यक्ति ने पूछा— मैं अभी भोगों पर विजय पाने में असमर्थ हूं। अतः मुझे कितनी बार विषय सेवन करना चाहिए ?

विचारक— यदि तुम अभी भोगों पर काबू पाने की शक्ति नहीं रखते हो, तो जीवन में एक बार वासना के प्रवाह में गोता लगाकर बाहर निकल आओ।

व्यक्ति— यदि एक बार से तृप्ति न हो तो क्या करूं ?

विचारक— वर्ष में एक बार अपनी भावना को तृप्त कर लो।

व्यक्ति— यदि इतने पर भी सन्तोष न हो तो क्या करूं ?

विचारक— तब फिर महीने में एक बार से अधिक अपने मन को, विचारों को, शरीर को उस ओर मत जाने दो।

व्यक्ति— इस पर भी मन नहीं माने, भोगेच्छा बनी रहे तो

फिर क्या करूं ?

विचारक– इस बढती हुई वासना को देख कर विचारक ने स्पष्ट शब्दों में कहा— वत्स ! फिर तो घर में कफन रख सो जाओ। न मालूम किस समय वासना की आग तुम्हें जला कर समाप्त कर दे।

पाश्चात्य विचारकों ने ही नहीं, भारतीय-संस्कृति के विचारकों ने भी यही बात कही है। वैदिक साहित्य में सन्तान इच्छा के सिवाय स्त्री-पुरुष को सहवास करने का, भोग भोगने का निषेध किया गया है। जैनागमों में भी पति को स्वपत्नी में और पत्नी को स्वपति में आसक्त रहने की नहीं, बल्कि सन्तोष वृत्ति रखने की बात कही है।

परन्तु, इन्सान मर्यादा के बांध को तोड़ कर बहने लगा। वह वासना में इतना गहरा डूब गया कि एक पत्नी से तृप्ति नहीं हुई तो दूसरा, तीसरा, चौथा विवाह किया। और वहां भी उसकी वासना अतृप्त ही रही तो अपनी दृष्टि को इधर-उधर दौड़ाने लगा। पति-पत्नी की मर्यादा की अक्षांश रेखा को लांघ गया। पर इससे पारिवारिक व्यवस्था बिगड़ने लगी तो उसने नारी की दुर्बलता से लाभ उठा कर उसे घर से बाहर निकाल कर बाजार में ला बैठाया है। और शाक-भाजी की तरह उसके शरीर का मोल होने लगा। इस तरह कुछ पैसे देकर पुरुष अपनी वासना की भूख को मिटाने का दुष्प्रयत्न करता रहा।

अपनी इस पाप भावना को छुपाने के लिए इसे धर्म एवं कला का रूप दिया गया। मन्दिरों एवं मठों में देवदासी के रूप में, नृतकी के वेश में स्वीकार करके उस पर धर्म एवं कला की छाप लगा दी और उसे सदा से चली आ रही परम्परा बता कर अपने आपको सारे दोषों से मुक्त कर लिया। नारी उस समय विवश थी। उसके पास

अपने पेट को भरने की कोई कला नहीं थी। अतः उसे अपना पेट भरने के लिए पुरुष की राक्षसी भावना का, वासना का शिकार होना पड़ा, अपना तन बेचना पड़ा। आज भी हम देखते हैं कि ७० प्रतिशत के करीब स्त्रियों ने आर्थिक विवशता के कारण वेश्या-वृत्ति को अपना रखा है। कुछ व्यक्तियों ने अपने स्वार्थ के लिए, पैसा कमाने के लिए नारी कल्याण केन्द्र, महिला अनाथालय आदि नामों से वेश्यालय खोल रखे हैं। यह भारत जैसे धर्म-प्रधान देश के लिए घोर कलंक की बात है।

महापुरुषों ने वेश्यागमन को महापाप कहा है। क्योंकि इससे नारी और पुरुष दोनों का जीवन बिगड़ता है। जीवन तभी तक उपयोगी रहता है, जब तक वह मर्यादा में बंधा रहता है। बांध की मर्यादा में स्थित पानी जीवन के लिए लाभदायक है। परन्तु जब पानी की धारा बांध तोड़कर बह निकलती है तो चारों ओर हाहाकार मचा देती है, प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देती है। इसी तरह वासना का प्रवाह भी जब मर्यादा से बाहर बह निकलता है तो वह स्व-पर दोनों के लिए नुक्सान का कारण बन जाता है। मनुष्य मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक संकटों से घिर जाता है।

यह तो स्पष्ट है कि स्त्री पुरुष की तरह आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं है। उसके पास अर्थ कमाने की कला नहीं है। केवल रूप-सौन्दर्य ही है—जिससे पुरुष को लुभा कर वह उससे पैसा प्राप्त कर सकती है। इसके लिए उसे अपने आपको बेचना पड़ता है, या यों कहिए, कुछ देर के लिए कामान्ध पुरुष के हाथ सौंपना पड़ता है। इसमें वह भले-बुरे का विचार नहीं करती, वह तो सिर्फ पैसा देखती है। सन्त भर्तृहरि ने भी शृंगार शतक में लिखा है—

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च, जराजीर्णाखिलांगाय च;
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च, गलत्कुष्ठाभिभूताय च।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपु — लक्ष्मीलवश्रद्धया,
पण्यस्त्रीषु विवेककल्प-लतिका-शस्त्रीषु रज्येत कः ? *"

अर्थात्— कुरूप, वृद्ध, गंवार-मूर्ख, नीच और कुष्ठ रोगी को भी ज़रा-से धन की आशा से जो अपना सुन्दर शरीर सौंप देती है और जो विवेक रूपी कल्पलता के लिए छुरी के समान है, उस वेश्या से कौन विवेकशील व्यक्ति रमण करना चाहेगा ? अर्थात् कोई नहीं।

इस तरह वेश्या का प्यार व्यक्ति से नहीं पैसे से होता है। पैसा देकर कोई भी व्यक्ति उसके नग्न शरीर के साथ खिलवाड़ कर सकता है। अस्तु, एकाधिक व्यक्तियों के साथ और मर्यादा से अधिक भोग भोगने के कारण उसके शरीर में अनेकों रोग घर कर जाते हैं। चीन आदि देशों में जहां कि अब वेश्यावृत्ति का उन्मूलन हो चुका है— जब वेश्याओं के शरीर की जांच कराई गई तो ७५ प्रतिशत वेश्याएं यौन-संबंधी भयंकर रोगों से पीड़ित मिलीं और २० प्रतिशत साधारण रोगों से पीड़ित थीं। और ये रोग स्पर्श से फैलने वाले होते हैं। अतः जो व्यक्ति उसके साथ संभोग करता है, उसे वही रोग लग जाता है। इस तरह वेश्यागमन मनुष्य को रोगी भी बना देता है। इसमें पैसे की हानि होती है, शक्ति का ह्रास होता है और स्वास्थ्य का नाश होता है, लोगों में निन्दा होती है। वेश्यालय के द्वार खटखटाने वाला व्यक्ति सब तरह से घाटे में रहता है, वह सर्वस्व लुटा कर ही लौटता है। भारतीय संस्कृति के एक विचारक ने कहा है— वेश्या, देखने मात्र में

* शृंगारशतक [भर्तृहरि] श्लोक ८९

मनुष्य के मन का, चित्त का अपहरण करती है, स्पर्श करने से मनुष्य की शक्ति का शोषण करती है और उसके साथ संयोग करने से वीर्य को हर लेती है। † वह सब तरह शोषक है, पोषण करती है तो केवल दुर्गुणों का। सद्‌गुणों को समाप्त करने के लिए वह एक तरह से आग है। महात्मा भर्तृहरि ने कहा है–

'वेश्यासौ मदनज्वाला, रूपेन्धन समेधिता,
कामिभिर्यत्र हूयन्ते; यौवनानि धनानि च ॥''*

अर्थात्– वेश्या सुन्दरता रूपी इंधन से प्रज्वलित प्रचण्ड कामाग्नि है और कामी पुरुष इस आग में अपने धन और यौवन की आहुति देते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक, आर्थिक एवं शारीरिक किसी भी दृष्टि से वेश्यागमन उपयुक्त नहीं है। इससे स्व और पर दोनों के जीवन का पतन होता है और साथ में समाज एवं राष्ट्र का भी नुक्सान होता है। क्योंकि इससे जीवन में विषय-वासना बढ़ती है और फलस्वरूप मन में अनैतिकता की भावना जगती है और वह दुराचार की ओर प्रवृत्त होता है। जिससे मनुष्य की शारीरिक शक्ति क्षीण होती है, आर्थिक ताक़त घटती है और प्रामाणिकता का सर्वथा लोप हो जाता है। जिसके कारण जीवन में अनेक दोष एवं दुर्गुण आ घेरते हैं। यही कारण है कि वेश्यालयों पर पुलिस की भी कड़ी निगाह रहती है। क्योंकि वहां पहुंचने वाले व्यक्ति चोर, डाकू

† दर्शनात् हरते चित्तं, स्पर्शनात् हरते बलम्।
मैथुनात् हरते वीर्यं, वेश्या प्रत्यक्ष राक्षसी ॥

* श्रृंगारशतक, श्लोक ९०

एवं लुटेरे भी हो सकते हैं और इस सन्देह का शिकार निर्दोष व्यक्ति भी बन जाता है। अस्तु,वेश्यालय राष्ट्र की ताक़त को,उन्नति को कमजोर बनाने वाला है। मानव की ईमानदारी को समाप्त करने वाला है। विकास के पथ पर क़दम रखने वाले साधक को इससे सदा बचकर रहना चाहिए। अपनी वासना को केन्द्रित करके रखना चाहिए। उसे मर्यादा से, सीमा से, बाहर नहीं बहने देना चाहिए। इसी में व्यक्ति का, समाज का, परिवार का, राष्ट्र का एवं विश्व का हित रहा हुआ है।

५. शिकार

किसी भी पशु-पक्षी को अपने आमोद-प्रमोद, दिलबहलाव, क्रीड़ा एवं आहार के लिए तीर, बन्दूक या तलवार से मारना शिकार कहलाता है। कुछ लोग इसे मन बहलाव का, शक्ति बढ़ाने का या साहस एवं शौर्य दिखाने का साधन मानते हैं। परन्तु यह सब धोखा देने की बातें हैं। वस्तुतः शिकार खेलना नृशंसता का कार्य है। मन-बहलाव ऐसा होना चाहिए जिससे दूसरे प्राणियों को कष्ट नहीं पहुंचे। मनुष्य के क्षणिक आमोद-प्रमोद से दूसरे प्राणी का अमूल्य जीवन बर्बाद होता हो तो वह मनोविनोद उसके लिए भयावह है। शक्ति एवं शौर्य का प्रदर्शन उसके सामने करना चाहिए, जो बराबर की ताक़त रखता है। जो शक्ति में कमज़ोर है और शस्त्र-रहित है, उस पर शस्त्र चलाने में कोई बहादुरी नहीं, बल्कि यह तो सबसे बड़ी कायरता है। यह इन्सानियत की वृत्ति नहीं, प्रत्युत राक्षसी वृत्ति है, शैतानियत की भावना है। इसके लिए मनुष्य को अपने आप में देखना-विचारना चाहिए कि यदि कोई ताक़तवर व्यक्ति उसके साथ

ऐसा ही वर्ताव करे तो उसकी क्या स्थिति होगी? आज मनुष्य के पैर में एक नन्हा-सा कांटा चुभ जाता है तो वह वेदना से कराह उठता है। तो क्या जिस जानवर या पक्षी के हृदय को, शरीर को गोलियों एवं वाणों से छेदा जाता है, तलवार से काटा जाता है, क्या उन्हें पीड़ा नहीं होती। एक विचारक ने लिखा है–

"दर्द कांटे का अगर तुझसे सहा जाता नहीं;
वेज़बानों वेकसों पर क्यों तरस लाता नहीं?
एक कांटे ने तेरी रग-रग को मुर्दा कर दिया,
गोलियों का जख्म क्या पशुओं को तड़पाता नहीं॥"

पक्षी सूर्योदय के साथ ही अपने घौंसले को छोड़ कर अनन्त आकाश में उड़ाने भरने लगते हैं। अपना एवं अपने आश्रित नन्हें पक्षियों- बच्चों का पेट भरने के लिए वे अन्न के दानो की खोज में मीलों घूमते-फिरते हैं। और अपना पेट भर कर तथा अपने बच्चों के लिए चोंच में चोगा लेकर वे शाम को अपने घौंसले की ओर वापिस लौटते हैं। मधुर प्यार-स्नेह के अनेक संकल्प लिए तेज़ गति से उड़ाने भरते हुए रास्ता तय करते हैं। और इधर बच्चे भी अपने माता-पिता से मधुर-मिलन एवं भूख बुझाने के लिए उत्सुकता से राह देखते हैं। इसी बीच निर्दय शिकारी उस निर्दोष गगन-विहारी पक्षी को गोली का निशाना बना कर मार गिराता है। उधर पक्षी के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं और इधर उसके बच्चे उसकी इन्तज़ार में तड़फते-तड़फते प्राण दे देते हैं। इस तरह मनुष्य एक प्राणी को मार कर कई जीवों के सुनहरे जीवन को उजाड़ देता है।

शिकारी के हृदय में दया, करुणा एवं क्षमा नहीं रहती। और

न उसके जीवन में साहस एवं वीरता ही आ पाती है। हां, इस वृत्ति से जीवन में क्रूरता एवं निर्दयता अवश्य आती है, वीरता नहीं। वीरता और क्रूरता एक नहीं, अलग-अलग है। वीरता आत्मा की आन्तरिक शक्ति है और क्रूरता आत्मा का दोष है, विकार है। वीरता दूसरे को समाप्त करना नहीं चाहती। वह किसी को मिटाती नहीं, वल्कि वनाती है। वह नाश करती है– किसी प्राणी का नहीं वल्कि अन्यायों का, अत्याचारों का, दुर्वृत्तियों का। वीर व्यक्ति सदा प्रत्येक प्राणी के जीवन का आदर-सम्मान करता है। वह किसी को समाप्त करने की नहीं सोचता। उसके हृदय में दया, करुणा का झरना वहता रहता है। परन्तु क्रूर व्यक्ति में दया का अभाव रहता है। वह अपने से कमज़ोर व्यक्ति—प्राणी को समाप्त करने के लिए सदा तैयार रहता है। उसकी तलवार कमज़ोरों की गरदनों पर चलती है। ताक़तवर के सामने वह भी घुटने टेक देता है, क्षमा की, दया की भीख मांगने लगता है। अतः शिकार वीरता नहीं, कायरता है, हद दर्जे का नैतिक पतन है।

निरपराधी प्राणियों को मार कर शिकारी अपने जीवन को पाप से वोझिल बनाता है। और परिणाम-स्वरूप वह मर कर नरक में उत्पन्न होता है। जहां परमाधामी देव उसे पापों का दण्ड देते हैं। जिस तरह वाण एवं गोलियों से वह पशु-पक्षियों का वध करता था, उसी तरह वे देव उस व्यक्ति के शरीर को तीक्ष्ण वाणों एवं गोलियों से उसके शरीर का छेदन-भेदन करते हैं और उसी के मांस को काट-काट कर उसे खिलाते हैं। इस तरह उसे अनेक तरह की वेदना सहनी पड़ती है। नरक में उसे एक क्षण के लिए भी आराम नहीं मिलता। अतः मनुष्य को चाहिए कि किसी भी व्यक्ति के प्राणों का

नाश न करे। शिकार के जघन्य पाप से सदा दूर रहे। इसमें उसका भी हित है और जगत के प्राणियों का भी हित है।

६. चोरी

चोरी करना यह भी एक दुर्व्यसन है। दूसरे के अधिकार में रही हुई वस्तु को नाजायज तरीक़े से अपने अधिकार में लेना चोरी है। किसी व्यक्ति द्वारा रखी गई वस्तु को उसके वापिस मांगने पर इन्कार कर देना या उसमें से थोड़ा सा हिस्सा लौटाना भी चोरी है। किसी भोले-भाले ग्रामीण व्यक्ति या बच्चे की नासमझी का लाभ उठाकर उसे ठग लेना तथा उसे धोखा देकर उसके धन माल को छीन लेना या उससे अधिक पैसे ले लेना भी चोरी है। चुंगी या टैक्स बचाने के लिए माल छिपाकर लाना या अफसरों को झूठे बिल दिखा कर चुंगी बचा लेना भी चोरी है। इन्कमटैक्स बचाने के लिए दो खाते रखना, झूठा जमा खर्च करना भी चोरी है। असली माल दिखा कर नकली माल देना तथा अच्छी वस्तु में खराब वस्तु मिलाकर देना भी चोरी है। वर्तमान युग में यह वृत्ति अधिक दिखाई दे रही है। घी-तेल तो क्या, कोई खाद्य पदार्थ शुद्ध नहीं मिलता। आटा, नमक, मिर्च, मसाला जो कुछ लो उसमें मिलावट ही मिलेगी। गृहमंत्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने एक भाषण में बड़े दर्द भरे शब्दों में कहा था कि मुझे इस बात से संदेह है कि बाज़ार में खुला बिकने वाला डालडा घी (Vegetable Ghee) भी शुद्ध मिलता है। अर्थात् नकली घी में भी मिलावट, कितना गहन पतन है। आज हम अंग्रेजों की निन्दा करते हैं। उन्हें मिथ्यात्वी एवं अनार्य बताते हैं। पर अपने आप को गर्व से आर्य कहने वालों को देखना चाहिए कि हम कितने पानी में हैं। व्यापारिक दृष्टि से आज अंग्रेज भारतियों से अधिक प्रमाणिक हैं। वे

जो माल दिखाते हैं, वही पैक करते हैं। परन्तु भारतियों में प्रामाणिकता की बहुत कमी है। इसी से व्यापारिक जीवन में उनका विश्वास करना खतरे से खाली नहीं समझा जाता।

चोरी भी चार तरह की बताई है— १-द्रव्य, २-क्षेत्र, ३-काल और ४—भाव। द्रव्य की चोरी दो प्रकार की है— १-सजीव और २-निर्जीव। पशु-पक्षी, अनाज, सब्जी आदि की चोरी करना सजीव द्रव्य की चोरी है और सोना चांदी, आभूषण, जवाहरात, रुपये-पैसे आदि की चोरी करना निर्जीव द्रव्य की चोरी है। किसी व्यक्ति के घर, खेत जमीन, एवं सीमा आदि पर कब्जा करना क्षेत्र की चोरी है। वेतन, किराया, व्याज आदि के देन—लेन में समय की कमी करना काल की चोरी है। किसी कवि, लेखक एवं वक्ता के भावों को लेकर उस पर अपना नाम देना तथा अपनी आत्म शक्ति को भोगों में लगाना, वीतराग की आज्ञा का उल्लंघन करना भाव चोरी है। इस तरह सभी तरह की चोरियें आत्मा का पतन करने वाली हैं। इसलिए मनुष्य को सदा उससे बचकर रहना चाहिए। नीतिकारों ने भी इस बात पर जोर दिया है कि चोरी करके दूसरे के धन पर गुलछर्रे उड़ाने की अपेक्षा भीख मांग कर खाना अच्छा है।

"वरं भिक्षायित्वं न च परधनास्वादनसुखम्।"

चौर्य कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता। उसका मन भी सदा अशान्त बना रहता है। वह रात-दिन आर्त्त-रौद्र ध्यान में डूबा रहता है। और जिसके माल का अपहरण करता है उसके चित्त को भी दुःख होता है। कभी-कभी तो दुःख इतना अधिक बढ़ जाता है कि हार्ट फेल हो जाता है। इसलिए धन को ग्यारहवां प्राण कहा है। अस्तु, धन का अपहरण भी प्राणों का अपहरण है, दूसरे के

दिल को दुखाना है। इसी कारण चोरी को भी दुर्व्यसन एवं पाप कहा है। यह मनुष्य को दुर्गति में ले जाती है। इसलिए मनुष्य को चोरी का परित्याग कर देना चाहिए।

७. परस्त्रीगमन

हम यह पहले बता चुके हैं कि विषयभोग मानव को पतन के महागर्त में गिरा देते हैं। इसलिए कामेच्छा या वासना पर नियंत्रण रखना ज़रूरी है। विवाह परम्परा का उद्भव इसी भावना को सामने रख कर हुआ कि मनुष्य अपनी उच्छृंखल वासना को, भोगेच्छा को एक जगह केन्द्रित रख सके। पुरुष और स्त्री की वैषयिक इच्छा यत्र-तत्र-सर्वत्र दौड़ती न रहे, पति अपनी पत्नी में और पत्नी अपने पति में संतुष्ट रह सकें, इसलिए विवाह पद्धति को स्वीकार किया है। इस से जीवन व्यवस्थित बना रहता है। मनुष्य का मन शान्त रहता है। उसकी इच्छाएं, कामनाएं अनन्त आकाश में चक्र नहीं काटतीं। इस-लिए महापुरुषों ने पुरुष और स्त्री को मर्यादा में स्थित रहने पर ज़ोर दिया। अर्थात् पुरुष स्व पत्नी के अतिरिक्त संसार की सभी स्त्रियों को चाहे वह विवाहित हों, अविवाहित हों या विधवा हों— मां, बहन और पुत्री के तुल्य समझे और स्त्री अपने पति के अतिरिक्त सभी पुरुषों को पिता, भाई एवं पुत्रवत् समझे। और पति-पत्नी भी एक दूसरे के साथ सन्तोष का अनुभव करे, न कि वासना के कीड़े बने रहें। भारतीय-संस्कृति के विचारकों ने भोग-विलास पर नहीं, त्याग पर ज़ोर दिया है। उन्होंने वासना को घटाने की बात कही है। भोग को एक प्रकार का रोग माना है। अतः मनुष्य को उससे बचकर रहना चाहिए।

यही कारण है कि पुरुष को परस्त्री के साथ संभोग करने का तथा स्त्री को परपुरुष के साथ संभोग करने का निषेध किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि वेश्यागमन का निषेध तो किया जा चुका है, फिर परस्त्रीगमन का अलग से निषेध क्यों किया गया ? बात ठीक है वेश्यागमन में परस्त्रीगमन का भी समावेश हो सकता है। क्योंकि वेश्या भी विवाहित स्त्री से पर-अलग ही है। परन्तु सभी व्यक्ति इस बात को आसानी से नहीं समझ सकते। क्योंकि वेश्या के सिवाय जितनी भी स्त्रियें होती हैं, उन पर किसी न किसी व्यक्ति का अधि-कार होता है, संबंध होता है। परन्तु वेश्या का किसी के साथ स्नेह-संबंध नहीं होता और न वह किसी के अधिकार में होती है। इसलिए दुष्मार्गगामी व्यक्ति यह रास्ता निकाल लेते हैं कि वेश्या परस्त्री नहीं है, क्योंकि उस पर किसी का अधिकार नहीं है। जो पैसा दे, वह उसी की बन जाती है। इस कुतर्क को समाप्त करने के लिए महापुरुषों ने वेश्यागमन और परस्त्रीगमन दोनों को अलग-अलग रखा।

भोग-वासना को शल्य माना गया है। और यह एक ऐसा ज़हर है कि इसे जितना अधिक सेवन किया जाता है, उतना ही अधिक फल-ता है। मनुष्य समझता है कि अधिक भोग भोगने से तृप्ति हो जाय-गी, परन्तु होता यह है कि वासना की आग और अधिक प्रज्वलित हो उठती है। क्योंकि वासना मोह कर्म से उदित होती है और मोह कर्म मनुष्य को हमेशा अशान्त एवं अतृप्त बनाए रहता है। भोगों में आसक्त व्यक्ति को कभी शान्ति नहीं मिलती।

परस्त्रीगमन आध्यात्मिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से दोष-मय है। इससे जीवन में अनैतिकता बढ़ती है, रात-दिन अशान्ति बनी रहती है, आत्म-चिन्तन में मन नहीं लगता। सामाजिक दृष्टि से देखें

तो दुराचारी व्यक्ति का समाज में विश्वास नहीं रहता, जिसको बहन-बेटी एवं पत्नी के साथ दुष्कृत्य किया जाता है, मालूम पड़ने पर वह उसका शत्रु बन जाता है। सन्तान में वर्णशंकरता बढ़ती है। यही कारण है कि दुनिया उसे (परस्त्री लम्पट को) धिक्कार देती है। रावण के पुतले का आज भी जो अपमान एवं तिरस्कार किया जाता है, उसका एक मात्र यही कारण है कि उसने राम की पत्नी सीता के साथ दुराचार करना चाहा था। रावण ने सीता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए बहुत-से प्रलोभन दिये, उसे डराया-धमकाया भी। परन्तु उसके साथ बलात्कार नहीं किया। रावण के जीवन में एक चीज़ थी कि मैं सीता के साथ तब तक दुर्व्यवहार नहीं करूंगा जब तक वह मुझे स्वीकार नहीं कर लेगी। इस तरह उसकी कामेच्छा प्रबल होने पर भी शरीर से उसने उसके साथ मैथुन का सेवन नहीं किया। फिर भी सिर्फ भावना के बिगड़ जाने के कारण उसे अनेक कष्टों को सहना पड़ा। केवल विषय-विकार की आसक्ति के कारण उसे सोने की लंका एवं अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। उस समय भी उसे अपमान एवं तिरस्कार के कड़वे घूंट पीने पड़े और आज भी प्रति वर्ष दशहरे के दिन उसकी बेइज्जती एवं बदनामी होती है। वस्तुतः यह रावण का तिरस्कार नहीं, उसकी दुराचार भावना का, दुष्ट वृत्ति का तिरस्कार है। अस्तु, प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी वासना पर नियंत्रण रखे। यदि वह पूरी तरह उस पर विजय नहीं पा सकता है, तब भी कम से कम उसे मर्यादा से बाहर न बहने दे। अपनी कामुक दृष्टि को इधर-उधर न दौड़ने दे। अर्थात् स्वदार सन्तोष व्रत में अपने आपको स्थित रखने का प्रयत्न करे। इसी में व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र का हित निहित है।

वासना पर नियंत्रण रखने से जीवन में सदाचार का पुष्प विकसित हो उठता है। उसकी मधुर एवं सुवासित पराग सारे संसार में महकने लगती है। वह जिस ओर से निकलता है उधर के वातावरण को शान्त एवं सौरभमय बना देता है। राह में बिछी हुई शूलें भी फूल के रूप में परिवर्तित हो जाती है। वीर अर्जुन और सेठ सुदर्शन का प्रकाशमान जीवन हमारे सामने । उर्वशी और अभया ने उन्हें अपने पथ से विचलित करने का भरसक प्रयत्न किया। पर वे महा-पुरुष उन्हें माता के रूप में ही देखते रहे और मां कह कर ही पुकारते रहे। इसी का मधुर परिणाम है कि सुदर्शन को दी गई शूली सिंहासन के रूप में बदल गई। इसी तरह सीता की पवित्र भावना से अग्नि का जल बन गया तथा महासती सुभद्रा ने कच्चे धागे से छलनी बांधकर कुएं से पानी खींच निकाला। यह सारा शील का, सदाचार का ही प्रभाव था। तो जीवन का महत्त्व बनावश्रृंगार में नहीं, शील एवं सदाचार से है। सदाचार के तेज के सामने सारे श्रृंगार फीके प्रतीत होते हैं। एक कवि ने ठीक ही कहा है—

"पतिव्रता फाटा लता, नहीं गले में पोत,
भरी सभा में ऐसी दीपे, हीरां केरी जोत।
पतिव्रता फाटा लता, घन जांका दीदार,
कालू कहे किस काम का, वेश्या का श्रृंगार॥"

जिस पुरुष एवं स्त्री के चेहरे पर सदाचार का, शील का तेज चमक रहा है, उसे श्रृंगार की, केश संवारने की तथा क्रीम, पाउडर एवं तेल लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये सारी आवश्यकताएं उसी को होती है, जिसके पास सदाचार का तेज नहीं है। जिसके जी-

वन का सत्त्व समाप्त हो चुका है, जिसके ब्रह्मचर्य की शक्ति वह चुकी है, जिसके जीवन का पानी वह गया है। अस्तु, जीवन का सच्चा शृंगार सदाचार है। सदाचारी व्यक्ति का सर्वत्र आदर होता है। वह बिना रोक-टोक के सर्वत्र आ-जा सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को– चाहे स्त्री हो या पुरुष— अपना तन-मन सदाचार से सजाना चाहिए। अपनी वासना को केन्द्रित रखना चाहिए। अपनी कामेच्छा को मर्यादा के बाहर नहीं बढ़ने देना चाहिए।

उपसंहार

प्रस्तुत सातों व्यसन इस लोक और परलोक में दुःखप्रद होने से अनाचरणीय कहे गए हैं। साधना के पथ पर गतिशील साधक को इन दुर्व्यसनों से सदा बच कर रहना चाहिए। इनसे बच कर रहने वाला व्यक्ति ही साधना के पथ पर आगे बढ़ सकता है, अहिंसा, सत्य आदि व्रतों को देशतः या सर्वतः स्वीकार कर सकता है। अस्तु, सप्त व्यसन का परित्याग जीवन विकास की पहली सीढ़ी है, साधना की प्रथम भूमिका है, त्याग-तप रूपी महल की नींव है। नींव जितनी गहरी एवं मजबूत होगी, भवन भी उतना ही सुन्दर, सुखद एवं मजबूत बनेगा।

आगार धर्म

एकादश अध्याय

प्रश्न– साधना का क्या अर्थ है ? क्या गृहस्थ भी गृहस्थ जीवन में रहते हुए साधना कर सकता है ?

उत्तर– साधना का अर्थ है– साध्य तक पहुंचने के लिए की जाने वाली क्रिया विशेष । जीवन का मूल लक्ष्य है– सिद्धत्व को, निर्वाण को प्राप्त करना । यह साधना दो प्रकार की है– १-सर्वतः और २-देशतः। समस्त दोषों एवं आरंभ-समारंभ का परित्याग करके संयमी मार्ग पर गति करना, सर्वतः साधना है और एक अंश से दोषों एवं आरंभ-समारंभ का परित्याग करना,देशतः साधना है । गृहस्थ जीवन में साधना का दूसरा रूप ही स्वीकार किया जा सकता है । क्योंकि श्रावक-गृहस्थ पर पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व का बोझ होने के कारण वह हिंसादि से दोषों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता । फिर भी वह सदा दोषों से बचने का प्रयत्न करता है और उसकी अन्तर भावना सदा दोष परित्याग की रहती है । इसलिए उस की साधना भी जीवन विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी गई है । उसे भी मोक्ष मार्ग का पथिक कहा है । भले ही, अभी उसकी चाल धीमी है, इस कारण वह तेजी से मार्ग तय नहीं कर पा रहा है । परन्तु इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि उस का मार्ग सही है । क्योंकि

उसके जीवन में विवेक की आंख खुली है और त्याग की ओर लक्ष्य है। इसलिए गृहस्थ जीवन में साधक आत्म विकास के पथ पर बढ़ सकता है। परन्तु अभी उसके जीवन पूर्णता न होने के कारण उसकी साधना भी आंशिक है और इसी अपेक्षा से उसके व्रतों को अणुव्रत कहते हैं और अणुव्रत पांच होते हैं– १-अहिंसा, २-सत्य, ३-अस्तेय ४-स्वदार संतोष और ५-परिग्रह परिमाण व्रत।

अहिंसा अणुव्रत

आगमों में हिंसा के चार प्रकार बताए हैं– १-संकल्पी हिंसा, २-आरंभी हिंसा, ३-उद्योगी हिंसा और ४-विरोधी हिंसा। जान-बूझकर बिना किसी अपेक्षा से इरादे पूर्वक प्राणियों के प्राणों का नाश करना संकल्पी हिंसा है। चौके-चूल्हे आदि के आवश्यक कार्यों में होने वाली हिंसा को आरंभी हिंसा कहते हैं। खेती–व्यापार एवं अन्य उद्योगों में होने वाली हिंसा को उद्योगी हिंसा कहते हैं। अपने देश, परिवार या व्यक्तिगत जीवन में किये गए आक्रमण से देश, परिवार एवं अपनी रक्षा करने हेतु या अन्याय एवं अत्याचार तथा अनीति का प्रतिकार करने के लिए लड़े गए युद्ध में जो हिंसा होती है, उसे विरोधी हिंसा कहते हैं। साधु चारों प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है। क्योंकि वह पारिवारिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं से मुक्त होता है। इसलिए उसे खाना, मकान, वस्त्रादि बनाने या बनवाने की चिन्ता नहीं रहती और न उन साधनों को प्राप्त करने के लिए वाणिज्य या उद्योग–धन्धा करने की ही आवश्यकता पड़ती है। और उसके कोई शत्रु भी नहीं होता है। क्योंकि उसका किसी भी पदार्थ पर– यहां तक कि अपने उपकरण एवं शरीर पर भी अपनत्व या ममत्व भाव नहीं होता। इसलिए अपने प्राणों का नाश करने वाले व्यक्ति को भी वह अपना

शत्रु नहीं मानता। उसके लिए कुल्हाड़ी से काटने वाला और चन्दन से पूजा-अर्चना करने वाला दोनों बराबर हैं। वह न मारने वाले पर द्वेष भाव रखता है और न पूजा करने वाले पर अनुराग। वह दोनों पर समभाव रखता है और दोनों के कल्याण की कामना करता है। कवि ने कितना सुन्दर कहा है—

कुल्हाड़ी से कोई काटे कोई आ फूल बरसाएं,
खुशी से दें दुआ यकसां, अजब सारे चलन ही हैं।
जगत के तारने वाले जगत में सन्त जन ही हैं॥

अतः साधु किसी भी स्थिति-परिस्थिति में किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता और न किसी से हिंसा करवाता है तथा न हिंसा के कार्य का समर्थन ही करता है। परन्तु गृहस्थ–श्रावक के लिए इतना त्याग कर सकना कठिन ही नहीं, असंभव है। अपने एवं अपने परिवार के रहने, खाने,पहनने आदि आवश्यक समस्याओं की पूर्ति के लिए उसे मजबूरन आरम्भ-हिंसा करना होता है और उन साधनों को जुटाने के लिए उद्योग-धंधा भी करना होता है। और अपने परिवार एवं देश पर आक्रमण करने वाले से उन की सुरक्षा के लिए उसे अपने शत्रु से युद्ध-संघर्ष भी करना होता है। इस तरह वह चाहते हुए भी आरम्भा, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णतः नहीं बच सकता। परन्तु वह संकल्पी हिंसा से सदा बचा रहता है। वह जान-बूझ कर निरर्थक किसी भी प्राणी को नहीं सताता। इस तरह श्रावक अहिंसा अणुव्रत में किसी भी निरपराधी त्रस जीव को जान-बूझ कर निरपेक्ष भाव से मारने और सताने का त्याग करता है। वह मन, वचन और शरीर से किसी भी त्रस जीव को संकल्प-पूर्वक न मारता है, न सताता है और न दूसरे व्यक्ति को ऐसा करने के लिए कहता है और न

संकेत से ऐसा कार्य करने की प्रेरणा देता है।

इस व्रत की सुरक्षा के लिए वह पांच बातों से सदा बचा रहता है— १-बन्धे, २-वहे, ३-छविच्छेए, ४-अइभारे, ५-भत्त-पाण—विच्छेदे। उक्त कार्यों को जैन परिभाषा में अतिचार कहते हैं और ये अतिचार श्रावक के लिए जानने योग्य हैं परन्तु आचरण करने योग्य नहीं है। इन की अर्थ-विचारणा इस प्रकार है—

१-बन्धे— किसी भी प्राणी को ऐसे बन्धन से नहीं बांधना, जिससे उसे संवेदना, संक्लेश एवं कष्ट पैदा हो या जिस से उस का प्राणान्त भी हो जाए। इस का अर्थ यह है कि श्रावक प्रत्येक कार्य विवेक, यतना एवं दया की भावना से करता है। पशु को या पागल अवस्था में कभी मनुष्य को भी बांधना पड़े तो उस में उसकी हितबुद्धि रहती है। वह उसे ऐसे बन्धन से नहीं बांधता जिस से उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा या कष्ट हो तथा उठने-बैठने या शयन आदि कार्य सुविधा-पूर्वक न कर सके। इस के अतिरिक्त,श्रावक यदि राजा या अधिकारी व्यक्ति है तो वह ऐसे कानून के शिकंजे से प्रजा-जनों को नहीं बांधता जिससे उन का जीवन कष्टमय बन जाए। कानून या कलम के बन्धन से भी किसी प्राणी को बांध कर उस के सत्त्व को चूसना भी हिंसा है और श्रावक इस क्रूर कर्म से भी बच कर चलता है।

२-वहे— किसी प्राणी को मारना-पीटना या त्रास देना। श्रावक अनिष्टबुद्धि से किसी भी प्राणी को त्रास भी नहीं देता है।

३-छविच्छेए- नाक-कान आदि अंगोपांगों का विच्छेद करना भी हिंसा है। और किसी व्यक्ति की आजीविका या तनख्वाह मजदूरी को काट लेना भी इसी दोष में शामिल है। अतः श्रावक किसी के अंगोपांगों का छेदन नहीं करता तथा किसी के उचित वेतन में भी

काट-छांट नहीं करता।

४-अइभारे— किसी भी प्राणी की शारीरिक शक्ति से उस पर अधिक बोझ डालना भी हिंसा है। कानून की दृष्टि से भी बैल गाड़ी, तांगे, घोड़े, ऊंट आदि जानवरों पर अधिक बोझ लादना अपराध है। कानून का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के लिए दण्ड की भी व्यवस्था है। फिर भी स्वार्थी व्यक्ति पैसा बचाने के लोभ में धर्म एवं कानून को तोड़ कर बिचारे मूक, असहाय एवं पराधीन बने प्राणियों पर अधिक भार लादने का क्रूर कर्म करते हुए नहीं हिचकचाते। परन्तु श्रावक ऐसा कार्य नहीं करता। वह पैसे की अपेक्षा दूसरे प्राणी की सुविधा को देखता है। वह न किसी भी पशु या मजदूर पर अधिक बोझ लादता है और न अपने घर, दुकान या कारखाने में काम करने वाले मजदूर से उसकी शक्ति एवं समय से अधिक काम लेता है।

५-भत्त-पाण-विच्छेदे— किसी भी प्राणी को समय पर भोजन नहीं देना भी हिंसा है। श्रावक सदा इस बात का ध्यान रखता है। इस तरह श्रावक उक्त पांचों दोषों का परित्याग करके अहिंसा अणुव्रत का परिपालन करता है।

प्रश्न— व्यापार-वाणिज्य करने वाला व्यक्ति श्रावक बन सकता है, परन्तु राजा, सेनापति या सैनिक जैनत्व या श्रावकत्व को स्वीकार नहीं कर सकता ? क्योंकि उसे युद्ध आदि कार्यों में भाग लेना होता है और उक्त कार्य में प्राणियों का—मनुष्यों का वध होना भी निश्चित है। अतः राजा, सैनिक या सेनापति अहिंसा व्रत का पालन कैसे कर सकता है ?

उत्तर— हम अभी देख चुके हैं कि श्रावक संकल्प-पूर्वक हिंसा करने

का त्याग करता है। उस में भी निरपराधी प्राणी को वह संकल्प-पूर्वक नहीं मारता। हम ऊपर बता चुके हैं कि देश या परिवार पर कोई दुष्ट व्यक्ति आक्रमण कर देता है, उस समय उस से देश या परिवार आदि की सुरक्षा के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है और उस संघर्ष में वह सामने आने वाले दुश्मनों पर संकल्प-पूर्वक ही वार करता है, फिर भी वह अपने पथ से च्युत नहीं होता है, क्योंकि उस का त्याग निरपराधी व्यक्ति को संकल्प-पूर्वक मारने का है। इस के साथ एक विशेषण और दिया गया है कि श्रावक निरपराधी प्राणी को निरपेक्ष बुद्धि से संकल्प-पूर्वक नहीं मारता। इस विकल्प के रखने का उद्देश्य यह है कि एक चोर, डाकू, गुण्डा या बदमाश व्यक्ति देश के किसी व्यक्ति को लूटता है, मारता है या उसका नुकसान करता है. तो ऐसी स्थिति में राजा क्या करे ? वह अत्याचारी व्यक्ति अपराधी अवश्य है, परन्तु वह राजा का कोई अपराध नहीं करता। फिर भी राजा उसे दण्ड देता है— यहां तक कि आवश्यकता पड़ने पर फांसी के तख्ते पर भी लटका देता है। परन्तु, उस के पीछे उसकी भावना उस का हित करने की होती है। राष्ट्र में किसी तरह की अव्यवस्था न फैले, जनता के जान-माल की सुरक्षा बनी रहे, इस अपेक्षा को सामने रख कर तथा अपराधों को रोकने एवं अपराधी के जीवन को सुधारने की दृष्टि से वह दण्ड देता है तो अहिंसा व्रत से नहीं गिरता। परन्तु निर-पेक्ष भाव से—बिना किसी अपेक्षा के केवल दिल बहलाव के लिए वह किसी प्राणी का वध नहीं करता।

इस से यह स्पष्ट हो गया कि अहिंसा व्रत का पालन प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है— चाहे वह किसी भी जाति, देश या पंथ का क्यों न हो तथा किसी भी पद पर क्यों न हो। अहिंसा व्रत की एक ही शर्त है और वह यह है कि अपनी मौज, शौक या स्वार्थ साधने के

हेतु किसी प्राणी का वध नहीं करता, वह दूसरों के अधिकारों का हरण नहीं करता, वह किसी भी राष्ट्र पर आक्रमण नहीं करता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उस के राष्ट्र पर कोई आक्रमण करे उस समय वह चुपचाप खड़ा तमाशा ही देखता रहता है। हां, इतना अवश्य है कि वह शांति एवं सद्भावना के साथ उस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करता है। यथासंभव वह युद्ध को टालने का प्रयत्न करता है, समझौते के मार्ग को अपनाता है, इतने पर भी शत्रु नहीं मानता है तो वह उसका डट कर मुकाबला करता है।

जैनों की अहिंसा को कायरता का नाम देना भारी भूल है। जैन-मार्ग शान्ति एवं वीरता का मार्ग है। भारत की तटस्थता की नीति जैन अहिंसा से बराबर मेल खाती है। क्योंकि युद्ध राष्ट्र के विकास को रोकने वाला है। देश एवं विश्व की शांति को भंग करने वाला है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने वाला है। अहिंसा के समर्थकों की बात छोड़िये। युद्ध के खिलाड़ी पाश्चात्य नेता भी इस बात को मानने लगे हैं कि युद्ध से समस्याएं नहीं सुलझ सकतीं। रूस के मान्य प्रधान मन्त्री खरोश्चेव के ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं कि विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए यह ज़रूरी है कि नभ,जल और स्थल सभी तरह की सेनाओं को समाप्त कर दिया जाए तथा अणुशस्त्रों एवं अन्य विस्फोटक हथियारों को समुद्र में फेंक दिया जाए। अमरीका के राष्ट्रपति आइज़नहॉवर ने भी इस बात को शाब्दिक रूप से मान लिया है कि विध्वंसक शस्त्रों का नाश करके ही शान्ति को क़ायम रखा जा सकता है। अस्तु, आज के वैज्ञानिक युग में अहिंसा को काय-रता की नीति कहना उचित नहीं है। भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू इस बात के पूरे समर्थक हैं कि युद्ध मानवता का विनाशक है। विश्व के किसी भी भाग में लड़े जाने वाले युद्ध को वे

रोकने का भरसक प्रयत्न करते हैं। भारत सरकार की अपनी गृह नीति है कि वह राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओं को शान्ति से सुलझाना चाहती है। वह किसी भी देश पर आक्रमण करने के विरुद्ध है। इतना होने पर भी वह अपनी सुरक्षा का सदा ध्यान रखती है। अपने देश पर किये गए आक्रमण को वह चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर सकती। यही बात जैन अहिंसा कहती है। वह मानव को युद्ध से बचने की बात कहती है। दूसरे पर आक्रमण करने से रोकती है। विश्व की शान्ति को कायम रखने को प्रेरित करती है। परन्तु साथ में अपने देश एव परिवार की सुरक्षा की बात भी कहती है। किसी अत्याचारी शासक द्वारा देश पर आक्रमण करने की स्थिति में देश को अत्याचारी के उत्पीड़न से न बचा कर घर में छुप बैठना अहिंसा नहीं कायरता है। उसे अहिंसा का नाम देना भारी भूल है। यह सत्य है, अहिंसक किसी पर हमला नहीं करता परन्तु यह भी सत्य है कि देश या परिवार पर आक्रमण होने की स्थिति में वह घर में भी छुप कर नहीं बैठता। इतिहास बताता है कि जैन श्रावकों ने सदा न्याय की रक्षा की है। शरणागत की सुरक्षा एवं राष्ट्रीय नैतिक व्यवस्था को व्यवस्थित रखने के भारतीय गणतन्त्र के प्रमुख राजा चेटक ने मगध राज कौणिक का डट कर मुकाबला किया था। महाराज चेटक ने बात चीत से समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने कौणिक को समझाया कि वह वहिल कुमार के अधिकार में स्थित हाथी और हार को—जो उसे अपने पिता श्रेणिक से प्राप्त हुए हैं, छीनने का प्रयत्न न करे। परन्तु, कौणिक का स्वार्थी मन इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। उस ने एक ही उत्तर दिया कि श्रेष्ठ चीजों पर सदा शक्तिशाली का अधिकार होता है। अतः आप वहिल कुमार को हार और हाथी के साथ लौटा दें या युद्ध के लिए तैयार हो जाएं। ऐसी

स्थिति में जब समझौते का कोई उपाय शेष नहीं रहा तब चेटक ने कौणिक का सामना किया और इस संघर्ष में दोनों पक्ष के एक करोड़ अस्सी लाख व्यक्ति मारे गए। इस युद्ध के समय चेटक ने अपने देश के नागरिकों का भी आह्वान किया था। राजा चेटक स्वयं जैन था और उसके द्वारा आमंत्रित वर्णनागनतुआ भी जैन श्रावक था। वर्णनागनतुआ ने जीवन पर्यन्त के लिए वेले-वेले की तपस्या का व्रत अर्थात् दो-दो दिन के अंतर से भोजन स्वीकार करने की प्रतिज्ञा ले रखी थी। जिस दिन उसे युद्ध में शामिल होने का निमन्त्रण मिला, उस दिन उस के दो दिन की तपश्चर्या का पारणा था। फिर भी उसने खाने पीने की परवाह नहीं की, देश की सुरक्षा के लिए बिना खाए पीए तेले की तपस्या कर के वह युद्ध क्षेत्र की ओर चल पड़ा। इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा अपनी ओर से किसी पर आक्रमण करने की इजाजत नहीं देती। परन्तु, वह देश, परिवार एवं स्वयं पर मुसीबत या संकट आ पड़ने पर उसे कायर एवं बुजदिल बन कर घर में बैठने की बात भी नहीं सिखाती। क्योंकि जहां डर या भय है वहां अहिंसा नहीं रहती। अहिंसक सदा निर्भय रहता है, यहां तक की मृत्यु के समय भी वह कांपता नहीं, थर्राता नहीं। महात्मा गांधी ने भी एक जगह लिखा है कि एक हिंसक अहिंसक बन सकता है, परन्तु एक कायर अहिंसक नहीं बन सकता। उन्होंने इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है "यदि मेरे से कोई कायरता और हिंसा इन दो में से एक चुनने का परामर्श ले तो मैं उसे हिंसा के मार्ग को चुनने की बात कहूंगा—

I do believe that, where there is only a choice between cowardice and violence, I would advise

violence. *

यहां हिंसा शब्द का अर्थ शस्त्रों द्वारा किए गए हमले का उत्तर शस्त्रों से देना अर्थात् अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र के संरक्षणार्थ हथियारों से शत्रु का मुकाबला करना। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा कायरता की नहीं, वीरता की प्रतीक है। वीर ही नहीं, महावीर ही इसे स्वीकार कर सकते हैं। अस्तु, एक राजा, राजनेता, सैनिक या सेनापति भी अहिंसा धर्म का पालन कर सकता है और अहिंसा का परिपालन करते हुए वह हिंसा की अपेक्षा अहिंसा से देश की अच्छी तरह सुरक्षा कर सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शांति एवं सुव्यवस्था बनाए रख सकता है।

प्रश्न– गृहस्थ द्वारा स्वीकृत अहिंसा व्रत में निरपराधी प्राणी को संकल्प पूर्वक मारने इजाज़त की नहीं है। परन्तु, सिंह, सर्प, बिच्छू आदि जंगली-विषैले जीव–जन्तु तो मानव के शत्रु हैं। ऐसी स्थिति में उनका वध करना चाहिए या नहीं? इस सम्बंध में जैन धर्म क्या कहता है?

उत्तर– शत्रु और मित्र की पहचान कर सकना कठिन है। हम, जिसे शत्रु मानते हैं, समय आने पर वह मित्र से भी अधिक सहायक सिद्ध हो जाता है और जिसे मित्र समझते हैं वह धोखा दे देता है। अस्तु कल्पना के आधार पर किसी को शत्रु या मित्र मानना सही दृष्टि नहीं है। सर्प एवं बिच्छू आदि विषैले जन्तु एवं कीड़े मानव के शत्रु ही हैं, इसमें सत्यता का अभाव है। क्योंकि यह आप स्वयं देखते हैं कि

* "Men & Ideals" पुस्तक में गांधी जी के "The Doctrine of the sword लेख से।'

सांप,बिच्छू आदि योंही राह चलते व्यक्ति को नहीं काटते। वे मनुष्य को उसी परिस्थिति में काटते हैं जबकि मनुष्य के पैर या किसी अंग से उनका शरीर दब जाता है, उस समय उन्हें ऐसा लगता है कि हमारे ऊपर आघात किया जा रहा है, अतः उस आघात से बचने के लिए वे अपने डंक या दान्तों का प्रयोग करते हैं। अतः यह समझना नितान्त असत्य है कि सांप,बिच्छू आदि मानव के शत्रु हैं। क्योंकि शत्रु का काम सीधा आक्रमण करने का है, परन्तु सांप,बिच्छू आदि जन्तुओं ने आज तक किसी पर सीधा आक्रमण किया हो, ऐसा देखा-सुना नहीं गया। यदि मनुष्य देख कर, संभल कर छोटे-मोटे सभी जन्तुओं को बचाता हुआ चले तो सांप,बिच्छू आदि के विषाक्त डंक से वह सहज ही बच जाता है। इसी तरह सिंह आदि हिंसक जन्तु भी उसी हालत में मनुष्य पर आक्रमण करते हैं, जबकि वे भूखे हों, अन्यथा वे आक्रमण नहीं करते। इस लिए सिंह, सांप,बिच्छू आदि को बिना किसी कारण के मारने या कष्ट एवं पीड़ा पहुंचाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि थोड़ी देर के लिए हम उन्हें शत्रु मान भी लें तब भी उन्हें मारने की बात उचित नहीं ठहरती। क्योंकि यदि शत्रु को मारने का सिद्धांत हम न्याय-संगत मान लेते हैं, तो जैसे मनुष्य को सिंह आदि हिंसक पशुओं को मारने का अधिकार है, उसी तरह सिंह आदि द्वारा मनुष्यों का घात करना भी उचित मानना होगा। क्योंकि उनकी निगाह में मानव उनका कट्टर शत्रु है। इस के सिवाय, मनुष्य को बहुत से मनुष्य भी शत्रु मिल जाएंगे। इस तरह शत्रु को समाप्त करने का सिद्धांत मान लिया जाए तो संसार में कोई भी प्राणी जिन्दा नहीं रह सकेगा। सारे संसार में मार-काट मच जायगी, शांति की व्यवस्था भंग हो जायगी और मनुष्य मनुष्य न रह कर जंगली भेड़िये से भी

खूंखार बन जायगा। अस्तु, सिंह, सांप, विच्छू आदि को विना कारण मारने की बात अहिंसक सोच ही नहीं सकता। वह सब प्राणियों को बचाता हुआ चलता है। कभी भूल से किसी विच्छू आदि पर पैर आ गया और उस ने काट खाया या काटने की संभावना दिखाई दी तो वह उसे धीरे से किसी साधन से पकड़ कर एकांत स्थान में छोड़ देगा न कि उसका वदला उस के प्राणों को ले कर लेगा। इसी तरह यदि सिंह भी उस पर आक्रमण कर दे तो उस हालत में वह अपना बचाव करने के लिए खुला है। ऐसी स्थिति में यदि सामने वाले प्राणी का प्राण-हानि भी हो जाती है, तब भी वह अपने व्रत से नहीं गिरता। इस तरह यह स्पष्ट हो गया कि सिंह, सर्प, विच्छू आदि को मारना या सताना न्याय-संगत नहीं है। उन की सुरक्षा करना भी मनुष्य का कर्तव्य है।

प्रश्न– गाय, भैंस आदि जानवरों को एक स्थान पर खड़ा कर देते हैं और फिर उन के स्तन दबा कर दूध निकाल लेते हैं। इसी तरह घोड़ा, ऊंट आदि पर सवारी करके या सामान लाद कर उन को कष्ट पहुंचाया जाता है। क्या यह हिंसा नहीं है?

उत्तर– जीवन सहयोग पर आश्रित है। प्रत्येक प्राणी दूसरे प्राणियों के सहयोग, सेवा और उपकार पर ही जीवित रहता है। जीव का कार्य की दृष्टि से यही लक्षण है कि वह एक-दूसरे का सहयोगी साथी बन कर रहे। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है - "परस्परोपग्रहो जीवानाम्।" अस्तु, सिद्धांत की बात है कि एक-दूसरे प्राणी का सहयोग लिए विना किसी भी प्राणी का जीवन चल नहीं सकता। वैदिक परम्परा में इस बात को इन शब्दों में कहा गया है– "जीवो जीवस्य जीवनम्।" अर्थात् जीव ही जीव का जीवन

है। यह शाब्दिक अन्तर दोनों परम्पराओं की अहिंसा-सम्बन्धी मान्यता पर आधारित है। "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" में जीवों का सहयोग लेते हुए भी उन के साथ जो मैत्री भावना निभाने की बात मिलती है. वह "जीवो जीवस्य जीवनम्" शब्दों में नहीं मिलती। व्यक्ति यह समझ लेता है कि जीव ही जीव का जोवन है। यदि अपने काम के लिए किसी का प्राण ले भी लिया तो कोई हानि नहीं, क्योंकि इसके विना जीवन चलता नहीं। परन्तु जैन प्रत्येक प्राणी का सहयोग लेते समय उसके सुख-आराम का ख्याल रखता है। वह यह सोचता है कि दोनों के सहयोग पर ही दोनों का जीवन आधारित है। अतः सहयोग इतना ही लिया जाए कि मेरा भी काम चल जाए और उक्त प्राणी को भी किसी तरह की हानि न पहुंचे। अतः दूध निकालते समय वह इस बात का ख्याल रखता है कि दूध निकालने के बाद स्तनों में इतना दूध बचा रहे कि जिससे बछड़ा अपना पेट भर सके। इसके अतिरिक्त,उस के खाने की एवं रहने के स्थान की सफाई की एवं वहां हवा–गर्मी आदि की ठीक व्यवस्था करता है। इसी तरह वह ऊंट, घोड़ा, बैल आदि पशुओं पर उन की शक्ति से अधिक बोझ नहीं लादता और दिन में कुछ घण्टे उन्हें आराम भी देता है। अस्तु, इस तरह पशुओं की सेवा-शुश्रूषा करके, उन के आराम का ख्याल रखते हुए उन से यथाशक्ति काम लेना हिंसा नहीं है। क्योंकि हर स्थिति में वह पहले उनके सुख, आराम एवं स्वार्थ का ध्यान रखेगा, बाद में अपने स्वार्थ का। अतः जिस व्यक्ति के जीवन में अपना स्वार्थ गौण है वहां अहिंसा है और जहां अपना स्वार्थ प्रधान और दूसरे का गौण है वहां हिंसा है। काम लेना मात्र हिंसा नहीं, परन्तु अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए उस की शक्ति से अधिक काम लेना तथा उसके सुख, हित एवं आराम का ख्याल न रख कर अपने ही मतलब को

पूरा करना हिंसा है।

प्रश्न– किसी प्राणी को बचाने का प्रयत्न करते हुए भीयदि उस प्राणी के प्राण,रक्षक के हाथ में निकल जाएं या अपनी ओर से सावधानी वर्तते हुए भी यदि किसी कारण से अचानक उसकी मृत्यु हो जाए, तो उसका पाप रक्षक को लगेगा ?

उत्तर– नहीं। धर्म और पाप किसी प्राणी के मरने और जी उठने पर आधारित नहीं है। परन्तु, वह विवेक और अविवेक पर आधारित है। अत; जैन धर्म साधक को प्रत्येक कार्य विवेक-पूर्वक करने की बात कहता है। विवेक एवं यतना पूर्वक कार्य करते हुए यदि किसी प्राणी के प्राणों का नाश हो भी जाएं तो उसे पाप कर्म का बन्ध नहीं होता और अविवेक एवं अयतना से कार्य करते हुए किसी प्राणी का वध न भी हो तब भी उसे पाप कर्म का बन्ध होता है। इसका कारण यह है कि विवेक-पूर्वक कार्य करने वाले व्यक्ति के मन में दया और करुणा का भाव भरा रहेगा,वह प्रत्येक प्राणी की सुरक्षा करने का ध्यान रखेगा, और अविवेकी व्यक्ति में यह भाव नहीं रहता। अतः दोनों के बन्ध में इतने बड़े भारी अन्तर का यही कारण है। जैसे एक डाक्टर शुद्ध एवं निस्वार्थ भाव से एक रोगी का औपरेशन कर रहा है। पूरी सावधानी रखते हुए भी रोगी स्वस्थ नहीं होता, मर जाता है। तब भी उस के मरने का पाप डाक्टर को नहीं लगता। क्योंकि उसका भाव उसे मारने का नहीं, बल्कि बचाने का था। और एक रोगी डाक्टर के पास आता है। वहीं रह कर इलाज कराना चाहता है। रोगी के पास काफी धन है और उस पूरे धन पर कब्जा करने के भाव से डाक्टर उसे समाप्त करने के लिए दवा के नाम से ज़हर दे देता है

और सौभाग्य से वह ज़हर उसके लिए अमृत का काम करता है और डाक्टर की इस दवा से रोग-मुक्त होने की प्रसन्नता में वह उस समय अपने पास का सारा धन उसे दे देता है। इस तरह उसकी ज़िन्दगी बच जाने पर भी डाक्टर को पाप कर्म का बन्ध होता है और कानूनी दृष्टि से भी वह हत्या करने का अपराधी है। अतः हिंसा–अहिंसा या पाप–पुण्य किसी प्राणी के मरने और जीने पर आधारित नहीं है। देखना यह है कि उस समय उसकी भावना का प्रवाह किस ओर प्रवहमान है। क्योंकि पाप और पुण्य का बन्ध भावना के अनुसार ही होता है।

रात्रि–भोजन

मनुष्य के लिए रात्रि-भोजन सभी दृष्टि से अहितकर है। उससे अपने एवं दूसरे प्राणियों को ज़रा भी फायदा नहीं पहुंचता। क्योंकि रात्रि में हम किसी पदार्थ का ठीक तरह अवलोकन नहीं कर सकते। अतः उस भोजन के साथ जो कुछ भी मिला होता है, वह भी उदरस्थ कर जाते हैं। परिणाम-स्वरूप अनेक प्राणियों के प्राणों का नाश करने के कारण बनते हैं तथा अनेक भयंकर व्याधियों के शिकार हो जाते हैं तथा कभी प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं।

दिन और रात में यह अन्तर है कि दिन के तेज प्रकाश में बहुत से जीव–जन्तु मकानों, खण्डहरों, कुओं एवं नालियों के अन्धेरे स्थानों में छिपे रहते हैं। सूर्य के प्रखर प्रकाश में बाहर निकलना उनके लिए कठिन है। कुछ कीड़े बाहर आते भी हैं तो उन्हें हम सूर्य के उजाले में भली–भांति देख सकते हैं और उन्हें बचा भी सकते हैं। परन्तु रात्रि में पहले तो उड़ने वाले जीव-जन्तु अधिक संख्या में घूमते हैं। रात ठंडी होने से उन्हें ताप का भय नहीं रहता। इसलिए अपनी खुराक

की शोध में वे इधर-उधर घूमते-भटकते हैं और उड़ते-उड़ते भोजन में भी आ गिरते हैं और भोजन की तलाश में निकले विचारे गरीब प्राणी स्वयं ही अविवेकी एवं असंयमी मनुष्यों के भोजन बन जाते हैं। इस से अनेक जीवों की हिंसा होती है, पाप कर्म का बन्ध होता है और उन में कोई जन्तु विषैला हुआ तो वह शरीर को स्वस्थ एवं मजबूत बनाने के लिए किया जाने वाला भोजन उसके लिए मुसीबत का कारण बन जाता है। क्योंकि रात्रि में वह भोजन को न तो पकाते समय भली-भांति देख सकता है और न खाते समय। इसी कारण रात्रि-भोजन को अन्धा भोजन कहा है और अहिंसा के उपासक के लिए वह किसी भी स्थिति-परिस्थिति में ग्राह्य नहीं है।

प्रश्न– दीपक, लैम्प या बिजली का प्रकाश कर लेने पर हम जीवों को ठीक तरह से देख सकते हैं। अतः उक्त प्रकाश में रात को भोजन किया जाए तो क्या हानि है?

उत्तर– यह तर्क भी कोई मूल्य नहीं रखती। क्योंकि दीपक, लैम्प एवं बिजली आदि का प्रकाश इतना तेज नहीं होता जितना कि सूर्य का प्रकाश है। फिर वह सूर्य के प्रकाश की तरह सार्वत्रिक, अखण्ड, उज्ज्वल और आरोग्यप्रद नहीं होता। कृत्रिम रोशनी कितनी भी पॉवर की क्यों न हो फिर भी वह सूर्य की रोशनी का ज़रा भी मुकाबला नहीं कर सकती। अनेक ऐसे जानवर हैं, जो उस कृत्रिम प्रकाश में दिखाई नहीं देते। अतः दिन दिन है और रात रात ही है। कृत्रिम प्रकाश से हम रात को कभी भी दिन के रूप में नहीं बदल सकते।

सूर्य के प्रकाश में उजेले के साथ कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं, जिन का हमारे स्वास्थ्य पर अच्छा असर पड़ता है। सूर्य का ताप हमारे भोजन आदि को बिमारी के अनेक कीटाणुओं से बचाता है। क्योंकि उस ताप

में बहुत-से कीड़े तो बाहर निकल नहीं पाते और कुछ बाहर आने वाले कीड़े जीवित नहीं रह पाते। यह बात आज के वैज्ञानिकों ने भी प्रमाणित कर दी है कि स्वास्थ्य की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश सर्वोत्तम है। रात्रि समय उड़ने वाले कीट-पतंगे अधिक होते हैं और जब कृत्रिम प्रकाश-दीपक, लैम्प या बिजली का कर लिया जाता है, तब तो उन की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। जैसे शक्कर पर चींटियों एवं मक्खियों का जमघट लग जाता है, वैसे ही कृत्रिम प्रकाश पर कीट पतंगों का जमाव होने लगता है और इधर-उधर उड़ते हुए बेचारे खाद्य पदार्थों में गिर कर मनुष्य के पेट में पहुंच जाते हैं। कभी-कभी इस से भी अधिक दुर्घटनाएं घटित हो जाती है। जहां कीट-पतंगों का आधिक्य होता है, वहां छिपकली भी आ पहुंचती है। एक समय एक हलवाई रबड़ी बना रहा था। कड़ाहे के ऊपर छत पर कीट-पतंगों का शिकार करती हुई छिपकली इधर-उधर दौड़ लगा रही थी। दुर्भाग्य से छोटे मोटे जन्तुओं का शिकार करते-करते वह स्वयं हलवाई के कड़ाहे का शिकार बन गई। अचानक उसके पैर छत से छूट गए और वह रबड़ी के कड़ाहे में गिर पड़ी और उसके साथ पक गई। और वह रबड़ी जिस-किसी व्यक्ति ने खाई उसकी हालत चिन्ता-जनक हो गई, उसे डाक्टर की शरण में जाना पड़ा। फिर निरीक्षण करने पर मालूम पड़ा कि रबड़ी में छिपकली गिर पड़ी थी। इस तरह रात्रि-भोजन, अहिंसा की दृष्टि एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उचित नहीं है।

प्रश्न— दक्षिण ध्रुव आदि अत्यधिक ठण्डे देशों में जहां जन्तु नहीं होते, वहां विद्युत का ठण्डा प्रकाश करके भोजन किया जाए तो उस में अहिंसा की दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं होनी

चाहिए ?

उत्तर– यह तर्क केवल तर्क मात्र है। अत्यधिक ठण्डे प्रदेशों में भले ही उष्ण प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले बीमारी के कीटाणु उत्पन्न न होते हों, परन्तु इससे यह कहना या समझना भारी भूल होगी कि उक्त प्रदेश में या उक्त वातावरण में जीव-जन्तु उत्पन्न ही नहीं होते। बीमारी के कीटाणुओं और जीव-जन्तुओं में बड़ा अंतर होता है। और यह स्पष्ट समझ में आने वाली बात है कि दुनिया का कोई भी भाग जीव-जन्तुओं से खाली नहीं है। उष्ण प्रदेशों में उसकी जलवायु के किस्म के जन्तु होते हैं, तो शीत प्रदेशों में वहां की हवा को सहने वाले जन्तु होते हैं, परन्तु जन्तु विहीन कोई भी प्रदेश हो, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आया। रही बात प्रकाश की, उसके विषय में हम पहले ही बता चुके हैं कि कृत्रिम प्रकाश सूर्य के प्रकाश का मुकाबला नहीं कर सकता। विद्युत का प्रकाश—भले ही वह ठण्डा हो या तापयुक्त उससे जीवों के आवागमन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। तापयुक्त प्रकाश की अपेक्षा ठण्डे प्रकाश का आंखों की रोशनी पर बुरा असर कम होता है। परन्तु उस से जीवों की गति रुकती हो ऐसी बात नहीं है। अतः उक्त प्रदेश में भी रात्रि-भोजन करना हिंसा एवं पापजनक कार्य ही है।

जैनधर्म के अतिरिक्त जैनेतर धर्मों में भी रात्रि-भोजन को दोष-युक्त माना है। कूर्म पुराण आदि पुराणों एवं अन्य धर्म ग्रन्थों में रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है। आज के युगपुरुष राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी भी रात्रि-भोजन को अच्छा नहीं समझते थे। करीबन ४० वर्ष की अवस्था से ले कर जीवन-पर्यंत वे रात्रि-भोजन के त्याग को दृढ़ता-पूर्वक पालन करते रहे। पाश्चात्य देशों में गए उस

समय भी उन्होंने रात को भोजन नहीं किया। अतः भारतीय-संस्कृति के सभी विचारकों ने रात्रि-भोजन को त्याज्य एवं हेय माना है।

आयुर्वेद के सिद्धांतानुसार भी रात्रि को भोजन करना हानिप्रद है। क्योंकि स्वास्थ्य की दृष्टि से भोजन करने के तीन घण्टे पश्चात् शयन करना चाहिए। रात्रि को भोजन करने वाला व्यक्ति इस नियम का परिपालन नहीं कर पाता। क्योंकि लोग रात को खाना खाते ही तुरन्त लेट जाते हैं। इस से शरीर में अच्छी तरह हरकत नहीं हो पाती और ठीक तरह हरकत नहीं होने से भोजन का पाचन ठीक नहीं होता और न उस का वैसा रस ही वन पाता है। यही कारण है कि आज अधिकांश लोगों को अपचावट और बदहज़मी का रोग हो जाता है। अस्तु, धर्म, स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से रात्रि को भोजन करना अहितकर हैं। यह आप प्रतिदिन देखते हैं कि पक्षी भी रात्रि को खाते–पीते नहीं है। इतना वड़ा दिन होते हुए भी रात को खाना इन्सान का काम नहीं है। रात को खाने वाले को हमारे यहां निशाचर कहते हैं। अर्थात् रात्रि में खाने वाले मनुष्य नहीं, राक्षस होते हैं। राक्षस का अर्थ है – दया-विहीन हृदय वाले व्यक्ति। और रात को वही व्यक्ति खा सकता है, जिसके हृदय में ग़रीव, असहाय एवं पामर प्राणियों– कीट-पतंगों के जीवन के प्रति दया, करुणा एवं सहृदयता की भावना नहीं है।

कुछ वर्ष पहले जैनों में रात्रिभोजन की परम्परा बहुत कम थी। यहां तक कि विवाह-शादी में भी बारात वालों को रात में भोजन नहीं करवाते थे। परन्तु आजकल मर्यादा का यह बांध टूट-सा गया है। जैन समाज में इस नियम में बहुत शिथिलता आगई है। आज कल पढ़े लिखे नवयुवक तो रात को भोजन करने में ज़रा भी नहीं हिचकते। आज प्रायः जैन लोग अपनी संस्कृति एवं सभ्यता को

भुला बैठे हैं। भोजन के सम्बन्ध में वे अपने मार्ग से गिर चुके हैं। अस्तु, उन्हें फिर से जागृत हो कर अपने नियमों का मजबूती से परिपालन करना चाहिए।

बिना छना हुआ पानी पीने का निषेध

पानी के बिना गृहस्थ का काम नहीं चल सकता। इसलिए उस के लिए यह आदेश दिया गया कि वह इसके लिए मर्यादा कर ले कि मैं आज इतने पानी से अधिक काम में नहीं लाऊंगा। और जितना भी पानी वह अपने पीने-धोने आदि के काम ले, उसे वस्त्र से छाने बिना काम में नहीं लेवे। क्योंकि पानी में अनेक त्रस जीव रहते हैं। अतः बिना छाने पानी पीने से या वस्त्र-पात्र आदि धोने से उसमें स्थित त्रस जीवों के प्राणों का नाश हो जाता है। जरा-से अविवेक, अयतना एवं प्रमाद—आलस्य के कारण अनेक प्राणियों को अपनी जिन्दगी से हाथ धोना पड़ता है और इससे व्यक्ति को कोई लाभ नहीं होता। इस अविवेक के कारण मनुष्य को कई बार भयानक कष्ट उठाने पड़ते हैं। कभी—कभी पानी के साथ विषैले एवं रोग के कीड़े उसके पेट में पहुंच जाते हैं, जिस से उसे भयंकर व्याधि एवं वेदना को भोगना पड़ता है। कुछ वर्ष पहले एक समाचार पत्र में मुरादाबाद की एक घटना प्रकाशित हुई थी— एक लड़के ने रात को अपनी चारपाई के नीचे पानी का लोटा भर कर रखा था। अचानक एक बिच्छू उस में घुस गया। लड़का रात को उठा और बिना देखे, बिना छाने पानी पी गया। और पानी के साथ वह बिच्छू उस के मुँह में चला गया और उसके कण्ठ में रुक गया तथा डंक मारने लगा। लड़का तिलमिला उठा, उसके कण्ठ से बिच्छू को निकालने के बहुत प्रयत्न किये परन्तु सब बेकार गए। अन्त में, वह लड़का तड़प-तड़प कर

मर गया। इस तरह की और भी अनेकों घटनाएं घटती रहती हैं। बिना छना हुआ पानी पीने से धर्म, अहिंसा, स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से नुकसान ही नुकसान है। अतः भूल कर भी बिना छना पानी उपयोग में नहीं लाना चाहिए।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि गृहस्थ जीवन में पूर्णतः आरम्भ–समारम्भ का त्याग कर सकना असंभव है। अतः उसे ऐसे कार्यों से बचना चाहिए, जिनमें त्रस जीवों की हिंसा होती है। ऐसी वस्तुओं का उपयोग भी उसे नहीं करना चाहिए जो महारम्भ— महान् हिंसा से तैयार की गई हैं। यह सत्य है कि उसके लिए उपभोक्ता स्वयं हिंसा नहीं करता, परन्तु यह भी सत्य है कि वह हिंसा उपभोक्ता के लिए ही की जाती है। यदि उक्त वस्तुओं के खरीददार एवं उपभोक्ता ही न हों तो कोई भी व्यापारी उक्त वस्तुओं को तयार नहीं करेगा। अस्तु, उपभोक्ता महारम्भ से निर्मित वस्तु का उपयोग करके उस हिंसा से बच नहीं सकता। यही कारण है कि श्रावक न स्वयं जान–बूझ कर निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा करता है और न महारम्भ से निर्मित वस्तु का उपयोग करता है।

उदाहरण के तौर पर चमड़े की कुछ चीजों में, मिल के बढ़िया वस्त्रों एवं रेशम के वस्त्रों में अनेकों पशु एवं कीड़ों की हिंसा होती है। अच्छे और मजबूत माने जाने वाले अनेक किस्म के बूट, हैंडबेग, घड़ी के पट्टे आदि जीवित पशुओं को मार कर उन के चर्म से बनाए जाते हैं। उन्हें मारने से पहले लाठियों से बुरी तरह मारा जाता है, जिससे उनका चमड़ा फूल जाता है। इस तरह जूतों एवं अन्य हैंडबेग आदि को कोमल एवं चमकदार बनाने के लिए निर्दयता के साथ गाय, भैंस आदि पशुओं का वध किया जाता है। अधिक मुलायम चमड़ा प्राप्त करने के लिए पशु के नवजात बच्चों का तथा गर्भ में स्थित बच्चों का

वध किया जाता है। इसी तरह फाईन क्वालिटी (Fine Quality) के वस्त्रों पर चमक लाने के लिए जीवित पशुओं की चर्बी का उपयोग किया जाता है। रेशम का निर्माण तो कीड़े ही करते हैं। जब वे रेशम बना चुकते हैं तो गर्म-गर्म वाष्प के द्वारा उन्हें मार देते हैं और बाद में उबलते हुए पानी में डाल कर रेशम के तार निकालते हैं। इस तरह ज़रा-सी मौज-शौक के लिये बेचारे हज़ारों-लाखों ही नहीं, अनगिणत जीवों को अपनी अमूल्य ज़िन्दगी से हाथ धोना पड़ता है। अतः इतनी घोर हिंसा से बने पदार्थों का उपयोग करना श्रावक के लिए किसी भी स्थिति में उचित नहीं है। श्रावक का जीवन दिखावे, नखरे एवं ऐशोराम का नहीं, बल्कि सादा होना चाहिए। वह किसी भी वस्तु का उपयोग फैशन के लिए नहीं, प्रत्युत जीवन-निर्वाह के लिए करता है। अतः उसके जीवन में महाहिंसा एवं महारम्भ जन्य कार्य को ज़रा भी स्थान नहीं मिलता।

अहिंसा की साधना स्व-पर के हित के लिए जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी कठिन भी है। महात्मा गांधी के शब्दों में कहें तो "अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है, उतना ही वह संकड़ा भी है।" यह मार्ग तलवार की धार पर गति करने जैसा है। या यों कहिए कि रस्सी पर क़दम रख कर चलने जैसा है। अहिंसा की रस्सी नट के खेल दिखाने की रस्सी से बहुत बारीक़ है। यह सूत के धागे की नहीं, विचारों की, भावना की, परिणामों की डोर है। ज़रा-सी असावधानी एवं गफलत से मनुष्य एक दम नीचे जा गिरता है। अहिंसा का मार्ग फिसलन भरा है, अतः सदा जागरूक एवं सावधान बन कर चलने की आवश्यकता है। विवेक एवं यतना के साथ सदा जागरूक हो कर साधना करने वाला व्यक्ति ही अहिंसा देवी के दर्शन पा सकता है।

सत्य अणुव्रत

सत्य का अर्थ है- यथार्थ भाषण करना। केवल यथार्थ बोलना ही नहीं, अपितु यथार्थ सोचना- समझना और यथार्थ काम करना भी सत्य है। वस्तु के यथार्थ-वास्तविक स्वरूप को सोचना-विचारना जानना और प्रकट करने का नाम ही सत्य है। योगों की यथार्थ प्रवृत्ति में या यों कहिए कि मन, वचन और शरीर योग से वस्तु के यथार्थ चिन्तन एवं प्रकटीकरण में सत्य है। यथार्थता के अतिरिक्त सत्य कुछ नहीं है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने सत्य को भगवान कहा है- "सच्चं खु भगवं" अर्थात् सत्य ही भगवान है और "सच्चं लोगम्मि सारभूयं" सत्य ही लोक में सारभूत है।

गृहस्थ श्रावक जैसे पूर्णतः हिंसा का त्याग नहीं कर सकता, उसी तरह वह सर्वथा असत्य का भी त्याग नहीं कर सकता। वह सूक्ष्म झूठ जिसे हम केवल शास्त्रीय भाषा में झूठ कहते हैं और जो साधु के लिए भी त्याज्य है- का त्याग नहीं कर सकता। वह स्थूल झूठ का त्याग करता है। ऐसे झूठ का जिसे लोग झूठ कहते हैं और जिसके कारण अपनी एवं दूसरे प्राणी की आत्मा को आघात लगता है, दूसरे प्राणियों का नुकसान होता है, ऐसा झूठ श्रावक के लिए सदा त्याज्य है। इस स्थूल झूठ को पांच विभागों में बांटा गया है- १-कन्या-संबंधी, २-भूमि संबंधी, ३-गो संबंधी, ४-न्यास संबंधी और ५-साक्षि-संबंधी। १-कन्या सम्बन्धी झूठ नहीं बोलना। मानव सृष्टि में कन्या का अधिक महत्त्व माना गया है। क्योंकि वह जननी है, मानव को संरक्षिका है। इसलिए यहां कन्या शब्द प्रधानता के कारण रखा गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रावक कन्या के लिए तो झूठ नहीं बोले, परन्तु लड़के के लिए यदि झूठ बोले तो कोई दोष नहीं। कन्या

शब्द से सन्तान अर्थ समझना चाहिए– उसमें लड़के और लड़की, पुरुष और स्त्री दोनों का समावेश हो जाता है। अस्तु, मनुष्य मात्र के लिए झूठ नहीं बोलना चाहिए– चाहे वह लड़की हो या लड़का, पुरुष हो या स्त्री।

उक्त सम्बन्ध में झूठ न बोलने का तात्पर्य है कि विवाह शादी के समय लड़के या लड़की की अधिक अवस्था हो तो उसे कम बता देना या कम हो तो ज़्यादा बता देना, उसके गुणों को अधिक बढ़ा-चढ़ा कर बताना या उनमें जो गुण न हों उनका भी उल्लेख कर देना झूठ है। क्योंकि जब भेद खुल जाता है तो इससे सामने वाले व्यक्ति के मन को आघात लगता है, उसका उक्त व्यक्ति के ऊपर से विश्वास उठ जाता है। इसी तरह नौकरी पाने के लिए या स्कूल एवं परीक्षाओं आदि में दाखिल करने के लिए अपनी सन्तान की उम्र एवं योग्यता को कम या ज़्यादा बताना भी झूठ है और श्रावक ऐसी भाषा का कभी उपयोग नहीं करता जिससे रहस्य का उद्घाटन होने पर दूसरे को धक्का लगे या जिससे दूसरा व्यक्ति छला जाए।

२-भूमि सम्बन्धी झूठ नहीं बोलना। भूमि शब्द में घर, दुकान, खेत आदि ज़मीन के साथ-साथ पृथ्वी से निकलने वाले खनिज पदार्थ एवं पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले धान, कपास, गेहूं आदि सभी पदार्थों का समावेश हो जाता है। और इनके लिए झूठ बोलने का अर्थ है– अपने मकानादि की सीमा को अधिक बताना, कम कीमत के माल को अधिक मूल्य का बताना, कम उपजाऊ भूमि को अधिक उपजाऊ बताना या अधिक ऊपजाऊ भूमि को कम ऊपजाउ बताना। यह भी एक तरह से धोखा है, इससे दूसरे व्यक्ति के मन को चोट पहुंचती है और उस पर से विश्वास भी उठ जाता है। अतः कृषि-वाणिज्य आदि किसी भी काम-धन्धे में श्रावक अयथार्थ–असत्य वचन का उपयोग न

करे।

३-गाय के सम्बन्ध में झूठ नहीं बोलना। भारत कृषि प्रधान देश रहा है। पुरातन युग में बड़े-बड़े पूंजीपति भी स्वयं खेती करते थे। कृषि के लिए पशु का सहयोग लेना आवश्यक है। हल चलाने में तथा खेत में उत्पन्न हुए माल को ढोकर घर लाने में बैलों की आवश्यकता पड़ती थी और दूध-दही-घी आदि के लिए तथा बैल प्राप्त करने के लिए गाय का परिपालन करना जरूरी था। यही कारण है कि भारत में गाय का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। उपासक दशांग सूत्र में श्रावकों ने जो पशुओं की मर्यादा रखी थी, उसमें गायों का उल्लेख है, अन्य पशुओं का नहीं। इस से स्पष्ट होता है कि उस युग में गाय की प्रमुखता थी और इसी प्रमुखता के कारण प्रस्तुत प्रकरण में गाय शब्द का उल्लेख किया। इससे उसका अर्थ केवल गाय न समझ कर गाय-भैंस, बकरी, घोड़ा, ऊंट आदि पालित पशु समझना चाहिए।

उसके लिए झूठ नहीं बोलने का तात्पर्य यह है— कम दूध देने वाले पशु को अधिक दूध देने वाला या अधिक दूध देने वाले को कम दूध देने वाला बताना। अच्छे एवं शान्त स्वभाव वाले पशु को बुरा और मारने वाला तथा बुरे और मारने वाले पशु को अच्छा और शान्त प्रकृति वाला बताना। तेज गति से दौड़ने वाले घोड़े आदि को मन्द गति वाला तथा मन्द गति वाले को तेज गति वाला बताना। अल्प मूल्यवान को अधिक मूल्यवान और अधिक मूल्यवान को अल्प मूल्य वाला बताना। इत्यादि सभी विकल्प गो सम्बन्धी असत्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। श्रावक इस तरह की भाषा का उपयोग नहीं करता।

४ न्याससम्बन्धी झूठ का तात्पर्य यह है– किसी व्यक्ति को

विश्वस्त व्यक्ति समझ कर अपना जेवर या अन्य कीमती सामान कुछ समय के लिए उसके पास रखना न्यास कहलाता है। उक्त सामग्री को वापस मांगने पर इन्कार कर जाना या दूसरे की धरोहर को दवाने के लिए भाषा का छल करना झूठ है। इस तरह के व्यवहार से सामने वाले व्यक्ति के मन को कभी इतना गहरा आघात लगता है कि हार्ट फेल तक की घटनाएं घट जाती हैं। अतः श्रावक को ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए,जिससे दूसरे के धन—सम्पति का थोड़ा—सा हिस्सा भी अपनी ओर रहता हो।

५ साक्षि-संबंधी-झूठी गवाही देना भी श्रावक के लिए निषेध है। श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक मामले को घर में ही सुलझाने का प्रयत्न करे। यदि कोई व्यक्ति उसकी वात नहीं मान रहा है और न्यायालय में जाता या अपना मामला किसी पंच के हाथ सौंपता है और उस में श्रावक को गवाह देना है तो वह विना झिझक के यथार्थ वात कहे। अपने स्वार्थ को साधने या पैसा कमाने की दृष्टि से झूठ का आश्रय न लेवे।

इस तरह श्रावक दो करण तीन योग से स्थूल झूठ का त्याग करता है। अपने मन, वचन और शरीर से न स्वयं झूठ वोलता है और न दूसरे को झूठ वोलने की प्रेरणा करता है। वह सदा सत्य भाषा का व्यवहार करता है। उसमें भी माधुर्य एवं दूसरे के हित का ख्याल रखता है। वह ऐसा कटु सत्य भी नहीं बोलता जिस से किसी के घर में परस्पर कलह—कदाग्रह या मारपीट हो जाए। वस्तुतः सत्य वही है, जो हितकारी, कल्याणकारी, मधुर और प्रिय हो। नीतिकारों ने भी कहा है—

"सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्,

मा ब्रूयात्, सत्यमप्रियम्। "

सत्यव्रत का परिपालन करने वाले व्यक्ति को पांच दोषों से सदा बच कर रहना चाहिए। उक्त दोष ये हैं— १-दूसरों पर झूठा आरोप लगाना, २-किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करना, ३-पत्नी या पति आदि विश्वस्त साथी के साथ विश्वास-घात करना, ४-किसी भी व्यक्ति को बुरी या झूठी सलाह देना और ५-झूठा दस्तावेज़ या जाली खत तैयार करना।

आत्मा का स्वभाव सत्यमय है। यही कारण है कि असत्य का व्यवहार करते समय भी सत्य उसके सामने साकार हो उठता है। परन्तु मोहजन्य विकारों के वशीभूत हो कर मनुष्य सत्य को झुठला कर असत्य की ओर प्रवृत्त होता है। यों असत्य भाषण के अनेक कारण हो सकते हैं, फिर भी मोटे तौर पर उसके १४ कारण बताए गए हैं। वे निम्न हैं—

१-क्रोध— क्रोध में मनुष्य पागल हो जाता है। आवेश के समय उसे उचित-अनुचित, सत्य-असत्य का ज़रा भी विवेक नहीं रहता। इसलिए आवेश, गुस्से एवं क्रोध में बोली जाने वाली भाषा प्रायः असत्य होती है।

२-मान— अहंकार के वश हो कर भी मनुष्य झूठ बोलता है। जब मानव के मस्तिष्क पर अपनी महानता या अहं-भाव का भूत सवार होता है, उस समय वह सत्य-झूठ को नहीं देखता किन्तु अपनी विशेषता को प्रकट करने में व्यस्त रहता है। अतः अभिमान के स्वर में बोली जाने वाली भाषा प्रायः असत्य होती है।

३-कपट— दूसरे व्यक्ति को छलने के लिए झूठ का सहारा लिया जाता है।

४-लोभ– लालची व्यक्ति अपना स्वार्थ साधने के लिए असत्य बोलता है।

५-राग– मोह के कारण भी मनुष्य झूठ बोलता है।

६-द्वेष– मनुष्य द्वेष के कारण भी विरोधी व्यक्ति पर असत्य दोषारोपण कर देता है।

७-हास्य– हंसी-मजाक में झूठ बोला जाता है।

८-भय– डर के कारण झूठ बोला जाता है।

९-लज्जा– लज्जावश अपने दुष्कर्म को छिपाने के लिए झूठ बोला जाता है।

१०-क्रीड़ा– क्रीड़ा के लिए भी असत्य बोला जाता है।

११-हर्ष– हर्ष के आवेश में भी मनुष्य अपनी वाणी पर संयम नहीं रख पाता है। उसका प्रवाह असत्य की ओर मोड़ खा लेता है।

१२-शोक– वियोग के समय भी मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है। इस से उसकी वाणी में विवेक नहीं रह पाता।

१३-दाक्षिण्य-- दूसरों के सामने अपनी निपुणता या चतुरता का प्रदर्शन करने के लिए भी मनुष्य झूठ बोलता है।

१४ बहुभाषण-- आवश्यकता से अधिक बोलने वाला मनुष्य भी असत्य बोलता है।

जब मनुष्य मनोविकारों के प्रवाह में बह जाता है तब वह अपने स्वभाव को भूल जाता है। उस समय वह यह नहीं सोच पाता कि वह क्या कर रहा है और क्या बोल रहा है? अतः सत्य आदि व्रतों की साधना करने वाले साधक को उपरोक्त एवं इस तरह के सभी मनोविकारों से बच कर रहना चाहिये। यदि प्रसंगवश कभी विकार जाग उठे तो उस समय मौन रहना चाहिए। जिस से वह सत्य की

साधना में संलग्न रह सके।

अस्तेय अणुव्रत

इस व्रत को स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत भी कहते हैं। स्तेय का अर्थ चोरी करना होता है और अदत्तादान का अर्थ भी दूसरे के अधिकार में रहे हुए पदार्थ को उसकी आज्ञा के बिना ग्रहण करना होता है। अतः सचित्त-गाय,भैंस आदि सजीव प्राणियों को तथा अचित्त-स्वर्ण,चांदी आदि निर्जीव पदार्थों को—वे जिसके अधिकार में है, उसे बिना पूछे उन पर अधिकार करना चोरी है। यह कर्म स्व और पर दोनों के लिए अहितकर है। क्योंकि जिसकी वस्तु उसकी अनुपस्थिति में उस से विना पूछे उठा ली जाती है या उसकी आंखों में धूल झोंककर, उसे धोखा देकर उसकी उपस्थिति में ही वस्तु को ग़ायब कर दिया जाता है या शक्ति एवं बल प्रयोग द्वारा उस से छीन ली जाती है, तो उक्त व्यक्ति को इससे अत्यधिक दुःख होता है और उसे वापस पाने के लिए वह निरन्तर चिन्तित रहता है, छीनने या चुराने वाले व्यक्ति का अहित चाहता है एवं रात-दिन आर्त्त,रौद्र ध्यान में डूबा रहता है। और जो व्यक्ति चोरी करता है वह भी इस क्रूर कर्म को करने के लिए रात-दिन अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में संलग्न रहता है। चोरी करने के बाद उसे छुपाने के अनेक प्रयत्न करता है और सदा चिन्ता एवं आर्त्त-रौद्र ध्यान में लगा रहता है। इस तरह दूसरे के धन-वैभव पर हाथ मारना न्याय एवं धर्म सभी दृष्टियों से बुरा माना गया है। इस तरीक़े से धन प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी शान्ति की सांस नहीं ले सकता, आराम का जीवन नहीं बिता सकता। अतः चोरी करना हर हालत में दोष है, अपराध है, महापाप है। अस्तु, श्रावक जीवन पर्यन्त के लिए दो करण तीन योग

से अर्थात् मन, वचन और शरीर से चोरी करने और दूसरे व्यक्ति से चोरी करवाने या चोर को चोरी के लिए प्रेरित करने का त्याग करता है।

अहिंसा की तरह चौर्य कर्म भी दो तरह का है— १-सूक्ष्म और २-स्थूल। कल्पना करो, आप बाजार में एक किराने की दुकान पर गए और दुकानदार से बिना पूछे गुड़ की डली उठा कर मुंह में रख ली। इसी तरह मार्ग में चलते हुए तृण या कंकर आदि उठा लिया। जैन धर्म उक्त प्रवृत्ति को चोरी मानता है। परन्तु यह सूक्ष्म चोरी है। इसे दुनिया चोरी नहीं मानती और न इससे दूसरे का विशेष नुकसान ही होता है। साधु के लिए ऐसे कार्य से भी बचने का आदेश है। परन्तु गृहस्थ के लिए स्थूल–मोटी चोरी से बचने की बात कही है, जिससे उसे एवं सामने वाले व्यक्ति को संकल्प-विकल्प एवं आर्त्त तथा रौद्र ध्यान में डूबना न पड़े, जिस से लोग उसे चोर कह कर उसका तिरस्कार न करें तथा शासन उसे दण्डित न करे। इस तरह सेंध लगा कर, ताला तोड़ कर, जेब काट कर, डाका डाल कर दूसरे के पदार्थ को अपने अधिकार में लेना स्थूल चोरी है और यह कर्म श्रावक के लिए त्याज्य है।

मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं सदा अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हुए साधनों से पूरी करनी चाहिएं। यदि कभी दूसरे से किसी पदार्थ को प्राप्त करने की आवश्यकता महसूस हो तो उसे मांग कर पूरी करनी चाहिए। एक दूसरे का सहयोग लेना तथा दूसरे को सहयोग देना बुरा नहीं है। परन्तु लुक–छिप कर या बल प्रयोग से दूसरे के पदार्थों पर अधिकार जमाना बुरा है। यह कर्म व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से निषिद्ध है। विचारकों ने धन को ग्यारहवां

प्राण कहा है।जैसे मानव को दूसरे प्राणों के जाने पर जितना दुःख एवं वेदना होती है, उतना ही दुःख एवं वेदना धन के जाने पर होती है। कई बार धन अपहरण के समय मनुष्य को इतना भारी आघात लगता है कि उसके प्राण पखेरू तक उड़ जाते हैं। अतः किसी के धन को चुराने या छीनने का अर्थ है- उसके प्राणों का अपहरण करना। अस्तु,सुख-शांति पूर्वक स्वयं जीने एवं दूसरे को जीवित रहने देने वाले को इस क्रूर एवं नीचतम कर्म से सदा दूर रहना चाहिए।

अस्तेय व्रत की साधना करने वाले व्यक्ति को पांच बातों से सदा बच कर रहना चाहिए। निम्न पांचों दोष जानने योग्य है, परन्तु आचरण करने योग्य नहीं है। श्रावक को इन दोषों से सर्वथा दूर रहना चाहिए। वे दोष इस प्रकार हैं—

१-किसी भी चोर को प्रेरित करना या दूसरे व्यक्ति से प्रेरणा दिलवाना दोष है। जैसे चोरी करना अपराध है, उसी तरह चोर को चोरी करने के लिए मदद एवं प्रोत्साहन देना भी अपराध है। जैसे यदि उसके पास खाद्य सामग्री की कमी है, उस समय उसे खाद्य पदार्थ दे देना। इसी तरह उसके पास ताला तोड़ने, सेंध लगाने आदि के औज़ार नहीं तो उसकी व्यवस्था कर देना तथा उसका माल कोई खरीदने वाला नहीं है तो स्वयं उसका माल खरीद लेना तथा उसे छिपने के लिए स्थान दे देना एवं इसी तरह और भी आवश्यक साधनों की व्यवस्था कर देना,यह कर्म मनुष्य को नैतिक एवं प्रामाणिक जीवन से नीचे गिराने वाला है। चोर को चोरी करने के लिए सहयोग देना चोरी करने जितना ही गुरुतर अपराध है। अतः श्रावक को अपने अस्तेय व्रत को शुद्ध एवं निर्दोष रखने के लिए, उक्त पाप या दोष से सर्वथा बचे रहना चाहिए।

२-चोरी करके लाए गए माल को खरीदना भी दोष है। कुछ व्यक्ति समझते हैं कि हम तो व्यापार करते हैं, इसमें दोष की क्या बात है? परन्तु जैनधर्म की दृष्टि से अन्याय से लाए गए पदार्थों को लेना उस अन्याय को बढ़ावा देना है। यही कारण है कि कानून की दृष्टि से भी उक्त कार्य को अपराध माना गया है। इसमें इतना अवश्य है कि यदि खरीदने वाले को यह मालूम नहीं है कि यह माल चोरी का है, वह साधारण माल समझ कर बाजार भाव से खरीदता है, उस के पूरे पैसे देता है तो वह अपराधी एवं दोषी नहीं है। परन्तु मालूम पड़ने पर भी लोभ में आकर कि माल सस्ता मिल रहा है, खरीदना अपराध है और श्रावक इस पाप कार्य से सदा-सर्वदा दूर रहता है।

३-तोल-माप के साधन कम या अधिक रखना। कुछ दुकानदार देने एवं लेने के बाट और गज़ आदि अलग-अलग रखते हैं। यदि किसी ग्राहक को माल देना है तो कम तोल के बाट का उपयोग करते हैं और स्वयं को लेना है, तो उस समय अधिक वज़न के बाट का उपयोग करते हैं। कुछ व्यक्ति अपने उक्त दोष को छिपाकर रखने के लिए साधनों के अनुसार अपने पुत्रों या अन्य वस्तुओं के नाम रख लेते हैं। जैसे किसी को कम तोलता है तो अपने संकेतानुसार घट्टूमल को बुला लिया जाता है। यदि कोई ग्राहक चालाक है तो पूर्णमल को याद कर लिया जाता है और किसी से अधिक लेना है तो बधारुमल को बुला लिया जाता है। इन संकेतों से ग्राहक वस्तुस्थिति को समझ नहीं पाता है और वह दुकानदार अपना स्वार्थ साध लेता है। इस तरह से किसी व्यक्ति को नाप तोल में कम देना या किसी से अधिक लेना भी दोष है। कानून की दृष्टि से भी मापक साधनों को कम-ज़्यादा रखना अपराध माना गया है।

४-वस्तु में मिलावट करना भी दोष है। कानून की दृष्टि से भी इसे अपराध माना गया है। वर्तमान युग में यह प्रवृत्ति काफी बढ़ गई है। घी, दूध, तेल आदि कोई भी पदार्थ मनुष्य को शुद्ध नहीं मिलता। कुछ दिन हुए भारत सरकार के गृह मन्त्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने कहा था कि शुद्ध घी की बात तो छोड़िए, परन्तु हमें यह भी विश्वास नहीं होता कि बाज़ार से मिलने वाला डालडा घी भी शुद्ध है। यह आज के व्यापारियों की प्रामाणिकता पर करारा चपेटा है। व्यापारी इसे पैसा कमाने की कला समझता है, परन्तु यह कला नहीं ग्राहक के एवं राष्ट्र के साथ विश्वासघात करना है, धोखा देना है। अस्तु,मिलावट करने वाला केवल चोरी करने का अपराधी ही नहीं, प्रत्युत विश्वासघाती एवं देशद्रोही भी है। उसके इस जघन्य कार्य से देश की जनता के स्वास्थ्य एवं मानसिक चिन्तन पर बुरा असर होता है। इस लिए श्रावक को इस महादोष से सदा दूर रहना चाहिए।

५-राष्ट्र विरोधी कार्य करना भी दोष है। अति वृष्टि, अनावृष्टि या राजनैतिक गड़बड़ एवं संकट के समय वस्तुओं का मूल्य बढा देना तथा प्रान्तीय व्यवस्था को या राष्ट्रीय व्यवस्था को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए एक प्रांत का माल दूसरे प्रांत में लाने-लेजाने या अपने देश का माल दूसरे देश में लाने-लेजाने पर प्रतिबन्ध लगाया हुआ है, उस हालत में छुप कर या सीमा अधिकारियों को रिश्वत दे कर इधर-उधर माल लाना तथा लेजाना भारी अपराध है। इसी तरह बिना टिकट सफर करना, चुंगी से बचने के लिए इधर-उधर से छिप कर निकल जाना, इन्कमटैक्स बचाने के लिए अलग खाते रखना इत्यादि ऐसे सभी कार्य अस्तेय व्रत के विरुद्ध हैं। ये सब चोरी के पाप को बढ़ाने वाले हैं। अतः श्रावक को इन सब दोषों से बच कर रहना

चाहिए।

अचौर्य व्रत का भली भांति परिपालन करने के लिए ऊपर कुछ बातें बताई गई हैं। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे चोरी के काम को ज़रा भी प्रोत्साहन मिले। जैनधर्म की दृष्टि से वे सभी कार्य स्तेय—चोरी में गिने जाते हैं, जिनके द्वारा दूसरे के धन, शक्ति एवं अधिकारों का अपहरण किया जाता है। वैदिक ग्रन्थों में भी कहा है— "जो व्यक्ति अपना पेट भरने के लिए दूसरों के भोजन का अपहरण करता है अर्थात् ग़रीबों को भूखे रखकर, उनका शोषण करके अपने ऐशोराम के साधन जुटाता है। वह समाज एवं राष्ट्र का चोर है और दण्ड पाने के योग्य है—

यावद् भ्रियते जठरं तावत् सत्त्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥*

इस दृष्टि से सोचते हैं तो जो राजा या राजनेता अपनी प्रजा के न्याय-प्राप्त राजनैतिक, सामाजिक एवं नागरिक अधिकारों का अपहरण करता है।' अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने के लिए जनता पर आवश्यकता से अधिक टैक्स लगा कर या दूसरे अनैतिक तरीक़ों से उसका शोषण करता है, जनता की सुख—सुविधा का ख्याल नहीं रखता है तथा उसकी आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता है तो वह-राजा या राजनेता शासक नहीं, शासक के रूप में चोर है, लुटेरा है।

अपने आप को धर्म का ठेकेदार मानने वाले संकीर्ण हृदय वाले स्वर्ण लोग अपने जातीय एवं धन के गर्व में हरिजन एवं अन्य साधारण तथा निर्धन लोगों के धार्मिक, सामाजिक एवं मानवीय अधिकारों का अपहरण करते हैं। तथा वे धर्मनेता या धर्म गुरु जो अपने शिष्यों

* भागवत

मा ब्रूयात्, सत्यमप्रियम्। ”

सत्यव्रत का परिपालन करने वाले व्यक्ति को पांच दोषों से सदा बच कर रहना चाहिए। उक्त दोष ये हैं— १-दूसरों पर झूठा आरोप लगाना, २-किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करना, ३-पत्नी या पति आदि विश्वस्त साथी के साथ विश्वास-घात करना, ४-किसी भी व्यक्ति को बुरी या झूठी सलाह देना और ५-झूठा दस्तावेज़ या जाली खत तैयार करना।

आत्मा का स्वभाव सत्यमय है। यही कारण है कि असत्य का व्यवहार करते समय भी सत्य उसके सामने साकार हो उठता है। परन्तु मोहजन्य विकारों के वशीभूत हो कर मनुष्य सत्य को झुठला कर असत्य की ओर प्रवृत्त होता है। यों असत्य भाषण के अनेक कारण हो सकते हैं, फिर भी मोटे तौर पर उसके १४ कारण बताए गए हैं। वे निम्न हैं—

१-क्रोध— क्रोध में मनुष्य पागल हो जाता है। आवेश के समय उसे उचित-अनुचित, सत्य-असत्य का ज़रा भी विवेक नहीं रहता। इसलिए आवेश, गुस्से एवं क्रोध में बोली जाने वाली भाषा प्रायः असत्य होती है।

२-मान— अहंकार के वश हो कर भी मनुष्य झूठ बोलता है। जब मानव के मस्तिष्क पर अपनी महानता या अहं-भाव का भूत सवार होता है, उस समय वह सत्य-झूठ को नहीं देखता किन्तु अपनी विशेषता को प्रकट करने में व्यस्त रहता है। अतः अभिमान के स्वर में बोली जाने वाली भाषा प्रायः असत्य होती है।

३-कपट— दूसरे व्यक्ति को छलने के लिए झूठ का सहारा लिया जाता है।

४-लोभ– लालची व्यक्ति अपना स्वार्थ साधने के लिए असत्य बोलता है।

५-राग– मोह के कारण भी मनुष्य झूठ बोलता है।

६-द्वेष– मनुष्य द्वेष के कारण भी विरोधी व्यक्ति पर असत्य दोषारोपण कर देता है।

७-हास्य– हंसी-मजाक में झूठ बोला जाता है।

८-भय– डर के कारण झूठ बोला जाता है।

९-लज्जा– लज्जावश अपने दुष्कर्म को छिपाने के लिए झूठ बोला जाता है।

१०-क्रीड़ा– क्रीड़ा के लिए भी असत्य बोला जाता है।

११-हर्ष– हर्ष के आवेश में भी मनुष्य अपनी वाणी पर संयम नहीं रख पाता है। उसका प्रवाह असत्य की ओर मोड़ खा लेता है।

१२-शोक– वियोग के समय भी मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है। इस से उसकी वाणी में विवेक नहीं रह पाता।

१३-दाक्षिण्य-- दूसरों के सामने अपनी निपुणता या चतुरता का प्रदर्शन करने के लिए भी मनुष्य झूठ बोलता है।

१४ बहुभाषण-- आवश्यकता से अधिक बोलने वाला मनुष्य भी असत्य बोलता है।

जब मनुष्य मनोविकारों के प्रवाह में बह जाता है तब वह अपने स्वभाव को भूल जाता है। उस समय वह यह नहीं सोच पाता कि वह क्या कर रहा है और क्या बोल रहा है ? अतः सत्य आदि व्रतों की साधना करने वाले साधक को उपरोक्त एवं इस तरह के सभी मनोविकारों से बच कर रहना चाहिये। यदि प्रसंगवश कभी विकार जाग उठे तो उस समय मौन रहना चाहिए। जिस से वह सत्य की

साधना में संलग्न रह सके।

अस्तेय अणुव्रत

इस व्रत को स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत भी कहते हैं। स्तेय का अर्थ चोरी करना होता है और अदत्तादान का अर्थ भी दूसरे के अधिकार में रहे हुए पदार्थ को उसकी आज्ञा के बिना ग्रहण करना होता है। अतः सचित्त-गाय,भैंस आदि सजीव प्राणियों को तथा अचित्त-स्वर्ण,चांदी आदि निर्जीव पदार्थों को—वे जिसके अधिकार में है, उसे विना पूछे उन पर अधिकार करना चोरी है। यह कर्म स्व और पर दोनों के लिए अहितकर है। क्योंकि जिसकी वस्तु उसकी अनुपस्थिति में उस से विना पूछे उठा ली जाती है या उसकी आंखों में धूल झौंककर, उसे धोखा देकर उसकी उपस्थिति में ही वस्तु को ग़ायब कर दिया जाता है या शक्ति एवं बल प्रयोग द्वारा उस से छीन ली जाती है, तो उक्त व्यक्ति को इससे अत्यधिक दुःख होता है और उसे वापस पाने के लिए वह निरन्तर चिन्तित रहता है, छीनने या चुराने वाले व्यक्ति का अहित चाहता है एवं रात-दिन आर्त्त,रौद्र ध्यान में डूबा रहता है। और जो व्यक्ति चोरी करता है वह भी इस क्रूर कर्म को करने के लिए रात-दिन अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में संलग्न रहता है। चोरी करने के बाद उसे छुपाने के अनेक प्रयत्न करता है और सदा चिन्ता एवं आर्त्त-रौद्र ध्यान में लगा रहता है। इस तरह दूसरे के धन-वैभव पर हाथ मारना न्याय एवं धर्म सभी दृष्टियों से बुरा माना गया है। इस तरीके से धन प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी शान्ति की सांस नहीं ले सकता, आराम का जीवन नहीं विता सकता। अतः चोरी करना हर हालत में दोष है, अपराध है, महापाप है। अस्तु, श्रावक जीवन पर्यन्त के लिए दो करण तीन योग

से अर्थात् मन, वचन और शरीर से चोरी करने और दूसरे व्यक्ति से चोरी करवाने या चोर को चोरी के लिए प्रेरित करने का त्याग करता है।

अहिंसा की तरह चौर्य कर्म भी दो तरह का है— १-सूक्ष्म और २-स्थूल। कल्पना करो, आप बाज़ार में एक किराने की दुकान पर गए और दुकानदार से बिना पूछे गुड़ की डली उठा कर मुंह में रख ली। इसी तरह मार्ग में चलते हुए तृण या कंकर आदि उठा लिया। जैन धर्म उक्त प्रवृत्ति को चोरी मानता है। परन्तु यह सूक्ष्म चोरी है। इसे दुनिया चोरी नहीं मानती और न इससे दूसरे का विशेष नुकसान ही होता है। साधु के लिए ऐसे कार्य से भी बचने का आदेश है। परन्तु गृहस्थ के लिए स्थूल-मोटी चोरी से बचने की बात कही है, जिससे उसे एवं सामने वाले व्यक्ति को संकल्प-विकल्प एवं आर्त्त तथा रौद्र ध्यान में डूबना न पड़े, जिस से लोग उसे चोर कह कर उसका तिरस्कार न करें तथा शासन उसे दण्डित न करे। इस तरह सेंध लगा कर, ताला तोड़ कर, जेब काट कर, डाका डाल कर दूसरे के पदार्थ को अपने अधिकार में लेना स्थूल चोरी है और यह कर्म श्रावक के लिए त्याज्य है।

मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं सदा अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हुए साधनों से पूरी करनी चाहिएं। यदि कभी दूसरे से किसी पदार्थ को प्राप्त करने की आवश्यकता महसूस हो तो उसे मांग कर पूरी करनी चाहिए। एक दूसरे का सहयोग लेना तथा दूसरे को सहयोग देना बुरा नहीं है। परन्तु लुक-छिप कर या बल प्रयोग से दूसरे के पदार्थों पर अधिकार जमाना बुरा है। यह कर्म व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से निषिद्ध है। विचारकों ने धन को ग्यारहवां

प्राण कहा है। जैसे मानव को दूसरे प्राणों के जाने पर जितना दुःख एवं वेदना होती है, उतना ही दुःख एवं वेदना धन के जाने पर होती है। कई बार धन अपहरण के समय मनुष्य को इतना भारी आघात लगता है कि उसके प्राण पखेरू तक उड़ जाते हैं। अतः किसी के धन को चुराने या छीनने का अर्थ है- उसके प्राणों का अपहरण करना। अस्तु, सुख-शांति पूर्वक स्वयं जीने एवं दूसरे को जीवित रहने देने वाले को इस क्रूर एवं नीचतम कर्म से सदा दूर रहना चाहिए।

अस्तेय व्रत की साधना करने वाले व्यक्ति को पांच बातों से सदा बच कर रहना चाहिए। निम्न पांचों दोष जानने योग्य है, परन्तु आचरण करने योग्य नहीं है। श्रावक को इन दोषों से सर्वथा दूर रहना चाहिए। वे दोष इस प्रकार हैं—

१-किसी भी चोर को प्रेरित करना या दूसरे व्यक्ति से प्रेरणा दिलवाना दोष है। जैसे चोरी करना अपराध है, उसी तरह चोर को चोरी करने के लिए मदद एवं प्रोत्साहन देना भी अपराध है। जैसे यदि उसके पास खाद्य सामग्री की कमी है, उस समय उसे खाद्य पदार्थ दे देना। इसी तरह उसके पास ताला तोड़ने, सेंध लगाने आदि के औज़ार नहीं तो उसकी व्यवस्था कर देना तथा उसका माल कोई खरीदने वाला नहीं है तो स्वयं उसका माल खरीद लेना तथा उसे छिपने के लिए स्थान दे देना एवं इसी तरह और भी आवश्यक साधनों की व्यवस्था कर देना, यह कर्म मनुष्य को नैतिक एवं प्रामाणिक जीवन से नीचे गिराने वाला है। चोर को चोरी करने के लिए सहयोग देना चोरी करने जितना ही गुरुतर अपराध है। अत: श्रावक को अपने अस्तेय व्रत को शुद्ध एवं निर्दोष रखने के लिए, उक्त पाप या दोष से सर्वथा बचे रहना चाहिए।

२-चोरी करके लाए गए माल को खरीदना भी दोष है। कुछ व्यक्ति समझते हैं कि हम तो व्यापार करते हैं, इसमें दोष की क्या बात है ? परन्तु जैनधर्म की दृष्टि से अन्याय से लाए गए पदार्थों को लेना उस अन्याय को बढ़ावा देना है। यही कारण है कि कानून की दृष्टि से भी उक्त कार्य को अपराध माना गया है। इसमें इतना अवश्य है कि यदि खरीदने वाले को यह मालूम नहीं है कि यह माल चोरी का है, वह साधारण माल समझ कर बाज़ार भाव से खरीदता है, उस के पूरे पैसे देता है तो वह अपराधी एवं दोषी नहीं है। परन्तु मालूम पड़ने पर भी लोभ में आकर कि माल सस्ता मिल रहा है, खरीदना अपराध है और श्रावक इस पाप कार्य से सदा-सर्वदा दूर रहता है।

३-तोल-माप के साधन कम या अधिक रखना। कुछ दुकानदार देने एवं लेने के बाट और गज़ आदि अलग-अलग रखते हैं। यदि किसी ग्राहक को माल देना है तो कम तोल के बाट का उपयोग करते हैं और स्वयं को लेना है, तो उस समय अधिक वज़न के बाट का उपयोग करते हैं। कुछ व्यक्ति अपने उक्त दोष को छिपाकर रखने के लिए साधनों के अनुसार अपने पुत्रों या अन्य वस्तुओं के नाम रख लेते हैं। जैसे किसी को कम तोलता है तो अपने संकेतानुसार घट्टूमल को बुला लिया जाता है। यदि कोई ग्राहक चालाक है तो पूर्णमल को याद कर लिया जाता है और किसी से अधिक लेना है तो बधारुमल को बुला लिया जाता है। इन संकेतों से ग्राहक वस्तुस्थिति को समझ नहीं पाता है और वह दुकानदार अपना स्वार्थ साध लेता है। इस तरह से किसी व्यक्ति को नाप तोल में कम देना या किसी से अधिक लेना भी दोष है। कानून की दृष्टि से भी मापक साधनों को कम-ज़्यादा रखना अपराध माना गया है।

४-वस्तु में मिलावट करना भी दोष है। कानून की दृष्टि से भी इसे अपराध माना गया है। वर्तमान युग में यह प्रवृत्ति काफी बढ़ गई है। घी, दूध, तेल आदि कोई भी पदार्थ मनुष्य को शुद्ध नहीं मिलता। कुछ दिन हुए भारत सरकार के गृह मन्त्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने कहा था कि शुद्ध घी की बात तो छोड़िए, परन्तु हमें यह भी विश्वास नहीं होता कि बाजार से मिलने वाला डालडा घी भी शुद्ध है। यह आज के व्यापारियों की प्रामाणिकता पर करारा चपेटा है। व्यापारी इसे पैसा कमाने की कला समझता है, परन्तु यह कला नहीं ग्राहक के एवं राष्ट्र के साथ विश्वासघात करना है, धोखा देना है। अस्तु,मिला-वट करने वाला केवल चोरी करने का अपराधी ही नहीं, प्रत्युत वि-श्वासघाती एवं देशद्रोही भी है। उसके इस जघन्य कार्य से देश की जनता के स्वास्थ्य एवं मानसिक चिन्तन पर बुरा असर होता है। इस लिए श्रावक को इस महादोष से सदा दूर रहना चाहिए।

५-राष्ट्र विरोधी कार्य करना भी दोष है। अति वृष्टि, अनावृष्टि या राजनैतिक गड़बड़ एवं संकट के समय वस्तुओं का मूल्य बढा देना तथा प्रान्तीय व्यवस्था को या राष्ट्रीय व्यवस्था को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए एक प्रांत का माल दूसरे प्रांत में लाने-लेजाने या अपने देश का माल दूसरे देश में लाने-लेजाने पर प्रतिबन्ध लगाया हुआ है, उस हालत में छुप कर या सीमा अधिकारियों को रिश्वत दे कर इधर-उधर माल लाना तथा लेजाना भारी अपराध है। इसी तरह बिना टिकट सफर करना, चुंगी से बचने के लिए इधर-उधर से छिप कर निकल जाना, इन्कमटैक्स बचाने के लिए अलग खाते रखना इत्यादि ऐसे सभी कार्य अस्तेय व्रत के विरुद्ध हैं। ये सब चोरी के पाप को बढ़ाने वाले हैं। अतः श्रावक को इन सब दोषों से बच कर रहना

चाहिए ।

अचौर्य व्रत का भली भांति परिपालन करने के लिए ऊपर कुछ बातें बताई गई हैं । इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे चोरी के काम को ज़रा भी प्रोत्साहन मिले । जैनधर्म की दृष्टि से वे सभी कार्य स्तेय–चोरी में गिने जाते हैं, जिनके द्वारा दूसरे के धन, शक्ति एवं अधिकारों का अपहरण किया जाता है । वैदिक ग्रन्थों में भी कहा है— "जो व्यक्ति अपना पेट भरने के लिए दूसरों के भोजन का अपहरण करता है अर्थात् ग़रीबों को भूखे रखकर, उनका शोषण करके अपने ऐशोराम के साधन जुटाता है । वह समाज एवं राष्ट्र का चोर है और दण्ड पाने के योग्य है–

यावद् भ्रियते जठरं तावत् सत्त्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥*

इस दृष्टि से सोचते हैं तो जो राजा या राजनेता अपनी प्रजा के न्याय-प्राप्त राजनैतिक, सामाजिक एवं नागरिक अधिकारों का अपहरण करता है ।' अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने के लिए जनता पर आवश्यकता से अधिक टैक्स लगा कर या दूसरे अनैतिक तरीक़ों से उसका शोषण करता है, जनता की सुख–सुविधा का ख्याल नहीं रखता है तथा उसकी आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता है तो वह-राजा या राजनेता शासक नहीं, शासक के रूप में चोर है, लुटेरा है ।

अपने आप को धर्म का ठेकेदार मानने वाले संकीर्ण हृदय वाले स्वर्ण लोग अपने जातीय एवं धन के गर्व में हरिजन एवं अन्य साधारण तथा निर्धन लोगों के धार्मिक, सामाजिक एवं मानवीय अधिकारों का अपहरण करते हैं । तथा वे धर्मनेता या धर्म गुरु जो अपने शिष्यों

* भागवत

के मानवीय अधिकारों का अपहरण करते हैं, वे भी धर्म-नेता नहीं, समाज एवं शासन के चोर हैं।

ज़मींदार, मिल एवं फैक्ट्रियों के मालिक अपना स्वार्थ साधने के लिए या यों कहिए अपनी पूंजी बढ़ाने हेतु किसानों,मजदूरों एवं श्रमिकों का शोषण करते हैं, उन से समय एव शक्ति से अधिक काम लेते हैं, उनसे बेगार लेते हैं– तनख्वाह या मज़दूरी दिए बिना काम लेते हैं, उनकी मेहनत के पैसों को काटने का प्रयत्न करते हैं और उन के हितों का ख्याल नहीं रखते हैं, वे भी समाज के दुश्मन हैं, चोर हैं।

वे लालची साहूकार जो मर्यादा से अधिक सूद लेते हैं, कम रुपए दे कर अधिक रुपयों का खत लिखवाते हैं तथा गिरवी रखे हुए माल को हज़म कर जाने का प्रयत्न करते हैं, वे भी चोर हैं।

वे सरकारी अधिकारी एवं कर्मचारी जो रिश्वत लिए बिना कोई काम नहीं करते तथा वे मकान एवं दुकान मालिक जो मकान एवं दुकान के उचित किराए से अधिक लेते हैं और साथ में पगड़ी–अतिरिक्त धन लेते हैं, वे भी चोरी करते हैं।

वे वकील-बरिस्टर एवं वैद्य-डाक्टर भी चोर हैं– जो सेवा एवं सद्भावना की दृष्टि से कार्य न करके केवल पैसा लूटने के लिए वकालत या डाक्टरी का धन्धा करते हैं। अर्थात् पैसे के लोभ में आकर झूठे मुकदमे को सच्चा बनाने का प्रयत्न करते हैं तथा एक बीमार व्यक्ति से अधिक पैसा कमाने की दृष्टि से उसका ठीक इलाज न कर के बीमारी को अधिक लम्बा बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे कि रोगी से दवा एवं फीस के बहाने अधिक पैसा ऐंठा जा सके। कुछ डॉक्टर औषध विक्रेताओं से कमीशन तय कर लेते हैं कि मेरे रोगी के द्वारा खरीदी गई दवा का इतना कमीशन होगा, इस तरह सेवा के काम को धन कमाने का धन्धा बनाने वाले स्वार्थी एवं लालची वकील-

बैरिस्टर एवं डाक्टर भी चोरों की श्रेणी में गिने गए हैं।

वे लेखक एवं कवि जो दूसरे लेखकों एवं कवियों के विचारों को अपने नाम से छपवाते हैं, उनके लेखों एवं कविताओं में थोड़ा-बहुत शब्दों का या शीर्षकों का हेर-फेर करके उसे अपने नाम से प्रकाशित करने का दुःसाहस करते हैं, वे भी चोर हैं।

इस तरह किसी भी व्यक्ति के धन-धान्य आदि पदार्थ, विचार, समय, शक्ति एवं श्रम का अपहरण करना, उन पर अपना अधिकार जमाना चोरी है। श्रावक को इस पाप कर्म से सदा दूर रहना चाहिए और जीवन में सदा सावधान हो कर चलना चाहिए।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

विषय-वासना जीवन को पतनोन्मुख बनाती है। इस से शारीरिक शक्ति, वैचारिक सहिष्णुता एवं मानसिक सन्तुलन बिगड़ता है। और वासना के आवरण में आत्म तेज भी दब जाता है, मन्द पड़ जाता है। अतः साधक को इन्द्रिय-जन्य विषय-भोगों से सदा निरत रहना चाहिए। जैनधर्म के विचारकों ने मैथुन क्रिया को सदोष माना है। प्रथम तो यह मोहजन्य है और मोह एवं आसक्ति को बढ़ाने वाली है। यह ठीक है कि उक्त प्रवृत्ति के समय क्षणिक आनन्द एवं शांति का अनुभव होता है, परन्तु इससे जीवन में शान्ति मिलती हो ऐसी बात नहीं है। विषय-भोगों की ओर जितनी अधिक प्रवृत्ति होगी, वासना की आग भी उतनी ही तेज होगी। काम-भोग से या मैथुन क्रिया से वासना को शान्त करने की प्रक्रिया ठीक वैसी होगी जैसे कि पैट्रोल छिड़क कर प्रज्वलित आग को बुझाने के लिए की जाए। यह केवल तर्क एवं उपदेश की बात नहीं है, हमारी अनुभूति की प्रयोगशाला में हम देख चुके हैं कि भोगों से काम-विकार एवं वासना को

तृप्ति एवं सन्तुष्टि न हो कर लालसा या भोग-पिपासा अधिक बढ़ती है। कृष्ण ने भी अर्जुन से यही बात कही कि हे अर्जुन ! इन्द्रिय एवं विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले ये सब भोग विषयी पुरुषों को भ्रम से सुख-रूप प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में वे दुःख के ही कारण हैं और आदि-अन्त वाले हैं, अनित्य हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरुष इनमें रमण नहीं करता ‡। अतः हम यह कह सकते हैं कि संभोग प्रवृत्ति वासना को और तीव्र बनाती है, एतदर्थ वह सदोष एवं त्याज्य है।

दूसरी बात यह है कि स्त्री-पुरुष संसर्ग से या अप्राकृतिक ढंग से मैथुन क्रिया करने से लाखों सन्नी पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। मैथुन प्रवृत्ति को प्राकृतिक कह कर उसे निर्दोष मानना या कहना भारी भूल है। वैज्ञानिक भी इस बात से सहमत हैं, मैथुन प्रवृत्ति के समय गिरने वाले वीर्य एवं रज में लाखों सजीव जीवाणु होते हैं। भगवती सूत्र में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है ‡‡। मानव के क्षणिक आमोद-प्रमोद में लाखों-करोड़ों पञ्चेन्द्रिय प्राणियों की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है, सम्मूर्च्छिम जीवों की हिंसा की तो बात ही अलग है। यही कारण है कि अहिंसा पर अधिक भार देने वाले जैनधर्म ने मैथुन प्रवृत्ति को सदोष माना है।

विषय-वासना से सर्वथा विरक्त हो जाने का नाम ब्रह्मचर्य है। मन, वचन और शरीर से विषय-वासना की ओर न प्रवृत्त होना, न दूसरे को प्रेरित करना तथा न वैषयिक सुखों का चिन्तन करना या उन्हें अच्छा समझना। इस तरह मन, वचन और शरीर से वैषयिक प्रवृत्ति, प्रेरणा एवं चिन्तन का परित्याग करना साधारण काम नहीं

‡ गीता, अध्याय ५ श्लोक २२

‡‡ भगवती सूत्र, शतक २, उद्देश्यक २, सूत्र १०६

है। सशक्त आत्मा ही इसे पूर्णतः स्वीकार कर सकता है और वही इसका ठीक तरह से परिपालन कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति इस मार्ग पर आसानी से नहीं चल सकता। इसलिए साधु एवं श्रावक के लिए अन्य व्रतों की तरह इस व्रत के भी दो विभाग कर दिए गए हैं। साधु के लिए पूर्णतः ब्रह्मचर्य पालन करने का विधान है, परन्तु गृहस्थ के लिए जीवन को संयमित, नियमित एवं मर्यादित बनाने की बात कही गई है। श्रावक के लिए भी यह जरूरी है कि वह विषय-वासना का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकता है तो उसे केन्द्रित कर ले। या यों कहिए श्रावक स्व पत्नी के अतिरिक्त और श्राविका स्व पति के अतिरिक्त अपनी वासना को न फैलने दे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि पति-पत्नी का संसर्ग निर्दोष है और वे इस प्रवृत्ति के लिए खुले हैं। मैथुन क्रिया हर हालत में सदोष है। हां, उक्त प्रवृत्ति से बन्धने वाले कर्म में अन्तर हो सकता है। क्योंकि बन्ध क्रिया पर नहीं, भावना या परिणामों की धारणा पर आधारित है। यदि विषय भोगों में अधिक आसक्ति है तो बन्ध प्रगाढ़ होगा और आसक्ति कम है तो बन्ध हल्का होगा। श्रावक इस बात को जानता है, इसलिए वह वैषयिक प्रवृत्ति में भी विवेक को सामने रख कर चलता है। श्रावक अपनी पत्नी के साथ और श्राविका स्व पति के साथ स्वच्छन्दता से क्रीड़ा नहीं करते, परन्तु पति-पत्नी दोनों एक दूसरे में सन्तोष वृत्ति को स्वीकार करते हैं। वासना के वेग अत्यधिक होने पर वे वैषयिक क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु उस समय भी वे अपने आप को भूल नहीं जाते और न उक्त क्रिया को आनन्द रूप समझ कर उसमें आसक्त ही होते हैं। वे उसका सेवन सिर्फ दवा के रूप में करते हैं। औषध का उपयोग बीमारी के समय किया जाता है, न कि स्वस्थ अवस्था में और बीमारी के समय भी मर्यादित रूप में

ही औषध ली जाती है. पेट भरने के लिए नहीं। इसी तरह वैषयिक प्रवृत्ति भी संयमित, मर्यादित एवं सन्तोषवृत्ति के साथ की जाए तो वह शारीरिक, वैचारिक एवं मानसिक स्वस्थता की दृष्टि एवं आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष हानि का कारण नहीं बनती।

प्रस्तुत व्रत का नाम स्वदार सन्तोष व्रत है और श्राविका के लिए स्वपति सन्तोष व्रत। इसका तात्पर्य यह है कि श्राविक-श्राविका विषय-भोगों को अच्छा नहीं समझते, वे उन्हें त्याज्य समझते हैं। परन्तु वासना पर पूर्णतः विजय पा सकने में असमर्थ होने के कारण दाम्पत्य जीवन में सन्तोषवृत्ति का अनुभव करते हैं। अपनी फैली हुई अनन्त वासनाओं को इधर-उधर से हटा कर दाम्पत्य जीवन में केन्द्रित कर लेते हैं। श्रावक-श्राविका स्वपत्नी एवं स्वपति को छोड़ कर जगत के अन्य सब स्त्री-पुरुषों को माता—बहिन एवं भाई के तुल्य समझते हैं।

आज मनुष्य जीवन में संयम का महत्त्व बहुत कम रह गया है। बहुत से मनुष्य प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक ढंग से रात-दिन व्यभिचार के कामों में निमज्जित रहते हैं। पाश्चात्य देशों में विषय—भोगों का सेवन करना जीवन का महान उद्देश्य माना गया है और यही कारण है कि वहां बड़े-बड़े क्लबों में स्त्री-पुरुष के कई जोड़े विषय—वासना का खुला प्रदर्शन करते हैं, राह चलते, बाजारों में, रेलों में एवं अन्य सब खुले स्थानों में पुरुष द्वारा स्त्री का चुम्बन करना बुरा नहीं समझा जाता है। पाश्चात्य सभ्यता की यह हवा भारत में भी चल पड़ी है। चुम्बन प्रथा तो अभी तक भारत से दूर है, परन्तु बड़े-बड़े क्लबों एवं होटलों में जोड़ों का नाच बिना किसी संकोच एवं रोक—टोक के साथ होता है। वहां किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं है, कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के साथ नाच सकती है। यह वासना का नंगा

प्रदर्शन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के बिल्कुल विपरीत है, वासना को उत्तेजित करने वाला है और व्यभिचार में अभिवृद्धि करने वाला है। ऐसी प्रवृत्ति स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के लिए घातक है, पतन के महागर्त में गिराने वाली है। इस पर प्रतिबन्ध लगाना समाज एवं राष्ट्र का सब से पहला काम है। केवल धार्मिक दृष्टि से नहीं, सामाजिक, राष्ट्रीय, व्यावहारिक एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी विषय-वासना को उत्तेजित करने वाली सभी प्रवृत्तियां नुकसान प्रद है।

स्त्री वासना पूर्ति का साधन मात्र ही नहीं है। वह केवल नारी नहीं, माता भी है, बहिन भी है, पुत्री भी है। अतः उसे वासना की साकार मूर्ति मान कर उसे अपने आमोद-प्रमोद का साधन मानना एवं बनाना भारी भूल है। नारी वासना की गुड़िया नहीं, एक शक्ति है, ताकत है, वह शान्ति एवं सहिष्णुता की देवी है। उसे अतृप्त वासना की दृष्टि से देखना या उसे अपनी शय्या की गेंद समझना अपने एवं राष्ट्र के जीवन को पतन के महागर्त में गिराना है और यह केवल नारी का अपमान नहीं, बल्कि माता एवं बहिन का घोर अपमान करना है। अस्तु, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता किसी भी हालत में अनियंत्रित वासना, भोगेच्छा एवं वैषयिक भावना को बढावा देने वाले साधनों-प्रसाधनों को स्वीकार नहीं कर सकती। वैदिक धर्म के ग्रन्थों में भी केवल सन्तान प्राप्ति की इच्छा से दम्पती को विषय-वासना की ओर प्रवृत्त होने की बात कही है, न कि रात-दिन चौबीस घंटे वासना के अनन्त सागर में डूबे रहने की। एक पति या एक पत्नी व्रत का यह अर्थ लगाना गलत है कि उसके साथ व्यक्ति रात-दिन वैषयिक सुख में डूबा रहे। स्वपत्नी भी केवल भोग के लिए नहीं है। उसका साथ, सहयोग एवं सम्पर्क वासना को नियंत्रित करने के लिए, जीवन

में संयम को बढ़ावा देने के लिए है, सन्तोषवृत्ति धारण करने के लिए है। स्वपत्नी के साथ भी विषय-वासना में डूबे रहना व्रत की दृष्टि से एवं भारतीय संस्कृति की दृष्टि से पतन का कारण है। प्रस्तुत व्रत को सुरक्षित रखने के लिए श्रावक को ५ बातों से सदा बचे रहना चाहिए–

१-किसी स्त्री या पुरुष को रखैल * के रूप में रख कर उसके साथ काम-भोग का सेवन करना।

२–परस्त्री, अविवाहित नारी एवं वेश्या के साथ तथा श्राविका को पर पुरुष एवं अविवाहित व्यक्ति के साथ विषयेच्छा को पूरा करना।

३-अप्राकृतिक साधनों से विषय-भोगों का सेवन करना तथा उसे बढ़ावा देने वाले साधनों का इस्तेमाल करना। †

४-दूसरों के विवाह संबंध जोड़ाना। $

* जिसके साथ विधि-पूर्वक विवाह नहीं किया है, परन्तु अपनी वासना की पूर्ति के लिए रख छोड़ा है।

† जोड़े के रूप में नाच कर वासना का प्रदर्शन करना, अश्लील साहित्य पढ़ना, काम-वासना को उत्तेजित करने वाली फिल्मों को देखना, वैसे फिल्मी गाने गाना, तथा एडवरटाइजमेंट के रूप में नारी के रूप तथा सौंदर्य का भद्दा चित्रण करना, जिससे अपनी एवं दूसरों की काम-पिपासा जाग उठे।

$ उक्त चौथे अतिचार का नाम 'पर-विवाह-करणे' है। आचार्यों ने इस का अर्थ 'दूसरे का विवाह-संबंध करवाना' किया है। कई टीकाकारों ने भी यही अर्थ किया है। 'परविवाहकरणे- परेषां स्वापत्य-व्यतिरिक्तानां जनानां विवाह-करणं कन्या-फल-लिप्सया, स्नेह-संबंधाऽऽदिना वा परिणयनंपरविवाह करणम् अर्थात्-अपनी सन्तान को छोड़ कर स्नेह-संबंध या कन्या-प्राप्ति की इच्छा से दूसरों का विवाह करवाना।' 'परकीयापत्यानां स्नेहादिना परिणायने अर्थात्

५-काम-भोग की तीव्र आसक्ति रखना। वासना को अधिक बढ़ाने के लिए कामोत्तेजक औषधों एवं प्रकाम रसों तथा प्रकाम भोजन का सेवन करना तथा अमर्यादित रूप से विषय-भोग भोगना।

इस तरह श्रावक एवं श्राविका को उन सब साधनों का परित्याग कर देना चाहिए, जिनसे जीवन में विषय-वासना बढ़ती है, विकारों में अभिवृद्धि होती है।

दूसरे की सन्तानों का स्नेहादि के लिए परिणायन— विवाह करवाने को 'पर-विवाह-करणे' कहते हैं। 'स्वदार-सन्तोषिणो हि न युक्तं परेषां विवाहाऽऽदि-करणेन मैथुननियोगोऽनर्थको, विशिष्ट-विरति-युक्तत्वादित्येवमनाकलयतः परार्थ-करणोद्यततयाऽतिचारोऽयमिति, अर्थात् स्वदार सन्तोषव्रत वाले व्यक्ति को दूसरे के विवाहादि असंयम-प्रोत्साहक कार्य करने से अतिचार लगता है। क्योंकि वह विशिष्ट व्रतधारी है, एतदर्थ उसके लिए ऐसा कार्य करना दोष का कारण है।' (राजेन्द्र कोष भाग ५, पृष्ठ ५४८)

व्याकरण की दृष्टि से भी यह अर्थ गलत है, ऐसी बात नहीं है। शाब्दिक दृष्टि से भले ही यह अर्थ सही है, परन्तु व्रत स्वीकार करने की दृष्टि से यह अर्थ ठीक नहीं बैठता। क्योंकि चौथा व्रत एक करण और एक योग से स्वीकार किया जाता है। अर्थात् त्याग करने वाला व्यक्ति शरीर से विषय भोग सेवन करने का प्रत्यख्यान करता है। उसने मन और वचन से अभी विषय-भोग का त्याग नहीं किया है और मन, वचन एवं शरीर से वैषयिक संबंध करवाने एवं करने वाले का समर्थन करने का भी उसने त्याग नहीं किया है। अतः जब श्रावक के दूसरे व्यक्ति का विवाह-संबंध कराने रूप काम-भोग का त्याग ही नहीं है, तब उसे उसका अतिचार क्यों लगेगा, जिससे दूसरे का विवाह करवाने की प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाया जाए या ऐसा करने पर उसे व्रत में दोष लगाने वाला माना जाए। अस्तु, 'परविवाहकरणे' का यह अर्थ करना उचित

परिग्रह-परिमाण अणुव्रत

परिग्रह दो प्रकार का होता है- १-द्रव्य और २-भाव। धन-

नहीं जचता। आचार्य हरिभद्र सूरि ने 'धर्म-विन्दु' ग्रन्थ में इसका अर्थ यह किया है कि श्रावक या श्राविका ने व्रत स्वीकार करते समय पत्नी या पति की जो मर्यादा रखी है, कालान्तर में उसका वियोग हो जाने पर भी वह उसके अतिरिक्त दूसरी स्त्री या दूसरे पुरुष के साथ विवाह-संबंध न करे। यह अतिचार दूसरे का विवाह करवाने' के अर्थ में नहीं, अपना दूसरा विवाह न करने के अर्थ में है। और यह अर्थ व्रत स्वीकार करने की दृष्टि से उचित जचता है। आचार्य श्री जवाहर लाल जी महाराज ने भी यही अर्थ किया है। (ब्रह्मचर्यव्रत पृ. ११२)अस्तु,जैसे श्राविका को पति वियोग हो जाने पर दूसरा विवाह नहीं करने का सामाजिक एवं धार्मिक नियम है। उसी तरह श्रावक के लिए भी यह धार्मिक नियम है कि वह अपनी पत्नी का वियोग हो जाने पर दूसरा विवाह न करे।

'परविवाहकरणे' चौथे व्रत का अतिचार है और अतिचार मात्र जानने योग्य होता, आचरण करने योग्य नहीं होता और न उसमें आगार-मर्यादा ही रखी जा सकती है। अत: पुत्र-पुत्री आदि सम्वन्धियों के अतिरिक्त अन्य का विवाह न कराने की वात उचित प्रतीत नहीं होती। दूसरे का विवाह करवाना अतिचार है, तो फिर श्रावक न अपनी सन्तान का विवाह कर सकता और न दूसरे की सन्तान का ही। अतिचार अतिचार है,अतः उसमें अपने पराए का भेद नहीं किया जा सकता। अस्तु, दूसरे का विवाह-संवंध कराने से व्रत का भंग नहीं होता है। हां कुछ अन्य धर्मी लोग कन्यादान आदि कार्य को धर्म का कारण मानते हैं, अतः उक्त दोष से वचने के लिए दूसरे के विवाह-सम्वन्ध जोड़ने में शामिल होना उचित नहीं है। परन्तु यह अतिचार नहीं है। अतिचार की

धान्य, स्वर्ण-चांदी, घर-मकान-दुकान आदि द्रव्य परिग्रह है और उक्त पदार्थों में आसक्ति, ममता एवं मेरेपन का भाव रखना भाव परिग्रह है। भाव परिग्रह के अभाव में द्रव्य परिग्रह विकास पथ में इतना बाधक नहीं है। द्रव्य परिग्रह चाहे अत्यल्प ही क्यों न हो, परन्तु यदि भाव परिग्रह– आसक्ति रही हुई है, पदार्थों की तृष्णा मन में अवशेष है तो वह दरिद्री होने पर भी परिग्रही है। और द्रव्य परिग्रह अत्यधिक है, यहां तक कि चक्रवर्ती का वैभव उस के चरणों में लोट रहा है, फिर उसके मन में उसके प्रति ममता–मूर्च्छा नहीं है, तृष्णा-आकांक्षा नहीं है, तो वह व्यक्ति द्रव्य परिग्रह का ढेर लगा होने पर भी अल्प-परिग्रही कहा गया है। इस से स्पष्ट है कि परिग्रह आसक्ति तृष्णा एवं ममता में है, पदार्थों में नहीं- मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।

परिग्रह– आसक्ति या तृष्णा को सब से बड़ा पाप कहा है। क्रोध, प्रेम और स्नेह का नाश करता है, मान विनय-भक्ति का नाशक है और माया मित्रता का नाश करती है, परन्तु लोभ-तृष्णा या आसक्ति सब गुणों का नाशक है, सारे दोषों की जड़ है §। आज व्यक्ति-व्यक्ति में, घर में, समाज में, राष्ट्र में एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाले संघर्ष, कलह-कदाग्रह का मूल कारण परिग्रह ही है। पूंजीपति और श्रमजीवियों का, साम्राज्यवादी ताक़तों और कम्यूनिज़्म का या यों कहिए अमेरिका और रूस का जो संघर्ष चल रहा है, दो ताक़तों

दृष्टि से श्रावक-श्राविका ने जिस पत्नी या पति की मर्यादा रखी है उस का वियोग हो जाने पर भी उसे पुनर्विवाह नहीं करना चाहिए।

§ कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय - नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व-विणासणो ।।

—दशवैकालिक सूत्र ८, ३८

में जो तनाव बढ़ रहा है, इसके पीछे दोनों की अतृप्त तृष्णा-आकांक्षा ही तो है। साम्राज्यवादी शक्तियें कम्यूनिज़म से आगे बढ़ने के लिए अथवा यों कहिए सारे विश्व में साम्राज्यवादी व्यवस्था क़ायम करने के लिए दौड़ लगा रही हैं, तो कम्यूनिस्ट सारे विश्व में अपना आधिपत्य जमाने का, सारे विश्व में कम्यूनिस्ट विचारधारा प्रसारित करने का स्वप्न ले रहे हैं। इस ख्याली स्वप्न को पूरा करने के लिए दोनों ताक़तें रात-दिन एक दूसरे का नाश करने के उपाय सोचने एवं भयंकर से भयंकर शस्त्रों का निर्माण करने में व्यस्त हैं। उन का मन-मस्तिष्क रात–दिन अनिष्ट चिंतन से भरा रहता है। वे थोड़ी देर के लिए भी शांत मन से दूसरे के हित की बात नहीं सोच सकते। तृष्णा के जाल में आबद्ध मानव सदा दूसरे का अहित ही सोचता है। कभी हित की बात सोचता भी है तो अपने मतलब को पूरा करने के लिए या अपना स्वार्थ साधने केलिए, परन्तु मतलब के बिना वह दूसरे का हित करना तो दूर रहा है, उसके हित की बात सोच भी नहीं सकता। इस तरह परिग्रह मनुष्य को शांति से सांस नहीं लेने देता। जहां तृष्णा राक्षसी का निवास होता है वहां रात-दिन अशान्ति-चक्र चलता रहता है। यहां तक भाई-भाई का खून करने को तैयार रहता है। सक्षेप में कहूं तो, परिग्रह समस्त अनर्थों का जड़ है। तृष्णा के वशाभूत मानव सब पाप और अपराध करता है। अस्तु, इन सारे दुष्कर्मों से बच कर शांत जीवन बिताने के लिए जैनधर्म ने अपरिग्रह की ओर बढ़ने की बात कही।

यह नितान्त सत्य है कि गृहस्थ पूर्णतः परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता। इस का कारण यह नहीं कि वह अपने एवं अपने परिवार का जीवन निर्वाह करने के लिए धन-धान्य आदि पदार्थों का संग्रह करता है। उपकरण एवं पदार्थ तो साधु भी स्वीकार करता है, फिर

भी वह परिग्रही नहीं कहा गया है। इसका कारण यह है कि साधु जीवन में वस्त्र-पात्र एवं स्वीकार किए जाने वाले खाद्य पदार्थों में आसक्ति नहीं होती, अपनत्व नहीं होता। वह केवल संयम-निर्वाह की भावना से उपकरण एवं खाद्य पदार्थों को स्वीकार करता है। यदि कोई उसके उपकरण छीन कर ले जाए तो वह उसके साथ ज़ोर ज़बरदस्ती नहीं करेगा, उस के लिए हो-हल्ला नहीं मचाएगा और न विलाप ही करेगा, परन्तु उपकरण-रहित स्थिति में वह शांत भाव से अपनी साधना में संलग्न रहेगा। यहां तक कि उस के पास लज्जा को ढकने के लिए तथा शीत के निवारणार्थ वस्त्र भी नहीं हैं तब भी वह चिन्ता एवं दुःख नहीं करके यही सोचेगा कि अचेल—वस्त्र रहित अवस्था भी साधना का मार्ग है। मुझे इस तप को साधने-आराधने का सहज ही अवसर मिल गया। परन्तु गृहस्थ जीवन में ऐसी भावना का मिलना कठिन है: उसे केवल अपना ही जीवन नहीं चलाना है, बल्कि पूरे परिवार के दायित्व को निभाना है और साथ में सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्त्तव्य का भी परिपालन करना है। अतः वह पदार्थों पर से ममत्व का पूर्णतः त्याग नहीं कर पाता। उसका अपने देश, समाज एवं परिवार में अपनत्व रहता है। अपनी पारिवारिक समस्याओं का हल करने के लिए आवश्यक पदार्थों पर भी उसे अपनत्व रखना होता है और अपने दायित्व को निभाने के लिए उसे अपने परिवार एवं पारिवारिक धन-माल की सुरक्षा का भी ध्यान रखना होता है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्त्तव्य का भी पालन करना पड़ता है। इस कारण वह पूर्णतः अपरिग्रही नहीं हो सकता। अस्तु, उसका परिग्रह केवल बाह्य पदार्थों के कारण नहीं, किन्तु उस में रही हुई आसक्ति के कारण है। यदि साधु भी तृष्णा एवं आसक्ति के कारण किसी भी

पदार्थ का संग्रह करता है, तो वह भी परिग्रही ही है।

परिग्रह आसक्ति एवं तृष्णा में है। और आसक्ति एवं तृष्णा का कहीं अन्त नहीं है। शारीरिक शक्ति के क्षीण होने पर या वृद्ध अवस्था आने पर इन्द्रियें शिथिल हो जाती हैं, देखने-सुनने की शक्ति घट जाती है, परन्तु तृष्णा की आग उस समय भी प्रज्वलित रहती है। अन्तिम सांस के समय भी तृष्णा की आग जगमगाती रहती है। आचार्य शंकर ने कहा है— 'शरीर जर्जरित हो गया, सारे अंगोपांग शिथिल पड़ गए, बाल पक कर सफेद हो गए, मुँह के सभी दांत गिर गए, उक्त वृद्ध का अब केवल लकड़ी का ही सहारा रह गया। फिर भी वह तृष्णा का त्याग नहीं करता है। उस की आशा-आकांक्षा मरते समय तक भी अपरिमित रहती है †। इस तरह हम देखते हैं कि चाहे जितना द्रव्य मिल जाए फिर भी तृष्णा या आकांक्षा पूरी नहीं होती। यहां तक कि दुनिया भर का वैभव भी उसके लिए थोड़ा ही रहता है। भगवान महावीर के शब्दों में कहें तो 'स्वर्ण और चांदी के हजारों पर्वत खड़े कर लेने पर भी तृष्णा का अन्त नहीं होता, वह आकाश के समान अनन्त है §। हम छत पर खड़े हो कर देखते हैं कि अमुक स्थान पर आकाश और धरती मिल रहे हैं, पर वहां पहुंच कर देखो

† 'अंगं गलितं पलितं मुण्डम्, दशन-विहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुंचत्याशापिण्डम्।
भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, भज गोविन्दं मूढ़मते !"
-आचार्य शंकर, भजगोविन्दं स्तोत्र श्लोक १४

§ 'सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया,
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया।"
—उत्तराध्ययन सूत्र ९,४८

तो वह सीमा और आगे मिलती हुई दिखेगी, ऐसे हम लाखों - करोड़ों वर्षों तक ही नहीं, कई काल चक्र भी विता दें तब भी आकाश का अन्त नहीं आता। इसी तरह चाहे कितना भी धन हो जाए फिर भी तृष्णा की आग शान्त नहीं होती। जैसे प्रज्वलित अग्नि में डाला हुआ पैट्रोल या इंधन उसे बुझाता नहीं बढ़ाता है, इसी तरह धन-वैभव के मिलने पर तृष्णा की आग बुझती नहीं, प्रत्युत बढ़ती है। और इसी कारण मानव को शान्ति नहीं मिलती। वह सदा-सर्वदा संकल्प–विकल्पों में डूबा रहता है, अशान्ति की आग में जलता रहता है।

गृहस्थ जीवन में मनुष्य ममता का पूर्णतः त्याग नहीं कर पाता, फिर भी वह उसे सीमित कर सकता है। पूरे वेग से दौड़ने वाली नदी के पानी को बांध की दीवारों से रोक लिया जाता है, तो वह बाढ़ का पानी मानव जीवन के लिए अभिशाप एवं दुःख का कारण न हो कर, उस के लिए वरदान रूप में सिद्ध होता है। इसी तरह ममता, तृष्णा एवं आकांक्षा को जब त्याग की सीमा में बांध लिया जाता है, तो फिर उस से स्वयं एवं दूसरे मनुष्यों के जीवन को खतरा एवं भय नहीं रहता। इस बान्ध को जैन परिभाषा में 'परिग्रह-परिमाण व्रत' कहते हैं।

'परिग्रह परिमाण व्रत' का आराधक व्यक्ति अपनी अनन्त एवं असीम ममता, आसक्ति एवं तृष्णा को एक सीमा में बांध लेता है। अपने द्रव्य की मर्यादा करके वह अपनी आसक्ति एवं ममता को घटा देता है। इस से उसके मन में भी शान्ति रहती है और समाज एवं राष्ट्र के जीवन में भी शान्ति का संचार होता है। क्योंकि तृष्णा की सीमा न होने से मनुष्य के मन में धन-वैभव को बढ़ाने की अभिलाषा होती है और उसे बढ़ाने के लिए उसे उचित एवं अनुचित साधनों का

उपयोग करना होता है। एक ओर धन का ढेर लगाने के लिए दूसरी ओर धन का खड्डा करना ही होता है। यदि एक ओर मिट्टी और पत्थरों का पहाड़ खड़ा करना है तो उसके लिए दूसरी ओर कुआं बनाना ही होगा। यही स्थिति परिग्रह के क्षेत्र में है। अनेकों व्यक्तियों के समय, श्रम एवं धन का शोषण करके एक व्यक्ति अमीर या पूंजीपति बनता है। यही स्थिति राष्ट्रों की है। अपने राष्ट्र में पूंजी बढ़ाने के लिए अधिक उत्पादन करना होता है और फिर उक्त सामग्री को बेचने के लिए बाज़ार खोजने पड़ते हैं। यदि उचित मूल्य देने वाले बाज़ार न मिले तो युद्ध के द्वारा कमज़ोर राष्ट्रों को अपने अधीन बना कर बाज़ार तैयार किए जाते हैं और वहां अपनी ताक़त से अपना माल खपा कर पैसा इकट्ठा किया जाता है। यही स्थिति व्यक्तिगत जीवन में है। एक पूंजीपति अपने माल को अधिक दामों में बेचने के लिए अपनी पूंजी की ताक़त से बाज़ार की स्थिति को बिगाड़ देता है, जब वह खरीदने एवं बेचने लगता है तो बाज़ार के भावों में इतना उतार–चढ़ाव एवं परिवर्तन ले आता है कि उस प्रवाह में छोटे-छोटे सैकड़ों-हज़ारों व्यापारी बह जाते हैं, उन की पूंजी उन की तिजोरी से निकल कर पूंजीपति की तिजोरी में जा भरती है। इसी तरह वह ग़रीबों के काम के घण्टे, श्रम और मज़दूरी को काट कर अपना उत्पादन बढ़ाता है। इस तरह पूंजी के विस्तार करने में जहां उसका स्वयं का मन अशांत है एवं संकल्प-विकल्पों में डूबा रहता है, इधर-उधर से धन बटोरने के तरीक़ों एवं चालों को ढूंढता रहता है, वहां राष्ट्र के सामान्य स्थिति वाले मनुष्यों को भी उस के कारण दुःखी एवं संतप्त होना पड़ता है। पूंजी का विस्तार स्वयं और पर के जीवन के लिए अशान्ति एवं दुःख का कारण है। आज के सारे संघर्ष

पूंजी विस्तार की राक्षसी भावना के कारण हैं।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को दूर करने तथा तनाव को कम करने का एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी अनियंत्रित तृष्णा पर रोक लगाए। वह अपनी आकांक्षा को एक मर्यादा में बांध लेवे। इस से स्व और पर के जीवन में शान्ति का सागर ठाठें मारता दिखाई देगा। परिग्रह की मर्यादा करने के लिए आवश्यक पदार्थों को इस तरह बांटा जा सकता है—

१-मकान—दुकान और खेत आदि की जमीन।

२-स्वर्ण-चांदी—जवाहरात आदि के आभूषण।

३-नौकर-चाकर, गाय—भैंस आदि पशु।

४-मुद्रा, धन तथा गेहूं आदि धान्य एवं सवारी और कृषि का माल ढोने के लिए यान-सवारी।

५-प्रतिदिन उपयोग में आने वाले वस्त्र-पात्र, पलंग, बिस्तर आदि आवश्यक पदार्थ तथा घर का सामान।

परिग्रह परिमाण व्रत एक करण तीन योग से स्वीकार किया जाता है, अर्थात् मन, वचन और शरीर से परिग्रह-संग्रह करने का त्याग किया जाता है। और इस व्रत का निर्दोष रूप से परिपालन करने के लिए श्रावक को पांच बातों से सदा बच कर रहना चाहिए।

१-मकान, दुकान और खेत की मर्यादा को, सीमा को किसी भी बहाने से बढ़ाना।

२—स्वर्ण-चांदी-जवाहरात आदि को, तथा आभूषणों को भी मर्यादा से अधिक बढ़ाना।

३—द्विपद और चतुष्पद प्राणियों की जो मर्यादा की है, उससे अधिक बढ़ाना।

४—मुद्रा, जवाहरात आदि धन-वैभव की मर्यादा का उल्लंघन

करना।

५-दैनिक व्यवहार में आने वाले वस्त्र-पात्र आदि एवं घर के अन्य सामान को मर्यादा से अधिक रखना।

अणुव्रत

उक्त पांचों व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि त्याग अपने आप में अणु नहीं,महान् है।भले ही ऊपर से छोटा-सा दिखने वाला भी त्याग क्यों न हो, वह जीवन को एक नया मोड़ देने वाला होने से महान ही है। यहां जो उसे अणु कहा गया है, वह अपेक्षा से कहा गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांचों व्रत साधु भी स्वीकार करता है और गृहस्थ भी। साधु पूर्ण रूपेण स्वीकार करता है और गृहस्थ एक देश से, अर्थात् मर्यादित रूप में इनका पालन करता है। इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए साधु के व्रतों को महाव्रत और श्रावक के व्रतों को अणुव्रत का नाम दिया गया है। इन्हें मूल गुण भी कहते हैं। क्योंकि जीवन के सारे सद्-गुण इन्हीं के आधार पर स्थित रहते हैं। अतः साधु एवं श्रावक दोनों के लिए ये मूल गुण हैं, इनके अतिरिक्त किए जाने वाले शेष सभी त्याग-प्रत्याख्यान उत्तर गुण कहलाते हैं।

तीन गुणव्रत

प्रस्तुत व्रत अणुव्रतों को परिपुष्ट करने वाले है। इन को स्वीकार करने से मूल गुणों में अभिवृद्धि होती है। इस कारण इन्हें गुणव्रत कहा गया है। अर्थात् ये मूल गुणों का परिपोषण करने वाले हैं। ये गुण-व्रत तीन हैं– १-दिक्-परिमाण व्रत, २-उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत और ३-अनर्थदंड-विरमण व्रत।

दिक्-परिमाण व्रत

दिक् दिशा को कहते हैं। वह छह प्रकार की होती है– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो दिशा। इन सभी दिशा-विदिशाओं में आने–जाने एवं सामान मंगाने-भेजने की जो मर्यादा की जाती है, उसे दिक्-परिमाण व्रत कहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन का ध्येय आगे बढ़ने का होता है। हर इन्सान अभ्युदय की भावना से गति करता है। परन्तु अपने जीवन में अभ्युदय लाने के लिए मन और विचारों को नया मोड़ देना जरूरी है। जीवन का विकास मन की शान्ति एवं एकाग्रता पर आधारित है और चित्त में शान्ति एवं समाधि की अनुभूति तभी होती है, जबकि इच्छाओं एवं कामनाओं का विस्तार नहीं होने दिया जाता। या यों कहिए, अपनी आकांक्षाओं को सीमित कर लेना तथा आवश्यकताओं को घटाते जाना ही सुख–शान्ति को पाना है। व्रत–नियम बढ़ती हुई आकांक्षाओं को ब्रेक लगाने का काम करता है। दिक्-परिमाण व्रत आवश्यकताओं को और अधिक संकोच करने की बात कहता है। यह व्रत जीवन को कम बोझिल बनाता है।

यह हम देख चुके हैं कि गुण-व्रत अणुव्रतों को परिपुष्ट करने वाले हैं। इस दृष्टि से दिक्-परिमाण व्रत भी मूल गुण में कुछ विशेषता बढ़ाता है। इस तरह गुण व्रतों का मूल्य एवं महत्त्व अणुव्रतों पर आधारित है। इसी कारण अणुव्रतों के बाद ही उन का विधान किया गया।

यह हम विस्तार से बता चुके हैं कि श्रावक जब व्रतों को स्वीकार करता है, तो वह पहले साधारणतः स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, अमर्यादित मैथुन (स्व स्त्री के साथ मर्यादा एवं उसके अतिरिक्त

प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक सभी तरह के मैथुन) का त्याग करता है, परिग्रह की मर्यादा करता है। उसका यह त्याग साधारण रूप से चलता है। अर्थात् उसने जो आगार (छूट) रखा है, उसकी कोई सीमा नहीं है, पूरे लोक का आश्रव द्वार उसके लिए खुला है। दिक्-परिमाण व्रत उक्त आश्रव द्वार को कुछ हद तक बन्द करता है। क्योंकि अभी तक उसने जो छूट रखी है उसका सेवन वह सारे संसार में नहीं करता और न कर सकना ही संभव है। मनुष्य का जीवन इतना छोटा है कि वह लोक में सर्वत्र आ-जा नहीं सकता, थोड़े से क्षेत्र में ही उस की गति-प्रगति हो सकती है। अतः इस व्रत में श्रावक अपने आवागमन के क्षेत्र की मर्यादा बांध लेता है। अपने जीवन–निर्वाह के लिए जितने क्षेत्र में विचरण करने की आवश्यकता होती है, छहों दिशाओं में वह उतना क्षेत्र खुला रख लेता है, शेष क्षेत्र में गति करने का त्याग कर देता है। इस से यह होता है कि जो उस ने अभी तक सूक्ष्म हिंसा, सूक्ष्म झूठ, सूक्ष्म चोरी, स्वदार सन्तोषवृत्ति और मर्यादित परिग्रह का त्याग नहीं किया था, अब वह अपनी उक्त प्रवृत्ति को मर्यादित क्षेत्र से बाहर नहीं कर सकता। जितने क्षेत्र की मर्यादा रखी है, उस के बाहर के क्षेत्र में वह मन, वचन और शरीर से हिंसा आदि पांचों दोषों को सेवन करने का सर्वथा त्याग कर देता है।

गमनागमन का क्षेत्र मर्यादित नहीं होता है, तो उस से पापाचार में अभिवृद्धि होती है। देखा गया है कि राजा-महाराजा या राष्ट्र-नेता जब दूसरे को अपने अधीन बनाने के लिए, विजय पाने के लिए निकलते हैं तो उनकी राक्षसी स्वार्थ वृत्ति में लाखों-करोड़ों गरीब और निर्दोष लोगों का जीवन समाप्त हो जाता है। लाखों-करोड़ों लोगों का जीवन मुसीबत में पड़ जाता है। खाद्य पदार्थ एवं अन्य जीवनोपयोगी साधन–सामग्री की कमी हो जाने से पदार्थ महंगे हो

जाते हैं, जिससे साधारण लोगों को न पूरा भोजन मिल पाता है और न तन ढकने के लिए पूरा वस्त्र। इसी तरह व्यापारी भी जिस दिशा में निकलते हैं, वहां के सीधे-सादे, भोले-भाले व्यक्तियों का शोषण करके अपना घर भरने का प्रयत्न करते हैं। इस तरह राजा या राज-नेता तथा व्यापारी जिधर निकलते हैं, एक तरह से तबाही कर देते हैं। इस लिए श्रावक के लिए यह जरूरी है कि वह अपने कार्य-क्षेत्र की मर्यादा करके जीवन विताए। जिस से वह मर्यादा के बाहर के क्षेत्र के आश्रव से सहज ही बच सके। इस व्रत को निर्दोष रखने के लिए, श्रावक को पांच बातों से सदा दूर रहना चाहिए —

१-उर्ध्व दिशा का परिमाण किया है, उसका उल्लंघन करना।

२-नीची दिशा के लिए जितने क्षेत्र की मर्यादा की है, उस से आगे बढ़ना।

३-तिर्यक् दिशा में गमनागमन का जो क्षेत्र निश्चित किया है, उस अक्षांश रेखा को लांघना।

४-एक दिशा की सीमा को कम करके उस कम की गई संख्या को दूसरी दिशा की सीमा में मिलाकर उस सीमा को विस्तृत करना।

५-क्षेत्र-सीमा की समाप्ति का संशय या भ्रान्ति होने पर उसका निर्णय किए विना आगे कदम बढ़ाना।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत

इस व्रत का नाम उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। एक बार काम आने वाले पदार्थों को उपभोग सामग्री कहते हैं और जो पदार्थ पुनः-पुनः या कई बार भोगोपभोग के काम में लाए जा सकें, उन्हें परिभोग कहते हैं। उक्त उपभोग-परिभोग में आने वाले समस्त पदार्थों की मर्यादा करना कि मैं इतने पदार्थों से अधिक पदार्थों का

उपयोग नहीं करूंगा, उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत कहलाता है।

संसार में अनन्त पदार्थ हैं। मनुष्य का जीवन इतना छोटा है कि उन का उपभोग करने की वात तो दूर, वह सभी पदार्थों का नाम तक नहीं जानता। जिन थोड़े-से पदार्थों का नाम जानता है, वे भी पूरे-पूरे पदार्थ उसके उपभोग-परिभोग में नहीं आते। फिर भी आश्रव का द्वार खुला रहता है, क्रिया लगती रहती है। अतः श्रावक के लिए यह जरूरी है कि जीवन के लिए अत्यावश्यक पदार्थों को रख कर, शेष सभी पदार्थों के उपभोग-परिभोग का त्याग कर देना चाहिए। पदार्थ अनन्त हैं, उन सब का नामोल्लेख कर सकना कठिन ही नहीं, असंभव है। अतः उन सब का २६ बोलों में संग्रह किया गया है—

१-उल्लणिया-विहि-परिमाण— प्रातः शौचादि से निवृत्त हो कर मुंह-हाथ धोए जाते हैं, अतः उन्हें पोंछने के लिए रखे जाने वाले वस्त्र को उल्लणिया-विहि कहते हैं। आज की भाषा में हम रूमाल, टावल Towel आदि कहते है।

२-दन्तवण-विहि-- दान्त साफ करने के लिए दातौन या मंजन की मर्यादा करना।

३-फल-विहि— मस्तिष्क को स्वच्छ और शीतल रखने के लिए आंवले, त्रिफले आदि फलों के चूर्ण की मर्यादा करना। पूर्व के युग में ऐसे फलों का मस्तक धोने के लिए उपयोग किया जाता था, जिस से वाल भी साफ हो जाएं और दिमाग़ में ताज़गी का अनुभव हो। आज उस विधि का प्रायः लोप हो चुका है, उन का स्थान सावुन, सोडा एवं पाउडरों ने ले लिया है।

४-अभ्यंगण-विहि- त्वचा सम्वन्धी विकारों एवं त्वचा की रूक्षता को दूर करने के लिए तैल आदि का मालिश करना।

५-उवटन-विहि— शरीर के मैल को दूर करने के लिए उवटन

करना।

६-मज्जण-- स्नान के लिए पानी की मर्यादा करना।

७-वत्थ-विहि-- पहनने के लिए वस्त्र की मर्यादा करना।

८-विलेपण-विहि-- चन्दन आदि सुवासित द्रव्यों का विलेपन करने की मर्यादा करना।

९-पुष्फ-विहि-- पुष्प-माला आदि की मर्यादा करना।

१०-आभरण-विहि-- आभूषणों की मर्याद करना।

११-धूप-विहि-- मकान को सुवासित करने के लिए अगरवत्ती एवं धूप आदि की मर्यादा करना।

१२-पेज्ज-विहि-- पेय पदार्थों की मर्यादा करना।

१३-भक्खन-विहि-- नाश्ते के लिए काम में आने वाले पदार्थों की मर्यादा करना।

१४-ओदन-विहि- चावल, खिचड़ी आदि की मर्यादा करना।

१५-सूप-विहि- दाल आदि की मर्यादा करना।

१६-विगय-विहि-- घी, दूध, दही, तेल, गुड़-शक्कर आदि की मर्यादा करना।

१७-साग-विहि-- सब्जी की मर्यादा करना।

१८-माहुर-विहि- मधुर फलों की मर्यादा करना।

१९-जिमण-विहि- दोपहर एवं शाम के भोजन में खाए जाने वाले पदार्थों की मर्यादा करना।

२०-पाणि विहि- पानी की मर्यादा करना।

२१-मुखवास-विहि- भोजन के वाद मुँह साफ करने के लिए पान-सुपारी, लवंग आदि खाने की मर्यादा करना।

२२-उवाणह-विहि- जूतों की मर्यादा करना।

२३-वाहण-विहि-- यान-सवारी की मर्यादा करना।

२४-सयण विहि- पलंग, कुर्सी, बिछौना आदि की मर्यादा करना।

२५-सचित्त-विहि- सचित्त पदार्थों को खाने की मर्यादा करना।

२६-दव्व-विहि- सचित्त-अचित्त जो पदार्थ खाने के लिए रखें हैं उनमें से कितने एक पदार्थों का स्वाद लेना। जितने पदार्थ खाए जाते हैं वे सब अलग अलग द्रव्य गिने जाते हैं। जैसे तीन-चार सब्ज़ियों को अलग-अलग स्वाद ले कर खाना, ये ३-४ द्रव्य गिने जाते हैं और उन सब को मिला कर एक स्वाद बना कर खाना एक द्रव्य कहलाता है। इस तरह द्रव्य की मर्यादा करना। इन सभी बोलों की मर्यादा करने का नाम उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत है *।

दिक्-परिमाण व्रत की तरह यह व्रत भी जीवन के विस्तार को संकोचने में सहायक रूप है। छहों दिशाओं में जितनी मर्यादा रखी है, उस में भोगोपभोग के लिए कोई सीमा नहीं है। इस से भोगोपभोग की अभिलाषा-आकांक्षा निरन्तर बनी रहती है और संग्रह की भावना भी मन्द नहीं पड़ती। परिणामतः जीवन संयमित नहीं हो पाता, क्योंकि भोगोपभोग के साधनों के संग्रह को बढ़ाने के लिए अनेक तरह के अनैतिक कार्य करने होते हैं तथा रात-दिन साधनों को संग्रह करने एवं संग्रहित पदार्थों को सुरक्षित रखने की चिन्ता बनी रहती है, मन सदा संकल्प-विकल्पों में लगा रहता है। अस्तु, जीवन को शांत, संयमित एवं हल्का बनाने के लिए उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत अत्यधिक उपयोगी है। अपनी रखी हुई दिशा-विदिशाओं में भी वह भोगोपभोग के साधनों को सीमित कर लेता है। इस से मन में तृष्णा कम हो जाती है और अपनी आवश्यकताओं को कम कर देने से जीवन भी अधिक बोझिल नहीं रहता और न उसे अनैतिक तरीक़ों को बरतना

* उपासकदशांग सूत्र

पड़ता है। इस तरह यह व्रत भी अणुव्रतों में गुण की अभिवृद्धि करने वाला है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत दो प्रकार का कहा गया है— १-भोजन और २-कर्म (व्यापार) *। भोजन के अतिरिक्त और भी पदार्थ हैं, जो उपभोग-परिभोग के काम में आते हैं। फिर भी यहां जो भोजन का उल्लेख किया गया है, वह केवल मुख्यता की दृष्टि से समझना चाहिए। भोजन जीवन के लिए सब से पहली आवश्यकता है, इसलिए इसे मुख्य रूप से गिनाया गया है, अन्य साधनों को इस के अन्तर्गत समझ लेना चाहिए। उक्त व्रत को धारण करने वाले साधक सचित्त पदार्थों का सर्वथा त्याग भी कर सकते हैं। यदि किसी ने सचित्त पदार्थों का सर्वथा त्याग कर दिया है तो इस व्रत का निर्दोषता से परिपालन करने के लिए पांच बातों से सदा बच कर रहना चाहिए—

१- सचित्ताहार- सजीव पदार्थों का—कच्ची सब्जी आदि का उपभोग नहीं करना चाहिए।

२- सचित्त-प्रतिबद्धाहार- ऐसे अचित्त पदार्थ को भी खाने के काम में नहीं लेना चाहिए जो सचित्त पदार्थ से आवेष्टित है। जैसे। आम की गुठली सहित आम चूसना या बीज सहित ही अन्य फलों को खाते रहना।

३- अपक्व-औषधि भक्षण— अपरिपक्व पदार्थ को खाना।

४- दुष्पक्व-औषधि भक्षण— जो पदार्थ बहुत अधिक पक गया है या बुरी तरह पकाया गया है, उस पदार्थ को नहीं खाना चाहिए।

* उपभोग-परिभोग-परिमाण—वए दुविहे पण्णत्ते तंजहा-भोयणाओ य, कम्मओ य।

५-तुच्छ-औषधि भक्षण— ऐसे पदार्थों का उपभोग नहीं करना, जिनमें खाद्य भाग कम हो और फेंकने योग्य भाग अधिक हो।

उपभोग–परिभोग–परिमाण व्रत का दूसरा विभाग कर्म विभाग है। कर्म का अर्थ है- आजीविका—व्यापार है। उपभोग–परिभोग के साधनों को संग्रहित करने के लिए व्यापार एवं उद्योग धन्धा करना ज़रूरी है। क्योंकि खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि का सामान एव भोगोपभोग के सारे साधन प्राप्त करने के लिए पैसे की आवश्यकता होती और पैसा व्यापार, कृषि एवं अन्य औद्योगिक कामों से प्राप्त किया जाता है। अस्तु, श्रावक को उपभोग-परिभोग के साधनों को प्राप्त करने के लिए १५ प्रकार के महापाप एवं महारंभ के उद्योग-धन्धों एवं व्यापारों से बच कर रहना चाहिए। इन्हें आगम में १५ कर्मादान कहा गया है। ये जानने एवं सर्वथा त्यागने योग्य है। इनका नाम निर्देश पूर्वक अर्थ विचार इस प्रकार है—

कर्मादान

१-इंगाल-कम्मे- कोयले के व्यापार करना। बड़े-बड़े वृक्षों को काट कर उन के कोयले बनाए जाते हैं या खान में से खोद कर निकाले जाते हैं। उक्त कार्य में महा हिंसा होती है। पैसे के स्वार्थ के लिए हरे-भरे वृक्षों को काट कर प्रकृति के सौंदर्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाता है। इसका मनुष्य के स्वास्थ्य एवं वायु मण्डल पर भी बुरा असर पड़ता है। मनुष्य को शुद्ध हवा कम मिलने लगती है और हरे-भरे वृक्षों की कमी होने से आस-पास के प्रदेश में वर्षा में भी कमी हो जाती है। और खदान-खान में काम करते समय छोटे-मोटे जीवों की तो क्या मनुष्यों तक को मृत्यु हो जाती है, अतः श्रावक को ऐसा महारंभ का व्यापार-धन्धा नहीं करना चाहिए।

२-वण्ण-कम्मे- जंगलों का ठेका लेकर उस में से लकड़ी, बांस आदि काट कर बेचना वन कर्म कहलाता है। इस से प्रकृति की शोभा का नाश होता है, लाखों बड़े-बड़े वृक्षों को काटने से उन की एवं उन के आश्रय में रहने वाले अनेकों जीवों की जिन्दगी समाप्त हो जाती है। अतः श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

३-साडी-कम्मे- गाड़ी, तांगे आदि बना कर या बनवा कर उनका व्यापार करना या बैल, घोड़े एवं ऊंट आदि के साथ वाहन को बेचना भी साडी कर्म कहलाता है। इन सब को बनाने के लिए बहुत-सी लकड़ी की आवश्यकता पड़ती है और उस के लिए बहुत-से वृक्ष काटने होते हैं। बैल आदि पशुओं का व्यापार करने में भी महा हिंसा होती है। क्योंकि पशुओं को बेचते समय मनुष्य का ध्यान अधिक पैसा कमाने की तरफ रहता है, पशु की सुरक्षा की तरफ नहीं रहता। इससे पशु का जीवन संकट में पड़ जाता है। अतः श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

४-भाड़ी-कम्मे- यह कार्य साडी कम्मे से संबंधित है। साडी कम्मे में गाड़ी आदि बेचने के लिए रखी जाती है और इस में भाड़ा कमाने के लिए गाड़ी, तांगा, रिक्शा आदि रखे जाते हैं। यह कार्य इसलिए पापमय माना गया है कि इसमें पशु एवं मनुष्य की दया नहीं रहती। क्योंकि गाड़ी, तांगा या रिक्शा का मालिक उक्त साधनों से अधिक पैसा प्राप्त करने की दृष्टि से उस पर पशु एवं मनुष्य की शक्ति से अधिक सवारी चढा लेता है या अधिक बोझ लाद देता है तथा अधिक समय तक उससे काम लेता है। इस से पशु एवं मनुष्य को दुःख, वेदना एवं संकट का सामना करना पड़ता है। अतः श्रावक को ऐसा व्यवसाय नहीं करना चाहिए।

५-फोड़ी-कम्मे- ज़मीन को फोड़-खोद कर उस में से निकले हुए

खनिज पदार्थों का व्यापार करना फोड़ी कर्म कहलाता है। बड़ी-बड़ी खानों का ठेका लेकर उन्हें खुदवाना और उस में से निकले हुए खनिज पदार्थों को बेचना तथा ठेकेदार को आर्डर दे कर खनिज पदार्थों को व्यापार के लिए मंगवाना महापाप का कार्य है। क्योंकि खानों को खोदने में अनेकों छोटे-मोटे प्राणियों की हिंसा होती है। कई बार खान-दुर्घटना में मनुष्यों के प्राणों का नाश भी हो जाता है। इसलिए श्रावक को ऐसा महारंभ का कार्य नहीं करना चाहिए।

कुछ लोग कृषि कर्म को भी फोड़ी कर्म में गिनते हैं, परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि आगम में फोड़ी कर्म को महारभ और महापाप का कार्य माना गया है। परन्तु खेती को अल्पारम्भ का कार्य माना गया है। आगम में कृषि कर्म को आर्य कर्म कहा गया है। इसलिए श्रावक के लिए कृषि कर्म निषिद्ध नहीं है। आनन्द आदि श्रावक स्वय खेती करते थे। उपासकदशांग सूत्र में वर्णन आता है कि आनन्द श्रावक के ५०० हल जमीन थी और खेती का माल ढोने के लिए उसने ५०० गाड़ियों की मर्यादा रखी थी इससे स्पष्ट हो जाता है कि कृषि कर्मादान नहीं है। यदि कृषि कर्मादान में होती तो आनन्द श्रावक कभी भी खेती नही करता और यदि करता भी तो उसके व्रत विशुद्ध नहीं रहते। क्योंकि कर्मादान श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है। उनका सेवन करना तो दूर रहा, वह मन से चिन्तन भी नहीं कर सकता, न दूसरे को उक्त कार्य करने की प्रेरणा दे सकता है और न उक्त कार्य करने वाले की प्रशंसा ही कर सकता है। वह तीन करण और तीन योग से कर्मादान का त्यागी होता है। आनन्द श्रावक था और वह निरतिचार व्रतों का परिपालन करता था। इस बात को भगवान महावीर ने स्वयं कहा है। अतः यह स्पष्ट है कि उसने कभी भी कर्मादान का सेवन नहीं किया। परन्तु वह एवं अन्य

श्रावक खेती तो करते ही थे। अतः उनके जीवन से एवं आगमों में खेती को आर्य कर्म बतलाने से, यह स्पष्ट हो जाता कि खेती का काम महापाप, महारंभ एवं कर्मादान में नहीं है। इसे फोड़ी कर्म मानना सिद्धांत से विपरीत है।

६-दन्त-वणिज्जे— हाथी दान्त आदि का व्यापार करना दन्त वाणिज्य कर्म कहलाता है। उक्त कर्म में उपलक्षण से शंख, सीप हड्डी आदि के वाणिज्य का भी समावेश हो जाता है। हाथी का दान्त लाने वालों को हाथी दान्त लाने का आर्डर देना या उन से खरीद कर बेचना महापाप का कारण है। क्योंकि वे लोग पैसा कमाने के लिए हाथियों को मार कर उनका दान्त लाएंगे। इसी तरह शंख, हड्डी, सीप आदि के लिए भी वे लोग अनेक जीवों का प्राण नष्ट करते हैं। अतः श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

७-लक्खवणिज्जे- लाख निकालने में अनेक त्रस प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए श्रावक को लाख का व्यापार नहीं करना चाहिए।

८-रसवणिज्जे— शराब आदि का व्यापार नहीं करना। कुछ लोग गुड़, तेल, दूध-दही के व्यापार को भी रस वणिज्जे कर्म में गिनते हैं। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। टीकाकार ने शराबादि के व्यापार को रसवाणिज्य में गिनाया है— "रसवाणिज्य सुरादिविक्रयः।" इसलिए श्रावक को शराब आदि का व्यापार नहीं करना चाहिए।

९-विषवणिज्जे- अफीम, संखिया आदि विष का व्यापार करना। क्योंकि इन विषाक्त वस्तुओं के सेवन से मृत्यु तक हो जाती है या व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है। इस तरह विष जीवन के लिए नुकसानप्रद वस्तु है। इस लिए श्रावक को विष का व्यापार नहीं करना चाहिए।

१०-केसवणिज्जे— केशों के व्यापार का अर्थ है— केशवाली दासियों का व्यापार करना या स्त्रियों के सुन्दर बालों को बेचना। परन्तु

ऊन या ऊनी वस्त्र का व्यापार उक्त कर्म में नहीं गिना जाता। क्योंकि ऊन आदि के व्यापार में महाहिंसा नहीं होती। किन्तु दासियों का व्यापार करने में महा हिंसा एवं महारंभ होता है। उन का जीवन परतन्त्र हो जाने से उन्हें वहुत कष्ट उठाना पड़ता है। शक्ति से अधिक श्रम करना होता है, फिर न तो पूरा खाना मिलता है और न पहनने को सुन्दर एवं स्वच्छ वस्त्र ही उपलब्ध हो पाते हैं। काम करते हुए मालक की फटकार एवं डण्डों की मार सहनी होती है। इसके अतिरिक्त, यदि वह दासी सुन्दर हुई तो उसके शरीर के साथ खिलवाड़ भी किया जाता है, उसे अपनी वासना का शिकार वनाया जाता है। इस तरह दुराचार वढ़ता है। अस्तु, श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

वर्तमान युग में दास-दासियों का व्यापार तो कानून से बन्द है। इसलिए कोई व्यक्ति नहीं करता। परन्तु वेश्यालय चलाने तथा वेश्या वृत्ति की दलाली का कार्य आज भी चालू है। ऐसा कार्य भी श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं।

भारतवर्ष में कुछ वर्ष पहले कन्या को वेचने का रिवाज़ खूब ज़ोरों से चल रहा था। पूंजीपतियों को जव तीसरा या चौथा विवाह करना होता था, तब ग़रीब की कन्या ढूंढते थे और कन्या के मां-बाप या संरक्षक को रुपए देकर उस से विवाह कर लेते थे या यों कहिए कि वे कन्या को खरीद लेते थे। आजकल कन्या को वेचने का रिवाज तो पहले से कम हो गया है, परन्तु लड़कों को वेचने का रिवाज खूव ज़ोरों से चल पड़ा है। वड़े-बड़े पूंजीपति अपने लड़के के विवाह के लिए हज़ारों रुपए के दहेज़ की मांग करते हुए नहीं हिचकिचाते। वे एक तरह से अपने लड़के को नीलाम की वोली पर चढ़ा देते हैं, जो

व्यक्ति दहेज में अधिक रुपया देते हैं उसी को कन्या के साथ वे विवाह कर लेते हैं। इससे साधारण घरों की लड़कियों का विवाह होना कठिन हो जाता है। कई लड़कियों को इस के लिए अपना धर्म-नियम भी छोड़ना पड़ता है। कई लड़कियों ने अपने प्राण तक भी दे दिए। और इस प्रथा से कई परिवार कर्ज के बोझ से इतने दब जाते हैं कि उनका जीवन निर्वाह कठिन हो जाता है। अतः श्रावक को ऐसी राक्षसी वृत्ति का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

११-जत-पिलणिया-कम्मे— पूर्व युग में तेल की घाणी और गन्ने का रस निकालने का कोल्हू यह दो यन्त्र ही थे। इन यन्त्रों को चलाने बैल एवं ऊंट आदि पशुओं को महाकष्ट होता है। इसलिए यन्त्र से तेल एवं गन्ने के रस आदि निकाल कर उनका व्यापार करने का निषेध किया गया। परन्तु आज यन्त्र का विस्तार इतना हो गया है कि वर्तमान युग को यन्त्र-युग कहा जाता है। वस्त्र बनाने का, सूत कातने का, चीनी-खांड बनाने का, आटा पीसने का, घरों, सड़कों, कारखानों आदि में प्रकाश करने का आदि सभी काम यन्त्रों से लिए जाते हैं। भोजन पकाने एवं वस्त्र धोने का काम भी यन्त्र करने लगे हैं। हिसाब रखने एवं जोड़ने-घटाने का काम भी यन्त्र कर देते हैं। इस तरह यन्त्र के बढ़ जाने से मानव एक तरह से बेकार-सा हो गया है।

आज दुनिया में दिखाई देने वाले संघर्षों का मूल कारण यन्त्र ही है। जब से यन्त्र युग का प्रारम्भ हुआ है तब से मानव जीवन में बेकारी बढ़ती गई है। क्योंकि यन्त्र के ज़रिए सौ व्यक्तियों का काम एक व्यक्ति कर लेता है, इससे ९९ आदमी बेकार हो जाते हैं, उन का जीवन निर्वाह होना कठिन हो जाता है। दूसरे में उत्पादन इतना अधिक बढ़ जाता है कि उसको बेचने के लिए बाज़ार खोजने पड़ते हैं।

दूसरे देश सहज ही माल खरीदने को तैयार नहीं होते । अतः अपने से कमज़ोर राष्ट्रों को शक्ति से दवाया जाता है या परतन्त्र बना कर वहां अपना माल वेचा जाता है। इसके लिए उन्हें संहारक शस्त्रों का भण्डार भी तैयार करना पड़ता है। और एक-दूसरे राष्ट्र से आगे बढ़ने के लिए संहारक अस्त्रों की शक्ति को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। तोप-बन्दूक-बम्ब स लेकर एटम और उद्जन वम्ब तक के निर्माण का इतिहास इस का ज्वलन्त प्रमाण है। इस तरह यन्त्रवाद महाहिंसा का साधन है। अस्तु,श्रावक को यन्त्र से उत्पादन बढ़ाकर व्यापार नहीं करना चाहिए।

१२- निलंछन-कम्मे- बैल, भैंसा आदि पशुओं को नपुंसक करके उसका व्यापार करना। इससे पशुओं को असह्य कष्ट भी होता है और उनकी नस्ल भी खराव होती है, अतः श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

१३- दवग्गी-दावणिया-कम्मे- जंगल को जला कर ज़मीन को साफ करके उससे आजीविका चलाना। बहुत से लोग जंगलों में भूमि को साफ करने के लिए अधिक श्रम न करना पड़े, इसलिए आग लगा कर उसके ऊपर के समस्त घास-फूस को जला डालते हैं। इस कार्य में अनेक जीवों की हिंसा होती है। अतः श्रावक के लिए उक्त कार्य सर्वथा त्याज्य है।

१४- सरदह-तलाव-सोसणिया-कम्मे- तलाव, नदी आदि की ज़मीन को कृषि योग्य बनाने के लिए कई लोग तलाब-नदी आदि के पानी को सुखा देते हैं। श्रावक को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस तरह पानी सुखाने से पानी में रहे हुए अनेकों जीवों की हिंसा होती है। अतः यह कर्म भी श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

१५-असइजण--पोसणिया--कम्मे-- व्यभिचारिणी स्त्रियों का पोषण करके उन के द्वारा आजीविका चलाना। यह कार्य समाज एवं देश में दुराचार बढ़ाने वाला तथा लोगों द्वारा निन्दनीय होने से श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

इस तरह उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के संबंधी ५ अतिचार और व्यापार-धन्धे संबंधी १५ अतिचार बताए गए हैं। श्रावक को अपने जीवन को सीधा–सादा एवं कम बोझिल बनाने के लिए उप–भोग–परिभोग-परिमाण व्रत बहुत उपयोगी है और उक्त व्रत का निरतिचार पालन करने के लिए उपर बताई गई २० बातों से सदा बच कर रहना चाहिए।

अनर्थ–दण्ड–विरमण व्रत

अर्थ– प्रयोजन या आवश्यकता को कहते हैं। अपने जीवन-निर्वाह एवं परिवार का परिपालन करने के लिए किए जाने वाले आवश्यक कार्य में होने वाली हिंसा को **अर्थ-दण्ड** कहते हैं और आवश्यकता के न होने पर भी की जाने वाली हिंसा को **अनर्थ-दण्ड** कहते हैं। जैसे एक व्यक्ति अपने खेत का सिंचन करने के लिए हज़ार गेलन पानी का उपयोग करता है और दूसरा व्यक्ति पीने के लिए एक लोटा पानी भरता है और उस में से आधा लोटा पानी पीता है और शेष पानी यों ही फैंक देता है। एक ओर हजार गेलन पानी की हिंसा हैं और दूसरी ओर सिर्फ आधा लोटा पानी का अपव्यय हुआ है। जीवों की संख्या की दृष्टि से हज़ार गेलन पानी आधा लोटा पानी से अनेकों गुना अधिक अपराध का कारण है। परन्तु सिद्धांत की दृष्टि से देखते हैं तो विवेक पूर्वक हज़ार गेलन पानी का उपयोग करने वाला व्यक्ति

अल्पारंभी है और आधा लोटा पानी फेंकने वाला महारंभी है। क्योंकि खेत को हजार गेलन पानी देने वाला व्यक्ति पानी के मूल्य को जानता-समझता है। उसके पास और ऐसी कोई वस्तु है नहीं जिसे पानी की जगह दे कर काम चला सके। अतः उसे आवश्यकतानुसार पानी देना पड़ता है। परन्तु वह इस बात का सदा ख्याल रखता है कि आवश्यकता से अधिक किसी चीज का दुरुपयोग न हो। परन्तु आधा लोटा पानी फेंकने वाले की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं रहता। वह निष्प्रयोजन फेंकता है, अतः अनावश्यक की जाने वाली क्रिया अनर्थादण्ड है और वह महापाप बन्ध का कारण है।

इस तरह यह व्रत दिक् परिमाण व्रत में रखी हुई दिशाओं और सातवें व्रत में रखी हुई उपभाग-परिभोग की सामग्री में भी अपनी आवश्यकताओं को घटाने की प्रेरणा देता है। जीवन में आवश्यकताएं जितनी अधिक होती हैं, उनकी पूर्ति के लिए उतना ही अधिक धन-संग्रह करना होता है। और संग्रहवृत्ति की अधिकता के अनुसार तृष्णा भी अधिक होती है। इस तरह उसकी पूर्ति एवं प्राप्त किए गए पदार्थों के संरक्षण एवं उसमें अभिवृद्धि करने के लिए मन में अनेक तरह के संकल्प-विकल्प बने रहते हैं। चित्त सदा अशान्त बना रहता है। इसलिए श्रावक को अपनी आवश्यकताएं कम करते रहना चाहिए। निष्प्रयोजन किसी भी वस्तु को इस्तेमाल में नहीं लाना चाहिए और न किसी वस्तु को बर्बाद करना चाहिए— चाहे वह वस्तु अल्प मूल्य की हो या बहुमूल्य की।

अनर्थ दण्ड चार प्रकार का होता है— १-अपध्यान, २-प्रमादाचरित्र, ३-हिंसाप्रदान और ४-पापकर्मोपदेश।

१-अपध्यान— ध्यान का अर्थ होता है— चिन्तन अर्थात् किसी प्रकार के विचार में मन को एकाग्र करना। बुरे विचारों में अपने

चिन्तन को लगाना अपध्यान है। आर्त और रौद्रध्यान के भेद से यह दो प्रकार का माना गया है। इससे मनुष्य स्वयं संक्लेश को प्राप्त होता है और दूसरे जीवों को भी संक्लेश एवं कष्ट पहुंचाता है। अतः श्रावक को आर्त और रौद्र ध्यान नहीं करना चाहिए। *

२-प्रमादाचरित = प्रमाद का आचरण करना। मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पांच प्रमाद कहे गए हैं। गृहस्थ जीवन में इनका सर्वथा त्याग कर सकना कठिन है। अतः इनके सकारण और निष्कारण दो भेद किए गए हैं। आवश्यकता पड़ने पर विवेक पूर्वक सेवन करना अर्थ दण्ड है और निष्प्रयोजन एवं अविवेक पूर्वक सेवन करना अनर्थ दण्ड है।

३-हिंसा-प्रदान = हिंसा के साधन तलवार, रिवॉलवर, बन्दूक, बम्ब, राकेट आदि संहारक शस्त्रास्त्रों का आविष्कार करना तथा उन्हें तयार करके दूसरे को देना या किसी हिंसक एवं क्रूर मनुष्य तथा चोर-डाकू के हाथ में तलवार आदि शस्त्र देना और तेल, घी, दूध आदि के बर्तन को खुला रख देना, इससे निष्कारण ही हिंसा हो जाती है तथा हिंसा को बढ़ावा मिलता है। अतः श्रावक को प्रत्येक कार्य सोच-समझ कर विवेक पूर्वक करना चाहिए। न तो हिंसक व्यक्ति के हाथ में हथियार देना चाहिए और नाँही द्रव पदार्थों को खुला ही रखना चाहिए। क्योंकि इससे अनेक निर्दोष प्राणियों की हिंसा होने की संभावना है।

४-पाप-कर्मोपदेश = पापकर्म का उपदेश देना। जिस उपदेश या

---

* इष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर मन में जो दुःख पूर्ण विचारणा चलती है, उसमें डूबे रहना आर्तध्यान है और हिंसादि क्रूर भावों की जिसमें प्रधानता है, ऐसे चिन्तन में संलग्न रहना रौद्र ध्यान है।

प्रेरणा से लोग हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह संग्रह आदि पाप-कार्यों को ओर कदम बढ़ावे ऐसा उपदेश पाप कर्मोपदेश कहलाता है। जैसे देवी-देवताओं के सामने पशु वलि चढ़ाने के कार्य में धर्म बताकर लोगों को हिंसा की प्रेरणा देना या धन कमाने के लोभ से कुलटा एवं अवोध स्त्रियों को व्यभिचार की ओर प्रवृत्त करना या इसी तरह लोगों को अन्य पापकार्यों की ओर प्रवृत्त होन की प्रेरणा देना पाप-कर्मोपदेश है। इस से अनेक जीवों की हिंसा होती है। समाज एवं राष्ट्र में व्यभिचार एवं भ्रष्टाचार वढ़ता है। इसलिए श्रावक को ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिए। किसी भी प्राणी को हिंसा आदि पाप जन्य कार्यों के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए।

इस व्रत का इतना ही उद्देश्य है कि श्रावक ने अणुव्रत स्वीकार करते समय जितना आगार रखा है तथा छठे और सातवें व्रत में दिशाओं एवं उपभोग-परिभोग के साधनों की जो मर्यादा रखी है, उन का भी अनावश्यक उपयोग नहीं करना चाहिए। इस तरह यह व्रत अणुव्रत में गुण की अभिवृद्धि करता है। तीनों गुणव्रत क्रमशः जीवन को संयमित वनाने में सहायक हैं। उक्त व्रत का निरतिचार पालन करने के लिए निम्नोक्त पांच वातों से सदा बचे रहना चाहिए—

१-कन्दर्प, २-कौत्कुच्य, ३-मौखर्य, ४-संयुक्ताधिकरण और ५-उपभोग-परिभोग रति। जीवन में काम-वासना वढ़ाने वाली बातें करना या विषय-वासना वर्धक साहित्य एवं पत्र लिखना-पढ़ना कन्दर्प दोष है। इस से जीवन में विषय-भोगों की तृष्णा वढती है, जिससे जीवन संयमित एवं नियमित नहीं रह पाता। कौत्कुच्य—शरीर एवं अंगोपांग को विकृत वना कर लोगों को हंसाना तथा शरीर से कुचेष्टाएं करना। मौखर्य— निष्प्रयोजन अधिक बोलना एवं व्यर्थ ही हंसी-ठठा करना। संयुक्ताधिकरण— कूटने-पीसने, कचरा

साफ करने, सब्जी काटने आदि के साधनों का आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना । उपभोग-परिभोगरति— उपभोग-परिभोग की सामग्री को अनाश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना तथा मर्यादित सामग्री में भी अधिक आसक्ति रखना। ये पांचों दोष त्याग मार्ग से गिराने वाले हैं, अतः श्रावक को पूर्ण सावधानो से व्रतों का परिपालन करना चाहिए। ये अतिचार-दोष श्रावक के लिए जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं या दूसरे शब्दों में यों कहिए कि श्रावक इन दोषों से सर्वथा बचकर रहता है।

शिक्षा व्रत

श्रावक का जीवन भी त्यागमय है। साधु और श्रावक के जीवन में इतना ही अन्तर है कि साधु हिंसा आदि दोषों को सर्वथा त्याग करता है और श्रावक उक्त दोषों का अंश रूप से त्याग करता है। उसमें त्याग की परिपूर्णता नहीं होती। इसलिए उसकी त्याग भावना में अभिवृद्धि लाने के लिए सहयोग की आवश्यकता है। इसी कारण आगमकारों ने अणुव्रतों को परिपुष्ट करने के लिए तीन गुणव्रत रखे हैं। गुणव्रतों के परिपालन से जीवन में आवश्यकताएं सीमित हो जाती हैं, श्रावक पुद्गलानन्दी न रह कर आत्मानन्द की ओर प्रवृत्त होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पुद्गलों—पदार्थों का उपभोग ही नहीं करता। वह उपभोग करता है परन्तु उसकी दृष्टि ऐशोराम एवं मौज-शौक करने की नहीं, प्रत्युत जीवन-निर्वाह करने की होती है। वह अपनी आवश्यक प्रवृत्ति में भी निवृत्ति की ओर बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहता है। श्रावक की इस निवृत्ति-प्रधान-चेष्टा में अभिवृद्धि लाने के लिए किसी शिक्षक या प्रेरक साधन-सामग्री की आवश्यकता होती है। इसके लिए जैनाचार्यों ने चार शिक्षाव्रतों का उल्लेख किया

है। ये शिक्षाव्रत पूर्वगृहीत व्रतों के परिपालन में दृढ़ता लाने में सहायक होते हैं। ये शिक्षाव्रत चार हैं— १-सामायिक व्रत, २-देशावकाशिक व्रत, ३-पौषधोपवास व्रत और ४-अतिथि-संविभाग व्रत। इनका अर्थ इस प्रकार है—

सामायिक व्रत

सामायिक शब्द सम+आय के संयोग से बना है। सम अर्थात् समभाव और आय का अर्थ है– लाभ। अस्तु, जिस धार्मिक अनुष्ठान से समभाव की प्राप्ति होती है, राग द्वेष, वैर-विरोध कम होता है, विषय-वासना एवं काम-क्रोध की अग्नि शान्त होती है, सावद्य-पाप-युक्त प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है, उसे सामायिक कहते हैं।

जैनागमों में सामायिक का विस्तृत विवेचन किया गया है। सामायिक जीवन-पर्यन्त के लिए भी स्वीकार की जाती है और कुछ समय के लिए भी। कम से कम ४८ मिण्ट के लिए स्वीकार की जाती है। साधु जीवन-पर्यंत के लिए सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर देता है, परन्तु गृहस्थ के लिए इतना त्याग कर सकना कठिन है। उसका लक्ष्य पूर्ण त्याग को स्वीकार करने का होता है, परन्तु पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व से आबद्ध होने के कारण वह चाहते हुए भी पूर्ण साधना को साध नहीं सकता। इसलिए उसे प्रतिदिन ४८ मिण्ट तक सामायिक की साधना अवश्य करनी चाहिए। सामायिक की साधना जीवन को शुद्ध, सात्त्विक एवं पवित्र बनाती है। वस्तुतः सामायिक व्रत श्रावक के लिए दो घड़ी (४८ मिण्ट) का आध्यात्मिक स्नान है, जो जीवन पर लगे हुए पाप मल को दूर करता है। और अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणों को साधना को स्फूर्तिशील बनाता है। सामायिक की व्याख्या करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—

समता सर्वभूतेषु, संयम–शुभ – भावना ।
आर्तरौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥

सब जीवों पर समता-समभाव रखना, पांच इन्द्रियों तथा तीन योगों को संयम में लगाना, हृदय में शुभ भावना, शुभ संकल्प रखना, आर्त-रौद्र दुर्ध्यानों को त्याग करके धर्म ध्यान का चिन्तन-मनन करना, सामायिक व्रत कहा गया है। सामायिक व्रत की साधना करने वाले व्यक्ति को प्रत्येक प्राणी के साथ मैत्री भाव रखना चाहिए। सामायिक को जीवन में साकार रूप देने वाले व्यक्ति का प्राणी मात्र के साथ प्रेम-स्नेह का वर्ताव करना चाहिए, सबके साथ मैत्री भाव रखना चाहिए। अपने से अधिक गुण युक्त व्यक्ति को देख कर प्रसन्न होना चाहिए। अपने साथी को आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक जीवन में प्रगति करते देख कर प्रसन्न होना चाहिए, न कि जलना चाहिए। दुःखी एवं संतप्त जीवों के प्रति हृदय में दया एवं करुणा होना चाहिए और विपरीत प्रवृत्तियां करने वालों के प्रति भी घृणा एवं द्वेष बुद्धि नहीं, किन्तु तटस्थ भावना होनी चाहिए। आचार्य अमितगति सूरि के शब्दों में यह है सामायिक का विराट् रूप—

'सत्त्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥'

सामायिक की साधना का काल गृहस्थ के लिए ४८ मिनट का बताया गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ४८ मिनट के बाद वह विषम भाव में प्रवृत्ति करे। गृहस्थ की सामायिक साधना की दृष्टि से ४८ मिनट के लिए है, न कि भावों की दृष्टि से। क्योंकि सामायिक की साधना शिक्षा व्रत है और शिक्षा के लिए समय सदा मर्यादित रहता है, परन्तु उसका उपयोग पूरे जीवन के लिए है। आप देखते हैं

कि विद्यार्थी स्कल या कालिज में कुछ घण्टों के लिए अध्ययन करने जाते हैं। परन्तु उनका वह अध्ययन कुछ घण्टों के लिए नहीं होता और न स्कूल के लिए ही होता है, परन्तु पूरे जीवन के लिए होता है। यदि कोई विद्यार्थी इन्जिनियरिंग की परोक्षा पास करके आता है और और कारखाने में प्रवेश करते ही कहता है कि मेरा ज्ञान-विज्ञान तो स्कूल या कॉलिज तक ही सुरक्षित था, अब तो मैं सब कुछ भूल गया, तो सुनने वाला कहेगा अरे मूर्ख! फिर अध्ययन के लिए इतना समय बर्बाद करने की क्या जरूरत थी ? क्योंकि उसकी आवश्यकता तो जीवन के क्षेत्र में ही है, न कि स्कूल की चार दीवारी में। वह तो अध्ययन का साधना-क्षेत्र है, उसका उपयोग व्यावहारिक एवं व्यापारिक तथा पारिवारिक या सामाजिक क्षेत्र में है। इसी तरह सामायिक के लिए ४८ मिण्टों का समय सिर्फ समभाव की साधना के लिए है। श्रावक उस समय में उक्त साधना से यह शिक्षा ग्रहण करता है कि मुझे अपनी प्रवृत्ति को कैसे रखना चाहिए कि जिससे मैं विषम भाव से बच सकूँ? सबके साथ मैत्री भाव रख सकूं? ४८ मिण्टों के समय में वह पूरे दिन का कार्यक्रम बनाता है. अपनी वृत्ति को शुद्ध एवं सात्त्विक रखने की योजना तैयार करता है तथा पिछले दिन की प्रवृत्ति का अवलोकन करता है कि मैंने दिनभर में कोई भूल तो नहीं की है, कहीं मैं अपने पथ से भूला-भटका तो नहीं हूं। इस तरह ४८ मिण्टों का समय शिक्षा लेने के लिए है। इस समय साधक समस्त सावद्य कर्मों से निवृत्त हो कर, अपने मन, वचन और शरीर को समस्त सांसारिक प्रवृत्ति से हटा कर साधना में संलग्न होता है। परन्तु उसका उपयोग केवल उस समय एवं उस स्थान के लिए ही नहीं, बल्कि प्रवृत्ति-क्षेत्र के लिए है या यों कहिए उस समभाव का महत्त्व उस समय के लिए है, जब वह दुकान पर व्यापार में प्रवृत्त होता है, खेत में जा कर खेती

करता है, दफ्तर में कर्मचारियों के तथा जनता के साथ व्यवहार करता है, घर में अपने परिवार के साथ जीवन व्यतीत करता है। क्योंकि उक्त प्रवृत्ति-क्षेत्र में कई तरह की विषम प्रवृत्तियें सामने आती हैं, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि के अंधड़ आकर मानव को झकझोरते हैं, ऐसे विकट समय में अपने पथ पर अडिग एवं दृढ़ हो कर गति करना ही सामायिक की साधना का सही अर्थ है। सामायिक-भवन में जहां कषायों के उदीप्त होने का साधन नहीं है वहां समभाव में संलग्न रहने का उतना मूल्य नहीं है, जितना कि कषायों का वातावरण उपस्थित होने पर भी उसके प्रवाह में नहीं बहने में है। अस्तु, ४८मिण्टों की साधना जीवन को पूरे दिन समभाव में स्थित रखने के लिए है।

सामायिक का स्थान ९वां हैं। ५ अणुव्रत एवं ३ गुणव्रत के बाद इसकी साधना का आदेश दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ५ अणुव्रत एवं ३ गुणव्रत स्वीकार करके जीवन को सयमित, नियमित एवं मर्यादित बना लिया है तथा आवश्यकताओं को कम कर दिया है। और इस बात को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि विषमता, संघर्ष एवं कलह-कदाग्रह की जड़ तृष्णा है। आवश्यकताएं जितनी अधिक होगी जीवन में उतनी ही अधिक अशांति होगी। अतः समभाव की साधना के लिए तथा प्राणी जगत के साथ मैत्री संबंध जोड़ने के लिए जीवन की आवश्यकताएं सीमित होना जरूरी है। अस्तु,सामायिकव्रत गृहस्थ जीवन में रहते हुए, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं औद्योगिक समस्याओं को हल करते समय सामने आने वाली विषमताओं से बचने की शिक्षा देता है, उस समय अपनी वासनाओं एवं कषाओं पर नियंत्रण रखने का मार्ग बताता है। इसलिए इसे शिक्षाव्रत कहा गया है।

सामायिक की साधना द्रव्य और भाव से दो प्रकार की वताई गई है। सामायिक करने के स्थान का रजोहरण या प्रमार्जनिका से प्रमार्जन करके खादी का आसन विछा कर, वनियान, कमीज, कोट आदि उतार कर, चादर ओढ़ कर तथा मुखवस्त्रिका लगा कर ४८ मिण्ट तक माला फेरने या धार्मिक क्रिया करना द्रव्य सामायिक है। और उस समय हरी सब्जी, कच्चे पानी आदि का स्पर्श तथा वहिन को पुरुष का तथा पुरुष को भी वहिन का स्पर्श नहीं करना, इधर-उधर की फालतू वातें नहीं करना आदि वाह्य रूप भी द्रव्य सामायिक है। भाव सामायिक में भाव शब्द मानसिक विचारों का परिचायक है। द्रव्य सामायिक में वचन और शरीर को सावद्य प्रवृत्ति से हटाकर धार्मिक साधना में लगाया जाता है और भाव सामायिक में मन के योग को सावद्य प्रवृत्ति से हटा कर समभाव की साधना में लगाने का विधान है। राग-द्वेष, काम-क्रोध के प्रवाह में प्रवहमान मन को, विचारों को समभाव की ओर मोड़ने का नाम भाव सामायिक है। वचन और शरीर के योग से मन का योग अधिक सूक्ष्म है। शरीर एवं वचन योग पर कन्ट्रोल करना सहज है, परन्तु मन की गति को, वेग को रोकना कठिन है। और जब तक मानसिक चिन्तन की धारा में परिवर्तन नहीं आता, तव तक सामायिक की साधना लाभदायक नहीं होती या यों कहिए उससे आत्मा का अभ्युदय नहीं होता। प्रत्येक क्रिया तभी फलवती होती है, जव द्रव्य साधना के साथ भाव साधना की गति ठीक रहती है। भाव शून्य क्रिया से विशेष लाभ नहीं होता। इसलिए भाव सामायिक का स्थान सर्वोपरि है।

प्रश्न– भाव सामायिक ही वास्तविक और शुद्ध सामायिक है। उसके अभाव में द्रव्य सामायिक का कोई महत्त्व नहीं है।

आज के युग में भावों को शुद्ध रखना कठिन है, ऐसी स्थिति में शुद्ध सामायिक की साधना कैसे की जा सकती है?

उत्तर- जीवन विकास के लिए वैचारिक एवं मानसिक शुद्धि होना अत्यावश्यक है,परन्तु भावना की विशुद्धि भी द्रव्य पर आश्रित है। केवल भावना शुद्ध रखने का नारा लगाया जाए और साथ में द्रव्य क्रिया न की जाए तो भावों की शुद्धि का मूल्य एडवरटाइज़मेंट के रूप में ही रह जायगा, और द्रव्य क्रियाएं तो की जाती है परन्तु मन में समभाव की धारा नहीं बह रही है, काम-क्रोध एवं अहंकार आदि मनोविकारों पर कण्ट्रोल करने की ओर लक्ष्य नहीं है, तो वह क्रिया-काण्ड केवल बोझ रूप में ही रह जायगा। अस्तु, द्रव्य और भाव का समन्वय ही जीवन विकास का मूल आधार है।

यह सत्य है कि मानसिक एवं वैचारिक चिन्तन को शुद्ध रखना तथा अपने मन को आत्म-चिन्तन में, आत्म-निरीक्षण में लगाए रखना कठिन अवश्य है, परन्तु सर्वथा असंभव नहीं है। यदि मन पूरी तरह चिन्तन में नहीं लगता है, तो द्रव्य क्रिया भी नहीं की जाए, यह समझना, मानना एवं करना उचित नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि द्रव्य क्रिया के साथ भाव शुद्धि भी बनी रहे तथा मन को समभाव की साधना में लगाए जाए। यदि किसी समय मन कण्ट्रोल से बाहर होकर इधर-उधर भागता है, तब भी द्रव्य क्रिया सर्वथा अनुपयोगी नहीं है। क्योंकि जो व्यक्ति द्रव्य क्रिया करता है, द्रव्य साधना को साधता रहता है, वह व्यक्ति जल्दी या देर से भाव साधना को भी साध सकता है, उसके चिन्तन एवं विचारों में अभिनव ज्योति जाग सकती है। वह अपने वैचारिक एवं मानसिक चिन्तन-मनन को नया मोड़ दे सकता है। परन्तु भाव शुद्धि न रहने की बात कह कर जो व्यक्ति द्रव्य क्रिया

को ही छोड़ देता है, उसके मन में भाव शुद्धि का जागना कठिन है। क्योंकि उसके साथ उसका व्यावहारिक संपर्क नहीं रहने से आत्मिक संपर्क जुड़ सकना अत्यधिक कठिन है। इसलिए सामायिक की साधना के लिए द्रव्य और भाव दोनों का होना ज़रूरी है।

सामायिक की साधना को शुद्ध रखने के लिए चार प्रकार की शुद्धि बताई गई है– १-द्रव्य शुद्धि, २-क्षेत्र शुद्धि, ३-काल शुद्धि और ४-भाव शुद्धि। सामायिक में रखे जाने वाले उपकरण– रजोहरण, प्रमार्जनिका, आसन, चादर, मुखवस्त्रिका, माला आदि शुद्धि का अर्थ है कि ये उपकरण सादे, सात्त्विक एवं अल्प मूल्य वाले होने चाहिए। जहां तक हो सके आसन ऊन या खादी का बना हो तथा चादर, धोती एवं मुखवस्त्रिका शुद्ध खादी की हो। क्षेत्र शुद्धि का अर्थ है–सामायिक करने का स्थान शान्त और एकांत जगह में होने चाहिए। शहर के हो-हल्ले, चों-चों:चों-चां होनेपर चिन्तन-मनन में मन नहीं लग सकता। अतः सामायिक भवन एक त में होना चाहिए तथा सादा एवं सात्त्विक ढंग से बना हुआ होना चाहिए। सामायिक के लिए विकारोत्पादक चित्रकारी एवं विलासी सामग्री से युक्त स्थान नहीं होना चाहिए। काल शुद्धि से यह तात्पर्य है कि सामायिक ऐसे समय में की जाए जिस समय न तो हो-हल्ला होता हो और न व्यक्ति पर किसी तरह का उत्तरदायित्व हो। इसलिए सामायिक की साधना के लिए प्रातःकाल का समय बहुत ही सुन्दर बताया गया है। एक महान विचारक ने कहा है—

"श्रावक जी उठे प्रभात चार घड़ी ले पिछली रात,
मन में सुमरे श्री नवकार, जिससे उतरे भवजल पार।"

साधना की दृष्टि से यह समय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इस समय

मस्तिष्क भी शान्त एवं स्वस्थ रहता है। बाल-बच्चे एवं परिवार के अन्य सदस्य निद्रा देवी की गोद में सोए होने से वातावरण भी शांत एवं प्रशांत रहता है। दूसरे समय में बाल-बच्चों को शोरोगुल बना रहता है, परिवार के सदस्यों की हलचल बनी रहती है, रोगी आदि की मांगे भी साधक के चिन्तन में विघ्न पदा करती रहती है। अतः ऐसे समय में सामायिक की साधना ठीक तरह से नहीं हो सकती। इसलिए सामायिक प्रातः या सायंकाल ही करनी चाहिए। शाम के समय भी सभी कार्यों से मुक्त हो जाने के कारण उसकी साधना फिर भी ठीक चल सकती है। परन्तु प्रातः जितनी शांति शाम के समय नहीं रहती। इस कारण चिन्तन-मनन के लिए प्रातःकाल का समय ही सर्वोत्तम माना गया है। भाव शुद्धि का अर्थ है— मन में राग-द्वेष एवं कषायों का स्पर्श न होने पाए। जैसे हरी सब्जी, कच्चे पानी आदि के तथा पुरुष एवं स्त्री आदि के स्पर्श से बचा जाता है तथा इनका स्पर्श हो जाने पर प्रायश्चित्त स्वीकार करके शुद्धि की जाती है, उसी तरह मन में इतनी सावधानी एवं जागरूकता रखी जाए कि कषाओं एवं राग-द्वेष का स्पर्श न हो, वाणी एवं शरीर से तो क्या मन में भी कषायों की विचारणा एवं चिन्तना न होने पाए। यदि कभी मोहवश या आवेशवश योगों की प्रवृत्ति राग-द्वेष या कषाय आदि मनोविकारों में हो रही हो तो अपने योगों को उससे तुरन्त हटा कर उसका प्रायश्चित्त करके अन्तःकरण की शुद्धि की जाए। इस तरह सामायिक शुद्ध रखने के लिए द्रव्य और भाव शुद्धि रखना आवश्यक है। क्योंकि भावों को शुद्ध बनाने के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल की शुद्धि रखना जरूरी है। बाह्य वातावरण के शुद्ध एवं सात्त्विक बने बिना आन्तरिक वातावरण में परिवर्तन आ नहीं सकता और अन्त-र्मन में हो रही विकारों की उछल-कूद बन्द हुए बिना द्रव्य साधना

को बल नहीं मिल सकता। अतः द्रव्य सामायिक भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। जीवन विकास के लिए उसकी भी उपयोगिता है। फलतः द्रव्य और भाव सामायिक शुद्ध बनाने के लिए वाह्य और आभ्यान्तर दोषों से बचने एवं द्रव्य, क्षेत्र आदि की शुद्धि रखने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

प्रश्न– सामायिक साधना साधु एवं श्रावक दोनों करते हैं। फिर दोनों की साधना या सामायिक में क्या अन्तर है?

उत्तर– साधु हिंसा आदि दोषों का पूर्णतः त्याग करता है और वह भी एक-दो दिन, एक-दो माह या एक दो वर्ष के लिए नहीं, बल्कि जीवन पर्यंत के लिए हिंसादि दोषों का सेवन न करने की प्रतिज्ञा करता है। परन्तु गृहस्थ उक्त दोषों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, वह एक अंश से ही त्याग करता है। अतः उसका आचरण को पूर्णतः निर्दोष नहीं होता। और सामायिक का साधना का अर्थ–है दोषों से, पापों से, सावद्य वृत्ति से अलग हट कर समभाव की साधना करना। साधु पूर्ण त्यागी होने के कारण उसकी सामायिक भी पूर्ण होती है और वह सदा के लिए होती है। और श्रावक का जीवन पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व से आबद्ध होने के कारण उसे कुछ दोषों का सेवन करना होता है। अतः उसकी सामायिक साधना पूरे दिन या पूरे जीवन तक नहीं चल सकती। वह एक मुहुर्त तक समस्त दोषों से अपने मन, वचन और शरीर के योग को हटा कर जीवन में चल रही विषमताओं को दूर करके समभाव में प्रगति करने की साधना का अभ्यास करता है। अस्तु, साधु एवं श्रावक की सामायिक साधना में इतना ही अन्तर है कि साधु सामायिक जीवन पर्यंत के लिए होती है और श्रावक की सामायिक ४८ मिण्ट के लिए। साधु

अपनी सामायिक में हिंसा आदि दोषों का मन, वचन और शरीर से सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग कर देता है, परन्तु श्रावक उक्त दोषों का मन, वचन और शरीर से सेवन करने और करवाने का ही त्याग करता है।

प्रश्न– सामायिक करते समय किस आसन से बैठना चाहिए?

उत्तर– साधना में आसन का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। दृढ़ आसन का मन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। बैठने की चुस्ती एवं सुस्ती का मन पर असर पड़े बिना नहीं रहता। शिथिल आसन मन एवं विचारों को शिथिल बना देता है, जीवन में आलस्य एवं प्रमाद को बढ़ाता है। इसलिए सामायिक में सदा दृढ़ आसन से बैठना चाहिए। इसकी विशेष जानकारी के लिए प्राचीन योग शास्त्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है। हमारे यहां सामायिक आदि धार्मिक क्रिया करते समय बैठने के लिए कुछ आसनों का उल्लेख मिलता है। जैसे- १-सिद्धासन २-पद्मासन, और ३-पर्यंकासन।

१-सिद्धासन– बाएं पैर की एड़ी से जननेन्द्रिय और गुदा के बीच के स्थान को दबा कर, दाहिने पैर की एडी से जननेन्द्रिय के ऊपर के भाग को दबाना, ठुड्डी को हृदय में जमाना और शरीर को सीधा रख कर दोनों भौहों के बीच में दृष्टि को केन्द्रित करना सिद्धासन कहलाता है।

२-पद्मासन- बांई जांघ पर दाहिने पैर को और दाहिनी जांघ पर बांयें पैर को रखना और फिर दोनों हाथों को दोनों जंघाओं पर चित्त रखना अथवा दोनों हाथों को नाभि के पास ध्यान मुद्रा में रखना।

३–पर्यंकासन – दाहिना पैर बांई जांघ के नीचे और बांया पैर

दाहिनी जांघ के नीचे दबा कर बैठना पर्यंकासन है। इसका दूसरा नाम सुखासन भी है। सर्व-साधारण इसे आलथी-पालथी भी कहते हैं।

प्रश्न– सामायिक करते समय मुख किस दिशा में रखना चाहिए ?

उत्तर– प्रत्येक धार्मिक क्रिया करते समय मुख पूर्व या उत्तर दिशा में रखना श्रेष्ठ माना गया है। यदि गुरुदेव उपस्थित हों तो उस समय उनके सन्मुख बैठ कर सामायिक आदि साधना करनी चाहिए। उनके सामने दिशा का सवाल नहीं उठता। परन्तु गुरु की अनुपस्थिति में पूर्व या उत्तर में मुख करके सामायिक की साधना करनी चाहिए। भारतीय-संस्कृति के सभी विचारकों ने पूर्व और उत्तर दिशा को महत्त्व दिया है।

प्रश्न– श्रावक के लिए सामायिक काल दो घड़ी (४८ मिण्ट) का ही क्यों रखा है? जबकि सामायिक के प्रतिज्ञा–पाठ में तो केवल 'जावनियमं' इतना ही मिलता है। अर्थात् जब तक नियम है या जितनी देर साधक ने बैठने की इच्छा है। यहां काल के संबंध में कोई निश्चित समय नहीं दिया है। फिर यह दो घड़ी का बन्धन क्यों ?

उत्तर– यह सत्य है कि सामायिक के प्रतिज्ञा पाठ में काल मर्यादा निश्चित नहीं की है, तथापि सर्वसाधारण जनता को नियमबद्ध करने तथा सबकी साधना में एकरूपता लाने के लिए पूर्वाचार्यों ने दो घड़ी की मर्यादा बांध दी है। इस पर प्रश्न यह हो सकता है कि वह मर्यादा

दो घड़ी की ही क्यों बांधी गई, इससे कम या ज्यादा समय क्यों नहीं रखा गया ? इस का उत्तर यह है कि व्यक्ति का चिन्तन–मनन या संकल्प अधिक से अधिक दो घड़ी तक एक विषय पर स्थिर रह सकता है, उसके बाद विचारधारा एवं चिन्तन में अवश्य ही अन्तर आ जायगा *। अस्तु जैन दर्शन की इस मान्यतानुसार शुभ संकल्पों को लेकर स्वीकार की गई सामायिक की साधना दो घड़ी तक सामान रूप से चल सकती है। इस कारण आचार्यों ने दो घड़ी का समय निश्चित किया।

सामायिक व्रत का परिपालन करने वाले व्यक्ति को ५ बातों से सदा बचकर रहना चाहिए।

१-मन को विषम बनाना, समता से दूर ले जाना, बुरे विचारों एवं संकल्प-विकल्पों में लगाना।

२-भाषा बोलने में विवेक नहीं रखना। कटु एवं असभ्य वचन बोलना, गालियें देना।

३-शारीरिक कुचेष्टाएं करना।

४-सामायिक लेने के समय को भूल जाना या इस बात को ही विस्मृति को गहन अंधकार में ढकेल देना कि मैंने सामायिक स्वीकार की है।

५-अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना। कभी करना, कभी नहीं करना और करने के बाद उसकी डोंडी पीटना। आतुरता के साथ सामायिक समाप्त होने के समय को देखते रहना। पूरी सामायिक घड़ी देखने में ही बिताना।

---

* अन्तोमुहुत्तकाल चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।

—आवश्यक सूत्र मलयगिरी, ४,४

देशावकाशिक व्रत

जो छठे और सातवें व्रत में दिशा–विदिशाओं में आवागमन के क्षेत्र की तथा उपभोग-परिभोग के साधनों की मर्यादा की है, उसमें से प्रतिदिन आवश्यकताओं का संकोच करते रहने का नाम देशावकाशिक व्रत है। जैसे किसी व्यक्ति ने पूर्व दिशा में एक हज़ार मील तक जाने की मर्यादा रखी है। परन्तु वह प्रति दिन इतना रास्ता तय नहीं करता। इसलिए वह प्रतिदिन अपनी आवश्यकता के अनुसार दो,चार या दस-बीस मील की मर्यादा रखकर शेष का उस दिन के लिए त्याग कर दे। इसी तरह उपभोग–परिभोग के साधनों में भी प्रतिदिन संकोच करे। आजकल श्रावक के लिए प्रतिदिन १४ नियम चिन्तन करने और स्वीकार करने की जो परम्परा है वह इसी व्रत का रूपांतर है। पृथ्वी, पानी आदि सचित पदार्थों, स्वाद के लिए तैयार किए गए अनेक तरह के द्रव्य, दूध–दही–घी आदि विगह आदि १४ प्रकार के नियम है, इनमें पदार्थों की एवं स्वादों की मर्यादा की जाती है। आवश्यकताओं को हमेशा घटाने का ध्यान रखा जाता है। इसी तरह यह व्रत प्रतिदिन जरूरतों को कम करने की, पदार्थों में रही हुई ममता एवं तृष्णा को संकोचने की शिक्षा देता है।

उपरोक्त परिभाषा के अतिरिक्त ५ अणुव्रतों में काल की मर्यादा को नियत करके आश्रव का त्याग करना भी देशावकाशिक व्रत कहलाता है। कोई व्यक्ति पौषध व्रत नहीं रख सकता है, वह एक दिन–रात के लिए ५ आश्रव का त्याग करके, आहार-पानी करते हुए २४ घण्टे साधना में संलग्न रहता है तथा कोई व्यक्ति तीन आहार का त्याग कर देता है, केवल पानी पीकर सावद्य योग में प्रवृत्त होने का त्याग कर देता है, तो उसे भी देशावकाशिक व्रत कहते हैं। प्रथम

क्रिया को जैन परिभाषा में दया कहते हैं लोक भाषा में इसे खाता-पीता पौषध व्रत भी कहते हैं। दया में हिंसा, असत्य आदि सभी दोषों का एक करण एक योग से (शरीर से दोष सेवन करने का) १ करण ३ योग से (शरीर से दोष सेवन करने, करवाने एवं अनुमोदन करने का) तथा दो करण तीन योग से (वचन और शरीर से दोषों का सेवन करने, करवाने एवं अनुमोदन करने का) एक दिन-रात के लिए त्याग किया जाता है। आजकल प्रायः एक करण एक योग से दया स्वीकार करने की परम्परा है। दया स्वीकार करने वाले व्यक्ति को २४ घण्टे घर एवं दुकान आदि से अलग धर्मस्थान में रहना होता है। शयन एवं खाने-पीने तथा शौचादि आवश्यक कार्य के लिए आने-जाने के सिवाय सारा समय धर्म क्रिया एवं स्वाध्याय तथा चिन्तन-मनन में लगाना चाहिए। दया के लिए एक समय खाना चाहिए। यदि किसी से भूखा नहीं रहा जाता हो तो वह दो समय भी खा सकता है। परन्तु खाना सादा, सात्विक, हल्का एवं अल्प होना चाहिए। जिससे स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन करने में किसी तरह की बाधा न पड़े। इस के सिवाय अल्प समय के लिए आश्रव का त्याग करके उस समय को चिन्तन में लगाना भी इसी व्रत में गिना जाता है। जिसे संवर कहते हैं। सामायिक के लिए ४८ मिण्ट का समय निश्चित है, परन्तु संवर इससे कम या अधिक समय के लिए भी किया जा सकता है।

इस व्रत को निर्दोष पालन करने के लिए श्रावक को सदा ५ बातों से बच कर रहना चाहिए-

१-नियमित सीमा के बाहर की वस्तु मंगवाना।

२-नियमित सीमा के बाहर वस्तु भिजवाना।

३-मर्यादित जगह के बाहर शब्द के द्वारा कार्य करने को प्रेरित करना।

४-मर्यादित स्थान से बाहर रूप दिखा कर अपने विचार प्रकट करना।

५-मर्यादित स्थान के बाहर कंकर, काष्ठ आदि फेंक कर किसी को बुलाना।

पौषधोपवास व्रत

धर्म का पोषण करने वाली क्रिया को पौषध कहते हैं। उक्त क्रिया में साधक २४ घण्टे के लिए ५ आश्रवों का त्याग करता है, सभी सावद्य कार्यों से निवृत्त होता है और साथ में उपवास (एक दिन का व्रत) करके २४ घण्टे धर्म स्थान में रहता है। वह चार प्रकार का होता है— १-आहार पौषध, २-शरीर पौषध, ३-ब्रह्मचर्य पौषध और ४-अव्यापार पौषध। इन चारों के भी देश और सर्व ऐसे दो–दो भेद होते हैं।

१ आहार-पौषध— एकासन, आयंबिल करके २४ घण्टे धर्म साधना में बिताना देश-आहार-पौषध है तथा एक दिन-रात के लिए आहार-पानी का सर्वथा त्याग कर देना आहार-पौषध है।

२-शरीर-पौषध— शरीर विभूषा के साधनों में कुछ का त्याग करना देश शरीर पौषध है और सभी तरह के विभूषा संबंधी साधनों का सर्वथा त्याग करना सर्व-शरीर पौषध है।

३-ब्रह्मचर्य-पौषध— सिर्फ दिन या रात के लिए मैथुन का त्याग करना देश ब्रह्मचर्य पौषध है और एक दिन-रात के लिए मैथुन क्रिया का त्याग करना सर्व ब्रह्मचर्य पौषध है।

४-अव्यापार-पौषध— आजीविका के लिए किए जाने वाले कार्यों

में से कुछ का त्याग करना देश अव्यापार पौषध है और सभी कार्यों का त्याग करना सर्व अव्यापार पौषध है।

उक्त चारों प्रकार के पौषध को देश या सर्व से ग्रहण करने को पौषधोपवास व्रत कहते हैं। जो पौषधोपवास व्रत देश से ग्रहण किया जाता है, वह सामायिक के सहित भी किया जाता है और आयंबिल, एकासन आदि के रूप में बिना सामायिक स्वीकार किए भी ग्रहण किया जाता है। परन्तु जो सर्व से स्वीकार किया जाता है, वह पूरे दिन-रात के लिए सामायिक के साथ अर्थात् सावद्य कार्यों से निवृत्त हो कर ही स्वीकार किया जाता है। उक्त व्रत को स्वीकार करने वाला व्यक्ति कोट-कमीज उतार कर चादर धारण करके मुंह पर मुखवस्त्रिका बांधकर २४ घण्टे धर्म स्थान में रहता है, आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाना होता है तो नंगे पैर-नंगे सिर जाता है, रात को प्रमार्जनिका या रजोहरण से ज़मीन साफ किए बिना चल-फिर नहीं सकता, न पलंग या चारपाई पर सो सकता है। यों कहना चाहिए कि वह पूरे दिन के लिए साधु की तरह त्याग वृत्ति में रहता है। उक्त व्रत स्वीकार करने वाले व्यक्ति को सदा पांच कार्यों से दूर रहना चाहिए—

१—पौषध के समय काम में लिए जाने वाले पाट, आसन, घास (तृण) आदि का विधिपूर्वक प्रतिलेखन (निरीक्षण) न करना।

२-उपरोक्त वस्तुओं का विधिपूर्वक परिमार्जन नहीं करना।

३-४—शरीर चिन्ता से निवृत्त होने के लिए मल-मूत्र त्याग करने के स्थान का भली भांति प्रतिलेखन और परिमार्जन नहीं करना *।

* प्रतिलेखन और परिमार्जन में इतना अंतर है कि प्रतिलेखन दृष्टि से किया जाता है और परिमार्जन रजोहरण या प्रमार्जनिका से किया जाता

५-पौषध में आहार-पानी, शरीर सेवा, मैथुन, सावद्य प्रवृत्ति एवं व्यापार आदि की कामना करना।

उक्त व्रत से आत्मगुणों को पोषण मिलता है। जीवन में आध्यात्मिक विकास करने को शिक्षा मिलती है। इस व्रत को अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा ऐसे पक्ष में तीन वार और महीने में ६ वार स्वीकार करना चाहिए। जो श्रावक पौषध नहीं कर सकता है, उसे ६ दिन दया करनी चाहिए।

अतिथि संविभाग

जिसके आने की कोई तिथि-तारीख या दिन निश्चित न हो तथा जो विना सूचना दिए अचानक द्वार पर आ खड़ा हो, उसे अतिथि कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का आदर-सत्कार करने के लिए भोजन आदि पदार्थों में संविभाग करना अथवा उसे आवश्यकतानुसार आहार, वस्त्र-पात्र आदि देना अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है। या यों कहिए अध्यात्म साधना के पथ पर गतिशील संयमी साधु-सन्तों को उनके नियम के अनुकूल आहार, वस्त्र, पात्र, मकान आदि देना तथा दान का प्रत्यक्ष संयोग न मिलने पर भी दान देने की भावना बनाए रखना भी अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है।

पांच अणुव्रत स्वीकार करते समय श्रावक हिंसा, असत्य आदि दोषों का मोटे-स्थूल रूप में त्याग कर देता है। तीन गुणव्रत ग्रहण करके वह अपनी मर्यादित आवश्यकताओं को और सीमित कर लेता है। तीन शिक्षा व्रत स्वीकार करके आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ता है। विषमता के उजड़ मार्ग से हटकर समता के सरल एवं सीधे मार्ग पर गति करने का प्रयत्न करता है। सावद्य प्रवृत्ति से दूर हट कर त्याग एवं तप की ओर क़दम बढ़ाता है। चौथे शिक्षाव्रत में श्रावक

अपने मर्यादित परिग्रह में से प्रति दिन यथाशक्ति कुछ धन शुभ कार्य में खर्च करके अपनी ममता और आसक्ति को कम करता है। और आसक्ति जितनी कम होती है, पाप एवं आरम्भ भी उतना ही घटता जाता है। अतः यह बारहवां व्रत आसक्ति को कम करके अपने धन को शुभ कार्य में व्यय करने की शिक्षा देता है।

आचार्यों ने दान को अत्यधिक महत्त्व दिया है। संसार रूप गम्भीर एवं गहन अन्धकारमय कूप से बाहर निकलने का दान से बढ़ कर और कोई साधन नहीं है। "नेत्तारो भवकूपतोऽपि सुदृढ़ दानावलम्बात् परः।" दान को इतनी प्रतिष्ठा होने तथा शास्त्रों में जगह-जगह इसका उल्लेख मिलने पर भी कुछ लोग साधु से इतर को दान देने में पाप मानते हैं। यह उनका अज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए। यदि दान देने में पाप होता तो केशी श्रमण से बोध पाकर धर्म एवं अध्यात्म-साधना की ओर बढ़ने वाला परदेशी राजा अपने राज्य का चौथा भाग दीन-दुःखी प्राणियों की सहायता के लिए क्यों निकालता? परन्तु उसने केशी श्रमण के सामने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं अपने राज्य का चौथा हिस्सा असहायों को सहयोग देने में लगाऊंगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दान देना पाप नहीं, धर्म एवं पुण्य है। इस व्रत को निर्दोष परिपालन करने के लिए श्रावक को पांच बातों से सदा बच कर रहना चाहिए।

१-अचित्त पदार्थ के ऊपर सचित्त पदार्थ रखना।

२-सचित्त वस्तु पर अचित्त वस्तु को रखना।

३-भोजन के समय का अतिक्रम करके आहारादि देने की भावना भाना या आहार के लिए आमंत्रित करना।

४-दान देना पड़े इस भावना से अपनी वस्तु दूसरे को दे देना।

५-मात्सर्य भाव से दान देना।

उपसंहार

श्रावक के ऊपर दोहरा उत्तरदायित्व है एक आगन्तुक साधना का और दूसरा पारिवारिक जीवन चलाने का। अतः उसे साधु से भी अधिक सावधानी वरतनी होती है। उसे सदा जागरूक होकर चलना होता है और कभी कभी उसे सहिष्णु एवं तपस्वी बनना होता है। इसी त्याग-वैराग्य की महान भावना को सामने रख कर कहा गया है— कोई कोई गृहस्थ साधु से भी उत्कृष्ट साधना करने वाला है $। यह सत्य है कि उसकी साधना देशतः है और भावना सर्वतः की ओर होने से श्रावक जीवन भी महत्त्वपूर्ण माना गया है।

श्रावक के मूल व्रत पांच ही हैं, जिन्हें अणुव्रत कहते हैं। शेष तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत उत्तर व्रत हैं अर्थात् मूल व्रतों के परिपोषक हैं। अतः उनका मूल्य मूल व्रतों के ऊपर आधारित है। क्योंकि विना मूल के कोई भी वृक्ष पर स्थित नहीं रह सकता और न पुष्पित एवं फलित हो सकता है।अस्तु साधना के पथ पर गति शील व्यक्ति को मूल व्रतों का अधिक जागरूकता से परिपालन करना चाहिए और उनमें अभिवृद्धि करने के लिए तथा अपनी आवश्यकता-ओं और काम-वासनाओं को कम करने के लिए तथा सदा के लिए नहीं तो कम से कम कुछ समय के लिए सावद्य प्रवृत्ति से हटने के लिए गुणव्रत एवं शिक्षाव्रतों को जीवन में उतारना चाहिए और तप साधना में भी संलग्न रहना चाहिए।

$ "सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा"

—उत्तराध्ययन सूत्र ५, २०

अनगार-धर्म

द्वादश अध्याय

प्रश्न- मुक्ति की साधना का मार्ग क्या है? किस तरह के आचरण से आत्मा का विकास होता है? उक्त साधना-धर्म कितने प्रकार का है?

उत्तर- कर्म से सर्वथा छुटकारा पाना ही मुक्ति है। इस बात को प्रायः सभी आस्तिक माने जाने वाले दर्शनों ने स्वीकार किया है। परन्तु साधना के मार्ग में सभी विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि आत्मा के स्वरूप को पहचान लो, तुम्हारी मुक्ति हो जायगी, उसे प्राप्त करने के लिए क्रिया-कांड व्यर्थ है। इस मत में ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। कुछ विचारक क्रिया-कांड पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि तुम वेद-विहित कर्म करते जाओ, मुक्ति हो जायगी। मुक्ति के लिए उसके या आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं। रोग से मुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि औषध का सेवन किया जाए, परन्तु यह ज़रूरी नहीं है कि उसके स्वरूप को भी जाना जाए।

परन्तु जैन विचारकों ने कहा कि न एकांत ज्ञान मुक्ति मार्ग है और न एकांत क्रिया-कांड ही। "ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः" ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति प्राप्त होती है। आचार्य उमास्वाति ने भी यही बात कही कि सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मुक्ति का मार्ग है।† सम्यग् दर्शन और ज्ञान तो हो, परन्तु चारित्र का अभाव हो तो साध्य की सिद्धि नहीं होती। इसी तरह मात्र चारित्र से भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। चारित्र के अभाव में दर्शन और ज्ञान सम्यक् रह सकते हैं, पर उनसे आत्मा सिद्धत्व को नहीं पा सकती, सम्यग् दर्शन और ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं रह सकता, वह मिथ्या चारित्र हो जाता है और आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराता रहता है। अस्तु, मात्र जानने या क्रिया करने से मुक्ति नहीं मिलती। जैसे एक व्यक्ति को आयुर्वेद का परिपूर्ण ज्ञान है, समस्त रोगों की दवाएं उसे जबानी याद हैं। वह व्यक्ति बीमारी के समय उस रोग को दूर करने वाली औषधों का स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन करता रहता है, परन्तु उस औषध को ग्रहण नहीं करता और दूसरा व्यक्ति एक के बाद दूसरी, तीसरी औषध पर औषध खाता जा रहा है, परन्तु उसे यह पता ही नहीं है कि किस रोग पर कौन सी औषध लेनी चाहिए। ऐसे दोनों व्यक्ति रोग से मुक्त नहीं हो सकते। यह नितान्त सत्य है कि ज्ञान से मार्ग दिखाई देता है, परन्तु तय नहीं होता, और क्रिया से मार्ग तय होता है, परन्तु दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिए महान् तत्त्व-वेत्ताओं ने दोनों के समन्वय की बात कही है दोनों मिल कर ही मार्ग को तय कर सकते हैं। ज्ञान आंख है तो क्रिया पैर है और रास्ते को तय करने के लिए दोनों के समन्वित सहयोग की आवश्यकता है।

† सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः —तत्त्वार्थ सूत्र १, १

यदि आंखें खुली हैं, पर पैरों में गति नहीं है तो मार्ग तय नहीं हो सकता। इसी तरह पैरों में तेज गति है, परन्तु आंखें बन्द हैं या नहीं हैं तो भी वह गन्तव्य स्थान पर सही-सलामत नहीं पहुंच सकता। अस्तु, जैनों ने न अकेले ज्ञान पर जोर दिया और न अकेली क्रिया पर। उन्होंने सम्यग् ज्ञान और सम्यग् आचरण — क्रिया के समन्वित रूप को मुक्ति का मार्ग माना है।

यह तो हम पहले बता चुके हैं कि, सम्यग् ज्ञान के अभाव में स्थित चारित्र का कोई मूल्य नहीं है। अतः जहां चारित्र का उल्लेख करें वहां सम्यग् ज्ञान को भी साथ समझें या सम्यग् ज्ञान पूर्वक चारित्र समझें। जैनागमों में चारित्र के, साधना के या धर्म के दो भेद किए हैं—अनगार धर्म और आगार धर्म।* आगार शब्द का अर्थ है— घर, परिवार आदि से युक्त उसके धर्म को आगार धर्म कहते हैं। इस धर्म के सम्बन्ध में पीछे वर्णन किया जा चुका है। अन+आगार अर्थात् जिसका घर-परिवार आदि से संबंध नहीं है, उसे अनगार कहते हैं और उसका धर्म अनगार धर्म कहलाता है। साधु, मुनि, यति, श्रमण, निर्ग्रन्थ, भिक्षु आदि नाम भी उसके पर्यायवाची हैं। वह पूर्ण त्यागी होता है। उसकी साधना पांच बातों से युक्त होती है— १-अहिंसा, २-सत्य, ३-अस्तेय, ४-ब्रह्मचर्य और ५-अपरिग्रह। जैनागमों में इन्हें ५ महाव्रत कहा है। पातञ्जल योग दर्शन में ५ यम का तथा बौद्धशास्त्रों में पंचशील का उल्लेख मिलता है। अहिंसा आदि महाव्रतों का अर्थ-सम्बन्धी चिन्तन इस प्रकार है—

* "धम्मे दुविहे पण्णत्ते तंजहा--अणागार-धम्मे चेव, आगार धम्मे"

स्थानांग सूत्र, २।

अहिंसा

हिंसा का अर्थ है– किसी प्राणी को पीड़ा पहुंचाना या उसके प्राणों का नाश करना। अस्तु, अहिंसा का अर्थ हुआ कि मानसिक, वाचिक और कायिक— शारीरिक प्रवृत्ति से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचना या किसी भी प्राणी के प्राणों का नाश नहीं करना। यह हुआ अहिंसा का एक निषेधात्मक (Negative) पहलू। परन्तु अहिंसा केवल निवृत्ति परक ही नहीं है, उसका दूसरा विधेयात्मक (Positive) पहलू भी है। वह है, किसी भी कष्ट एवं दुःख-दर्द में छटपटा रहे प्राणी को शान्ति पहुंचाने का तथा उसे दुःख के गर्त में से निकालने का प्रयत्न करना और मरते हुए प्राणी की रक्षा करना। इस तरह अहिंसा का अर्थ हुआ— किसी प्राणी को मन, वचन और शरीर से कष्ट नहीं देना, किसी के प्राणों का घात नहीं करना तथा दुःख में फंसे हुए व्यक्ति को उसमें से निकालना और अपने प्राण देकर भी मरते हुए प्राणी की रक्षा करना।

कुछ व्यक्ति * अहिंसा के दूसरे पहलू को हिंसा की कोटि में मानते हैं। जिसे आजकल की सांप्रदायिक भाषा में वे सांसारिक उपकार, लौकिक धर्म या लौकिक दया कहते हैं। परन्तु भ्रम विध्वसन तथा आचार्य भीषण जी द्वारा रचित अनुकम्पा आदि की ढालों–कविताओं में उसका अर्थ अहिंसा से विपरीत मिलता है। क्योंकि उक्त क्रियाओं से पाप कर्म का बन्ध कहा है §। परन्तु वस्तुतः देखा जाए तो यह दृष्टि गलत है। रक्षा करने और मारने की भावना तथा

---

* श्वे. जैन तेरहपंथ सम्प्रदाय।

§ इस सम्बन्ध में स्पष्टता के साथ आगे प्रकाश डाला जायगा।

जैसा कठोर और निर्दय कृत्य जैन साधु की अहिंसा को कैसे जीवित रख सकता है?

उत्तर-- सोना खरा है या खोटा? यह परीक्षा होने पर ही जाना जा सकता है। बाहर के रंग रूप से सुवर्ण का कोई महत्त्व नहीं होता, वर्ण तो पीतल का भी सुवर्ण जैसा ही होता है। परन्तु पीतल कभी सोना नहीं कहा जा सकता। पीतल में परीक्षाओं को सहन करने की क्षमता नहीं है। पीतल को आग में डाल दिया जाए तो वह काला पड़ जाता है। अपना स्वरूप भी खो बैठता है। सोने की ऐसी दशा नहीं होती। सोने को ज्यों ज्यों आग में डाला जाए त्यों त्यों वह अधिक तेजस्वी बनता चला जाता है। आग में पड़ कर सोना कभी मैला या काला नहीं पड़ता। तभी तो कहा जाता है—

आग में पड़ कर भी सोने की चमक जाती नहीं।

साधु जीवन में कहां तक सत्यता है? कौन साधु किस रूप में साधना की ज्योति से ज्योतित हो रहा है? यह भी बिना परीक्षा के नहीं जाना जा सकता। साधु-जीवन की परिपक्व साधुता उसकी परीक्षा के अनन्तर ही निर्धारित की जा सकती है। जो साधु अनुकूल परिषहों के आने पर समभाव से रहता है, संकट की उपस्थिति में ज़रा डांवाडोल नहीं होता, विषम से विषम परिस्थितियों में समभाव की डोरी टूटने नहीं देता। वही सच्चा साधु या खरा साधु कहा जा सकता है। निःसन्देह ऐसा साधु ही साधुत्व की उच्च भूमिका प्राप्त करने में सफल हो सकता है। किन्तु जो साधु ज़रा सी प्रतिकूलता में बौखला उठता है, सामान्य से कष्ट के आ जाने पर आकुल-व्याकुल हो जाता है, शान्ति खो बैठता है तो उसे साधु पद के महान् सिंहासन पर कैसे बिठलाया जा सकता है? वह साधु नहीं स्वादु (स्वाद-

प्रिय) होता है। वह साधु ही क्या जो कष्ट से भयभीत हो? वस्तुतः साधु की साधना का निर्णय उसकी परीक्षा के अनन्तर ही किया जा सकता है।

केशलोच * जैन साधु की एक परीक्षा है। केशलोच के द्वारा साधु की सहिष्णुता और सहनशीलता का पता चल जाता है। साधु कष्ट सहने में कितनी क्षमता रखता है? और समय आने पर कष्टों को झेल सकेगा या नहीं? आदि सभी बातें केश लोच के द्वारा मालूम पड़ जाती हैं। साधु-जीवन के प्रति साधु कितना दृढ़ है तथा कितना स्थिर है? इस बात का भी लोच के द्वारा आसानी से बोध हो जाता है।

साधु जीवन में मान और अपमान दोनों की वर्षा होती है। अच्छी और बुरी दोनों घड़ियां उसके जीवन में आती हैं। जब सम्मान का अवसर आता है तो वह सर्वत्र सम्मान को प्राप्त करता है। आहार भी उसे सम्मान के साथ मिलता है और वस्त्रादि की प्राप्ति भी उसे

* श्री कल्प सूत्र की २४वीं समाचारी में लिखा है— वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गन्थाणं निग्गन्थीण वा परं पज्जोसवणाओ गोलोममप्पमाण मित्तेऽवि केसे तं रयणि उवायणावित्तए...। अर्थात् साधुओं को साध्वियों को सम्वत्सरी से पहले-पहले केशलोच करवा लेना चाहिए। गोरोम से अधिक लम्बे केश नहीं रखने चाहिएं।

श्री नशीथ सूत्र के दशम उद्देश्य में लिखा है कि जो साधु, साध्वी सम्वत्सरी को गोरोम से अधिक लम्बे केश रखता है, उस को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है, उसे लगातार चार उपवास रखने पड़ते हैं। जे भिक्खू पज्जोसवणाए गोलमाइपि वालाइं उव्वायणावेइ उव्वायणावंतं वा साइज्जइ ४५।

सम्मान से ही होती है। जहां भी साधु जाता है,वहीं अभिवन्दनों और अभिनन्दनों के पुलिन्दे उसके चरणों में अर्पित किए जाते हैं। अमीर-गरीब, राजा-रंक सभी के मस्तक उसकी चरण-रज प्राप्त करते हैं। स्थान-स्थान पर उसे आतिथ्य मिलता है। उसके जय-नादों से कई बार तो आकाश भी गूंज उठता है। इस प्रकार सर्वत्र साधु को सम्मान ही सम्मान प्राप्त होता है। किन्तु जब जीवन में अपमान की घड़ियां आती हैं तो कई बार उसे अपमान का सामना भी करना पड़ता है। लोग उसे घृणा से देखते हैं, उस पर दुतकार और तिरस्कार की वर्षा करते हैं। भोजन तो किसने देना है, प्रेम-पूर्वक उस से कोई बोलने भी नहीं पाता। प्यास के मारे कण्ठ सूख रहा है तथापि पानी की दो घूंटें उपलब्ध नहीं होतीं. भोजन को देखे तीन-तीन दिन गुजर जाते हैं। वृक्षों के नीचे रातें व्यतीत करनी होतीं हैं रोगों ने शरीर का कचूमर निकाल दिया है। इस प्रकार असातावेदनीय कर्म के अनेकों प्रकोप उसे जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं।

जैन दर्शन कहता है कि साधु-जीवन में मान की प्राप्ति हो या अपमान की पर दोनों अवस्थाओं में साधु को शान्त और दान्त रहना चाहिए। हर्ष. शोक के प्याले उसे बिना झिझक के पी जाने चाहिए। समता भगवती की आराधना ही उसके जीवन की साधना होनी चाहिए। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि इस बात का पता कैसे चले कि साधु मानापमान में शान्त रहता है या नहीं और समता के महापथ पर दृढ़ता से चढ़ रहा है या नहीं ? इसी बात की जांच करने के लिए जैनाचार्यों ने वर्ष में एक परीक्षा नियत की है और वह परीक्षा है— केशलोच। केशलोच से साधु की मानसिक स्थिति का पूरा पूरा बोध प्राप्त हो जाता है। सम्मान पा कर क्या वह सुख-प्रिय बन गया है ? दुःख आने पर उसका स्वागत कर सकता है या नहीं ? दुःख में

आकुल—व्याकुल तो नहीं हो जाता? आदि सभी प्रश्न केशलोच के समय समाहित हो जाते हैं।

केशलोच ही ऐसी परीक्षा है जो जैन साधु के अन्तरंग जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन करा देती है। वास्तव में कष्ट में ही जीवन की सहनशीलता का परिचय मिलता है। इन पंक्तियों के लेखक ने एक बार बंगाल के राजनैतिक क्रान्तिकारी दल का एक इतिहास पढ़ा था। उस के एक अध्याय में क्रान्तिकारी दल का सदस्य बनने के लिए कुछ नियमों का निर्देश किया गया था। उन नियमों में एक नियम यह भी था कि इस दल का सदस्य बनने वाले व्यक्ति को प्रज्वलित दीपक-शिखा पर अंगुली रखनी पड़ती थी। अग्निदाह से उंगली के जलने पर भी जो व्यक्ति उफ तक नहीं करता था, उसे उस दल का सदस्य बनाया जाता था। अनुमान लगाइये, क्रान्तिकारी दल का सदस्य बनने के लिए अपने को कितना सहनशील प्रमाणित करना पड़ता था। इस कठोर परीक्षा के पीछे यही भावना थी कि दल का सदस्य सरकार द्वारा बन्दी बनाए जाने पर आग में भी जला दिया जाए तब भी वह डांवाडोल न होने पावे। और अपने दल के रहस्य प्रकट न करने पावे। केशलोच भी इसी प्रकार की एक परीक्षा है। केशलोच कराने वाले साधक भी एक क्रांतिकारी दल के रूप में हमारे सामने आते हैं। यह सत्य है कि इस दल की क्रांति आध्यात्मिक क्रांति है। इस में किसी के विनाश का कोई लक्ष्य नहीं होता है। इस क्रांति में आत्मा को विकारों के साथ संघर्ष करना पड़ता है। विकारों के राज्य पर काबू पाने के लिए ही इस क्रांति का आश्रयण किया जाता है। परन्तु इस आध्यात्मिक क्रांतिकारी दल का सदस्य बनने के लिए भी मनुष्य को परीक्षा देनी पड़ती है। ताकि विकारों द्वारा बन्दी बना लिए जाने

पर यह डांवाडोल न हो जाए। विकारों के प्रहारों से आकुल होकर कहीं यह संयम भ्रष्ट न हो जाए। एतदर्थं उसको केशलोच द्वारा परीक्षा ली जाती है। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, उस पर विकारों के कितने ही प्रहार हों और उस पर कितना भी संकट आ जाए, फिर भी वह धर्म से च्युत नहीं होता। प्रत्युत धर्म को जीवन के साथ संभाल कर रखता है। केशलोच जैसी भीषण परीक्षा प्रत्येक व्यक्ति नहीं दे सकता। यह परीक्षा तो वही दे सकता है, जिसका मानस, तप, त्याग की पवित्र भावना से सदा भावित रहता है जिसने मोक्ष को ही अपना परम-साध्य बना लिया है, वही व्यक्ति इस अहिंसक परीक्षा में अपने को प्रस्तुत करता है। फिर यह परीक्षा ऐसी विलक्षण है कि प्रतिवर्ष देनी पड़ती है। बंगाल के क्रांतिकारी दल के सदस्य को तो एक बार ही परीक्षा देनी पड़ती थी, किन्तु केश लोच की परीक्षा साधु को प्रति वर्ष देनी होती है। ‡

लोच को हिंसा समझना ठीक नहीं है। क्योंकि हिंसा में दूसरों को दुःख दिया जाता है। परन्तु लोच में दूसरों को दुःख नहीं दिया जाता, प्रत्युत दुःख सहन किया जाता है। ऐसी स्थिति में लोच को हिंसा कैसे कहा जा सकता है ? दूसरी बात, लोच कराने वाला साधक उसे दुःख समझ कर नहीं कराता है। वह तो उसे अध्यात्मिक परीक्षा की घड़ी समझता है। जैसे विद्यार्थी परीक्षा में बड़े उत्साह से बैठता है। वैसे ही साधु इस परीक्षा में सोत्साह भाग लेता है और उसमें

‡ आजकल वर्ष में दो बार सर की लोच कराने की परम्परा पाई जाती है। यह सत्य है. किन्तु यह तो साधक की साधना की पराकाष्ठा है। साधक अधिक स अधिक साधना का लाभ प्राप्त करना चाहता है। वैसे शास्त्रीय दृष्टि से वर्ष में एक बार लोच कराना आवश्यक है।

उत्तीर्ण होने के लिए अपने को पूर्णतया सहिष्णु बनाए रखता है। यदि अपने को सहिष्णु बनाना और कष्टों को सहर्ष सहन करना भी हिंसा कृत्य मान लिया जाए तब तो असिधारा व्रत ब्रह्मचर्य का परिपालन भी हिंसा-कृत्य स्वीकार करना पड़ेगा। ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त अहिंसा सत्य आदि अन्य सभी साधनाओं में मन को मारना पड़ता है, अनेक विध संकटों का सामना करना पड़ता है। तब ये सभी साधनाएं हिंसा में परिगणित करनी पड़ेंगी। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तु तो आत्म-शुद्धि तथा आत्म-कल्याण के महापथ पर बढ़ते हुए साधक को जिन कष्टों का सामना करना पड़ता है, उन को साधना का रूप देती है। अतः लोच करना हिंसा नहीं है। प्रत्युत जीवन-निर्मात्री अहिंसा का ही एक रूपान्तर है।

प्रज्ञापना सूत्र के २२वें क्रिया पद में आचार्य मलयगिरि ने इस संबंध में बहुत सुन्दर ऊहापोह किया है। वहां लिखा है—

पारितापनिकी क्रिया के तीन भेद होते हैं—स्वपारितापनिकी, परपारितापनिकी और उभयपारितापनिकी। स्वयं को पीड़ित करना स्वपारितापनिकी, दूसरों को पीड़ित करना परतापनिकी और दोनों को पीड़ित करना उभयपारितापनिकी क्रिया कहलाती है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि दुःख देने से क्रिया लगती है, तो स्वयं लोच करने पर स्वपारितापनिकी, दूसरे की लोच करने से परतापनिकी, और परस्पर एक दूसरे की लोच करने पर उभयपारितापनिकी क्रिया लगनी चाहिए। क्योंकि इससे दुःखोत्पत्ति होती है। इसका समाधान निम्नोक्त है—

दुष्ट बुद्धि से दिया गया दुःख पारितापनिकी क्रिया का कारण बना करता है, किन्तु जिस दुःख के पीछे सद्भावना हो और जिस का

परिणाम हितकर हो, उससे कर्मबन्ध नहीं होता। जैसे डाक्टर शल्य-चिकित्सा करता है, चिकित्सा में रोगी को वेदना भी होती है, किन्तु डाक्टर की भावना शुद्ध होने से और उसका फल हितप्रद होने से डाक्टर पाप का भागी नहीं बनता। ऐसे ही लोच का परिणाम हितावह और आत्मशुद्धि तथा सहिष्णु आदि आत्मगुणों का सम्वर्धक होने से लोच पारितापनिकी क्रिया का कारण नहीं बन सकती।

केश लोच जैसी कठिनतम साधना को देख कर सामान्य व्यक्ति कई बार आकुल-व्याकुल हो जाते हैं किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि लोच जैन साधु का भूषण है। इस भूषण से विभूषित होने के कारण ही आज जैन साधु का जैन और अजैन सभी विचारक संमान करते हैं। संसार के सभी साधु आचार-गत-शिथिलता के कारण आज अपना सम्मान समाप्त करते जा रहे हैं। केवल एक जैन साधु ऐसा साधु है जो केशलोच और अखण्ड ब्रह्मचर्य, जैसी विलक्षण साधनाओं के कारण आज भी गौरवास्पद बना हुआ है और उसे सर्वत्र आदर से देखा जाता है। जैन दर्शन से भले ही कोई विरोध रखता हो पर जैन साधु की साधना के आगे सब को नत-मस्तक होना पड़ता है। जैन साधु की कठोर साधुवृत्ति का आज भी लोग मान करते हैं और उसके आदर्श तप, त्याग का लोहा मानते हैं। अतः केशलोच जैसी अध्यात्म साधना से भयभीत नहीं होना चाहिए। अध्यात्म जगत में इसका एक विशिष्ट स्थान है, इसे हिंसा समझने की भूल नहीं करनी चाहिए।

सत्य

सत्य का अर्थ है— वस्तु के यथार्थ रूप को प्रकट करना अथवा ऐसी वाणी या भाषा का प्रयोग नहीं करना जिससे यथार्थता पर पर्दा

पड़ता हो। परन्तु सत्य भाषा के साथ मधुरता भी होनी चाहिए। जिस सत्य के साथ कटुता रहती है या यों कहिए जो सत्य दूसरे के मन को दुखाने–पीड़ा पहुंचाने के लिए, उसको नीचा दिखाने के लिए, उसका अपमान-तिरस्कार करने के लिए या उसका सर्वनाश करने की दृष्टि से बोला जाता है, वह सत्य नहीं वस्तुतः असत्य है। सत्य वचन-यथार्थ और कल्याणकारी, हितकारी एवं मधुर होना चाहिए।

सत्य के भी नव भेद बताए गए है— मन, वचन और काया से असत्य बोले नहीं, दूसरे को असत्य बोलने को कहे या प्रेरित करे नहीं और असत्य बोलने वाले को अच्छा भी नहीं समझे। इस तरह साधु सर्वथा असत्य का त्याग करता है। इसलिए वह कभी भी दूसरे व्यक्ति को कष्ट हो ऐसी सावद्य— पापकारी भाषा का तथा निश्चयकारी-- जब तक किसी भी वस्तु या प्राणी के संबंध में पूरा निश्चय न हो— भाषा का उपयोग नहीं करता। यदि कभी उसके सामने अयथार्थ बात कहने का प्रसंग उपस्थित हो जाए तो उस समय मौन रहता है।

सत्य— यथार्थ भाषा हो, परन्तु साथ में सर्व क्षेमकारी भी होना चाहिए। क्योंकि साधु का जीवन जगहित के लिए होता है। अतः उस की भाषा भी कल्याणकारी होनी चाहिए। इसी भावना को ध्यान में रखकर सत्य को भगवान और लोक में सारभूत कहा है *। सत्य से बढ़ कर दुनिया में कोई पदार्थ नहीं है।

अस्तेय

स्तेय का अर्थ है चोरी करना। चोरी करना भी पाप है। इस

---

* "सच्चं खु भगवं," "सच्चं लोगम्मि सारभूयं"

—प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार।

कार्य से स्व और पर दोनों की आत्मा में अशांति एवं जलन बनी रहती है। अतः साधु सर्वथा चोरी का परित्याग करते हैं। वे मन से, वचन से और शरीर से न चोरी करते हैं, न दूसरे व्यक्ति के द्वारा चोरी करवाते हैं और न चोरी करने वाले व्यक्ति को अच्छा ही समझते हैं। यहां तक कि यदि उन्हें एक तिनका या कंकर भी आवश्यकतावश लेना होता है तो वह भी मांग कर लेते हैं, बिना आज्ञा के छोटी या बड़ी कोई वस्तु नहीं उठाते। यदि कहीं कोई व्यक्ति न मिले तो शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा ले कर तृण आदि ग्रहण करने और विहार के समय रास्ते में विश्रांति करने के पूर्व या शौच जाते समय बैठने के लिए स्थान की आज्ञा भी * शक्रेन्द्र से लेने की परम्परा है। इस तरह साधु यत्र-तत्र-सर्वत्र आज्ञा लेकर ही प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करते हैं।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्म+चर्य इन दो शब्दों के संयोग से ब्रह्मचर्य शब्द बना है। अतः ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ हुआ ब्रह्म में आचरण करना। ब्रह्म शब्द के आनन्दवर्धक, वेद, धर्म-शास्त्र, तप, मैथुन-त्याग आदि अनेकों अर्थ होते हैं। परन्तु ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन त्याग किया जाता रहा है। मैथुन-वासना, आत्मा को ब्रह्म-इश्वरीय भावना से दूर और दूरतर कर देती है, इसलिए काम-वासना को दोष माना गया है और साधु के लिए यह विधान है कि वह सर्वथा मैथुन का परित्याग करे। यह व्रत भी ९ कोटि से स्वीकार किया जाता है अर्थात् साधु मन, वचन और

* शक्रेन्द्र महाराज ने सभी साधु-साध्वियों को जंगल में या अन्यत्र कभी कोई व्यक्ति न मिले तो उस समय तृण-काष्ठ आदि पदार्थ लेने की आज्ञा दी। देखो भगवती शतक १६ उद्देशा २

शरीर से न मैथन सेवन करते हैं, न करवाते हैं और न करने वाले को अच्छा समझते हैं।

आजकल ब्रह्मचर्य का अर्थ सिर्फ स्त्री-पुरुष संसर्ग त्याग किया जाता है और इसी में ब्रह्मचर्य की पूर्णता मान ली जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है, ब्रह्मचर्य का अर्थ है सम्पूर्ण वासना से मुक्त होना। भगवान अजित नाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त चार महाव्रत ही थे, ब्रह्मचर्य महाव्रत का अपरिग्रह महाव्रत में ही समावेश कर लिया जाता था। ममता, मूर्च्छा, आसक्ति का नाम परिग्रह है और इसका नाम अब्रह्मचर्य भी है। भोग सेवन करना भी अब्रह्मचर्य है और उन भोगों की आसक्ति रखना भी अब्रह्मचर्य है। परन्तु अब्रह्मचर्य को अलग न करने से पीछे से साधुओं में दोष प्रवृत्ति की ओर झुकाव होने लगा। मर्यादा से अधिक रखे गए एक सामान्य से उपकरण के दोष को और मैथुन सेवन के दोष को समान रूपता दी जाने लगी। यह देख कर भगवान महावीर ने अब्रह्मचर्य को परिग्रह से अलग कर के उस दोष से भी सर्वथा बचने की बात कही। इससे यह लाभ हुआ कि स्त्री पुरुष संसर्ग का त्याग किया जाने लगा, परन्तु आगे चल कर इस में यह दोष भी आ गया कि ब्रह्मचर्य का विस्तृत अर्थ भुला कर उसे केवल स्त्री-पुरुष संसर्ग के परित्याग तक ही सीमित रखा गया।

आगम को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री-पुरुष का संसर्ग ही नहीं, पदार्थों के भोगोपभोग की वासना, तृष्णा भी अब्रह्मचर्य है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "वस्त्र, गन्ध-सुगन्धित पदार्थ, अलंकार—शृंगार सामग्री, स्त्री § शय्या आदि का जो स्वतन्त्र-

§ साधु के लिए स्त्री शब्द का प्रयोग हुआ है, उसी तरह साध्वी के लिए पुरुष समझना चाहिए।

ता से भोग नहीं कर सकता है, फिर भी अन्तर में उसकी लालसा, कामना, वासना रखता है तो वह त्यागी नहीं है। † इसी तरह उत्तराध्ययन के ३२वें अध्ययन में ब्रह्मचारी को प्रकाम-विकारोत्पादक सरस आहार करने का निषेध किया गया है। श्रमण सूत्र के पगाय-सज्झाए पाठ में उसे नर्म-सुकोमल शय्या के परित्याग की बात कही है। इसके सिवाय ब्रह्मचर्य की नव बाड़ें भी इस सत्य को पूर्णतया प्रमाणित कर रही हैं। वे नव बाड़ें इस प्रकार हैं—

१–साधु उस मकान में रात को न रहे जिस मकान में स्त्री, नपुंसक और पशु रहते हो, २-साधु स्त्री की तथा साध्वी पुरुष की विकारोत्पादक कथा न करे, ३-साधु जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो और साध्वी जिस स्थान पर पुरुष बैठा हो उस स्थान पर उसके उठने के बाद ४८ मिन्ट तक न बैठे, ४-साधु स्त्री के और साध्वी पुरुष के अंगोपांगों को विकारी दृष्टि से न देखे, ५-दीवार या पर्दे की ओट में स्त्री–पुरुष की विषय-वासना युक्त बातें न सुने, ६-पूर्व में भोगे हुए भोगों का चिन्तन-मनन न करे, ७-प्रति दिन सरस आहार न करे, ८-मर्यादा या भूख से अधिक भोजन न करे और ९ शरीर को विभूषित-शृंगारित न करे।

इस से यह स्पष्ट हो गया कि केवल स्त्री-पुरुष संसर्ग ही अब्रह्मचर्य नहीं प्रत्युत भोगोपभोग जन्य सामग्री की वासना या आकांक्षा रखना भी अब्रह्मचर्य है। मैथुन या अब्रह्मचर्य का संबंध मोह कर्म से है, मोहकर्म के उदय से ही आत्मा भोगों में आसक्त होती है और तृष्णा, अभिलाषा, आकांक्षा ये मोह के ही दूसरे नाम हैं, अतः समस्त वासनाओं पर विजय पाना ही साधुत्व या पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना है।

† दशवैकालिक २, २

इस व्रत में वासना या तृष्णा को जरा भी छूट देने का अवकाश नहीं है। जैसे तम्बू रस्सों से कसा हुआ होने के कारण ही उसमें स्थित सामग्री एवं मनुष्यों को वर्षा से सुरक्षित रख सकता है, यदि उसकी एक रस्सी भी शिथिल पड़ जाए तो उसमें वर्षा का जल टपकने लगेगा। इसी तरह वासना या तृष्णा को भोगोपभोग के साधनों में किसी भी तरफ जरा-सी छूट दी गई तो उसका परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे सारा जीवन काम-वासना के पानी से भर जायगा। अतः साधु-साध्वी के लिए स्त्री-पुरुष संसर्ग त्याग की बात ही नहीं, बल्कि विकारोत्पादक सभी तरह के भोगोपभोग का मन, वचन और शरीर से सेवन करने, करवाने और करते हुए को अच्छा समझने का निषेध किया गया है।

अपरिग्रह

"परिगृह्णातीति परिग्रहः" इस परिभाषा से परिग्रह का अर्थ होता है— जो कुछ ग्रहण किया जाय। दुनिया में स्थित पुद्गलों को दो तरह से ग्रहण किया जाता है— १-द्रव्य से और २-भाव से। धन-धान्य आदि स्थूल पदार्थों को हम द्रव्य रूप से ग्रहण करते हैं, इस लिए इसे द्रव्य परिग्रह कहते हैं और राग-द्वेष एवं कषायादि भाव परिणति से हम कर्म पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, अतः उसे (कषायादि भावों एवं कर्मों को) भाव परिग्रह कहते हैं। द्रव्य परिग्रह के ९ भेद किए गए हैं— १-क्षेत्र, २-वास्तु, ३-हिरण्य, ४-सुवर्ण, ५-धन, ६-धान्य, ७-द्विपद, ८-चतुष्पद और ९-कुप्य पदार्थ। इन का अर्थ इस प्रकार है-

१-क्षेत्र- कृषि के उपयोग में आने वाली भूमि को क्षेत्र कहते हैं। वह सेतु और केतु के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। नहर, कुआं आदि कृत्रिम साधनों से सींची जाने वाली भूमि को सेतु और मात्र

वर्षा के जल पर आधारित कृषि योग्य भूमि को केतु कहते हैं।

२-वस्तु- मकान को वस्तु कहते हैं। वस्तु संस्कृत का शब्द है, प्राकृत में वत्थु रूप बनता है। मकान तीन तरह के होते हैं— १-खात, २-उच्छ्रत और ३-खातोच्छ्रत। भूमिगृह— तलघर या जमीन के अंदर बनाए जाने वाले मकानों को खात, जमीन के ऊपर बनाए जाने वाले मकानों को उच्छ्रत और नीचे तलघर बना कर उसके ऊपर मकान बनाने को खातोच्छ्रत कहते हैं।

३-हिरण्य- आभूषणों के आकार में रही हुई तथा ऐसे ढेले के रूप में स्थित चांदी को हिरण्य कहते हैं।

४-सुवर्ण- सोने के आभूषण तथा पासे के रूप में रहा हुआ सोना सुवर्ण कहलाता है। हीरा, पन्ना, मोती आदि जवाहरात भी इसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

५-धन- गुड़, शक्करादि पदार्थ।

६-धान्य- चावल, गेहूं बाजरा आदि अनाज।

७-द्विपद- दास-दासी आदि।

८-चतुष्पद- गाय-भैंस, हाथी, घोड़ा आदि पशु।

९-कुप्य- धातु के बने हुए बर्तन एवं कुर्सी, मेज़ आदि गृहस्थ के उपयोग में आने वाली वस्तुएं।

राग-द्वेष या कषाय का भाव परिग्रह कहा है। इन्हीं की परिणति से कर्म का आगमन एवं बन्ध होता है। अतः शुभ और अशुभ परिणामों से बंधने वाले शुभ और अशुभ कर्म की अपेक्षा से भाव परिग्रह दो प्रकार का है। यों कर्म के ८ भेद तथा उसके उत्तर भेदों की दृष्टि से वह अनेक प्रकार का है।

इस तरह द्रव्य एवं भाव दोनों तरह के परिग्रह का पूर्णतः परि-

त्याग करने वाले को साधु कहा है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है— जो गुड़, घी आदि पदार्थों का रात को थोड़ा भी संग्रह करके रखता है, वह साधु नहीं गृहस्थ है। यदि कभी संघर्ष हो गया तो साधु को चाहिए कि तुरन्त उसे उपशांत करके क्षमा-याचना कर ले, बिना क्षमा-याचना किए या दोष का परिहार किए बिना उसे आहार नहीं करना चाहिए। वह आलोचना या क्षमायाचना किए बिना ही आहार-पानी करता है तो उसे दोषी माना है * और एक पक्ष के बाद भी वह उस शल्य को निकाल कर हृदय को साफ नहीं करता है तो उसे छठे गुणस्थान का अधिकारी नहीं माना है। इस तरह द्रव्य से पदार्थों का और भाव से कषायों का संग्रह करके रखने वाला व्यक्ति साधु नहीं हो सकता। उनका सर्वथा त्यागी ही साधु कहलाता है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति

प्रश्न— जैनधर्म निवृत्ति परक है। वह मनुष्य को प्रत्येक कार्य से निवृत्त होना सिखाता है, ऐसी स्थिति में साधु जीवन निर्वाह कैसे कर सकेगा?

उत्तर— जैनधर्म न एकांत निवृत्तिवादी है और न एकांत प्रवृत्तिवादी। वह निवृत्ति-प्रवृत्तिवादी है। राग-द्वेष आदि दोषों से निवृत्त होना तथा सद्गुणों में प्रवृत्ति करना यह जैन आगमों का आदेश रहा है। इसके लिए जैनागमों में समिति और गुप्ति दो शब्द मिलते हैं। गुप्ति का अर्थ है योगों—मन, वचन और शरीर को सावद्य प्रवृत्ति से रोकना और समिति का अर्थ है उन्हें संयम-साधना में प्रवृत्त करना-लगाना।

* बृहत् कल्प सूत्र

साधु का जीवन समिति-गुप्ति युक्त होता है। समिति अहिंसा महाव्रत को सुरक्षित रखने की साधना है. उसके पांच प्रकार हैं- १-ईर्या, २-भाषा, ३-एषणा, ४-आदानभंडमत्त निक्षेपणा और उच्चार-पासवण-खेलजल-मैल परिठावणिया समिति।

ईर्या समिति

ईर्या शब्द का अर्थ होता है गमना - गमन की क्रिया करना। योगों की एक स्थान से दूसरे स्थान जाने की प्रवृत्ति को ईर्या कहते हैं। अतः विवेक पूर्वक गमन करने की क्रिया को ईर्या समिति कहते हैं। वह आलंबन, काल और मार्ग के भेद से तीन प्रकार की होती है। आलंबन का अर्थ है— आधार। ईर्या—गमन क्रिया पृथ्वी के आधार पर होती है और पृथ्वी पर अनेक जीव-जन्तुओं का निवास एवं हलन-चलन होता रहता है। अतः साधु को चलते समय अपने योगों को उसी क्रिया की ओर लगा देना चाहिए अर्थात् उसकी दृष्टि अपने चलने के मार्ग के अतिरिक्त इधर-उधर नहीं होनी चाहिए। वह एकाग्र भाव से पथ का अवलोकन करते हुए चले, जिससे रास्ते में आने वाले छोटे-मोटे प्राणियों को बचा सके इसलिए साधु अपने मन, वचन और शरीर के योग को सब तरफ से हटा कर, केवल गमन की क्रिया में या मार्ग का सम्यक् प्रकार से अवलोकन करने में लगाए। अतः चलते समय साधु को न मन से किसी भी विषय का— भले ही वह धार्मिक ही क्यों न हो चिन्तन-मनन करना चाहिए, न किसी भी तरह की बातें करना चाहिए— यहां तक धार्मिक उपदेश तथा स्वाध्याय भी चलते समय नहीं करना चाहिए और अपनी दृष्टि को सीधी एवं चलने के मार्ग पर स्थिर रखना चाहिए। इधर-उधर, दाएं-बाएं दृष्टि को घूमाते-फिराते नहीं चलना चाहिए। काल का तात्पर्य है— समय, वह दो प्रकार का होता है-- दिन और रात। दिन में भली

भांति अवलोकन करके गमन करे। यों रात में साधु पेशाब आदि कार्य के अतिरिक्त मकान से बाहर गमनागमन क्रिया नहीं करते। उक्त कार्य के लिए या निकट में ही व्याख्यान-उपदेश देने के लिए तथा जिस मकान में ठहरे हैं उस मकान में भी एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना हो तो चलने के मार्ग का भली-भांति परमार्जन करके चले, जिस से रास्ते में आने वाले किसी भी जीव को घात न हो। मार्ग भी दो प्रकार का है-- द्रव्य और भाव। द्रव्य मार्ग भी दो तरह का है--सुपथ-राजमार्ग और कुपथ- उजड़ रास्ता। अतः साधु उजड़ मार्ग को त्याग कर राजमार्ग पर चले। क्योंकि उजड़ मार्ग पर गति करने से स्व और पर जीवों की विराधना होने की संभावना रहती है। इस तरह भाव मार्ग भी दो प्रकार का है- सुमार्ग और कुमार्ग। साधु दुष्ट एवं अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा आचरित कुमार्ग का परित्याग करके महापुरुषों एवं सर्वज्ञों द्वारा आचरित सुमार्ग पर गति करे।

भाषा समिति

जैसे चलने की क्रिया का जीवन के साथ गहरा संबंध है, उसी तरह भाषा भी जीवन व्यवहार के लिए आवश्यक है। अतः भाषा का प्रयोग करते समय भी विवेक एवं यतना न रखी जाए तो अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है और उससे पाप कर्म का बन्ध होता है। अतः भाषा को संयमित करने के लिए भाषा समिति का उल्लेख किया गया। भाषा समिति भी चार प्रकार की है-- १-द्रव्य, २-क्षेत्र, ३-काल और ४-भाव। शब्दों के समूह को भाषा कहते हैं। शब्द पुद्गल-द्रव्य है। अतः द्रव्य का अर्थ हुआ कि भाषा वर्गणा के ऐसे पुद्गलों का उपयोग करना चाहिए जिससे किसी भी व्यक्ति या प्राणी के मन को

वचन को या शरीर को आघात नहीं पहुंचे। अतः साधु को विचार एवं विवेक पूर्वक भाषा बोलनी चाहिए। उसे १-कर्कश-कठोर २-छेद-भेद उत्पन्न करने वाली, ३-हास्य, ४-निश्चय, ५-पर प्राणी को पीड़ा कष्ट पहुंचाने वाली, ६-सावद्य-पाप युक्त, ७-मिश्र-जिस भाषा में कुछ अंश सत्य हो और कुछ असत्य अथवा जिसमें सत्यासत्य का मिश्रण हो और ८-असत्य, ऐसी आठ प्रकार की भाषा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। क्षेत्र अर्थात् रास्ते में चलते समय नहीं बोलना चाहिए। काल-रात में एक प्रहर व्यतीत होने के बाद नहीं बोलना चाहिए. यदि कभी विशेष परिस्थिति में बोलना भी पड़े तो इतने धीमे स्वर से बोलना चाहिए कि इतर प्राणी को निद्रा में विघ्न न पड़े। भाव-विवेक एवं यतना पूर्वक बोले जिससे दूसरे जीवों की हिंसा न हो। मन में कलुषता या छल-कपट रख कर न बोले तथा खुले मुँह भी न बोले। क्योंकि खुले मुँह बोली जाने वाली भाषा को आगम में सावद्य भाषा कहा है।

एषणा समिति

धर्म की साधना के लिए शरीर महत्त्वपूर्ण साधन है और शरीर को आहार से पोषण मिलता है। अतः आहार जीवन के लिए आवश्यक है और आहार के बनने में हिंसा अवश्य होती है। भोजन की सामग्री प्राप्त करने के लिए तथा उसे बना कर तैयार करने के लिए हिंसा तो करनी ही पड़ती है, तो फिर साधु भोजन की व्यवस्था कैसे करे? यह बात इस ऐषणा समिति में बताई है।

साधु स्वयं भोजन नहीं बनाता। वह गृहस्थ के घर में बने हुए भोजन में से मांग कर ले आता है। परन्तु वह दूसरे भिक्षुओं या भीखमंगों की तरह मांग कर नहीं लाता। वह भिक्षा लाते समय इस

बात का पूरा ख्याल रखता है कि मेरे निमित्त से किसी भी प्राणी की हिंसा न हो। इसलिए वह आहार ग्रहण करने के पहले यह भली-भांति देख लेता है कि इस आहार के बनने-बनाने में मुझे निमित्त तो नहीं बनाया गया है। इस अवलोकन विधि को आगम की भाषा में एपणा कहते हैं।

साधु वही आहार-पानी, वस्त्र, पात्र एवं मकान आदि वस्तुओं को स्वीकार करता है, जो उसके लिए नहीं बनाया गया है या न खरीदा गया है। क्योंकि इन सब कार्यों में हिंसा होती है और साधु को मन, वचन और शरीर से हिंसा करने, करवाने और करने वाले को अच्छा समझने का त्याग है। अतः वह ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नहीं कर सकता, जो उसके लिए तैयार की गई है। वस्तु के खरीदने में पैसे का व्यय होता है और पैसा कमाने में हिंसा भी होती है, अतः साधु उस वस्तु को भी स्वीकार नहीं करता, जो उसके लिए खरीद कर लाई गई है। साधु उसी आहार-पानी, वस्त्र पात्र एवं मकान आदि को ग्रहण करता है, जो गृहस्थ ने अपने उपभोग के लिए बनाया है, उसमें साधु का जरा भी भाव नहीं है। गृहस्थ के स्वयं के लिए बनाए गए आहार-पानी में से भी साधु थोड़ा-सा ग्रहण करता है, जिससे उसको देने के बाद फिर से न बनाना पड़े और परिवार के किसी सदस्य को भूखा भी न रहना पड़े। इसलिए वह एक घर से आहार नहीं लेता प्रत्युत कई घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन लेता है। जैसे मधुकर-भ्रमर एक फूल से रस नहीं लेकर कई फूलों की पराग का रसास्वादन करता है और उन फूलों पर भी इस तरह बैठता है जिस से कि उन्हें विशेष पीड़ा न पहुंचे। उसी तरह साधु भी कई घरों से अपनी वृत्ति के अनुसार निर्दोष आहार स्वीकार करते हैं। जैसे गाय घास को ऊपर-ऊपर से चर्वण करती है, परन्तु गधे की तरह जड़ से

नहीं उखाड़ती है। क्योंकि इससे गाय का पेट भी भर जाता है और घास का पौधा भी नष्ट नहीं होता। इस तरह साधु भी थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करते हैं। इसी कारण उनकी आहार ग्रहण करने की क्रिया को गोचरी या मधुकरी कहते हैं। वैदिक परम्परा में भी मधुकरी का वर्णन मिलता है। परन्तु आज के सन्यासियों में यह वृत्ति कम देखने में आती है। जैन परम्परा में आज भी यह वृत्ति क़ायम है। जैन साधु किसी भी स्थिति में अपने निमित्त बने हुए आहार-पानी को स्वीकार नहीं करते। न उनके लिए उनके स्थान पर लाए हुए आहार-पानी, वस्त्र पात्र आदि ही स्वीकार करते हैं।

भिक्षा आज के युग की बहुत बड़ी समस्या है। दुनिया का प्रत्येक राष्ट्र इस समस्या को सुलझाने में व्यस्त है। भारत में यह समस्या बहुत उग्र रूप धारण किए हुए है। राष्ट्रीय आंकड़ों के अनुसार ४० लाख के करीब भीखमंगे हैं, जो राष्ट्र के लिए बोझ रूप हैं। सरकार इस वृत्ति को समाप्त करने के लिए कई योजनाएं बना चुकी है, फिर भी अभी तक इस वृत्ति में कमी आई हो ऐसा दिखाई नहीं देता। कुछ वर्ष हुए बम्बई सरकार में यह बिल रखा गया था कि भीख मांगने पर प्रतिबन्ध लगाया जाए। इसमें भीखमंगों के साथ सभी मजहब के साधु-सन्यासियों को भी शामिल किया गया था। कुछ दिन हुए भारत साधु सेवक समाज ने भी एक प्रस्ताव पास करके सरकार से भिक्षा वृत्ति को समाप्त करने की मांग की थी। आज राष्ट्र में भीख-मंगों के लिए रोष है और जनता भी इसे तिरस्कार की दृष्टि से देखती है और इसी कारण अनेक व्यक्ति यह पूछ बैठते हैं कि इतने आदर्शजीवी जैन साधु भिक्षा क्यों मांगते हैं?

हम पीछे देख चुके हैं कि जैन साधु का जीवन जगत के छोटे-बड़े

सब जीवों के हित को लिए हुए है। वह किसी प्राणी को आघात नहीं पहुंचाता और रोटी आदि बनाने में छः काय के जीवों की हिंसा अनिवार्यतः होती है और यह साधु के लिए उपयुक्त नहीं है। अतः वह स्वयं भोजन बनाने के कार्य में नहीं लगता। परन्तु उसे भी अपने पेट को तो भरना ही पड़ता है। पेट भरे बिना वह साधना के पथ को भली-भांति तय नहीं कर पाता। इसलिए उसे अपनी आवश्यकतानुसार भिक्षा करके भोजन लाने का शास्त्रकारों ने आदेश दिया है— जिसे जैन परिभाषा में गोचरी कहते हैं।

भिक्षा एवं भीख दोनों मांग कर ली जाती हैं; घर-घर घूम कर प्राप्त की जाती हैं। फिर भी दोनों एक नहीं, भिन्न हैं, दोनों में रात दिन का अन्तर रहा हुआ है। भीख दीनता की परिचायक है। उस में मांगने वाले का व्यक्तित्व बिल्कुल गिर जाता है। वह घर-घर खुशामद की भाषा में मांगता है, हजारों आशीर्वादों की बौछारें करता हुआ दीन एवं करुण स्वर में रोटी की याचना करता है। परन्तु भिक्षु ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करता। जैन साधु के लिए दशवैकालिक, आचारांग आदि आगमों में यह स्पष्ट आदेश दिया गया है कि वह रंक-भिखारी की तरह दीन स्वर में याचना न करे, न अपने कुल, वंश एवं परिवार का परिचय दे कर आहार प्राप्त करे और भोजन लेने के लिए गृहस्थ की प्रशंसा भी न करे तथा न आशीर्वादों की ही वर्षा करे। वह सहज भाव से गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और शास्त्र में बताई गई विधि के अनुरूप जैसा भी निर्दोष आहार उपलब्ध हो उस में से थोड़ा-सा आहार ग्रहण करे— जिस से गृहस्थ को न तो पुनः आरंभ करना पड़े या कमी का अनुभव करना पड़े। इस से यह स्पष्ट हो गया कि भिक्षा एवं भीख में बहुत बड़ा अन्तर है। भीखमंगा

करुण एवं वेदना भरे स्वर में गृहस्थ की दया एवं करुण भावना को जगा कर उससे कुछ पाने का प्रयत्न करता है। परन्तु साधु ऐसा नहीं करता और न उसे देख कर श्रद्धालु व्यक्ति के मन में करुणा एवं हीनता की भावना उद्बुद्ध होती है। उसकी सन्तोष एवं त्याग-निष्ठ वृत्ति को देख कर सद्गृहस्थ के मन में श्रद्धा-भक्ति की भावना जगती है और वह उन के पात्र में कुछ देकर असीम आनन्द की अनुभूति करता है। अतः जैन साधु भीखमंगों की श्रेणी में नहीं आते। उन की साधना दुनिया के सभी मजहब के साधु-सन्यासी एवं फकीरों से विलक्षण है और सभी लोग इस बात को मानते हैं कि वर्तमान के गए-गुजरे जमाने में भी जैन साधु जितना त्याग-तप, किसी पहुंचे हुए योगी में भी कम ही दिखाई देता है। उसकी साधना अपने ही हित के लिए नहीं, बल्कि जगत के कल्याण के लिए भी है। उसका पेट, भेष की समस्या का हल करने के लिए नहीं बल्कि अध्यात्म साधना के शिखर पर चढ़ने के लिए है और यही कारण है कि उसकी भिक्षा वृत्ति सब से निराली है। मांग कर लाने पर भी वह किसी के लिए बोझ रूप नहीं है। क्योंकि उसके मन में किसी तरह की इच्छा—आकांक्षा एवं चाह नहीं है।

भिक्षा और भीख के अन्तर को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने भिक्षा के तीन प्रकार बताए हैं— १-सर्व सम्पतकरी, २-पौरुषघ्नी, ३-वृत्तिभिक्षा। सर्व सम्पतकरी भिक्षा त्याग-निष्ठ साधु—सन्तों की है। साधु वह है, जो सदा-सर्वदा स्व साधना के साथ पर-हित में संलग्न रहता है, संसार के कल्याण की सुखद एवं मंगल-कामना करता है। विश्व को कल्याण का सही रास्ता बताता है। इसलिए उसकी साधना अपने लिए ही नहीं, प्राणी जगत के लिए भी सुखकर होती है।

संसार के समस्त जीव सुख-शांति की अनुभूति करते हैं, क्योंकि साधु किसी भी छोटे-बड़े प्राणी को त्रास नहीं पहुंचाता। वह सब जीवों की रक्षा करता है। अतः उसे छः काय का रक्षक भी कहते हैं।

उसकी भिक्षा वृत्ति भी साधना का एक अंग है, उसे भी एक प्रकार का तप बताया है। इससे साधक अपने अहं भाव पर विजय पाता है और जन-जीवन का निकट से अध्ययन करता है। जब वह भिक्षा के लिए बिना भेद-भाव के घर-घर में पहुंचता है, तो उसे उस गांव, मुहल्ले या शहर के लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार का पता लग जाता है। घरों की स्थिति का भी ज्ञान हो जाता है। वह जान लेता है कि कौन-सा घर आचार-निष्ठ है? किस घर में दुर्व्यसनों का सेवन होता है? कौन घर आन्तरिक संघर्ष की आग में जल रहा है? परिवार में कौन व्यक्ति अपने कर्त्तव्य से विमुख हो रहा है? किस घर में नैतिकता, प्रमाणिकता की कमी है? इत्यादि, जीवन के विकास और पतन की सभी बातों की सही जानकारी एवं उनके वास्तविक कारणों का पता घर-घर का परिचय होने पर ही लगता है और साधक को वह परिचय भिक्षा के द्वारा ही लग सकता है। क्योंकि बिना किसी कारण के तो वह घर-घर नहीं फिरता। आगम में उसके लिए स्पष्ट आदेश है कि वह बिना कार्य किसी के घर में प्रवेश न करे। इसलिए भिक्षाचरी साधना के साथ मनुष्य के व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन का परिचय पाने का भी एक साधन है। इस से साधु सारी स्थिति का अध्ययन करके यथाशक्ति मानव जीवन में से उन बुराईयों को निकालने का प्रयत्न करता है। वह सदुपदेश की सरस-शीतल धारा बहा कर उसके शुष्क जीवन को हरा-भरा बनाने का प्रयास करता है। वह व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के जीवन

को नया मोड़ देता है। उसने हज़ारों-लाखों परिवारों को दुर्व्यसनों से मुक्तकिया है, सादगी एवं शिष्टता से रहना सिखाया है, त्याग और तप के महत्त्व को बताया है। इस साधु की भिक्षा वृत्ति सिर्फ अपना पेट भरने के लिए नहीं, प्रत्युत व्यक्ति, परिवार, समाज, देश एवं विश्व के हित एवं कल्याण को लिए हुए है। इसलिए इस वृत्ति को सर्व-सम्पत्करी-भिक्षा कहा है। ऐसी भिक्षा साधु एवं गृहस्थ दोनों के जीवन का विकास करती है। शास्त्रकारों ने भी कहा है कि ऐसे महान् साधक का तथा बिना किसी कामना एवं स्वार्थ के देने वाले सद्गृहस्थ का मिलना दुर्लभ है। प्रबल पुण्य से ही ऐसे साधक एवं सद्गृहस्थ का संयोग मिलता है और वह दोनों के जीवन विकास का कारण है। देने और लेने वाला दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।* इस तरह साधु की भिक्षा सब के कल्याण की भावना को लिए हुए है।

२-पौरुषघ्नी भिक्षा— एक सशक्त व्यक्ति साधुता के अभाव में केवल बिना मेहनत एवं परिश्रम किए ही आराम से खाने एवं मौज-मज़े करने के लिए साधु का भेष पहन कर भिक्षा मांगता है, तो वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। वह उसके पुरुषार्थ को समाप्त करने वाली है, जीवन में आलस्य एवं विकारों को बढ़ाने वाली है। क्योंकि उसके जीवन में साधना का अभाव है, त्याग-तप का प्रकाश दीप बुझा पड़ा है। अतः दिन भर कोई काम न होने से मन में विकार-भावना एवं बुरे विचार चक्कर काटने लगेंगे और वह उनके प्रवाह में बह कर दुष्प्रवृत्तियों की ओर मुड़ जायगा। हज़ारों-लाखों पंडे-पुजा-

* दुल्लहा मुहादाई, मुहाजीवी विदुल्लहा,
मुहादाई-मुहाजीवी, दोविगच्छन्ति सुगइं।
दशवैकालिक सूत्र, अ. ५, उ. १, गाथा-१००

रियों का जीवन हमारे सामने है— जो रात-दिन दुर्व्यसनों में फंसे रहते हैं और जिनके कारण मन्दिर एवं तीर्थों का पवित्र वातावरण भी विकृत बन गया है। साधना के केन्द्र आज दुराचार और दुर्व्यसनों के अड्डे बन रहे हैं। हम प्रायः समाचार पत्रों में पढ़ते रहते हैं कि अमुक सन्यासी चोरी या ठगी करते हुए पकड़ा गया, लड़के या लड़की को उड़ा कर, भगा कर ले गया। कुछ गुण्डे सन्यासियों के भेष में गिरोह बना कर भी ऐसे जघन्य कृत्य करते फिरते हैं। तो यह पौरुष-घ्नी भिक्षावृत्ति का ही दुष्परिणाम है। यह वृत्ति भिक्षुक के जीवन को भी पतन के गर्त में गिराती है और व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए भी अहितकर एवं घातक है। इस तरह के निरंकुश जीवन से राष्ट्र का भी नुकसान होता है।

३-वृत्ति भिक्षा—कुछ ऐसे अपंग व्यक्ति हैं—जैसे लूले-लंगड़े, अन्धे, बीमार आदि जो स्वयं कोई काम धन्धा कर नहीं सकते और उनका पोषण करने वाला भी कोई नहीं है, ऐसी स्थिति में उन्हें भीख मांगनी पड़ती है, तो यह वृत्ति भिक्षा है अर्थात् भीख ही उन की आ-जीविका है। इनके जीवन की व्यवस्था करना राष्ट्र का काम है। जब तक सरकार उसके लिए कोई उचित व्यवस्था न कर दे, तब तक यह वृत्ति क्षम्य है। यह वृत्ति राष्ट्र के लिए शोभास्पद नहीं है। इतने बड़े राष्ट्र में कुछ हज़ार व्यक्तियों की व्यवस्था का न हो सकना जिस से उन्हें भीख मांगने के लिए विवश होना पड़े, शर्म की बात अवश्य है। परन्तु उनके लिए क्षम्य इसलिए है कि वे बिचारे और कोई धन्धा कर नहीं सकते और पेट भरने के लिए रोटी अवश्य चाहिए। अतः उन्हें भीख मांगनी पड़ती है।

इस से यह स्पष्ट हो गया कि जैन-साधु की भिक्षा सर्वसम्पत-करी भिक्षा है। उससे व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र को किसी

तरह का नुकसान नहीं, बल्कि लाभ ही है। इस से व्यक्ति परिवार, समाज एवं राष्ट्र का जीवन सुधरता है, जन-जीवन में सदाचार एवं त्याग-तप की ज्योति जगती है, देश में भ्रातृ-प्रेम की गंगा प्रवहमान होती है।

यह समझना भी भारी भूल है कि साधु कोई काम नहीं करता, वह मुफ्त में ही खाता-पीता है। भले ही वह ऊपर से मेहनत करते हुए दिखाई नहीं देता, पर यदि गहराई से सोचा-विचारा जाए तो वह रात-दिन श्रम करता हुआ दिखाई देगा। इसी कारण उसे 'श्रमण' शब्द से संबोधित किया गया है। आज हमने मेहनत को कुछ भागों में बांट दिया है और उसकी एक सीमा निश्चित कर दी है। परन्तु श्रम की कभी सीमा नहीं होती है। किसान एवं मजदूर आदि का श्रम ही श्रम नहीं है, एक साधक की साधना भी श्रम है। यह बात अलग है कि दोनों के श्रम—मेहनत में अन्तर है। एक का श्रम भौतिक है, दिखाई देने वाला है तो दूसरे का आध्यात्मिक है और यदि गहराई से सोचा जाए तो आध्यात्मिक श्रम ही वास्तव में जीवन को उन्नत बनाने वाला है। आज के वैज्ञानिक युग में भौतिक श्रम की कमी नहीं है, फिर भी विश्व विनाश के कगारे पर खड़ा है, इसका एक मात्र कारण यही है कि वैज्ञानिकों के जीवन में आध्यात्मिक श्रम का अभाव रहा है। आध्यात्मिक श्रम के अभाव में भौतिक श्रम या ताकत आज विश्व के लिए वरदान नहीं अभिशाप बन रही है। अस्तु भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का प्रकाश होना जरूरी है। आध्यात्मिक ज्योति के अभाव में केवल भौतिक श्रम विश्व में शान्ति एवं अमन-चैन की धारा नहीं बहा सकता।

अतः जीवन विकास के लिए आध्यात्मिक श्रम भी आवश्यक है। साधु सदा आध्यात्मिक श्रम में संलग्न रहता है। जैसे किसान खेत को

जोतने, झाड़-झंखाड़ को खोद कर ज़मीन साफ बनाने तथा फसल के साथ उग आए घास-फूस को उखाड़ फैंकने में व्यस्त रहता है, कारखाने में मज़दूर वस्तुओं के मैल को हटा कर साफ-सुथरी बनाते रहते हैं, और भी लोग अपने कार्यों को व्यवस्थित रूप से करने में लगे रहते हैं, उसी तरह साधु भी सदा-सर्वदा अपनी साधना में संलग्न रहता है। वह अपने जीवन क्षेत्र को साफ करने के लिए, उसमें उग आए मनो-विकारों के कंटीले पौधों एवं काम-क्रोध के घास फूस को काट फैंकने तथा जीवन को मांजने में सदा सजग रहता है। वह प्रतिक्षण विकारों के साथ संघर्ष करता रहता है। इसलिए वह बाहर से काम करता हुआ न दिखाई देने पर भी बहुत बड़ा काम करता है और वह यह कि वह शांति के प्रखर प्रकाश को विश्व के कण-कण में बिखेर देता है।

इतिहास साक्षी है कि भगवान महावीर और बुद्ध ने विश्व को क्या दिया था? अपनी साधना के सौम्य प्रकाश से जगत के अंधकार को ही तो दूर किया था। जन मानस में सद्ज्ञान का दीप जगा कर उसे शांति का मार्ग बताया था। हिंसा, दुराचार एवं शोषण की भयंकर अटवी में पथ भ्रष्ट इन्सानों को जीवन का राह बता कर उन के जीवन को उन्नत बनाया था। शोषित एवं उत्पीड़ित तथा अपमान एवं तिरस्कार की आग में जलने वाले अछूतों को गले लगाकर शोषण से मुक्त होना सिखाया था। और यह एक ऐसा काम था, जिसे एक दो तो क्या लाखों-लाख किसान-मजदूर या वैज्ञानिक मिल कर भी नहीं कर सकते। क्योंकि उसके लिए साधना करनी पड़ती है। पहले अपने जीवन पर काबू पाना होता है, विकारों को जीतना पड़ता है। भगवान महावीर ने अपने जीवन को मांजने के लिए साढ़े बारह वर्ष तक कठोर साधना की थी। क्योंकि विकारों एवं वासनाओं से मुक्त

व्यक्ति ही विश्व को सही मार्ग बता सकता है, विश्व में शांति का प्रयास कर सकता है और इसके लिए साधना एवं तपस्या की आवश्यकता है।

आजकल आचार्य विनोभा भावे एवं सन्त बाल जी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को बिना संघर्ष एवं बिना युद्ध के समाप्त करने के लिए शान्ति सेना का प्रयोग कर रहे हैं। राष्ट्र में कई झगड़ों को निपटाने में शांति सेना कुछ हद तक सफल भी रही है। ये शांति सैनिक प्रेम-स्नेह से समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। इन्हें भी पहले शिक्षा दी जाती है। संघर्षों में भी शान्त रहने के लिए जीवन को मांजने की साधना करनी पड़ती है। तब उन्हें अपने काम में सफलता मिलती है। महात्मा गांधी का जीवन हमारे सामने है कि बिना खून की बून्द बहाए अहिंसा की ताकत से आजादी पाने के लिए उन्हें कितनी साधना करनी पड़ी थी, अपने जीवन को कितना मांजना पड़ा था। हां तो मैं बता रहा था कि आंतरिक जीवन को बदलने के लिए साधना की आवश्यकता है और अन्तर्जीवन को मांजे बिना सुख-शांति का प्राप्त होना दुर्लभ है। अतः साधु अपने अन्तर्जीवन को मांजने के लिए जो साधना करता है, वह भी श्रम है। वस्तुतः देखा जाए तो साधु का सारा जीवन ही श्रममय है। उसका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता। अतः उसे निकम्मा या आलसी समझना साधना के मूल्य को नहीं पहचानना है।

इतनी लम्बी चर्चा के बाद हमने स्पष्टतः देख लिया कि भीख और भिक्षा एक नहीं, भिन्न-भिन्न है। भीख दीनता का प्रतीक है, अतः राष्ट्र के लिए कलंक रूप है। परन्तु भिक्षा साधना की, समता की, त्याग-तप की प्रतीक है, अतः वह राष्ट्र के लिए गौरव की चीज है। भीख से राष्ट्र पतन के गर्त में गिरता है, तो भिक्षा के कारण वह

उत्थान की ओर अभिमुख होता है। अतः जैन साधु की भिक्षावृत्ति किसी के लिए बोझ रूप नहीं है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि वह न तो एक ही घर से पात्र भरता है, न किसी का निमंत्रण ही स्वीकार करता है और न अपने लिए बनाई या खरीदी हुई वस्तु काम में लेता है। वह सद्गृहस्थ के घरों में जाता है और उनके घरों में अपने लिए बनाए गए पदार्थों में से अपनी विधि—मर्यादा के अनुसार थोड़ा-थोड़ा शुद्ध एवं सात्त्विक आहार ग्रहण करता है। अतः साधु का जीवन सीधा-सादा एवं जगत के हित के लिए होता है और उस की भिक्षावृत्ति भी सर्वक्षेमंकरी है।

जैन साधु हरी सब्ज़ी का भी स्पर्श नहीं करते हैं। क्योंकि वनस्पति सजीव होती है। अतः अपक्व सब्ज़ी को वे ग्रहण नहीं करते। इसी तरह कुएं,तालाब एवं नदी आदि के पानी को भी पीने, वस्त्रादि धोने के काम में नहीं लाते, यहाँ तक कि उस का स्पर्श भी नहीं करते। यदि वर्षा बरस रही हो तो वे बरसते पानी में आहार-पानी लेने भी नहीं जा सकते। वनस्पति की तरह पानी भी सजीव माना गया है। वैज्ञानिकों ने भी इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि पानी के एक बिन्दु में अनेकों जीव देखे जा सकते हैं। ये लाखों जीव हलन-चलन करने वाले द्वीन्द्रियादि प्राणी हैं, परन्तु आगम के अनुसार पानी का शरीर स्वयं सजीव है। अतः उसकी रक्षा के लिए साधु कच्चे पानी का स्पर्श नहीं करते। वे गृहस्थ के घर में उसके अपने काम के लिए बने हुए गर्म-उष्ण पानी या बर्तनों का धोया हुआ पानी लेते हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि बर्तनों का धोया हुआ पानी झूठा होता है, इसलिए उसे नहीं लेना चाहिए। मूर्त्ति-पूजक संप्रदाय के साधु धोवन पानी का सर्वथा निषेध करते हैं। परन्तु यह उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि

आचारांग सूत्र में २१ प्रकार का धोवन पानी लेने का विधान है। और वहां यह भी उल्लेख किया गया है कि इस तरह का और भी धोवन पानी लिया जा सकता है, जिसका वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदल गया हो। इसके अतिरिक्त मूर्तिपूजक संप्रदाय में भी त्रिफले, लवंग आदि का पानी लेने की परंपरा है। वह भी एक तरह का धोवन ही है, अतः धोवन पानी का निषेध करना, शास्त्र के विरुद्ध है, ऐसा स्पष्ट कहा जा सकता है।

भारत के अधिकांश प्रान्तों में रात के बासी बर्तन मांजने का तथा मांजने के बाद उन्हें धोकर रखने का रिवाज है। वे बर्तन शुद्ध होते हैं और उन्हीं के धोए हुए पानी को रखने की परंपरा है। वे बर्तन शुद्ध होते हैं, इसलिए उस पानी को झूठा नहीं कहा जा सकता। यदि उसे झूठा मान लिया जाए तो फिर उन बर्तनों को भी झूठा मानना होगा, जो उसमें धोए गए हैं। जब वे बर्तन झूठे नहीं है, तब वह पानी कैसे झूठा हो सकता है? नवपद जी के दिनों में मूर्तियों को दूध एवं पानी से धोते हैं, वे सब मूर्तियें बासी होती हैं, उस पानी का मूर्तिपूजक बहन-भाई श्रद्धा से आचमन करते हैं। यदि रात बासी शुद्ध बर्तनों का धोया हुआ पानी झूठा होता है, तो उन मूर्तियों का धोया हुआ पानी भी झूठा होना चाहिए। परन्तु उसे झूठा नहीं मानते। और उसके अरिरिक्त केवल शुद्ध बर्तन ही नहीं बल्कि झूठे बर्तन भी राख से मांजने के बाद धोए जाते हैं, फिर भी वे झूठे नहीं रहते। क्योंकि सब लोग उन्हें अपने खाने पीने के काम में लाते हैं। जब वे झूठे नहीं रहते तो जिस पानी में वे धोए गए हैं वह पानी झूठा कैसे हो सकता है? जब वह पानी भी झूठा नहीं होता, तो जिस पानी में शुद्ध बर्तन धोए गए हैं, उस शुद्ध एवं पवित्र जल को झूठा बताना

सांप्रदायिक अभिनिवेष ही है, ऐसा मानना चाहिए। वस्तुतः प्रासुक पानी झूठा नहीं होता।

इस तरह साधु अपने लिए बना हुआ आहार-पानी स्वीकार नहीं करते। गृहस्थ के घरों में से शुद्ध-सात्त्विक एवं निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करते हैं। यह एषणा समिति भी चार प्रकार की है—१ द्रव्य,२ क्षेत्र,३ काल और ४ भाव। द्रव्य से निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र,पात्र आदि ग्रहण करते हैं। क्षेत्र से विहार के समय साढे चार माइल से आगे आहार-पानी नहीं ले जाते हैं। काल के प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार-पानी चतुर्थ पहर में नहीं खाते हैं। भाव से अनुकूल या प्रतिकूल जैसा भी आहार उपलब्ध होता है, उसे सम-भाव-पूर्वक ग्रहण करते हैं।

४-आदान-भांड-मात्र निक्षेपना-समिति—प्रस्तुत समिति का अर्थ यतना-पूर्वक संयम—साधना में आवश्यक उपकरणों को ग्रहण करना और रखना है। साधना में उपकरण की भी आवश्यकता पड़ती है। आहार लाने एवं खाने के लिए पात्र, जीव—रक्षा के लिए रजोहरण, मुख-वस्त्रिका, लज्जा ढकने के लिए वस्त्र एवं निद्रा या प्रमाद से मुक्त होने के लिए आसन रखना होता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता-वश तख्त, पुस्तक-पन्ने, पेन्सिल, तृण आदि लेने एवं रखने पड़ते हैं। अतः इनको ग्रहण करते समय एवं रखते समय विवेक रखने की आवश्यकता है। जिससे व्यर्थ ही किसी जीव की हिंसा नहीं हो जाए। इसी बात से सावधान करने के लिए प्रस्तुत समिति रखी गई है। यह समिति भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार तरह की है। द्रव्य से किसी वस्तु को अविवेक या अयतना से नहीं रखना। क्षेत्र से-किसी भी वस्तु को अव्यवस्थित या इधर-उधर बिखेर कर नहीं रखना। काल से—यथासमय वस्त्र-पात्र की प्रति-

लेखना करना और भाव से–संयम–साधना के लिए रखे हुए उपकरणों पर ममत्व नहीं रखना।

५–उच्चार–पासवण–खेल–जल–मल–परिठावणिया समिति—यह हम पहले बता चुके हैं कि साधना के लिए आहार ग्रहण करना आवश्यक है। आहार के बिना शरीर चल नहीं सकता। और जब आहार करते हैं तो निहार भी अनिवार्य है। मल-मूत्र, कफ आदि विकार शरीर के साथ लगे हैं। अतः इनका परित्याग करने के लिए विवेक एवं उपयोग का होना जरूरी है। क्योंकि यतना-विवेक के अभाव में अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है, जिससे साधक भली-भांति संयम की आराधना नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त साधक के पास संयम–साधना में सहायक एवं उपयोगी उपकरण भी रहते हैं, वस्त्र भी रहते हैं और कभी पात्र टूट-फूट जाते हैं तथा वस्त्र भी फट जाते हैं जो लज्जा–निवारण के लिए उपयोगी नहीं रह पाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें भी परठना–फेंकना होता है। इसलिए उन परठने–फेंकने योग्य पदार्थों को फेंकते समय यतना रखने के लिए पांचवीं समिति रखी गई और साधक को आदेश दिया गया है कि उसे मल-मूत्र,टूटे हुए पात्र आदि परठने–फेंकने या त्यागने योग्य पदार्थों को एकान्त निर्जीव स्थान में परठना चाहिए। इस समिति के भी चार प्रकार हैं—१ द्रव्य, २ क्षेत्र, ३ काल और ४ भाव। द्रव्य से–मल-मूत्र आदि को ऐसे स्थान में परठना चाहिए, जहां लोगों का आवागमन कम होता हो, और वह भूमि बीज,अंकुर,हरियाली से रहित हो,निरवद्य हो,समतल हो,चूहे आदि के बिलों से रहित हो,और जहां जनता के स्वास्थ्य पर बुरा असर भी न पड़ता हो। साधु अपने संयम एवं नियम के साथ जन-हित को भी ध्यान में रखता है। उसे ऐसा कार्य करने का

आदेश नहीं है, जिससे जनता की आत्मा को ठेस पहुंचती हो। अस्तु, मल-मूत्र का त्याग करते समय भी वह इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि जहां वह मल-मूत्र का त्याग कर रहा है वहां से कोई गुजरे नहीं, देखे नहीं, जिस से किसी के मन में गुंधा या घृणा पैदा न हो। क्षेत्र से—लोगों के आने-जाने के मार्ग में, चौराहे पर मल-मूत्र का त्याग न करे। काल से—जहां उसे मल-मूत्र का त्याग करना है, उस स्थान को दिन में भली-भांति देख लेवे। भाव से—उपयोग एवं यतना पूर्वक मल-मूत्रादि का त्याग करे,त्याग करके आते ही *इरियावही का प्रतिक्रमण करे।

तीन गुप्ति—गुप्ति का अर्थ गोपन करना होता है। मन, वचन और शरीर के योग को प्रवृत्ति से रोकने का नाम गुप्ति है। वह तीन प्रकार की कही गई है—१ मन गुप्ति, २ वचन गुप्ति और ३ काय गुप्ति। अप्रशस्त, अशुभ, कुत्सित संकल्प-विकल्प में गतिमान मन को रोकना मनोगुप्ति है। असत्य, कर्कश, कठोर एवं अहितकारी या सावद्य-पाप युक्त वाणी को नहीं बोलना या इस तरह की भापा निकल रही हो तो उसका निरोध करना वचन गुप्ति है। शरीर को अशुभ प्रवृत्तियों एवं सावद्य व्यापारों से निवृत्त करना काय गुप्ति है।

उपकरण—यह हम पीछे वता चुके हैं कि संयम—साधना के लिए साधु को उपकरण रखने होते हैं। विना उपकरण रखे वह साधना मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता। शरीर सम्वन्धी आवश्य-

*"इच्छा—कारेण सदिसह भगवं !..."

इस पाठ का ध्यान करना चाहिए। इसमें गमनागमन सम्वन्धी दोपों का विचार करके उनका परिहार किया जाता है।

कताओं को पूरा करने के लिए उसे कुछ साधन रखने ही होते हैं। इसलिए आगम में साधु के लिए उपकरण रखने का विधान किया गया है।

जिनकल्प—आगमों में दो प्रकार के साधुओं का वर्णन मिलता है—१ जिनकल्प और २ स्थविर कल्प। जिनकल्प को स्वीकार करने वाले साधु मुनिराज कम से कम नौवें पूर्व के तीसरे आयारवत्थु नामक अध्ययन तक के ज्ञाता होते थे, वे पहाड़ की गुफाओं में या जंगल के वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर आत्म साधना में तल्लीन रहते थे, वे निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते थे। यदि कभी मार्ग में सिंह भी मिल जाता तब भी भयभीत होकर मार्ग नहीं त्यागते थे। वे अपने शरीर की जरा भी सार-संभाल नहीं करते थे,यदि आंख में तृण पड़ गया है,पैर में कांटा चुभ गया है, तो उसे भी कभी नहीं निकालते थे। वे न किसी भी साधु की सेवा करते थे और न दूसरे साधु से स्वयं अपनी सेवा करवाते थे। वे न कभी किसी को उपदेश देते थे और न शिष्य ही बनाते थे। वे सदा शहर से बाहर जंगल में ही रहते थे, मात्र भिक्षा लेने के लिए शहर या गांव में आते थे। जिनकल्पी मुनि के भी उपकरण रखने का विधान है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण तो उन्हें हर हालत में रखने होते हैं। क्योंकि दोनों जीव-रक्षा के साधन हैं। इसके अतिरिक्त, यदि वे लज्जा पर विजय नहीं पा सके हैं, तो शहर या गांव में जाते समय दो हाथ का छोटा-सा वस्त्र लपेट कर जा सकते हैं, परन्तु भिक्षा से लौटते ही उसे उतार कर एक तरफ रख देते हैं। उसका उपयोग मात्र लज्जा-निवारण के लिए ही कर सकते हैं, न कि शीत निवारणार्थ भी। इसी तरह यदि उनके हाथ की अंगुलियां में छेद पड़ते हों और

आहार लेने एवं करने में अयतना होती हो तो वे एक पात्र और उसके साथ एक झोली, पात्र पूंजने का वस्त्र एवं पात्र ढकने के लिए एक वस्त्र भी रख सकते हैं। इस तरह वे अधिक से अधिक सात उपकरण रख सकते हैं। यदि इतने न भी रखें तो कम से कम दो उपकरण तो रखने ही पड़ते हैं—१ मुखवस्त्रिका और २ रजोहरण। आज के दिगम्बर साधु भी दो उपकरण तो रखते ही हैं। रजोहरण की जगह मोरपिच्छी और दूसरा कमंडल रखते हैं। वे भी नग्न रहते हैं, हाथ में ही भोजन करते हैं, फिर भी हम उन्हें जिनकल्पी नहीं कह सकते। क्योंकि जिनकल्प की चर्या को वे धारण नहीं करते और उस क्रिया को धारण कर सकने की शक्ति, साहस एवं योग्यता भी उनमें नहीं है। भले ही वे नग्न रहें फिर भी स्थविर कल्पी ही हैं।

स्थविर कल्प—जो साधु शहर या गाँव में निवास करता है, उपदेश देता है, शिष्य बनाता है, अपनी शरीर की भी देख-भाल करता है, दूसरे साधु की सेवा भी करता है और दूसरे से सेवा करवाता भी है, मर्यादित वस्त्र-पात्र रखता है, उसे स्थविर कल्पी साधु कहते हैं। स्थविरकल्पी मुनि के लिए १४ उपकरण बताए गए हैं। १—मुख वस्त्रिका, २—रजोहरण, ३—प्रमार्जनिका,४—चोल-पट्टा—धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र—विशेष, ५ से ६—तीन चद्दर, ७—एक आसन,९ से ११—तीन पात्र, १२—झोली, १३—पात्र साफ करने का वस्त्र, १४—पानी छानने या पात्र ढकने का वस्त्र। इसमें वस्त्र लज्जा एवं शीत निवारण के लिए तथा पात्र अपने एवं अपने सहधर्मी साथियों के लिए आहार-पानी लाने के लिए रखे जाते हैं। परन्तु मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दोनों उपकरण मात्र जीव—रक्षा के लिए ही रखे जाते हैं। अहिंसा का परिपालन

करना साधु का मुख्य धर्म है। मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण अहिंसा के प्रतीक हैं, अतः ये जैन साधु के चिन्ह भी हैं। और हम यह भी देख चुके हैं कि वस्त्र-पात्र का परित्याग करने वाले जिन-कल्पी मुनि भी उक्त दो उपकरणों को रखते हैं। अतः यहां तक क्रमशः उक्त दोनों उपकरणों पर विस्तार से विचार करेंगे।

मुखवस्त्रिका—मुखवस्त्रिका का उपयोग दो तरह से है—एक जीवों की रक्षा के लिए और दूसरा चिन्ह रूप में। यह हम पहले बता ही चुके हैं कि जिनकल्पी मुनि भी—जो वस्त्र नहीं रखते, मुख-वस्त्रिका और रजोहरण रखते हैं। अतः ये दोनों उपकरण जैन मुनि की पहचान के साधन भी हैं। हम देखते हैं कि वैष्णव, शैव आदि परंपरा के सन्यासियों के अपने अलग-अलग चिन्ह होते हैं, जिनसे उन्हें संप्रदाय रूप से पहचानने में सरलता रहती है। इसी तरह मुखवस्त्रिका और रजोहरण जैन मुनि के चिन्ह हैं। लोगों में भली-भांति पहचान हो सके इसलिए बाह्य चिन्ह का भी महत्त्व माना गया है।*

परन्तु मुखवस्त्रिका का महत्त्व केवल चिन्ह के रूप में नहीं, बल्कि जीव—रक्षा की दृष्टि से है। चिन्ह तो और भी बताया जा सकता था। अतः जैनागमों में मुखवस्त्रिका का विधान जीव—रक्षा की दृष्टि से किया गया है। यह तो हम देख चुके हैं कि साधु पर सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों तरह के जीवों की रक्षा करने का उत्तरदा-यित्व है और इसी दायित्व को निभाने के लिए उसे खाने-पीने,

---

* "पच्चयत्थं च लोगस्स.................

..................लोगो लिंग—पओयणं ॥"

उत्तराध्ययन, २३/३२

उठने-बैठने, चलने-सोने आदि रूप से की जाने वाली प्रत्येक क्रिया में सावधानी रखनी होती है। इसी तरह भाषा वर्गणा के पुद्गलों का प्रयोग करते समय भी विवेक रखना ज़रूरी है। नहीं तो, बोली जाने वाली भाषा से अनेक प्राणियों के प्राणों का नाश हो जाएगा। जैनागमों के अनुसार लोक के सभी प्रदेशों पर जीव स्थित हैं। हम जिस स्थान में रहते हैं या घूमते-फिरते हैं, वहां के आकाश—मंडल में एक, दो नहीं, असंख्य जीव भरे पड़े हैं। वैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि थेकसस नाम के असंख्य जन्तु वायु—मंडल में पाए जाते हैं। ये प्राणी इतने छोटे होते हैं कि सूई के अग्र भाग पर एक लाख जीव समा सकते हैं। इस तरह वैज्ञानिक भी लोक में जीवों के अस्तित्व को मानते हैं। अस्तु, जैन धर्म एक काल्पनिक विचारों पर गतिशील धर्म नहीं है, प्रत्युत वैज्ञानिक धर्म है। जैन आगमों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि वायु स्वयं सजीव है। अतः यह सीधी-सी समझ में आने वाली बात है कि जब हम बोलते हैं तो उस समय मुख में से निकलने वाली गर्म वाष्प या वैज्ञानिक भाषा में कहें तो कार्बोलिक एडिस गैस युक्त वायु से वायु—मंडल में स्थित जीवों की हिंसा होती है। और थोड़ी-सी सावधानी एवं विवेक रख कर हम असंख्य जीवों की हिंसा से बच भी सकते हैं या यों कहिए कि उनके प्राणों को बचा सकते हैं। अतः ज़रा—सा प्रमाद या सांप्रदायिक आग्रह असंख्य प्राणियों के वध का कारण बन जाता है और ज़रा—सा विवेक लाखों—करोड़ों प्राणियों के जीवन-रक्षण का कारण बन सकता है।

मुख्य—वस्त्रिका का उपयोग जीवों की सुरक्षा के लिए है। क्योंकि मुख से निकलने वाली वायु गर्म और विषाक्त गैस युक्त होती है और वह पूरे वेग से निकलती है, इसलिए उसके द्वारा

वायु–काय के जीवों तथा वायु–मण्डल में स्थित अन्य जीवों की हिंसा होनी निश्चित है। अतः जब हम मुख पर मुखवस्त्रिका बांधे रखते हैं तो बोलते समय जो वायु मुख से बाहिर निकलेगी वह उक्त वस्त्र से टकरा कर ही बाहर आएगी, इसलिए बाहर आते–आते उसकी शक्ति क्षीण हो जाएगी और फिर वह जीवों को हानि नहीं पहुँचा सकेगी। अतः अहिंसा के परिपालक मुनि के लिए मुख-वस्त्रिका बान्धना आवश्यक है।

प्रश्न—आज के ऐटम और राकेट के युग में इतनी सूक्ष्म अहिंसा की क्या आवश्यकता है? जब कि मानव चन्द्र-लोक की ओर बढ़ रहा है। स्वर्ग और धरती को एक बनाने का स्वप्न ले रहा है। और जैन साधु अभी भी मुखवस्त्रिका के पीछे पड़ा हुआ है?

उत्तर—भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का महत्त्व आकाश और पाताल को नापने में नहीं, बल्कि प्रत्येक प्राणी की भलाई एवं रक्षा करने में रहा है। यह सत्य है कि सर्वज्ञों ने दुनिया के एक-एक अणु को देखा है, परखा है, चप्पे–चप्पे का विवेचन किया है, पर उन्होंने यह सारा कार्य जोवों की सुरक्षा को सामने रखकर किया है। स्वर्ग और नरक को नापने का उतना मूल्य नहीं है, जितना कि एक जीव को बचाने का है। यही कारण है कि तीर्थंकरों का उपदेश नरक–स्वर्ग के नाप–तौल के उद्देश्य से नहीं बल्कि प्राणी जगत की रक्षा रूप दया की दृष्टि से होता था*। उनका जीवन विश्व–हित के लिए था। अतः मुखवस्त्रिका का विधान भी उसी

*"सव्व–जग–जीव–रक्खण–दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं"
—प्रश्न व्याकरण सूत्र

विराट् भावना का परिचायक है।

भारतीय संकृति एवं पाश्चात्य संस्कृति तथा सभ्यता में महान् अन्तर है। पश्चिमी सभ्यता सिर्फ मानव जाति के भौतिक विकास को महत्त्व देती है और भारतीय सभ्यता मानव को अपने विकास के साथ दूसरे जीवों के अभ्युदय का ध्यान रखना भी सिखाती है। यही कारण है कि पश्चिम भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में इतना आगे वढ़ने पर भी मानव जीवन को सुखमय नहीं वना सका। आज संसार का हर मानव विज्ञान के भयानक साधनों–ऐटम आदि के त्रिस्फोटक कारनामों से भयभीत है। अहिंसा की उदात्त भावना से शून्य विज्ञान आज मानव को विनाश के कगारे पर ले आया है। ऐसी भयंकर परिस्थिति में एक मात्र अहिंसा ही मानव जाति का संरक्षण कर सकती है। उसको अपना कर ही मानव–जाति को विनाश से वचाया जा सकता है। यह अहिंसा ही भारत की अपनी विशेषता रही है और आज भी इसी भगवती अहिंसा के कारण भारत विश्व को शान्ति का सवक सिखा रहा है।

भारतीय सभ्यता में भी जैनों ने अहिंसा पर अधिक वल दिया है। मानव एवं वड़े–वड़े जीव–जन्तु का ही नहीं, छोटे से छोटे प्राणियों के प्राणों की सुरक्षा करने का ध्यान रखा है। विश्व के सभी जीवों के साथ दया एवं अहिंसा का व्यवहार करने के कारण ही वे विश्व वन्धुत्व या वात्सल्य की भावना को अपने जीवन में साकार रूप दे सके हैं। आज सन्त विनोवा ने जय गोपाल,जयराम, जयजिनेन्द्र,जयहिन्द आदि से-ऊपर उठकर जय जगत का नारा दिया है,फिर भी उनके जय जगत के नारे में विश्व के मानवों की जय की भावना रही हुई है, वे विश्व के मानवों को एक परिवार के रूप में देखने का स्वप्न ले रहे हैं। परन्तु जैनों ने इस से भी आगे वढ़कर

प्राणी जगत के सभी जीवों के सुख की कामना की है, सब से प्रेम जोड़ना चाहा है। अतः महावीर का विश्व-वन्धुत्व का संदेश जय जगत के नारे से अधिक उदार एवं व्यापक है। परन्तु आज 'खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे, मित्ती मे सव्व-भूएसु, वेरं मज्झं न केणई' के पाठ को जीवन में साकार रूप देने की महती आवश्यकता है। इसे आचरण में उतारकर जैन विश्व के सामने एक विशिष्ट आदर्श उपस्थित कर सकते हैं।

प्रश्न—मुखवस्त्रिका जीव-रक्षा के लिए लगाई जाती है, इसके पीछे कोई शास्त्रीय आधार भी है या केवल तर्क के बल पर ही ऐसा माना या किया जाता है?

उत्तर—यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आगमों में मुखवस्त्रिका रखने का विधान है और उसका मूल उद्देश्य जीव-रक्षा ही है। क्योंकि खुले मुंह वोली जाने वाली भाषा को सावद्य भाषा कहा गया है। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं—

भगवन्! शकेन्द्र सावद्य (हिंसा या पाप युक्त) भाषा बोलते हैं या निरवद्य (हिंसा या पाप रहित)?

भगवान—गौतम! देवेन्द्र दोनों तरह की भाषा बोलते हैं।

गौतम—भगवन्! एक व्यक्ति सावद्य और निरवद्य दोनों तरह की भाषा कैसे वोल सकता है?

भगवान—गौतम! जब देवेन्द्र उत्तरासन से मुख ढक कर वोलते हैं, तब वे निरवद्य भाषा बोलते हैं और जब मुख पर वस्त्र लगाए बिना बोलते हैं तब वे सावद्य भाषा बोलते हैं।* भाषा का

*भगवती सूत्र शतक १६, उ. २, सूत्र ५६८

द्वैविध्य बोलते समय मुख को आवृत करने एवं खुला रखने की प्रवृत्ति पर आधारित है। यह बात श्वेताम्बर परम्परा की सभी संप्रदायों को भी मान्य है कि खुले मुंह से बोली जाने वाली भाषा सावद्य है?

प्रश्न—बोलते समय मुखवस्त्रिका लगाना तो समझ में आ गया, परन्तु पूरे दिन-रात उसे मुंह पर बांधे रखने का क्या उद्देश्य, यह समझ में नहीं आता?

उत्तर—इस बात को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अहिंसा विवेक में है। ज़रा-सा प्रमाद या अविवेक हिंसा एवं पाप-बन्ध का कारण बन जाता है। अतः साधु को सदा सावधान एवं जागृत रहने का आदेश है। वह चलते समय रजोहरण को सदा हर क़दम पर अपने साथ रखता है। जब कि हर क़दम पर वह उसका उपयोग भी नहीं करता है, जहां तक कि अनेकों बार अपने गन्तव्य स्थान तक पहुंचने तक उसे उसका उपयोग करने का अवसर ही नहीं मिलता। फिर भी वह उसे सदा बगल में दबाये या कन्धे पर डाले रहता है। क्यों? इस क्यों का उत्तर एक ही है कि उसे पता नहीं रहता कि किस स्थान पर उसे उसकी आवश्यकता पड़ जाए। कभी-पूरे रास्ते में हलते-चलते जीव दिखाई नहीं देते हैं और कभी-कभी कई स्थान ऐसे आ जाते हैं कि रजोहरण से परिमार्जन किए बिना आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। अतः उसकी किस समय आवश्यकता पड़ जाए? इसका मालूम न होने से उसे सदा साथ रखने का विधान है। वैसे ही मुखवस्त्रिका भी सदा लगानी चाहिए, पता नहीं किस समय हमें बोलना पड़ जाए। इसके सिवाय किसी भी समय उबासी, खांसी, ढकार आदि आ सकते हैं और

उससे वायुकाय के जीवों की तथा अन्य जीवों की हिंसा हो जाती है। गोचरी लेते समय एक हाथ में झोली होती है, तथा दूसरे हाथ में पात्र, अतः आहार कम-ज्यादा लेने या न लेने के सम्बन्ध में बोलने में कठिनाई होती है; उस समय यदि मुखवस्त्रिका हाथ में रखी जाए तो उसे लगाया नहीं जा सकेगा और उसे खुले मुंह बोलना होगा। इसी तरह प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने के लिए गुरु-वन्दन करते समय "तिक्खुत्तो" या "इच्छामि खमासमणो" का पाठ बोलते हैं। उस समय दोनों हाथ जोड़ कर वन्दना करने की परम्परा है, अतः मुखपर वस्त्र रखने का विवेक नहीं रह सकेगा। इसी तरह "नमोत्थुणं" देते समय और 'इच्छामि खमासमणो' के १२ आवर्तन करते समय तथा श्रमण सूत्र बोलते समय यतना रख सकना कठिन ही नहीं, असम्भव है। यदि यतना करने जाएंगे तो उस क्रिया को विधि-पूर्वक नहीं कर सकेंगे और विधि का पालन करेंगे तो निरवद्य भाषा नहीं बोल सकेंगे। इस तरह सुप्तावस्था में भी कभी-कभी अचानक बोल उठते हैं, बड़बड़ाने लगते हैं, मुंह से श्वास लेने लगते हैं, और उस समय हाथ में रही हुई मुखवस्त्रिका को लगाना बिल्कुल असम्भव है। अतः मुखवस्त्रिका को हाथ में रखकर हम वीतराग की आज्ञा का पूरा-पूरा पालन नहीं कर सकते। संयम की अराधना के लिए यह ज़रूरी है कि मुखवस्त्रिका को मुख पर बांधा जाए और वह भी सदा के लिए। क्योंकि इससे लाभ ही है, नुकसान नहीं। यह ठीक है कि हम २४ घण्टे नहीं बोलते, परन्तु यह भी सत्य है कि मुख पर नहीं बाँधने से हम कई बार भूल से, प्रमाद से या भ्रान्तिवश खुले मुंह बोल सकते हैं। जैसा कि आज मूर्ति-पूजक समाज में होता है। वे भी खुले मुंह बोली जाने वाली भाषा को सावद्य मानते हैं, परन्तु मुखवस्त्रिका नहीं बांधने के

कारण वे वोलते समय यतना नहीं कर पाते। आज तो उक्त सप्रदाय में मुखवस्त्रिका केवल हाथ की शोभा मात्र या रूमाल के रूप में रह गई है। अस्तु, भाषा की सदोपता से वचने के लिए मुख पर मुखवस्त्रिका वांधनी चाहिए और सदा वांधे रखनी चाहिए।

प्रश्न—क्या सभी जैन साधु मुखवस्त्रिका का उपयोग करते हैं ?

उत्तर—हम यह देख चुके हैं कि महावीर के युग में जिनकल्प और स्थविर कल्प दो परम्पराएं थी और दोनों परम्परा के मुनि मुखवस्त्रिका को लगाते थे। परन्तु भगवान् महावीर के ६०९ वर्ष वाद जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्वर इन दोनों भागों में विभक्त हो गया। तव से दिगम्बर परम्परा में मुखवस्त्रिका का अस्तित्व नहीं रहा। उन्होंने वस्त्र मात्र का निषेध कर दिया और वर्तमान में विद्यमान आगमों को प्रामाणिक मानने से भी इन्कार कर दिया। अपने आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रंथों को ही वे प्रमाण स्वरूप मानते हैं। अतः उक्त संप्रदाय के मुनि मुखवस्त्रिका नहीं लगाते और न उनके श्रावक ही सामायिक करते समय लगाते हैं। वे खुले मुंह वोली जाने वाली भाषा को सावद्य भी नहीं मानते हैं। फिर भी प्रतिमा का पूजन करते समय मुख पर वस्त्र वांधने की परम्परा उनमें भी है, जिसे वे मुख-कोष कहते हैं। यह मुखकोष जीव-रक्षा के उद्देश्य नहीं, वल्कि मूर्ति पर थूक न गिर पड़े इसलिए लगाते हैं।

श्वेताम्वर परम्परा में तीन संप्रदाएं हैं—श्वे०स्थानकवासी, श्वे० मूर्तिपूजक और श्वे० तेरहपंथ। तीनों संप्रदाएं वर्तमान में उपलव्ध ३२ आगमों को प्रामाणिक मानती हैं और यह हम ऊपर वता चुके हैं कि आगमों में मुखवस्त्रिका का विधान है और तीनों

संप्रदाएं इस बात को स्वीकार करती हैं। फिर भी मान्यता में थोड़ा-सा अन्तर है। स्थानकवासी एवं तेरहपंथी साधु मुखवस्त्रिका मुंह पर बांधते हैं, परन्तु मूर्ति-पूजक साधु उसे मुंह पर नहीं बांधते। उनके यहां मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने की परम्परा है। वे भी इस बात को मानते हैं कि खुले मुंह नहीं बोलना चाहिए। बोलते समय या उबासी आदि लेते समय मुख पर मुखवस्त्रिका लगा लेनी चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्वेताम्बर परम्परा में तीनों संप्रदाएं मुखवस्त्रिका रखने के उद्देश्य में एकमत हैं। तीनों संप्रदायों की यह मान्यता है कि खुले मुँह बोलने से जीवों की हिंसा होती है और खुले मुंह बोली जाने वाली भाषा सावद्य भाषा कहलाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि स्थानकवासी और तेरहपंथी* साधु मुखवस्त्रिका को सदा मुख पर बांधे रखते हैं और मूर्तिपूजक उसे मुख पर न बांधकर हाथ में रखते हैं और बोलते समय लगाना आवश्यक मानते हैं।

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने से जीवों की भली—भांति यतना नहीं होती। कई बार प्रमादवश या परिस्थितिवश खुले मुंह बोला जाता है और वर्तमान में जो साधु हाथ में मुखवस्त्रिका रखते हैं, उनमें से बहुत ही कम साधु उसका बोलते समय उपयोग करने वाले मिलेंगे। देखा यह जाता है कि अधिकांश साधु खुले मुंह बोलते रहते हैं। वे मुखवस्त्रिका लगाकर बोलने का विवेक नहीं रखते। अतः मुखवस्त्रिका सदा लगाए रखने में लाभ ही है। और मुखवस्त्रिका शब्द से भी यह

*तेरहपंथ के साधुओं की मुखवस्त्रिका स्थानकवासी साधुओं की मुखवस्त्रिका की अपेक्षा लम्बाई में ज्यादा और चौड़ाई में कम होती है।

अर्थ स्पष्ट ध्वनित होता है—मुख पर लगाने का वस्त्र, न कि हाथ में रखने का वस्त्र। अतः मुखवस्त्रिका का उद्देश्य मुंह पर बांधे रखने पर ही पूरा होता है।

प्रश्न—बोलते समय मुखवस्त्रिका थूक से गीली हो जाती है, जिससे उस में संमूर्च्छिम जीव पैदा हो जाते हैं? अतः मुखवस्त्रिका सदा मुंह पर बांधे नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि इससे हिंसा होती है। इस बात को क्या आप मानते हैं?

उत्तर—प्रश्न हमारे मानने, नहीं मानने का नहीं है। देखना यह है कि आगम भी इस बात को मानते हैं या नहीं। अर्थात् थूक से संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है या नहीं? क्योंकि हम अपनी आंखों से उन जीवों को देख नहीं सकते, सिर्फ आगम (सर्वज्ञ) की आंखों से ही उन्हें देख-जान सकते हैं। अतः इसके लिए आगम के विधान को देखना जरूरी है।

यह बात सत्य है कि मुखवस्त्रिका थूक से गीली हो जाती है, परन्तु इस बात में सत्यता का अभाव है कि थूक से गीली हुई मुखवस्त्रिका में संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है। क्योंकि आगमों में कहीं भी ऐसा विधान नहीं मिलता। प्रज्ञापना सूत्र में संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति के १४ स्थान माने हैं। वे इस प्रकार हैं—१–विष्ठा, २–पेशाब, ३–कफ, ४–नाक का मल, ५–वमन, ६–पित्त, ७–पीप, ७–रक्त, ९–वीर्य, १०–वीर्य के शुष्क पुद्गल, ११–शव, १६–स्त्री-पुरुष संयोग, १३–नालियों और १४–अशुचि के सभी स्थान। उक्त चवदह स्थानों में कहीं यह नहीं बताया गया है कि थूक से संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा होता तो

थूक का नाम भी गिनाया जाता या उत्पत्ति-स्थानों की संख्या भी बढ़ा दी जाती। परन्तु ऐसा नहीं होने से यह स्पष्ट है कि थूक से संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। उक्त स्थानों में भी अन्त-र्मुहुर्त्त के बाद ही संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है, पहले नहीं।

यदि थूक से संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति मानी जाए तो मुखव-स्त्रिका को हाथ में रखने वाले भी उस हिंसा से बच नहीं सकेंगे। क्योंकि व्याख्यानादि प्रसंगों पर वे भी बोलते समय मुंह पर रखते हैं और उस समय बोलने से वह भी थूक से भीग जाती है, अतः उस समय उसमें संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति हो जाएगी। यदि यह कहा जाय कि हाथ में रखने से उसे सुखाया या धोया जा सकता है, इससे वह ज्यादा गंदी नहीं होने पाती। यह बात बांधने पर भी की जा सकती है, उसे बदलने एवं धोकर साफ रखने की पद्धति स्थानकवासी एवं तेरह-पंथी परम्परा में भी है। अतः थूक में संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति मानना आगम एवं सिद्धान्त से विरुद्ध है और ऐसे मान लिया जाए तो फिर मुखस्त्रिका रखने का सिद्धान्त ही ग़लत हो जाएगा। अतः इस तर्क में ज़रा भी सत्यता नहीं है कि थूक से संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—मुखवस्त्रिका कितनी लम्बी-चौड़ी हो ?

उत्तर—मूल आगम में तो इसका विधान देखने में नहीं आया। परन्तु, आवश्यक चूर्णि में इस सम्बन्ध में लिखा है कि मुखवस्त्रिका २१ अंगुल लम्बे, १६ अंगुल चौड़े वस्त्र की चतुष्कोण होनी चाहिए और इसकी आठ तहें बनानी चाहिएं।×

×एगवीसांगुलायामा, सोलसंगुलवित्थिणा,
चउक्कारसंजुया य, मुहपोत्तिया एरिसा होइ।
—आवश्यक चूर्णि

प्रश्न—मुखवस्त्रिका बांधने का विधान केवल साधु के लिए ही है या श्रावक (गृहस्थ) के लिए भी है ?

उत्तर—इस बात को हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि मुखवस्त्रिका का प्रयोजन भाषा की सावद्यता को रोकना है। साधु ने सदा के लिए सावद्य योग का त्याग कर रखा है, अतः उसे सदा मुखवस्त्रिका लगाए रखना चाहिए। परन्तु,गृहस्थ पूर्णतः सावद्य योग का त्यागी नहीं है। वह कुछ समय के लिए ही उसका त्याग करता है, कभी एक–दो या अधिक मुहूर्त्त के लिए या एक–दो दिन के लिए। उसकी इस क्रिया को सामायिक और पौषध के नाम से पहचाना जाता है। उक्त समय वह सावद्य योग का त्याग करता है, अतः उस समय उसे अवश्य ही मुखवस्त्रिका बांधनी चाहिए। आवश्यक-चूर्णि में लिखा है कि बिना मुखवस्त्रिका लगाए जो सामायिक या पौषध आदि करता है,उसे ११ सामायिक का प्रायश्चित्त आता है।❀

इस तरह आगम के पाठों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवों की रक्षा के लिए मुखवस्त्रिका सदा बांधे रखना चाहिए। अन्यथा खुले मुँह साधक को भाषा की सदोषता से बचना असम्भव है।*

रजोहरण—

प्रश्न—रजोहरण का क्या अर्थ है और यह किस उद्देश्य

❀मुहंणंतगेण कणोट्ठिया, विणा बंधइ जे को वि सावए।
धम्मकिरिया य करंति, तस्स इक्कारससामाइयस्स णं पायच्छित्तं भवइ।

—आवश्यक चूर्णि

*मुखवस्त्रिका के सम्बन्ध में अधिक शास्त्रीय जानकारी के लिए—१ 'शास्त्रार्थ नाभा, लेखक-शास्त्रार्थ-महारथी श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द जी म० और मुखवस्त्रिका-सिद्धि, लेखक-श्री रतनलाल जी डोसी, देखें।

से रखा जाता है ?

उत्तर—रजोहरण शब्द रजस्+हरण से बना है। रजस् संस्कृत का शब्द है। हिन्दी में इसे रज सकते हैं। अतः रज को हरण+दूर करने वाले उपकरण को रजोहरण कहते हैं। रज दो प्रकार की होती है—१—द्रव्य रज और २—भाव रज। द्रव्य रज में सभी तरह का कूड़ा—करकट आ जाता है। भाव रज का अर्थ है-आत्मा में अशुभ या पाप कर्म के कूड़े—करकट का आना। द्रव्य रज हवा के साथ जाती है और भाव रज अविवेक पूर्वक की गई क्रिया से आती है। जैसे रास्ते में चल रहे हैं। मार्ग में किसी एक स्थान पर इतने जीव—जन्तु गति कर रहे हैं कि उन्हें लांघ कर जाने का रास्ता ही नहीं है। उस समय दो ही उपाय है—१—यात्रा बन्द करके वापस लौट आएं। २—उनके ऊपर से चल पड़ें। यदि उनके ऊपर से गति करते हैं तो उन जीवों की हिंसा होती है और उक्त क्रिया से पाप कर्म की रज आत्मा के साथ चिपक जाती है। उस रज को दूर करने के लिए रजोहरण का उपयोग किया जाता है। अर्थात् रजोहरण से विवेक एवं यतना पूर्वक जीव—जन्तुओं को एक तरफ कर दिया जाता है। रजोहरण सुकोमल ऊन का बना होता है, अतः इस के स्पर्श से किसी जीव—जन्तु के प्राणों का नाश नहीं होता। इस तरह साधु रजोहरण से जीवों की रक्षा कर के पाप कर्म की रज से सहज ही बच जाता है और द्रव्य रज को साफ करने की बात तो स्पष्ट ही है।

आज कल लोग मकान साफ करने के काम को छोटा समझते हैं। परन्तु यह काम बड़ा महत्त्व—पूर्ण है। विवेक और यतना के साथ भाव—पूर्वक मकान को साफ करते—करते इन्सान कर्म रज को

भी साफ कर देता है। मकान में रजोहरण फेरते-फेरते यदि आलोचना का एकाध रजोहरण आत्मा या मन पर फेर दे तो वह कर्म रज को भी सर्वथा साफ कर देता है। यदि अभी परिणामों की इतनी उत्कृष्टता न भी आए तो भी विवेक-पूर्वक मकान को साफ करते हुए वह जोवों की यतना-रक्षा करके पाप कर्म से सहज ही वच सकता है। क्योंकि कूड़े-करकट के विखरे रहने से कई तरह के जीव-जन्तु आ जाते हैं,तथा मकड़ी आदि कई जन्तु उत्पन्न भी हो जाते हैं और असावधानी से अपने या दूसरे के शरीर से उनकी हिंसा होना भी सम्भव है। अतः मकान को साफ करने या रखने का अर्थ है—उस कचरे में स्थित जीवों को विवेक-पूर्वक सुरक्षित स्थान में रख देना और नए जीवों की उत्पत्ति को रोक देना। इस तरह विवेक-पूर्वक कचरे को निकालते हुए साधु द्रव्य और भाव दोनों तरह की रज को दूर करता है। यह विल्कुल ठीक कहा गया है कि कचरे को साफ करते हुए साधु ७ या ८ कर्मों की निर्जरा करता है या उनके वंधन को शिथिल करता है।

प्रश्न-रजोहरण किस चीज़ का बना होता है ?

उत्तर—हम अभी वता चुके हैं कि रजोहरण ऊन का वना होता है। साधारण नियम यही है। विशेष परिस्थिति में अर्थात् ऊन उपलब्ध न हो तो ऐसी स्थिति में अन्य वस्तु का भी वनाया जा सकता है। इसलिए स्थानांग सूत्र में ५ प्रकार का रजोहरण रखने का विधान है। वृहत्कल्प सूत्र के दूसरे उद्देश्य में भी ५ तरह का रजोहरण रखने की वात कही है। वह इस प्रकार है-१-औरिणक, २-औष्ट्रिक, ३-सानक, ४-पच्चारिणच्चिचअ और ६-मुंजपिच्छित।

औरर्ण—भेड़ के वालों को ऊर्ण कहते हैं। ऊर्ण या ऊन से वनाए

गए रजोहरण को औरिणक कहा जाता है। ऊंट के वालों से वनाए गए रजोहरण को औष्ट्रिक,सन अर्थात् पाट (Jute) से वने रजोहरण को सानक, ल्वज नाम के तृण को कूट कर उसकी छाल से वनाए गए रजोहरण को पच्चाशिच्चिअ और मूंज के रजोहरण को मुंजपिच्छित कहते हैं। साधारणतः ऊन के रजोहरण का प्रचलन है और इसी को अधिक प्रमुखता दी गई है।

प्रश्न—क्या सभी जैन साधु रजोहरण का उपयोग करते हैं ?

उत्तर—यह हम देख चुके हैं कि महावीर युग में जिन कल्प और स्थविर कल्प दो परम्पराएं थीं। और दोनों परम्पराओं में रजोहरण रखने का विधान मिलता है। जिन कल्प पर्याय को स्वीकार करने वाले मुनि वस्त्र का परित्याग कर देते थे, परन्तु रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण तो वे भी रखते थे। भगवान् महावीर के निर्वाण के वाद क़रीब ६०९ वर्ष तक अथवा दिगम्बर-श्वेताम्बर का सांप्रदायिक भेद खड़ा नहीं हुआ तब तक सभी जैन साधु रजोहरण रखते रहे हैं। वाद में दिगम्बर परम्परा में मुनियों ने रजोहरण रखना छोड़ दिया और उसकी जगह वे मोरपिच्छी रखने लगे। रजोहरण के उद्देश्य के परिपालन को अनिवार्यता को वे भी मानते हैं, ऐसा कहना चाहिए। और श्वेताम्बर परम्परा में स्थानकवासी, मूर्ति-पूजक और तेरहपंथी तीनों संप्रदाएं रजोहरण रखते हैं और उसके साथ एक छोटी रजोहरणी—जिसे परिमार्जनिका या वोल-चाल की भाषा में पूंजनी कहते हैं—भी रखते हैं। साध्वियें भी रजोहरण और रजोहरणी रखती है, अन्तर इतना ही है कि उनकी रजोहरणी लकड़ी की डंडी से रहित होती है।

प्रश्न—क्या रजोहरण सदा साथ रखना होता है या आवश्यकता पड़ने पर ?

उत्तर—हम यह देख चुके हैं कि मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण जीवों की रक्षा के लिए है, हिंसा से बचने के लिए है। साधु पूर्णतः हिंसा का त्यागी होता है। अतः उसके पूर्ण अहिंसक होने के चिन्ह भी हैं और हिंसा से बचने के साधन भी। इसलिए मुखवस्त्रिका की तरह इसे भी सदा साथ रखना जरूरी है। पता नहीं किस समय इसके उपयोग की आवश्यकता पड़ जाए। इसी कारण निशीथ-सूत्र में यह विधान किया गया कि साधु रजोहरण को छोड़कर अपने शरीर प्रमाण (साढ़े तीन साथ) भू-भाग से आगे न जाए। यदि विस्मृति से इस मर्यादा का उलंघन कर जाए तो उसके लिए एक उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। यह प्रायश्चित्त किसी जीव की हिंसा हो गई इसलिए नहीं है। यह प्रायश्चित्त प्रमाद एवं विस्मृति से दोष से बचकर आगे के लिए सदा सावधान रहने के लिए है।

प्रश्न—रात को रजोहरण बराबर साथ रखने की बात तो समझ में आ सके, वैसी है, परन्तु दिन में—जबकि सूर्य के प्रखर प्रकाश में मार्ग साफ-साफ दिखाई दे रहा है, ऐसी स्थिति में भी रजोहरण का बोझ उठाए-उठाए फिरना क्या उचित प्रतीत होता है ?

उत्तर—इसके लिए ज़रा चिन्तन को गहराई में ले जाने की आवश्यकता है। यह सत्य है कि सूर्य के उजेले में हम भली-भाँति जीवों का अवलोकन कर सकते हैं। इसलिए रात को जैसे रजो-हरण से भूभाग को साफ करते हुए गति करते हैं, वैसे ही दिन में

गति करने की आवश्यकता नहीं है और न कोई साधु अपने चलने के स्थान से लेकर गन्तव्य स्थान तक ऐसी चेष्टा करता है। सदा साथ रखने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि रास्ते में कई जगह ऐसी परिस्थिति भी आ जाती है कि सारा मार्ग जीव–जन्तुओं से आवृत होता है, उन्हें बचाकर आगे बढ़ना कठिन होता है, ऐसे समय के लिए रजोहरण का पास रखना आवश्यक है। रास्ते में ऐसा समय आएगा या नहीं या कब आएगा ? इसका निश्चय नहीं होने से रजोहरण को सदा साथ रखने का विधान किया गया, ऐसा लगता है। सूर्य के प्रकाश में सारी चीजें साफ–साफ परिलक्षित होती हैं, आंखें सब कुछ देखती–परखती हैं परन्तु रास्ते में आने वाले जीव–जन्तुओं को न आँखें दूर कर सकती हैं और न सूर्य का प्रकाश ही उन्हें मार्ग से हटा सकता है, उन्हें बिना कष्ट एवं पीड़ा पहुंचाए हटाने का काम रजोहरण ही कर सकता है। अतः उस का सदा साथ रखना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है और भूल या भ्रान्ति वश न रखने पर एक उपवास का प्रायश्चित्त उचित ही प्रतीत होता है। जैनेतर ग्रंथों में भी लिखा है कि शरीर में कष्ट होने पर भी सभी प्राणियों–जीव–जन्तुओं की संरक्षा हेतु रात–दिन सदा देखकर चलना चाहिए*। इसमें भी भूमि को देखकर चलने एवं जीवों की संरक्षा करने की बात कही है। दिन में देखकर चलने की बात तो ठीक है; परन्तु रात में अन्धेरा होने से मार्ग दिखाई नहीं देता और अन्य साधु–सन्यासियों की तरह जैन साधु दीपक आदि काम में लाते नहीं। अतः जीवों की संरक्षा करने के लिए

*संरक्षणार्थं जन्तूनां, रात्रावहनि वा सदा,,
शरीरस्यात्यये चैव, समीक्ष्य वसुधां चरेत्।
—मनुस्मृति अ. ६ श्लोक ६८.

यह आवश्यक है कि दिन में देख कर और रात में परिमार्जन करते हुए गति करें। यों तो जैन साधु रात में बाहर कभी कहीं जाते नहीं। शारीरिक आवश्यकताओं से निवृत्त होने के लिए दिन में अच्छी तरह देखे हुए स्थान में ही जाते-आते हैं, और उस भूभाग में गमन करते समय परिमार्जन करते हुए चलना आवश्यक है।

रजोहरण साधु की तरह गृहस्थ भी रख सकता है। परन्तु उसमें अन्तर इतना ही है कि साधु के लिए रजोहरण के डंडे पर वस्त्र लपेटने का विधान है—जिसे निसीथिया कहते हैं परन्तु गृहस्थ रजोहरण के डंडे पर वस्त्र नहीं लपेट सकता। दूसरा अन्तर यह है कि साधु रजोहरण को सदा-सर्वदा अपने पास रखता है, किन्तु गृहस्थ सामायिक-प्रतिक्रमण या पौषधादि धार्मिक क्रिया करते समय ही अपने पास रखता है। रजोहरण के साथ गृहस्थ एक रजोहरणी भी रखता है। श्राविकाएं—बहनें भी रजोहरणी रखती हैं, उनकी रजोहरणी में भी साध्वियों की तरह डंडी नहीं होती।

साधु-साध्वी के लिए सदा और श्रावक-श्राविका के लिए धार्मिक क्रिया करते समय रजोहरण और रजोहरणी रखना जरूरी है। रजोहरण का उपयोग चलते समय मार्ग में आने वाले जीवों की रक्षा के लिए है। रजोहरणी को रजोहरण की तरह सदा साथ रखने की आवश्यकता नहीं है। उसका उपयोग आसनादि का परिमार्जन करने तथा शरीर को खुजलाने के पूर्व परिमार्जन करने के लिए है। अतः उसका उपयोग स्थान पर रहते समय किया जाता है।

इस तरह हम देख चुके हैं कि साधना जीवन का प्रकाशमान

पृष्ठ है। उसमें प्रमाद, ग़फलत एवं अविवेक को ज़रा भी स्थान नहीं है। उसकी प्रत्येक क्रिया विवेक एवं यतना पूर्वक होती है और वह अपने उपकरण या साधनों का उपयोग भी जीवों की सुरक्षा एवं संयम–पालन के लिए करता है। अतः आवश्यकता-नुसार रखे गए उपकरण उसकी साधना में बाधक नहीं प्रत्युत सहायक ही होते हैं। हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि साधना के पथ पर गतिशील साधक को थोड़े–बहुत उपकरण ग्रहण करने ही होते हैं। संसार में ऐसा कोई भी साधु नहीं था और न वर्तमान में है, जो बाह्य उपकरणों के बिना संयम साधना साध सका हो या साध रहा हो। अस्तु, निर्मम भाव से वस्त्र पात्र रजोहरण आदि उपकरण रखना परिग्रह नहीं है।

चौबीस तीर्थंकर

त्रयोदश अध्याय

प्रश्न—तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

उत्तर—तीर्थ तैरने के साधन को कहते हैं। संसार सागर से तैरने के साधनों का जो उपदेश करता है, सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन त्रिविध मुक्ति-मार्ग के साधनों का संसार में प्रसार करता है उसको तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थ शब्द का अर्थ धर्म भी होता है। इसलिए जैनशास्त्रों में अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि धर्मों को भी तीर्थ का रूप दिया गया है। वैष्णवों के स्कन्ध-पुराण, काशी खण्ड, अध्याय ६ में कहा है—

सत्यं तीर्थं, क्षमा तीर्थं, तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं, तीर्थमार्जमेव च॥
दानं तीर्थं, दमस्तीर्थं, सन्तोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं, तीर्थं च प्रियवादिता॥
ज्ञानं तीर्थं, धृतिस्तीर्थं, तपस्तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं, विशुद्धिर्मनसः परा॥

अर्थात्—सत्य, क्षमा, इन्द्रियदमन, जीवदया, सरलता, दान, दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धृति और तपस्या तीर्थ हैं। तथा सब तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ है—मन की शुद्धि।

यहां मन की शुद्धि ही श्रेष्ठ तीर्थ माना गया है और मनः-

शुद्धि का मूल कारण है–धर्म। इसलिए जैन दर्शन में धर्म को भी तीर्थ माना गया है।

धर्म मानव को दुर्गति से निकाल कर सद्गति में पहुँचाता है। मानव के आधि, व्याधि और उपाधि रूप त्रिताप को उपशान्त करता है। तीर्थंकर अपने समय में ऐसे धर्मतीर्थ की स्थापना करते है, उसका उद्धार करते हैं अतः वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

धर्म का आचरण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक (जैन गृहस्थ) और श्राविका (जैन महिला) रूप चतुर्विध संघ को भी धार्मिक गुणों की अपेक्षा से तीर्थ कहा जाता है। अतः इस चतुर्विध धर्म–संघ की स्थापना करने वाले महापुरुषों को भी तीर्थंकर कहा गया है।

तीर्थंकर अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य के धारी होते हैं। ये साक्षात् भगवान् या ईश्वर होते हैं। जब तीर्थंकर माता के गर्भ में आते हैं तो इन की माता को १४–शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं। तीर्थंकरों के गर्भावतरण, जन्माभिषेक, जिन-दीक्षा, केवल ज्ञान की प्राप्ति और निर्वाण-प्राप्ति, ये पांच कल्याणक होते हैं। ये जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों के धारक होते हैं। जन्म से ही इनका शरीर कान्तिमान होता है। इन के निश्वास में अपूर्व सुगन्धि रहती है। इन के शरीर का रक्त और मांस सफैद होता है। इन की वाणी को पशु भी समझ लेते हैं। जहां–जहां इन का विहार होता है, वहां–वहां रोग, वैर, महामारी, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष आदि संकट नहीं होने पाते। तीर्थंकर भगवान के पधारने के साथ ही देश में सर्वत्र शान्ति छा जाती है।

तीर्थंकरों का जीवन बड़ा अद्भुत होता है। उनके समवसरण (धर्म-सभा) में अहिंसा का अखण्ड साम्राज्य होता है। सिंह और

मृग आदि परस्पर-विरोधी पशु भी प्रेम से एक साथ बैठते हैं। न सिंह में मारक-वृत्ति रहती है और न मृग में भयवृत्ति। अहिंसा के दिवाकर के सामने हिंसा-अन्धकार का अस्तित्व भला कैसे रह सकता है? स्वर्ग-लोक के देवता भी उनके चरण-कमलों में श्रद्धा-भक्ति के साथ नतमस्तक होते हैं। तीर्थंकर जहां विराजते हैं, आकाश में देवता दुन्दुभी बजाते हैं और गन्धोदक की वर्षा करते हैं।

तीर्थंकर का जीवन बड़ा तेजस्वी और प्रतापी जीवन होता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिक कर्मों को क्षय करने के अनन्तर ये केवल ज्ञान को प्राप्ति करते हैं। केवल ज्ञान और केवल दर्शन के द्वारा तीन लोक और तीन काल की सब बातें जानते हैं, देखते हैं। संसार का कोई भी तत्त्व इन के ज्ञान से अछूता नहीं रहता। तदनन्तर ये अपना शेष समस्त जीवन संसार के प्राणियों का उद्धार करने में व्यतीत करते हैं। कुप्रथाएं, कुरूढिएं, अन्याय और अनीति को हटाकर सत्य, अहिंसा पूर्ण वातावरण तैयार करते हैं, संसार को ज्ञान की दिव्य ज्योति से ज्योतित कर डालते हैं। जब तीर्थंकर भगवान की आयु थोड़ी शेष रह जाती है, तब योगों का निरोध करके बाकी बचे, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष् इन चार अघातिक कर्मों को भी नष्ट कर देते हैं। जब सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब इनको मुक्ति की प्राप्ति होती है। इनका शरीर यहीं छूट जाता है और अपने ज्ञानादि निज गुणों से युक्त केवल शुद्ध आत्मा स्वाभाविक उर्ध्वगमन के द्वारा लोक के ऊपर अग्रभाग में जा विराजमान होता है। उस समय ये सिद्ध, परमात्मा बन जाते हैं।

प्रश्न—तीर्थंकरों के जीवन में जो बातें बतलाई गई

हैं, वे कुछ असंभव सी प्रतीत होती हैं। कैसे माना जाए कि ये सब सत्य हैं ?

उत्तर—उपराउपरी देखने से ये बातें असम्भव और असंगत अवश्य प्रतीत होती है। परन्तु आध्यात्मिक योग के सामने ये कुछ भी असम्भव नहीं है। आजकल भौतिक विद्या के चमत्कार ही कुछ कम आश्चर्य-जनक नहीं हैं। तव आध्यात्मिक विद्या के चमत्कारों का तो कहना ही क्या है ? आज के साधारण योगी भी कभी-कभी अपने चमत्कारों से मानव-बुद्धि को हतप्रभ कर देते हैं, तो फिर तीर्थंकर तो योगी राज हैं। उनके आध्यात्मिक वैभव की तुलना तो किसी से की ही नहीं जा सकती। अतः तीर्थंकरों के जीवन में जो बातें वताई जाती हैं, वे सर्वथा सत्य हैं, उन में असत्यता जैसी कोई चीज़ नहीं है।

दूसरी बात, आज का मनुष्य कूपमण्डूक है, उसे समुद्र की गहराई, लम्बाई तथा चौड़ाई का कैसे आभास हो सकता है ? वासना और कामना का दास मनुष्य अध्यात्मयोग की उच्चता के चमत्कारों का कैसे अनुमान लगा सकता है ? अभी की बात है, वनस्पति में कोई जीव नहीं मानता था, विमानों को एक कल्पना मात्र समझा जाता था, किन्तु जब विज्ञान ने अंगड़ाई ली और उन्नति ने चरण आगे बढाए तो ये सब असंभव बातें भी संभव बन गईं। भला चन्द्रलोक जाने का किसी को कभी स्वप्न भी आया था ? पर आज उसके लिए सक्रिय क़दम उठाए जा रहे हैं। अतः इस समय जो समझ में नहीं आ रहा है, बुद्धि जिस को इस समय स्वीकार नहीं करती, वह सब असम्भव है, ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए। भविष्य के गर्भ में बहुत कुछ छुपा पड़ा है,जो योग्य साधन मिलने पर अभी हम ने समझना है। न्यूटन ने ठीक ही कहा

था कि मैं तो अभी ज्ञान-सागर के किनारे खड़ा हूं, अभी तो मेरे हाथ सिप्पियां लगी हैं। मोती तो मैंने चुनने हैं। भाव यह है कि मनुष्य का ज्ञान अभी वहुत अधूरा है, और पूर्णता प्राप्त किए विना किसी तथ्य को असम्भव नहीं कह देना चाहिए।

प्रश्न—क्या तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार होते हैं ?

उत्तर—जैन दर्शन अवतारवादी दर्शन नहीं है। भगवान् अवतार लेता है, और वह यथा-समय त्रस्त संसार पर दया लाकर वैकुण्ठ धाम से संसार में चला आता है, किसी के यहां जन्म लेता है और अपनी लीला दिखा कर वापिस वैकुण्ठधाम में लौट जाता है। ऐसी मान्यता जैन दर्शन की नहीं है। अतः तीर्थंकर परमात्मा का अवतार रूप नहीं होते। वल्कि संसारी जीवों में से ही कोई जीव आध्यात्मिक उन्नति एवं प्रगति करता हुआ इतना ऊंचा उठ जाता है कि अन्त में एक दिन वह तीर्थंकर पद पा लेता है। अतः तीर्थंकर को ईश्वर का अवतार नहीं समझना चाहिए।

प्रश्न—तीर्थंकरों में और अवतारों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव कारणवश जो विविध रूप धारण करते हैं, वैदिक परम्परा में वे अवतार कहलाते हैं। जैसे ब्रह्मा ने चन्द्रमा का, विष्णु ने राम, कृष्ण का, और महादेव ने दुर्वासा ऋषि का अवतार लिया था। परन्तु जैन तीर्थंकर किसी देव विशेष के अवतार नहीं होते। जो भी जीव पवित्र अहिंसा, संयम, तपस्या द्वारा तीर्थंकर वनने के योग्य वन जाते हैं, वे मनुष्य रूप से पैदा होकर युवावस्था में जैन दीक्षा लेते हैं, साधु बनते हैं, अखण्ड धर्म-साधना द्वारा केवल ज्ञानी बन कर साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघ की स्थापना करने के अनन्तर तीर्थंकर

कहलाते हैं। एवं अहिंसा, संयम और तप के अध्यात्म उपदेश द्वारा संसारी लोगों को तार कर स्वयं मोक्ष चले जाते हैं। फिर कभी अवतार नहीं लेते। अतः अवतारों में और तीर्थंकरों में बहुत अन्तर है।

प्रश्न---तीर्थंकर कब होते हैं ?

उत्तर—जैन दर्शन ने उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के नाम से काल के दो विभाग किए हैं। इस उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का कालमान असंख्य वर्ष होते हैं। असंख्य का अर्थ है—जिसकी अंकों द्वारा गणना न की जा सके। उत्सर्पिणी काल में रूप, रस, गंध, स्पर्श, आयुष्य, शरीर और बल आदि वैभव क्रमशः बढ़ता चला जाता है, जब कि अवसर्पिणी काल में उक्त सब घटते चले जाते हैं। सर्प की पूंछ से उसके मुख की ओर आएं तो सर्प की मोटाई बढ़ती जाती है और मुख से पूंछ की ओर आएं तो वह घटती चली जाती है। यही दशा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की होती है। उत्सर्पिणी काल में पदार्थों के रूप, रस आदि धीरे-धीरे बढ़ते जाते हैं और अवसर्पिणी काल में वही धीरे-धीरे घटने आरंभ हो जाते हैं।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों के ६-६ विभाग होते हैं। इन में प्रत्येक विभाग को आरक कहा जाता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के काल चक्र की एक पहिए के रूप में कल्पना करें, तो इन बारह विभागों को १२ आरे कह सकते हैं। एक काल के ६ आरे पूर्ण होने पर दूसरे काल के ६ आरों का क्रमशः आरम्भ होता है। इस समय भारत वर्ष आदि क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल का पांचवाँ आरा चल रहा है। वैदिक परम्परा में इस आरे को कलियुग कहते हैं।

तीर्थंकर भगवान् प्रत्येक काल-चक्र के तीसरे और चौथे आरे

में होते हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का जब तीसरा आरा चालू होता है, तब भारत वर्ष आदि क्षेत्रों में तीर्थंकर होने आरम्भ हो जाते हैं और जब इन का चौथा आरा समाप्ति पर होता है,तब उक्त क्षेत्रों में तीर्थंकरों का भी अभाव हो जाता है। वैसे पांच महाविदेह* क्षेत्रों में २० तीर्थंकर सदा विद्यमान रहते हैं, जिन्हें जैन जगत में २० विहरमाण कहा जाता है।

इसके अतिरक्ति प्रकृति का यह अटल नियम है कि जब अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है, अधर्म धर्म का वाना पहन कर जनता को बन्धन में बांध लेता है, सर्वत्र अधार्मिकता तथा पापाचार का भीषण दानव अपना साम्राज्य स्थापित कर लेता है, तब कोई न कोई महापुरुष समाज, राष्ट्र तथा विश्व का उद्धार करने के लिए जन्म लेता है। जन्म लेकर समाज तथा राष्ट्र की तात्कालिक दूषित स्थितियों का सुधार करता है, तात्कालिक धार्मिक तथा सामाजिक भ्रांत रूढ़ियों को समाप्त करके मानव-जगत की दलित मानवता को जीवन-दान देता है। अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी को जन-गण में प्रवाहित करता है। जैन दर्शन की दृष्टि में वह महापुरुष तीर्थंकर का ही जीता-जागता स्वरूप होता है। जैन दर्शन और वैदिक दर्शन में यही अन्तर है कि जैन दर्शन उसे ईश्वर का अवतार नहीं कहता है, और उसे शुद्धि

*जम्बू-द्वीप में एक महाविदेह, धातकी-खण्ड में दो, और अर्ध-पुष्कर द्वीप में दो, इस प्रकार सब मिला कर पांच महाविदेह होते हैं। इन पांचों में तीर्थंकर सदा विराजमान रहते हैं। जम्बूद्वीप आदि भूखण्डों का विवरण प्रस्तुत पुस्तक के 'लोक-स्वरूप' इस अध्याय में दिया गया है। पाठक उसे देखने का कष्ट करें।

की चरम दशा को प्राप्त एक मनुष्य मानता है, किन्तु वैदिक दर्शन उसे ईश्वरीय अवतार स्वीकार करता है। हां, तो इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकर उस समय हुआ करते हैं, जब समाज और राष्ट्र में अधर्म बढ़ जाता है, और धर्म की अत्यधिक न्यूनता हो जाती है, तथा पापाचार का दैत्य सर्वत्र कोहराम मचा देता है।

प्रश्न—उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल–चक्र के तीसरे और चौथे आरे में जो तीर्थंकर होते हैं, उन सब में एक ही आत्मा होती है या वे सब पृथक्–पृथक् होते हैं? और उन की संख्या कितनी है?

उत्तर—प्रत्येक कालचक्र में जो तीर्थंकर होते हैं, वे सब के सब पृथक्–पृथक् होते हैं और सब की आत्मा भी पृथक्–पृथक् होती है। जैन दर्शन ब्रह्मवादियों की तरह विश्व में एक ही आत्मा नहीं मानता है। जैन दृष्टि से आत्माएं अनन्त हैं, और उन में से जो आत्मा तीर्थंकर–पद–योग्य साधन–सामग्री जुटाती है, तीर्थंकरत्व की भूमिका तैयार कर लेती है, वही आत्मा तीर्थंकर बन पाती है। और प्रत्येक कालचक्र में भारत वर्ष क्षेत्र की दृष्टि से २४ तीर्थंकर होते हैं, इस से कम ज्यादा नहीं।

प्रश्न—प्रत्येक कालक्र में २४ ही तीर्थंकर क्यों होते हैं? २३ या २५ क्यों नहीं होने पाते?

उत्तर—क्षेत्रविशेष को लेकर प्रत्येक कालचक्र में २४ ही तीर्थंकर होते हैं, २३ या २५ नहीं हो सकते, ऐसा किसी शक्ति–विशेष की ओर से कोई प्रतिवन्ध नहीं लगा हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि केवल–ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखा कि अतीत के प्रत्येक कालचक्र में २४ तीर्थंकर हुए हैं और भविष्य में भी २४ होंगे, इसलिए

उन्होंने कह दिया कि प्रत्येक कालचक्र में २४ तीर्थंकर होते हैं। यदि उन के ज्ञान में तीर्थंकर कम ज़्यादा होते तो वे कम ज़्यादा कह देते। परन्तु कम ज़्यादा तीर्थंकर उन्होंने अपने ज्ञान में नहीं देखे, इसलिए उन्होंने कम ज़्यादा न बताकर २४ ही तीर्थंकर बतलाए हैं।

तीर्थंकर २४ ही होते हैं, कम ज़्यादा नहीं: यह प्राकृतिक नियम है। प्रकृति के नियम या स्वभाव में मनुष्य का कोई दखल नहीं हो सकता। वह तो अपने ढंग से पूर्ण होकर ही रहता है। यदि कोई कहे कि आग उष्ण क्यों होती है? तो आप इस का क्या उत्तर देंगे? यही न कि यह उस का स्वभाव है? धूंयां ऊपर की ओर ही क्यों जाता है? नीचे की ओर क्यों नहीं जाता? इस का समाधान भी यही करना होगा कि यह उसका स्वभाव है। ऐसे ही प्रकृति-स्वभाव के अनुसार अतीत कालचक्र में २४ तीर्थंकर हुए हैं और अनागत कालचक्र में भी २४ तीर्थंकर होंगे। इसीलिए कहा गया है कि प्रत्येक कालचक्र में तीर्थंकर २४ होते हैं।

प्रश्न—२४ तीर्थंकर कौन-कौन से हैं? उन के नाम बताएं?

उत्तर—२४ तीर्थंकरों के शुभ नाम निम्नोक्त हैं:—

१. श्री ऋषभदेव जी (आदिनाथ जी,)
२. ,, अजितनाथ जी,
३. ,, संभवनाथ जी,
४. ,, अभिनन्दननाथ जी,
५. ,, सुमतिनाथ जी,
६. ,, पद्मप्रभ जी,
७. ,, सुपार्श्वनाथ जी,
८. श्री चन्द्रप्रभ जी,
९. ,, सुविधि नाथ जी,
१०. ,, शीतलनाथ जी,
११. ,, श्रेयांसनाथ जी,
१२. ,, वासुपूज्य जी,
१३. ,, विमलनाथ जी,
१४. ,, अनन्तनाथ जी,

१५. श्री धर्मनाथ जी,
१६. ,, शान्तिनाथ जी,
१७. ,, कुन्थुनाथ जी,
१८. ,, अरहनाथ जी,
१९. ,, मल्लीनाथ जी,
२०. श्री मुनिसुव्रत जी,
२१. ,, नमिनाथ जी,
२२. ,, अरिष्टनेमि जी,
२३. ,, पार्श्वनाथ जी,
२४. ,, महावीर जी,

प्रश्न—२४ तीर्थंकरों का कालकृत कितना-कितना अन्तर है ?

उत्तर—इस समय अवसर्पिणी काल चल रहा है। इससे पहले उत्पर्पिणी काल होता है। उत्सर्पिणी काल की चौवीसी के अन्तिम २४वें तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् अठारह× कोड़ाकोड़ी❀ सागरोपम* व्यतीत हो जाने पर भगवान आदिनाथ का जन्म हुआ था। इन की आयु ८४ लाख× पूर्व की थी। इन से ५० लाख करोड़ सागरोपम के अनन्तर भगवान अजितनाथ का जन्म हुआ।

×पहला आरा ४ कोड़ाकोड़ी सागरोपम का दूसरा ३ कोड़ाकोड़ी सागरोपम का और तीसरा आरा २ कोड़ाकोड़ी सागरोपम का इस प्रकार ९ कोड़ाकोड़ी उत्सर्पिणी काल का, और ९ कोड़ाकोड़ी सागरोपम अवसर्पिणी काल का, इन को मिलाकर, छहों आरों के १८ कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक तीर्थंकर के उत्पन्न होने का उत्कृष्ट अन्तर होता है।

❀करोड़ की संख्या को करोड़ की संख्या से गुणा करने पर जो गुणनफल आवे उसे कोड़ाकोड़ी (कोटाकोटि) कहते हैं!

*सागरोपम शब्द की व्याख्या प्रस्तुत पुस्तक के इसी अध्याय में आगे दी जा रही है।

×७० लाख, ५६ हजार वर्ष को एक करोड़ से गुणा करने पर ७०५६०००००००००० वर्षों का एक पूर्व माना जाता है।

इनकी आयु ७२ लाख पूर्व की थी। इनसे ३० लाख करोड़ सागरोपम के पश्चात् श्री संभवनाथ जी हुए। इन की आयु ६० लाख पूर्व की थी। तत्पश्चात् १० लाख करोड़ सागरोपम के व्यतीत हो हो जाने पर श्री अभिनन्दन नाथ जी का जन्म हुआ। इन की आयु ५० लाख पूर्व की थी। तदनन्तर ६ लाख करोड़ सागरोपम बीत जाने पर श्री सुमतिनाथ जी का जन्म हुआ। इन की आयु ४० लाख पूर्व की थी। फिर ६० हज़ार करोड़ सागरोपम के पश्चात् श्री पद्मप्रभ जी हुए। इन की आयु ३० लाख पूर्व की थी। इन के बाद ६ हज़ार करोड़ सागरोपम बीत जाने पर श्री सुपार्श्वनाथ जी हुए। इनकी आयु २० लाख पूर्व की थी। इनके अनन्तर ६०० करोड़ सागरोपम व्यतीत होने पर श्री चन्द्रप्रभ जी हुए। इन की आयु १० लाख पूर्व की थी। इनके पश्चात् ६० करोड़ सागरोपम बीत जाने पर श्री सुविधिनाथ जी हुए। इनकी आयु दो लाख पूर्व की थी। इनके पश्चात् ६ करोड़ सागरोपम व्यतीत हो जाने पर श्री शीतलनाथ जी हुए। इन की आयु एक लाख पूर्व की थी। इन के पश्चात् एक अरब, छयासठ लाख, २६ हज़ार वर्ष कम एक करोड़ सागरोपम बीत-जाने पर श्री श्रेयांस नाथ जी पैदा हुए। इन की आयु ८४ लाख वर्ष की थी। फिर ६४ सागरोपम के बाद श्री वासुपूज्य जी हुए। इन की आयु ७२ लाख वर्ष की थी। इनके पश्चात् ३० सागरोपम के व्यतीत हो जाने पर श्री विमल नाथ जी हुए। इन की आयु ६० लाख वर्ष की थी। इनके अनन्तर नौ सागरोपम बीत जाने पर श्री अनन्त नाथ जी हुए। इन की आयु ३० लाख वर्ष की थी। इन के पश्चात् चार सागरोपम बीत जाने पर श्री धर्मनाथ जी हुए। इन की आयु १० लाख वर्ष की थी। फिर पौन-पल्य कम तीन सागर बीत जाने पर श्री शान्ति नाथ जी हुए।

आगे चलकर सर्वप्रथम घोड़े पर चढ़ने आदि की कला सिखाई जाने लगी। पहले माता–पिता सन्तान को जन्म देकर मर जाते थे, किन्तु आगे चलकर प्रकृति के इस नियम में अन्तर आ गया, और माता–पिता अपने बाल–बच्चों का पालन पोषण करने लगे। पहले नदियों को पार करना किसी को नहीं आता था, आगे चलकर इस कमी को भी दूर किया गया। नाव, पुल, आदि द्वारा लोगों को नदी पार करने की कला सिखाई गई।

पहले कोई अपराध नहीं करता था, अतः उस समय दण्ड-व्यवस्था की भी आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जब अपराध होने लगे तो दण्ड-व्यवस्था की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी। पहले तो कल्पवृक्षों से समस्त ऐच्छिक पदार्थ प्राप्त हो जाते थे, और किसी से किसी प्रकार का कोई विवाद नहीं होता था, सब लोग सप्रेम और सानन्द रहते थे, किन्तु जब कल्पवृक्ष फल कम देने लग गए और मनुष्य एक दूसरे से टकराने लगे तो दण्ड व्यवस्था कर के उस टकराव को शान्त किया जाने लगा। सर्व प्रथम 'हा' कह देना ही अपराधी के लिए काफी था। इसी शब्द से वह वज्राहत की भान्ति अपने को दण्डित समझता था, बाद में जब इतने दण्ड से काम चलना बन्द हो गया तो "हा, अब ऐसा काम मत करना" यह दण्ड निर्धारित करना पड़ा, किन्तु आगे चलकर जब इतने से भी काम नहीं चला तो, 'धिक्कार' पद और जोड़ा गया। इस तरह कुलकरों ने मनुष्य की तात्कालिक कठिनाइयों को दूर करके सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया।

सामाजिक व्यवस्था को क़ायम करने वाले कुलकर १५ माने जाते हैं। पन्द्रहवें कुलकर का नाम श्री नाभिराय था। इन की पत्नी का नाम मरुदेवी था। इन से ऋषभदेव का जन्म हुआ।

यही ऋषभदेव इस युग में जैन धर्म के आद्यप्रवर्तक कहलाए। इन के समय में ही ग्राम, नगर आदि की व्यवस्था हुई। गांव कैसे वसाने? नगरों का निर्माण कैसे करना? गर्मी और सर्दी से वचने के लिए घर कैसे वनाने? आदि सभी जीवनोपयोगी कार्य जनता को इन्होंने सिखलाए थे। इन्होंने लौकिक शास्त्र, और व्यवहार की शिक्षा दी। और इन्होंने ही अहिंसा धर्म की स्थापना की। इसलिए इन को आदि ब्रह्मा भी कहा जाता है।

भगवान ऋषभदेव ने जनता को सभी आवश्यक वातों का वोध कराया। इन्होंने प्रजा को कृषि (खेती करने की विद्या), असि (युद्ध–कला), मसि (लिखने आदि की विद्या), शिल्प, वाणिज्य और विद्या (अध्ययन तथा अध्यापन) इन ६ कर्मों द्वारा आजीविका करना सिखलाया। इसलिए इन्हें प्रजापति भी कहा जाता है। इन्होंने सामाजिक व्यवस्था को चलाने के लिए मानवजाति को तीन भागों में विभक्त किया—क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। जो लोग अधिक शूरवीर थे, शस्त्र चलाने में कुशल थे, संकट काल में प्रजा की रक्षा कर सकते थे, अपराधियों को दण्ड देकर राष्ट्र की व्यवस्था कर सकते थे,उन्हें क्षत्रिय पद दिया गया। जो व्यापार में, व्यवसाय में,कृषि–खेती वाड़ो करने,कराने में और पशु–पालन आदि में निपुण थे, वे वैश्य कहलाए। तथा जिन्होंने सेवावृत्ति स्वीकार की, उन्हें शूद्र की संज्ञा दी गई। ब्राह्मण वर्ग या वर्ण की स्थापना भगवान के सुपुत्र महाराजा भरत ने अपने चक्रवर्ती काल में की थी। जो अपना जीवन ज्ञानाभ्यास में लगाते थे, प्रजा को शिक्षा दे सकते थे। समय–समय पर उसे सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते थे, उस वर्ग को ब्राह्मण पद अर्पित किया गया था। भगवान ऋषभदेव ने वर्णों की स्थापना में कर्म की महत्ता को स्थान दिया

इन की आयु एक लाख वर्ष की थी। फिर आधा पल्योपम बीत जाने पर श्री कुन्थुनाथ जी हुए। इन की आयु ९५ हज़ार वर्ष की थी। फिर एक करोड़ और एक हज़ार वर्ष कम पाव पल्योपम बीत जाने पर श्री अरहनाथ जी का जन्म हुआ। इन की आयु ८४ हज़ार वर्ष की थी। फिर एक करोड़ और एक हज़ार वर्ष बीत जाने पर श्री मल्लीनाथ जी का जन्म हुआ। इन की आयु ५५ हज़ार वर्ष की थी। फिर ५४ लाख वर्ष बीत जाने पर मुनि सुव्रत जी हुए। इनकी आयु ३० हजार वर्ष की थी। फिर ६ लाख वर्षों के बाद श्री नमिनाथ जी हुए। इन की आयु दस हजार वर्ष की थी। फिर ५ लाख वर्षों के बाद श्री अरिष्टनेमि जी हुए। इन की आयु एक हज़ार वर्ष की थी। फिर ८४ हजार वर्ष बीत जाने पर श्री पार्श्वनाथ जी हुए। इन की आयु सौ वर्ष की थी। तत्पश्चात् २५० वर्षों के बाद श्री महावीर स्वामी उत्पन्न हुए। इन की आयु ७२ वर्ष की थी।

प्रश्न—कौन तीर्थंकर कहां उत्पन्न हुआ ? तीर्थंकरों की जीवन-सम्बन्धी कुछ जानकारी कराएं ?

उत्तर—प्राचीन धर्म-ग्रंथों में चौबीस ही तीर्थंकरों के जीवन-चरित्रों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। परन्तु यहां विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही केवल जानकारी के लिए क्रमशः चौबीस तीर्थंकरों का जीवन-परिचय कराया जाएगा।

भगवान ऋषभदेव जी—

वर्तमान काल को अवसर्पिणी काल कहते हैं। उस के ६ आरे होते हैं, पहले और दूसरे आरे में न कोई धर्म होता है, न कोई राजा और न कोई समाज। एक परिवार में पति,पत्नी ये दो

प्राणी होते हैं। कल्पवृक्षों से जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, उन्हीं से वे प्रसन्न रहते हैं। मरते समय एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म देते हैं। दो प्राणियों को जन्म देकर वे संसार से विदा हो जाते हैं। दोनों बालक अपना-अपना अंगूठा चूस कर बड़े होते हैं, और बड़े होने पर पति, पत्नी के रूप में रहने लगते हैं। तीसरे आरे का वहुत भाग बीतने तक यही क्रम चलता रहता है। इस काल को भोग-भूमि काल कहते हैं। कारण इतना ही है कि उस समय के लोगों का जीवन भोग-प्रधान होता है। उन्हें अपने जीवन के निर्वाह के लिए कुछ भी उद्योग नहीं करना पड़ता। कल्पवृक्ष ही उन की समस्त कामनाएं पूर्ण कर देते हैं।

आगे चलकर समय ने करवट ली। कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण होने लगी। आवश्यकता की पूर्ति के लिए जितना सामान चाहिए था, कल्पवृक्षों से उतना मिलना वन्द हो गया। आवश्यक वस्तुओं की न्यूनता हो जाने से पारस्परिक संघर्ष का होना स्वाभाविक था। परिणाम-स्वरूप लोगों में परस्पर मन-मुटाव चलने लगा। इस मनमुटाव को दूर करने के लिए, तथा लोगों के रहन-सहन की व्यवस्था क़ायम करने के लिए समय-समय पर कुछ लोग नेताओं के रूप में आने लगे। जैन दर्शन उन नेताओं को कुलकर के नाम से पुकारता है। कुलकरों ने तात्कालिक परिस्थितियों को शान्त करने का पूरा-पूरा यत्न किया। सर्वत्र शान्ति स्थापित करने के लिए वृक्षों की सीमा निर्धारित कर दी गई। जब सीमा पर भी विवाद होने लगा तब सीमा के स्थान को सुनिश्चित करने के लिए चिन्ह बना दिए गए। इस तरह कुलकर तात्कालिक स्थितियों पर काबू पा लेते थे।

उस समय पशुओं से काम लेना कोई नहीं जानता था, किन्तु

था ? जन्मगत जाति का उस समय कोई आदर या महत्त्व नहीं था। आगे चलकर वैदिक धर्म का जब महत्त्व बढ़ा तो कर्मणा वर्ण के स्थान पर जन्मना वर्ण के सिद्धान्त को प्रतिष्ठा मिल गई। आज के ये ऊंच–नीच के भेद–भाव उसी वैदिक युग की देन है।

भगवान ऋषभदेव के दो पत्नियां थीं—सुमंगला और सुनंदा। इन से इन के सौ पुत्र और ब्राह्मी, सुन्दरी ये दो पुत्रियां पैदा हुईं। बड़े पुत्र का नाम भरत था। और इनसे छोटे का नाम बाहुबली था। भरत सुमंगला के और बाहुबली सुनंदा के पुत्र थे। भरत परम प्रतापी राजा हुए हैं। ये बड़े ही प्रतिभाशाली और सुयोग्य शासक थे। यही भरत इस युग में भारत वर्ष के प्रथम चक्रवर्ती बने थे। बाहुबली भी अपने युग में माने हुए शूरवीर और योद्धा थे। इन का शारीरिक बल उस समय अद्वितीय समझा जाता था। ये बड़ी ही स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। चक्रवर्ती भरत ने इन्हें अपने अधीन रखना चाहा था। पर इन्होंने निर्भयता–पूर्वक उन के अधीन रहने से इन्कार कर दिया। ये भरत का बड़े भाई के रूप में तो आदर करते थे, किन्तु शासक के रूप में उन्हें मानना, यह इनके लिए असह्य था। अन्त में दोनों का युद्ध होता है। युद्ध में भरत को नीचा देखना पड़ा था। किन्तु "राज्य के निस्सार लोभ में आकर भाई, भाई का हत्यारा बनने को भी तैयार हो जाता है, ऐसा राज्य रख कर मुझे क्या करना है ?" इस सद्–विचारणा से बाहुबली को वैराग्य हो जाता है, और वे जैन–मुनि बन कर आत्म-कल्याण करते हैं।

ब्राह्मी, सुन्दरी बहुत ही बुद्धिमति और चतुर कन्याएं थीं, भगवान ऋषभदेव ने अपने दोनों पुत्रियों को बहुत ऊंचा शिक्षण दिया था। ब्राह्मी ने लिपि अर्थात् अक्षरज्ञान, व्याकरण, छन्द,

न्याय,काव्य और अलंकार ज्ञान में विशेष पाण्डित्य प्राप्त किया था, और सुन्दरी ने गणित विद्या में असाधारण सफलता प्राप्त की थी। भगवान के यहां पुत्र और पुत्रियों में आजकल सा भेद-भाव नहीं था। वे दोनों पर एक जैसा प्रेम रखते थे। दोनों की शिक्षा-दीक्षा का उन्होंने पूरा-पूरा प्रबन्ध किया था। वे नर और नारी दोनों की उन्नति का ध्यान रखते थे। उन्होंने स्त्रियों को ६४ कलाएं और पुरुषों को ७२ कलाएं सिखलाईं।

भगवान ऋषभदेव ने जब देखा कि भरत, बाहुबली अब योग्य हो गए हैं और प्रजा के शासन-भार को अच्छी तरह उठा सकते हैं। तब उन्होंने राजपाट को छोड़ कर साधु-जीवन अंगीकार किया। साधु बन जाने के पश्चात् भगवान एकान्त, शून्य वनों में ध्यान लगाकर खड़े रहते थे। किसी से कुछ बोलते-चालते भी नहीं थे। सर्वदा मौन रहते थे। भगवान के साथ चार हज़ार अन्य राजाओं ने भी साधु-जीवन अंगीकार किया था। ये लोग किसी वैराग्य भाव से प्रेरित हो कर तो घर से निकले नहीं थे, इन्हें तो भगवान का प्रेम खींच लाया था। अतः मुनि-जीवन में इन्हें कोई आध्यात्मिक आनन्द नहीं मिल सका। भूख, प्यास के कारण ये घबरा उठे। भगवान तो मौन रहते थे, अतः उनसे कुछ कह सुन नहीं पाते थे। अन्त में, निराश होकर मुनिवृत्ति छोड़कर जंगलों में कुटिया बनाकर रहने लगे। वन-फलों का भोजन खाकर जीवन का निर्वाह करने लगे। भारत वर्ष के विभिन्न धर्मों का इतिहास यहीं से आरम्भ होता है। भगवान ऋषभदेव के समय में ही ३६३ मत स्थापित हो चुके थे। इन मतों के संस्थापक वही व्यक्ति थे, जो भगवान के साथ देखादेखी मुनि बने थे, किन्तु भूख, प्यास तथा संयम-जीवन में आने वाले अन्य कष्टों को सहन न कर

सकने के कारण मुनिवृत्ति छोड़कर जंगलों में कुटिया बना कर, और वन-फलों द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करने लग गए थे।

धर्म के मुख्यतया दो अंग है-तत्त्व-ज्ञान और आचरण। जब मनुष्य की ज्ञान-शक्ति दुर्बल हो जाती है, तब तत्त्व-ज्ञान में उलट-फेर किया जाता है। और इस के फल-स्वरूप जड़, चेतन, पुण्य, पाप आदि के सम्बन्ध में एक दूसरे से टकराती हुई विभिन्न विचार-धाराएं वह तिकलती हैं। और जब आचरण शक्ति कमज़ोर पड़ जाती है तब आचार-सम्बन्धी नियमों में भोग-बुद्धि के प्राधान्य से अन्तर डाल दिया जाता है। तथा झूठे तर्कों की आड़ में अपनी दुर्बलताओं का संरक्षण किया जाता है। धार्मिक मत-भेदों में प्रायः यही दो बातें मुख्य कारण बना करती हैं। भगवान ऋषभदेव के युग में जो ३६३ मत स्थापित हुए, इनके भी यह दो मुख्य कारण थे।

भगवान ऋषभदेव का साधनाकाल बड़ा विचित्र था, और तो क्या, शरीर-रक्षा के लिए भगवान अन्न-जल भी ग्रहण नहीं किया करते थे। सदा आत्म-साधना में तन्मय रहा करते थे। अन्न-जल ग्रहण किए भगवान को १२ मास हो चुके थे। भगवान ने एक दिन विचार किया कि मैं तो इसी प्रकार तप के महापथ पर चलकर अपना जीवन-कल्याण कर सकता हूं, भूख, प्यास ज़रा भी मुझे विचलित नहीं कर सकती, परन्तु मेरे अन्य साथियों का क्या हाल होगा? वे तो इस प्रकार लम्बा तप नहीं कर सकते। दूसरी बात एक और भी है, वह यह कि आहार के बिना औदारिक* शरीर टिक भी नहीं सकता। औदारिक शरीर को

*जिस में हड्डी, मांस, रक्त आदि हों, मरने के बाद जिस का शव पड़ा रहता हो तथा जिस से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती हो, उस को औदारिक शरीर कहते हैं। यह शरीर मनुष्य और तिर्यञ्च का होता है।

स्थिरता आहार पर निर्भर है। आहार के अभाव में वह लड़खड़ा जाता है। यही कारण है कि वेचारे चार हजार साधक पथ-भ्रष्ट हो चुके हैं। अतः आने वाले साधकों का मार्ग-दर्शन करने के लिए मुझे आहार लेना ही चाहिए। इस विचारणा के कारण आहार के लिए नगर में प्रवेश किया। उस समय की जनता साधुओं को साधु-योग्य आहार देना नहीं जानती थी। अत. भगवान को मुनि-वृत्ति के अनुसार निर्दोष भिक्षा न मिल सकी। सदोष आहार लेने से भगवान ने स्वयं इन्कार कर दिया था। वहुत से लोग भगवान की सेवा में हाथो, घोड़े लेकर आते थे, वहुत से रत्नों के थाल ही भर कर भगवान को भेंट देने आते थे। पर यह सब कुछ तो भगवान स्वयं त्याग कर आए थे। अन्त में, भगवान हस्तिनापुर पहुँचे। वहां के राजकुमार× श्रेयांस ने अपने पूर्व-जन्म-सम्वन्धी जाति-स्मरण ज्ञान से जानकर भगवान को निर्दोष आहार, ईख का रस वहराया। वह संसार-त्यागी मुनियों को आहार देने का पहला दिन था। वैशाख शुक्ला* अक्षयतृतीया के रूप से यह दिन आज

×राजकुमार श्रेयांस भगवान के पुत्र वाहुवली का पौत्र था। कुमार अपने सतमंजिले महल की खिड़की में वैठा था। उस ने राजपथ पर भगवान को देखा। देखते ही उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। जाति-स्मरण मति-ज्ञान का एक भेद है, इस से पिछले जन्मों का वोध प्राप्त हो जाता है। श्रेयांस ने इस से पिछले आठ भव जान लिए थे। इसी ज्ञान के प्रभाव से इसे दान-विधि का भी ज्ञान प्राप्त हो गया था। इसीलिए उस ने मुनि-योग्य शुद्ध निर्दोष आहार भगवान को वहराया।

*"अक्षयतृतीया" का समस्त विवरण प्रस्तुत पुस्तक के "जैन-पर्व" नामक अध्याय में दिया गया है। पाठक उसे देखें।

भी उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

भगवान ऋषभदेव महान तपस्वी थे। तपस्या की चरम दशा ने इनके जीवन में साकार रूप धारण कर लिया था। इस तरह तप करते हुए भगवान ऋषभदेव जब आध्यात्मिकता की उच्चकोटि अवस्था को प्राप्त हुए तब इन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि चार घातिक कर्म क्षय करके वटवृक्ष के नीचे केवल ज्ञान को उपलब्ध किया। भगवान ने केवल-ज्ञान पाकर जनता को धर्मोपदेश दिया। गृहस्थ और साधु दोनों को ही उन्होंने धर्म का मार्ग बतलाया। तदनन्तर भगवान ऋषभदेव ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघ की स्थापना की। भगवान के पहले गणधर भरत महाराज के सुपुत्र श्री ऋषभसेन जी थे। और सब से पहली आर्यकाएं प्रभु की अपनी दोनों पुत्रियां ब्राह्मी और सुन्दरी हुईं।

भगवान ऋषभदेव का जन्म युगलियों में युग में चैत्र कृष्णा अष्टमी को हुआ था। उस समय मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते थे और वनफल खाकर जीवन बिताया करते थे, पिता का नाम नाभि राजा और माता का नाम मरुदेवी था। उनकी राजधानी अयोध्या नगरी थी तथा भरत आदि १०० पुत्र थे। आप ने युवावस्था में आर्य सभ्यता की नींव डाली। पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौंसठ कलाएं सिखाईं थीं। आप ने युगलिया* धर्म समाप्त करके दो राजकुमारियों के साथ विवाह किया और विवाह पद्धति का प्रादुर्भाव किया। ८३ लाख वर्ष पूर्व राज्य करके आप ने भरत

*बहिन-भाई का एक साथ पैदा होना और बड़े होकर उन दोनों का पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाने का नाम युगल-धर्म है।

को राज्य देकर चैत्र कृष्णा अष्टमी को मुनि-दीक्षा ली। एक हज़ार वर्ष तक घोर तपस्या करके चार कर्मों को खपा कर फाल्गुण कृष्णा एकादशी को केवल-ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) पाया और साधु, साध्वी आदि चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करके तीर्थंकर कहलाए। एक लाख पूर्व तक विश्व को अहिंसा, संयम और तप का सदुपदेश सुनाकर अन्त में कैलाश पर्वत पर माघ कृष्णा त्रयोदशी को शेष चार कर्मों का नाश करके ये निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त हुए। आप के साथ दस हज़ार अन्य साधु भी मुक्त हुए थे।

भगवान ऋषभदेव का जीवन त्रिलोक पूज्य जीवन है। सर्वत्र इन का सादर स्मरण किया जाता है। ऋग्वेद, विष्णु-पुराण, अग्नि-पुराण एवं भागवत आदि वैदिक साहित्य में भी भगवान ऋषभदेव का गुण-कीर्तन किया गया है। भगवान की महत्ता का अधिक क्या वर्णन किया जाए ? वैदिक धर्म ने भी इन्हें अपना अवतार स्वीकार कर लिया है।

भगवान अजितनाथ जी—

जैन धर्म के आप दूसरे तीर्थंकर माने जाते हैं। आप का जन्म अयोध्या नगरी इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय-सम्राट् जितशत्रु राजा के यहां हुआ था। आप की माता का नाम विजया देवी था। आप का जन्म माघ शुक्ला अष्टमी को, दीक्षा माघ कृष्णा नवमी, केवल-ज्ञान पौष कृष्णा एकादशी और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ था। आप की निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर है, जो आज-कल बंगाल में "पारसनाथ पहाड़" के नाम से प्रसिद्ध है। आप विवाहित थे। ७१ लाख पूर्व तक आप गृहस्थ अवस्था में रहे और १ लाख पूर्व आपने संयम का पालन किया। तथा एक हज़ार साधुओं के

साथ आप मोक्ष पधारे थे ।

भगवान संभवनाथ जी–

आप तीसरे तीर्थंकर हैं । आप का जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ । आप के पिता इश्वाकुवंशीय महाराज जितारि थे और सेना-देवी नाम की आप की पूज्य माता थी । आप ने पूर्व जन्म में विपुलवाहन राजा के भव में अकाल–ग्रस्त प्रजा का पालन किया था और अपना सब कोष प्रजा के हितार्थ लुटा दिया था । आप का जन्म मार्ग–शीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को, दीक्षा मार्ग–शीर्ष शुक्ला पूर्णिमा,केवल ज्ञान कार्तिक कृष्णा पंचमी और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ । आप की निर्वाण–भूमि भी सम्मेतशिखर है । आप विवाहित थे । आप ५९ लाख वर्ष पूर्व तक गृहस्थ अवस्था में रहे और एक लाख पूर्व आपने संयम का पालन किया । तथा एक हजार साधु आप के साथ मुक्ति में गए थे ।

भगवान अभिनन्दननाथ जी—

श्री अभिनन्दननाथ जी जैन धर्म के चौथे तीर्थंकर हैं । आप का जन्म अयोध्या नगरी के इश्वाकुवंशीय राजा संवर के यहां हुआ । आप की माता का नाम सिद्धार्था था । आप का जन्म माघ शुक्ला द्वितीया को, दीक्षा माघ शुक्ला द्वादशी, केवल–ज्ञान पौष कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण वैशाख शुक्ला अष्टमी को हुआ । आप की निर्वाण–भूमि सम्मेतशिखर है । आप विवाहित थे । आप ४९ लाख पूर्व गृहस्थ अवस्था में रहे । और एक लाख पूर्व आपने संयम का पालना किया तथा एक हज़ार साधुओं के साथ आप मोक्ष में पधारे थे ।

भगवान सुमतिनाथ जी—

आप जैन-धर्म के पांचवें तीर्थंकर हैं। आप का जन्म अयोध्या नगरी (कौशलपुरी) में हुआ। आप के पिता महाराजा मेघरथ और माता श्री सुमंगला देवी थी। आप का जन्म वैशाख शुक्ला अष्टमी को, दीक्षा वैशाख शुक्ला नवमी को, केवल-ज्ञान चैत्र शुक्ला एकादशी और निर्वाण चैत्र शुक्ला नवमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है। आप जब माता के गर्भ में आए थे तो उस समय आप की माता की बुद्धि बहुत स्वच्छ और तीव्र हो गई थी, इसलिए आप का नाम सुमतिनाथ रखा गया था। आप विवाहित थे। आप २९ लाख पूर्व गृहस्थ अवस्था में रहे और एक लाख पूर्व तक आपने संयम का पालन किया। तथा एक हज़ार साधुओं के साथ आपने निर्वाण-पद पाया था।

भगवान पद्मप्रभ जी—

आप छठे तीर्थंकर हैं। आप का जन्म कौशाम्बी नगरी के राजा श्रीधर के यहां हुआ था। माता का नाम सुसीमा था। आप का जन्म कार्तिक कृष्णा द्वादशी को, दीक्षा कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को, केवल-ज्ञान चैत्र शुक्ला पूर्णिमा और निर्वाण मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आप २९ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था में रहे और एक लाख पूर्व तक आपने संयम का पालन किया। अन्त में, एक हज़ार मुनियों के साथ आप निर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान सुपार्श्वनाथ जी—

आप सातवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म-भूमि काशी (बनारस) थी। पिता महाराजा प्रतिष्ठेन और आप की माता श्री पृथ्वी देवी

थी। आप का जन्म ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को, दीक्षा ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को,केवल-ज्ञान फाल्गुण कृष्णा छठ और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। १९ लाख पूर्व तक आप गृहस्थावस्था में रहे और एक लाख पूर्व तक आप ने संयम का पालन किया। अन्त में, एक हजार साधुओं के साथ आपने सिद्धि प्राप्त की।

भगवान चन्द्रप्रभ जी—

आप जैन-धर्म के आठवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म-भूमि चन्द्रपुरी नगरी थी। आप के पूज्य पिता का नाम महासेन राजा और माता का नाम लक्ष्मणा था। आप का जन्म पौष शुक्ला द्वादशी को,दीक्षा पौष कृष्णा त्रयोदशी को,केवल-ज्ञान फाल्गुण कृष्णा सप्तमी और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आप ने ९ लाख पूर्व गृहस्थावस्था में व्यतीत करके एक लाख पूर्व तक संयम का पालन किया। अन्त में, हजार साधुओं के साथ आप मुक्त हुए।

भगवान सुविधिनाथ जी—

आप का दूसरा नाम पुष्पदन्त भी है। आप जैन-धर्म के नौवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म-भूमि काकंदी नगरी, पिता सुग्रीव तथा माता रामादेवी थीं। आप का जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को, दीक्षा मार्गशीर्ष कृष्णा छठ को, केवल-ज्ञान कार्तिक शुक्ला तृतीया और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। एक लाख पूर्व आप ने गृहस्थावस्था में व्यतीत किया और एक लाख पूर्व आपने संयम का

पालन किया। अन्त में, एक हज़ार साधुओं के साथ आप ने निर्वाण पद पाया।

भगवान शीतलनाथ जी—

आप दशवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म—भूमि भद्दिलपुर नगरी थी। पिता दृढरथ राजा और माता का नाम नन्दारानी था। आप का जन्म माघ कृष्णा द्वादशी को,दीक्षा मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी को, केवल—ज्ञान पौष कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण वैशाख कृष्णा द्वितीया को हुआ था। आप की निर्वाण—भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आप ने पौन लाख पूर्व गृहवास किया और पाव लाख पूर्व तक संयम की पालना की। अन्त में, एक हज़ार मुनियों के साथ आपने मुक्ति को प्राप्त किया।

भगवान श्रेयांसनाथ जी—

आप जैन—धर्म के ग्यारहवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म—भूमि सिंह—पुर नगरी थी। पिता का नाम विष्णुसेन राजा, और माता का नाम विष्णु देवी था। आप का जन्म फाल्गुण कृष्णा द्वादशी को, दीक्षा फाल्गुण कृष्णा त्रयोदशी को, केवल—ज्ञान माघ शुक्ला द्वितीया और निर्वाण श्रावण कृष्णा तृतीया को हुआ। आप की निर्वाण—भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान महावीर के जीव ने पूर्व-जन्म में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में भगवान श्रेयांसनाथ के चरणों में बैठ कर अहिंसा, संयम और तप का मंगलमय उपदेश सुना था। भगवान श्रेयांसनाथ विवाहित थे। आप ६३ लाख पूर्व गृहस्थावस्था में रहे और २१ लाख पूर्व तक आप ने संयम का पालन किया। अन्त में, एक हज़ार साधुओं के साथ आप निर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान वासुपूज्य जी—

आप जैन धर्म के बारहवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म-भूमि चम्पा नगरी थी। आप के पूज्य पिता महाराज वसुपूज्य थे, और माता जयादेवी थी। आप का जन्म फाल्गुण कृष्णा चतुर्दशी को, दीक्षा फाल्गुण शुक्ला पूर्णिमा को, केवल-ज्ञान माघ शुक्ला द्वितीया और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि चम्पा नगरी थी। आप बाल-ब्रह्मचारी थे, आप ने विवाह नहीं कराया। आप अठारह लाख वर्ष गृहवास में रहे और आप ने ५४ लाख वर्ष तक संयम का पालन किया। अन्त में, ६०० मुनियों के साथ आप मुक्ति में गए।

भगवान विमलनाथ जी—

आप तेरहवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म-भूमि कम्पिलपुर नगरी थी। आप के पिता का नाम महाराजा कृतवर्म था और माता का नाम श्यामादेवी था। आप का जन्म माघ शुक्ला तृतीया को, दीक्षा माघ शुक्ला चतुर्थी को, केवल-ज्ञान पौष शुक्ला छठ और निर्वाण आषाढ़ कृष्णा सप्तमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे, आप ४५ लाख वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे और १५ लाख वर्ष तक आप ने संयम का पालन किया। अन्त में, ६०० मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए।

भगवान अनन्तनाथ जी—

आप जैन-धर्म के चौदहवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म-भूमि अयोध्या नगरी थी। आप के पूज्य पिता का नाम महाराजा सिंहसेन और माता का नाम सुयशा देवी था। आप का जन्म वैशाख कृष्णा तृतीया को, दीक्षा वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को, केवल-ज्ञान वैशाख

कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे,आप साढ़े २२ लाख वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे और साढ़े सात लाख वर्ष तक आप ने संयम का पालन किया। अन्त में, ७०० मुनियों के साथ आपने मुक्ति को प्राप्त किया।

भगवान धर्मनाथ जी–

आप जैन–धर्म के पन्द्रहवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म–भूमि रत्नपुर नामक नगरी थी। महाराज भानु आप के पिता थे। आप की माता का नाम सुव्रता था। आप का जन्म माघ शुक्ला तृतीया को,दीक्षा माघ शुक्ला त्रयोदशी को,केवल–ज्ञान पौष शुक्ला पूर्णिमा, और निर्वाण ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को हुआ। आप की निर्वाण–भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे, आप ९ लाख वर्ष गृहवास में, रहे और आप ने एक लाख वर्ष संयम का पालन किया। अन्त में, ८०० साधुओं के साथ आप मुक्ति में पधारे।

भगवान शान्तिनाथ जी–

जैन-धर्म के सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ जी हैं। आप का पवित्र जन्म हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से हुआ था। आप का जन्म ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को, दीक्षा ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को और केवल–ज्ञान पौष शुक्ला नवमी को हुआ। तथा निर्वाण जन्म की तिथि को हो हुआ था। आप की निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप भारत के पंचम चक्रवर्ती राजा भी थे। आप के जन्म लेने पर देश में फैले हुए भयंकर मृगी रोग की महामारी शान्त हो गई थी। इसलिए आप का नाम श्री शान्तिनाथ रखा गया था। आप बहुत ही दयालु प्रकृति के थे। पहले जन्म में

राजा मेघरथ में रूप में आप ने कबूतर की रक्षा की थी, बदले में शिकारी को अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था। आप विवाहित थे। आप ७५ हज़ार वर्ष गृहस्थावस्था में रहे और २५ हज़ार वर्ष तक आप ने संयम का पालन किया और सम्मेतशिखर पर ६ सौ मुनियों के साथ आप मोक्ष में गए।

भगवान कुन्थुनाथ जी–

आप जैन–धर्म के सतरहवें तीर्थंकर माने जाते हैं। आप का जन्म–स्थान हस्तिनापुर था, आप के पिता सूरराजा थे और माता का नाम श्री देवी था। आप का जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को, दीक्षा चैत्र कृष्ण पंचमी को,केवल–ज्ञान चैत्र शुक्ला तृतीया को और निर्वाण वैशाख कृष्णा प्रतिपदा (एकम) को हुआ था। आप की निर्वाण–भूमि सम्मेतशिखर है। आप भारत के छठे चक्रवर्ती राजा भी थे। आप विवाहित थे, आप ७१। हज़ार वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे और आप ने २३।। हज़ार वर्ष संयम का पालन किया। तथा एक हज़ार मुनियों के साथ आप ने सिद्ध पद पाया था।

भगवान अरहनाथ जी–

आप को अरनाथ भी कहा जाता है। आप जैन–धर्म के अठारहवें तीर्थंकर हैं। आप का जन्म–स्थान हस्तिनापुर था। आप के पिता सुदर्शन राजा थे और माता का नाम श्री देवी था। आप का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को, दीक्षा मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को, केवल–ज्ञान कार्तिक शुक्ला द्वादशी और निर्वाण मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को हुआ। आप की निर्वाण–भूमि सम्मेतशिखर थी। आप भारत के सातवें चक्रवर्ती राजा भी हुए। आप विवाहित थे, और ६३ वर्ष हज़ार वर्ष गृहस्थ–आश्रम में रहे,

२१ हज़ार वर्ष आप ने संयम का पालन किया तथा एक हज़ार मुनियों के साथ मोक्ष में पधारे।

भगवान मल्लिनाथ जी—

आप जैन–धर्म के उन्नीसवें तीर्थंकर हैं। आप का जन्म–स्थान मिथिला नगरी थी। आप के पिता महाराज कुंभ थे और माता का नाम श्री प्रभावती देवी था। आप का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को,दीक्षा मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को,केवल–ज्ञान× मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी, और निर्वाण फाल्गुण शुक्ला द्वादशी को हुआ। आप की निर्वाण–भूमि सम्मेतशिखर थी। वर्तमान काल के चौवीस तीर्थंकरों में आप स्त्री तीर्थंकर थे। आप ने विवाह नहीं कराया। आप जीवन–पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। आप ने छ राजाओं को भी संयम–मार्ग में लगाया था। आप के जीवन–चरित्र में इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

मल्लिकुमारी जी जब युवावस्था में आए तब आप के सौन्दर्याधिक्य से मोहित होकर ६ राजाओं ने आप से विवाह करने के लिए आप के पिता महाराज कुम्भ के पास अपने–अपने दूत भेजे। एक कन्या के लिए छः राजाओं की मांगणी देख कर कुम्भ राजा को क्रोध आ गया। उन्होंने दूतों को अपमानित करके अपने नगर से बाहिर निकाल दिया। अपमानित दूतों ने सारा वृत्तान्त अपने–अपने राजा से कहा। इस से छहों राजा कुपित हो गए और अपनी-अपनी सेना सजा कर राजा कुम्भ के ऊपर चढ़ाई कर दी। इस वृत्तान्त को सुनकर राजा कुंभ घबराया। तब मल्लिकुमारी ने अप-

×भगवान मल्लिनाथ जी को दीक्षा लेने के अनन्तर दूसरे पहरे में ही केवल–ज्ञान प्राप्त हो गया था।

ने पिता को आश्वासन दिया और कहा कि आप घबराइए नहीं। मैं सब को समझा दूंगी। आप सब राजाओं के पास पृथक्-पृथक् दूत को भेज दीजिए, कहला दीजिए कि शाम को तुम मोहन* घर में चले आओ। मैं तुम्हें मल्लिकुमारी दे दूंगा। राजा कुम्भ ने ऐसा ही किया।

छहों राजा पृथक्-पृथक् द्वार से शाम को मोहन घर में आ गए। उस के बीच में स्थित सुवर्ण की पुतली को देखकर वे छहों राजा उसे साक्षात् मल्लिकुमारी समझ कर उस पर मोहित हो गए। उसी समय मल्लिकुमारी ने उस पुतली के ढक्कन को उघाड़ दिया, जिस में डाले हुए अन्न की अत्यन्त दुर्गन्ध बाहिर निकली। उस दुर्गन्ध को न सह सकने के कारण वे छहों राजा पराङ्मुख होकर बैठ गए। इस अवसर को उपयुक्त समझकर मल्लिकुमारी ने उनको शरीर की अशुचिता बतलाते हुए धर्मोपदेश दिया। वे कहने लगे—

यह शरीर रज और वीर्य जैसे घृणित पदार्थों के संयोग से बना है। माता के गर्भ में अशुचि पदार्थों के आहार के द्वारा इस

---

*मल्लिकुमारी ने अवधिज्ञान से इस घटना-चक्र को पूर्व ही जान लिया था। अतः उसने पहले ही अशोक-वाटिका में अनेक स्तंभों वाला एक मोहन घर बनवा लिया था। उसके बीच में उसने अपने ही आकार की एक सोने की प्रतिमा बनवा ली थी। उस के मस्तक पर एक छिद्र रखा था, और उस पर एक कमलाकार ढक्कन लगा दिया। अपने भोजन में से वह एक ग्रास बचाकर प्रति-दिन उस में डाल देती और वापिस ढक्कन लगा देती थी। भोजन के सड़ने से उस में से मृतक कलेवर से भी अत्यन्त अधिक दुर्गन्ध उठने लगी थी।

की वृद्धि हुई है। उत्तम, रसीले पदार्थ भी इस शरीर में जाकर अशुचि रूप से परिणत हो जाते हैं। नमक की खान में जो पदार्थ गिरता है, जैसे वह नमक बन जाता है, ऐसे ही जो पदार्थ शरीर के संयोग में आते हैं वे सब अपवित्र हो जाते हैं। आंख, नाक, कान आदि नव द्वारों द्वारा सदा इस शरीर से मल झरता रहता है। इस प्रकार के घृणास्पद शरीर पर कभी आसक्त नहीं होना चाहिए।

मल्लिकुमारी के इस उपदेश को सुनकर छहों राजाओं को ज्ञान प्राप्त हो गया। अन्त में, उन्होंने अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र का राज्याभिषेक करके, मल्लिकुमारी के साथ दीक्षा-ग्रहण कर ली। इस प्रकार भगवान मल्लिनाथ ने छः राजाओं को कल्याणमार्ग में लगाया।

भगवान मल्लिनाथ का स्त्रीत्व इस तथ्य का जीवित प्रमाण है कि स्त्री भी तीर्थंकर हो सकती है। विश्व के किसी भी धर्म में स्त्री को धर्म-संस्थापक के रूप में महत्त्व नहीं दिया गया है। जैन-धर्म की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि स्त्री होकर भी भगवान मल्लिनाथ जी ने बहुत व्यापक भ्रमण किया और सर्वत्र अहिंसा-धर्म का ध्वज लहराया। १०० वर्ष तक मल्लिनाथ जी घर में रहे और ५४६०० वर्ष तक इन्होंने संयम का पालन किया। अन्त में, ५०० साधुओं और ५०० आर्यिकाओं के साथ आप मोक्ष में पधारे।

भगवान मुनिसुव्रत जी—

आप जैन-धर्म के बीसवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म-भूमि राजगृह नगरी थी। आप के पिता हरिवंश-कुलोत्पन्न महाराज सुमित्र थे और आप की माता का नाम पद्मावती देवी था। आप का जन्म

ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को, दीक्षा फाल्गुण शुक्ला द्वादशी को, केवल-ज्ञान फाल्गुण कृष्णा द्वादशी तथा निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। २२॥ हज़ार वर्ष गृहवास में रहे। ७॥ हज़ार वर्ष आपने संयम का पालन किया और अन्त में, आप एक हज़ार मुनियों के साथ मोक्ष पधारे। भगवान राम और महासती सीता आप के ही युग में पैदा हुए थे।

भगवान नमिनाथ जी—

आप जैन-धर्म के इक्कीसवें तीर्थंकर हैं। आप का जन्म-स्थान मिथिला नगरी था×। आप के पूज्य पिता का नाम महाराज विजयसेन था और माता का नाम वप्रा देवी था। आप का जन्म श्रावण कृष्णा अष्टमी को, दीक्षा आषाढ़ कृष्णा नवमी को, केवल-ज्ञान मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी और निर्वाण वैशाख कृष्णा दशमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे, आप ९ हज़ार वर्ष तक गृहस्थावस्था में रहे, एक हज़ार वर्ष तक आप ने संयम का पालन किया और अन्त में, एक हज़ार साधुओं के साथ मोक्ष में पधारे।

भगवान अरिष्टनेमि जी—

आप का दूसरा नाम नेमिनाथ भी है। आप जैन-धर्म के २२वें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म-भूमि आगरा के पास में अवस्थित शौरीपुर नामक नगर था। आप के पिता यदुवंश के राजा समुद्र-विजय जी थे और माता का नाम शिवादेवी था। आप के पिता जी

×कुछ आचार्य भगवान नमिनाथ का जन्म-स्थान मथुरा नगरी बत-लाते हैं।

१० भाई थे। सब से बड़े आप के पिता थे। सब से छोटे श्री वसुदेव जी थे। समुद्र-विजय जी के घर आप ने जन्म लिया था और त्रिखण्डाधिपति कृष्ण ने वसुदेव के यहां। इस प्रकार आप कर्म-योगी श्री कृष्ण जी के ताऊ के पुत्र, भाई थे। कृष्ण जी ने आप से ही धर्मोपदेश सुना था! और हज़ारों यदुवंशियों को आप के चरणों में दीक्षित करवा कर तीर्थंकर-गोत्र का बन्ध किया था।

आप बड़े ही कोमल प्रकृति के महापुरुष थे। आप की कोमलता के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। प्रस्तुत में केवल एक की चर्चा की जाएगी। कुमारावस्था में जूनागढ़ के राजा की पुत्री राजीमती से नेमिनाथ का विवाह सुनिश्चित हुआ। बड़ी धूम-धाम के साथ बारात जूनागढ़ के निकट पहुंची। उस समय नेमिनाथ बहुत से राज-पुत्रों के साथ रथ में बैठे हुए आस-पास की शोभा देखते जाते थे। इन की दृष्टि एक ओर गई तो इन्होंने देखा कि बहुत से पशु एक बाड़े में बन्द हैं। वे निकलना चाहते हैं, पर उन के निकलने का कोई मार्ग नहीं है। पशुओं की आकुलता-पूर्ण दशा देख कर इन का दिल पसीज उठा। उन्होंने सारथि को रथ रोकने का आदेश दिया और साथ में पूछा कि ये इतने पशु इस तरह क्यों रोके हुए हैं? नेमिनाथ को उस सारथि से यह जानकर बड़ा खेद हुआ कि उन की बारात में आए हुए अनेक राजाओं के आतिथ्य-सत्कार के लिए इन पशुओं का वध किया जाने वाला है, और इसलिए ये बाड़े में बन्द हैं। नेमिनाथ के दयालु हृदय को बड़ा ही कष्ट पहुंचा। वे बोले-यदि मेरे विवाह के निमित्त इतने पशुओं का जीवन संकट में है, तो धिक्कार है, ऐसे विवाह को! अब मैं विवाह नहीं कराऊंगा। वे तुरन्त नीचे उतरे और अपने आभूषण सारथि को देकर वन की ओर चल दिए।

बारात में इस समाचार के फैलते ही कोहराम मच गया। जूनागढ़ के अन्तःपुर में जब राजकुमारी राजीमती को यह समाचार मिला तो वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बहुत से लोग नेमिनाथ जी को लौटाने दौड़े, किन्तु सब व्यर्थ। भगवान ने इस पाप-पूर्ण बन्धन में फंसने से सदा के लिए इन्कार कर दिया। अन्त में, वे गिरनार पर्वत पर चढ़ कर आत्म-ध्यान में लीन हो गए। और एक दिन केवल-ज्ञान पाकर अन्य तीर्थंकरों की भान्ति इन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की और संसार में अहिंसा धर्म का प्रसार किया।

भगवान अरिष्टनेमि का जन्म श्रावण शुक्ला पंचमी को, दीक्षा श्रावण शुक्ला छठ को, केवल-ज्ञान आश्विन कृष्णा अमावस्या और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि काठियावाड़ में गिरनार पर्वत है जिसे पुराने युग में खेतागिरि भी कहते थे। आप ने विवाह नहीं कराया, आप ३०० वर्ष गृहवास में रहे, ७०० वर्ष तक आप ने संयम का पालन किया और ५३६ मुनियों के साथ निर्वाण-पद प्राप्त किया।

भगवान पार्श्वनाथ जी—

आप जैन-धर्म के २३वें तीर्थंकर हैं। आप का अपने युग में बड़ा विलक्षण प्रभाव था। आप की स्तुति में लिखे हजारों स्तोत्र आप की लोक-प्रियता तथा आप के प्रति सर्वतोमुखी श्रद्धा एवं आस्था के ज्वलन्त उदाहरण हैं। हज़ारों स्तोत्र भगवान के नाम पर बने हुए हैं, जिन्हें लाखों नर-नारी बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति के साथ नित्य-पाठ के रूप में पढ़ते हैं। कल्याण-मन्दिर स्तोत्र तो इतना अधिक प्रसिद्ध है कि शायद ही कोई धार्मिक मनोवृत्ति का

शिक्षित जैन होगा जो उसे न जानता होगा।

भगवान पार्श्वनाथ का समय ईसा से क़रीब ८५० वर्ष पूर्व का माना गया है। वह युग तापसों का युग माना जाता था। हज़ारों तापस आश्रम बनाकर वनों में रहा करते थे। और शरीर को अधिक से अधिक कष्ट देना ही उन की साधना का प्रधान लक्ष्य था। कितने ही तपस्वी वृक्षों की शाखाओं में औंधे मुंह लटका करते थे, कितने ही आकण्ठ जल में खड़े होकर सूर्य की ओर मुंह करके ध्यान लगाया करते थे, कितने ही अपने को भूमि में दबा कर समाधि लगाया करते थे और कितने ही पञ्चाग्नि तप करके शरीर को झुलसा डालते थे। इस प्रकार तापसों की देह–दण्ड–रूप साधना विभिन्न रूप से उस समय चल रही थी। भोली जनता इन्हीं विवेक-शून्य क्रियाकाण्डों में धर्म मान कर चल रही थी और उस का विश्वास बन गया था कि आत्मोत्थान तथा आत्म-कल्याण का इस से बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं है।

भगवान पार्श्वनाथ का संघर्ष अधिकतर इन्हीं तापस–सम्प्रदायों के साथ हुआ था। भगवान इस विवेक–शून्य क्रिया–काण्ड को हेय मानते थे और कहते थे कि प्रत्येक अनुष्ठान ज्ञान–पूर्वक ही करना चाहिए। ज्ञान–पूर्वक किया गया मामूली सा क्रिया-काण्ड भी जीवन में उत्क्रान्ति ला सकता है और ज्ञान के बिना उग्र क्रिया–काण्ड करते हुए हज़ारों वर्ष भी व्यतीत हो जाएं तब भी उस से पल्ले कुछ नहीं पड़ सकता। भगवान का विश्वास था कि एक व्यक्ति यदि अज्ञानता के साथ महीने-महीने कुशाग्र भोजन का आसेवन करता है। अर्थात्-एक मास के अनशन के अनन्तर आहार का ग्रहण करता है, और वह भी कुशा के अग्रभाग जितना भोजन लेता है। तथा दूसरी ओर एक व्यक्ति दो घड़ी का प्रत्याख्यान

करता है, किन्तु वह ज्ञान-पूर्वक करता है, उसमें किसी सावद्य प्रवृत्ति को निकट नहीं आने देता तो उस के सामने अज्ञान-जन्य तप का कुछ भी मूल्य नहीं है। वह तप ज्ञान के साथ किए गए तप रूप पूर्ण चन्द्रमा की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं हो सकता*। भाव यह है कि विवेक-शून्य तपश्चरण आत्मा को उन्नत बनाने की बजाए उसका पतन करता है।

भगवान पर्श्वनाथ बचपन से ही बड़े साहसी और निर्भीक थे। भय तो मानों इन से भयभीत होकर भाग गया था। इनके जीवन में ऐसे अनेकों कथानक मिलते हैं, जिन से इन की वीरता तथा निर्भीकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए एक घटना सुनिए। एक बार ये गंगा के किनारे घूम रहे थे। वहां पर कुछ तापस आग जला कर तपस्या कर रहे थे। ये उन के पास पहुंचे और बोले—इन लड़कों को जलाकर क्यों जीव--हिंसा करते हो? राजकुमार की बात सुनकर वे बड़े झुंझलाए। और बोले—

तुझे हिंसा अहिंसा का क्या बोध है? तुम अभी बच्चे हो, तुम ने अभी महलों के भोग भोगने सीखे हैं। सन्तों की साधना को अभी तुम क्या समझ सकते हो? जाओ, कहीं पहले हिंसा तथा अहिंसा को समझने के लिए किसी सुयोग्य गुरु की सेवा करो। तापसों का का इतना कहना था कि कुमार ने तापसों के पास पड़ी कुल्हाड़ी उठा कर ज्यों ही जलती हुई लकड़ी को फाड़ा तो उस में से नाग

*मासे-मासे तु जो वालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खाय-धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥
उत्त० अ० ९-४४

और नागिन का जलता हुआ जोड़ा निकला। तापस अत्यधिक लज्जित हुए। इधर कुमार ने उन्हें मरणासन्न जान कर उनके कान में महामंत्र नवकार का मंगलमय पाठ सुनाया। महामंत्र की पवित्र ध्वनि सुनकर नाग और नागिन का दाह--सन्ताप कुछ शान्त हुआ और अन्त में, जीवन--समाप्ति हो जाने पर वे स्वर्गपुरी में धरणेन्द्र और पद्मावती नाम के देव, देवी बने।

नाग-नागिन की दुःखद घटना से राज--कुमार पार्श्वनाथ को मार्मिक वेदना हुई। साथ में तापसों के इस अज्ञान कष्ट को देखकर उन्हें उन पर दया भी आई। उन्होंने निश्चय किया कि मैं इन्हें सत्पथ दिखलाऊंगा और ज्ञान-पूर्वक तप करने का सुबोध देकर इन के जीवन का सुधार करूंगा। अन्त में, काशी देश के विशाल तथा समृद्ध साम्राज्य को ठुकराकर राजकुमार पार्श्वनाथ मुनि बन गए और उन्होंने सत्य अहिंसा की इतनी उग्र साधना की जिसे सुन कर वज्र-हृदय व्यक्ति भी कम्पित हुए बिना नहीं रह सकता।

सहनशीलता के तो मानों आप स्रोत थे। भयंकर से भयंकर संकट में भी आप कभी विचलित नहीं हुए। एक बार की बात है कि आप ध्यानस्थ खड़े थे। कमठासुर× ने आप को लोम--हर्षक कष्ट दिए। उसने मूसलाधार वर्षा की। पृथ्वी पर चारों ओर पानी ही पानी कर दिया। पानी आप के नाक तक आ गया था। आप डूबने ही वाले थे कि ऐसे घोर उपसर्ग के समय धरणेन्द्र और पद्मावती ने आप का उपसर्ग दूर किया। पद्मावती ने अपने मुकुट

×जिस तपस्वी के लक्कड़ को आप ने कुमारावस्था में फाड़ा था, उस का नाम कमठ था और वह मर कर असुर जाति में पैदा हो गया था। कमठासुर उसी तपस्वी के जीव का नाम है।

के ऊपर आप को उठा लिया और धरणेन्द्र ने सहस्र फण वाले सर्प का रूप धारण करके आप के ऊपर अपना फण फैला दिया। कमठासुर आप को मारणान्तिक कष्ट देना चाहता था, तथापि आपने उस पर किञ्चित् रोष नहीं किया, प्रत्युत आप उस पर अन्तर्-हृदय से दया की ही वर्षा करते रहे।

देवकृत, मनुष्यकृत इस प्रकार अनेक-विध उपसर्गों को शान्ति के साथ सहन करके भगवान पार्श्वनाथ ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिक कर्मों को क्षय करके केवल-ज्ञान को उपलब्ध किया। केवल-ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर क़रीब ७० वर्ष सर्वत्र विचार कर के भगवान ने धर्म का उपदेश दिया। ज्ञान-पूर्वक किए गए तप का संसार को महत्त्व समझाया। घर-घर अहिंसा और सत्य के पुनीत दीप जगाकर मानव जगत के अज्ञान-अन्धकार को दूर किया। भगवान ने संसार को चार* महाव्रतों का उपदेश दिया था और चतुर्विध संघ की स्थापना की थी।

भगवान पार्श्वनाथ ने जन-कल्याण के लिए क्या किया ? इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न लिखकर सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान श्री धर्मानन्द कौशाम्बी के लेख का कुछ अंश प्रस्तुत किए देता हूं, उससे भगवान के क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलन की कुछ झाँकी

*अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह, ये चार महाव्रत भगवान पार्श्वनाथ ने माने थे। ब्रह्मचर्य महाव्रत को उन्होंने अपरिग्रह में ही संकलित कर लिया था। स्त्री को वे परिग्रह मानते थे। किन्तु भगवान महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार ब्रह्मचर्य महाव्रत को स्वतंत्र महाव्रत मानकर महाव्रतों की संख्या पांच कर दी थी !

प्राप्त हो जाएगी। श्री कौशाम्वी जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "भारतीय संस्कृति और अहिंसा" में लिखते हैं—

"परीक्षित के वाद जनमेजय हुए और उन्होंने कुरु देश में महा यज्ञ करके वैदिक-धर्म का झण्डा लहराया। उसी समय काशी देश में पार्श्वनाथ एक नवीन संस्कृति की आधार-शिला रख रहे थे।"

"श्री पार्श्वनाथ का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना, यह चतुर्याम संवरवाद उन का धर्म था। उस का उन्होंने भारत में प्रचुर प्रचार किया। इतने प्राचीन-काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह प्रथम ऐतिहासिक उदाहरण है।"

"श्री पार्श्वमुनि ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह, इन तीन नियमों के साथ अहिंसा का मेल बिठाया था। पहले अरण्य में रहने वाले ऋषि मुनियों के आचरण में जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार में स्थान न था। अस्तु, उक्त तीन नियमों के सहयोग से अहिंसा सामाजिक वनी, व्यावहारिक वनी।"

"श्री पार्श्वमुनि ने अपने नये धर्म के प्रसार के लिए संघ वनाया। वौद्ध साहित्य पर से ऐसा मालूम होता है कि बुद्ध के काल में जो संघ अस्तित्व में थे, उन में जैन साधु तथा साध्वियों का संघ सव से वड़ा था।"

कौशाम्वी जी के इस लेखांश से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान पार्श्वनाथ जी ने आध्यात्मिक जगत में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। और उन्होंने अहिंसा को व्यवस्थित रूप देने का सार्व-भौम श्रेय प्राप्त कर लिया था।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म-स्थान काशी-देश, वनारस नगरी

थी। आप के पिता महाराज अश्वसेन और माता वामादेवी थी। आप का जन्म पौष कृष्णा दशमी को,दीक्षा पौष कृष्णा एकादशी को, केवल-ज्ञान चैत्र कृष्णा चतुर्थी और निर्वाण श्रावण शुक्ला अष्टमी को हुआ। आप की निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। ३० वर्ष तक आप गृहस्थाश्रम में रहे। ७० वर्ष तक संयम का पालन किया और एक हज़ार मुनियों के साथ आप ने मुक्ति-लाभ प्राप्त किया।

भगवान महावीर-

सत्य, अहिंसा के अमर दूत, विश्ववन्द्य भगवान महावीर आज से लगभग २५५६ वर्ष पूर्व इस पवित्र भारत-भूमि पर अवतरित हुए थे। आपने अपने अलौकिक व्यक्तित्व और दिव्य आध्यात्मिक ज्योति से भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक क्रांतिकारी युग का श्रीगणेश करके धार्मिक,सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में नव स्फूर्ति, नव उत्साह तथा नव जीवन का संचार किया था। अविवेक और अज्ञान के भीषण गर्त में पड़े हुए मानव को मानवता का आदर्श प्रकाश दिखला कर उसे सत्य, अहिंसा के सुखद सिंहासन पर विठलाया था। तथा दम तोड़ रही मानवता को जीवन का दान दिया था।

भगवान महावीर का जन्म विहार प्रान्त की वैशाली नगरी (कुण्डलपुर) के राजा सिद्धार्थ के घर में हुआ। इन की माता* त्रिशला महाराजाधिराज चेटक की वहिन थीं। महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। भारत वर्ष के इतिहास में

---

*दिगम्बर मान्यता के अनुसार भगवान महावीर की माता वैशाली-नरेश राजा चेटक की पुत्री थी।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का दिन वह पवित्र दिन है जो मानवता के लिए सदैव आदर एवं सन्मान का दिन बना रहेगा। इस दिन समूचे भारत वर्ष में महावीर-जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनाई जाती है।

महावीर का जन्म नाम वर्धमान रखा गया था। जैन शास्त्रों की मान्यता के अनुसार दशवें स्वर्ग से च्यव कर जब महावीर का जाव माता त्रिशला के गर्भ में आया था, तभी से महाराज सिद्धार्थ के राज्य में धन, जन की सर्वतोमुखी वृद्धि होने लगी थी। अड़ौसी-पड़ौसी राजा लोग भी सिद्धार्थ की दासता स्वीकार करने लगे थे, और सिद्धार्थ जिस काम में हाथ डालते थे, वह निर्विघ्न समाप्त हो जाता था। तथा उन्हें इच्छित लाभ की प्राप्ति होती थी। धन, परिजन तथा अन्य परिवार आदि में आशातीत वृद्धि होने के कारण माता त्रिशला और नरेश सिद्धार्थ ने निश्चय किया कि हमारे वैभव और ऐश्वर्य में जो दिन दूनी और रात चौगुनी उन्न-ति दृष्टिगोचर हो रही है, यह सब गर्भस्थ जीव के ही पुण्य का अपूर्व प्रभाव है। अतः जब यह जीव हमारे घर में जन्म लेगा, तब इस का नाम वर्धमान रखा जाएगा। परिणाम-स्वरूप गर्भ-काल पूर्ण होने पर जब महावीर ने जन्म लिया तब माता-पिता ने पूर्व निश्चय के अनुसार नाम संस्कार के दिन इन का नाम वर्धमान रखा।

वर्धमान बचपन से ही बड़े साहसी और निर्भीक थे। भय को कभी इन्होंने अपने निकट नहीं आने दिया। एक बार ये कुछ साथियों के साथ खेल रहे थे। इतने में अचानक एक सर्प कहीं से आ निकला, और इन की ओर फुंकारें मारने लगा। अन्य बालक तो डर कर भाग गए किन्तु इन्होंने रस्से की भांति उस सर्प को

उठा कर दूर फैंक दिया। सर्प का भयंकर फणाटोप भी इन को भयभीत नहीं कर सका। बस यहीं से इनके जीवनोद्यान में वीरत्व के कुछ-कुछ अंकुर दिखाई देने लग गए थे। और यही अंकुर इन के भावी साधनामय जीवन में एक महान वृक्ष के रूप में परिणत हो गए। तथा इन्हें महावीर जैसे महामहिम नाम से विभूषित कराने में सफल हुए। माता-पिता का रखा वर्धमान नाम साधना-काल में इन के लोम-हर्षक संकटों में ज़रा भी विचलित न होने के कारण, तथा मेरु की भांति निष्प्रकम्प रहने के कारण महावीर के रूप में बदल दिया गया। इसीलिए ये वर्धमान की अपेक्षा महावीर के नाम से ही आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक जगत में विख्यात हैं।

महावीर निर्भीकता और वीरता के तो स्रोत थे ही, किन्तु साथ में करुणा के भी सागर थे। किसी दुःखी और व्याकुल प्राणी को देखकर महावीर का मानस पसोज उठता था। इतिहास कहता है कि महावीर के युग में यज्ञों का बहुत ज़ोर था। यज्ञों में पशुओं और मनुष्यों का बलिदान बहुतायत से होता था। बेचारे मूक पशु और असहाय मनुष्य धर्म का नाम लेकर आग में फूंक दिए जाते थे, और उस पर भी 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति, यह कह कर उस पाप-कृत्य को अहिंसा का रूप दिया जाता था। करुणा-स्रोत भगवान महावीर ने ये सब हिंसा-पूर्ण यज्ञ अपनी आंखों से देखे तो ये सिहर उठे, बस फिर क्या था, राजपुत्र महावीर का हृदय करुणा के मारे रो उठा। अन्त में, इन्होंने यज्ञ में जल रहे प्राणियों की रक्षा करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। धर्म के नाम पर किए जाने वाले किसी भी अनुष्ठान का विरोध करना, उस समय मृत्यु को निमंत्रण देना था, किन्तु महावीर तो महावीर ही थे। उन्होंने इस भय की तनिक चिन्ता नहीं की। ३० वर्ष की भरी जवानी

में सोने के सिंहासन को लात मार कर विश्व-कल्याण के लिए घर से निकल पड़े। और मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को साधु बन कर सर्व-प्रथम तपस्या द्वारा अपने को साधना आरंभ कर दिया।

भगवान महावीर ने साधु बनते ही उपदेष्टा का आसन ग्रहण नहीं किया था। औरों को समझाने से पहले वे स्वयं को समझाना चाहते थे। उन का विश्वास था कि जब तक साधक अपने जीवन को न सुधार ले, अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त न कर ले, तब तक उसे प्रचार-क्षेत्र में नहीं आना चाहिए। यदि कोई आता है तो उसे सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिए महावीर ने साधु बन कर बारह वर्ष तक घोर और कठोर तप किया। मानव समाज से अलग-थलग रहकर जंगलों में, पर्वतों की गुफाओं में निवास कर आत्मा की अनन्त प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगाना ही उन दिनों उन का एक-मात्र लक्ष्य था। अन्त में, उन की साधना सफल हुई और वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भगवान महावीर को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन का अखण्ड प्रकाश प्राप्त हो गया। केवल ज्ञानी बन कर महावीर ने मानव समाज में मानव जगत की सोई मानवता को जगाने का प्रबल आन्दोलन चालू कर दिया।

भगवान महावीर के आचरण-प्रधान धर्मोपदेशों ने भारत की काया ही पलट करके रख दी। वेद-मूलक हिंसक विधि-विधानों में लगे हुए बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान भी भगवान के चरणों के पुजारी बन गए। इन्द्र-भूति गौतम जो अपने युग के एक धुरन्धर दार्शनिक और क्रिया-काण्डी ब्राह्मण थे, पावापुर में विशाल यज्ञ का आयोजन कर रहे थे,इन पर भगवान के विलक्षण ज्ञान-प्रकाश और अखण्ड तपस्तेज का ऐसा अपूर्व प्रभाव पड़ा कि वह सदा के लिए

यज्ञवाद का पक्ष छोड़ कर भगवान के चरणों के दास बन गए। गौतम अकेले नहीं थे, बल्कि चार हजार चार सौ अन्य विद्वान ब्राह्मणों ने भी भगवान के पास मुनि दीक्षा ली। केवल ब्राह्मण ही भगवान के पास साधु बने थे, ऐसी बात नहीं थी, किन्तु बड़े-बड़े राजे-महाराजे तथा सेठ-साहुकारों के सुकुमार पुत्र भी भगवान के चरणों में भिक्षु बने, मगध-सम्राट् श्रेणिक की रानियां जो पुष्प-शय्या से नीचे कभी पांव नहीं रखती थीं, वे भी भगवान की सेवा में उपस्थित हुईं और उन्होंने भी भिक्षुणी बन कर भगवान का शिष्यत्व अंगीकार किया।

भगवान महावीर ने अपने श्रमण-संघ तथा श्रावक संघ को व्यवस्थित रखने के लिए चतुर्विध संघ की स्थापना की। चतुर्विध संघ में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चार समुदायों का सम्मिलन था। इस चतुर्विध संघ को तीर्थ भी कहा जाता है, इस तीर्थ के संस्थापक होने से भगवान महावीर इस युग में २४वें तीर्थंकर माने जाते हैं।

भगवान महावीर के सामने उस समय अनेकों समस्याएं थीं। सर्व-प्रथम नारी-जगत की समस्या को लें। उस समय का समाज नारी के सम्बन्ध में बड़ी दूषित भावना रख रहा था। मातृ-शक्ति का बुरी तरह अपमान कर रहा था। इस ने उसे धार्मिक तथा सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया था। किसी नारी को धर्म-शास्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं था। नारी को अपवित्र और दीन समझकर इस से घृणा की जाती थी, किन्तु महावीर ने इस का विरोध किया और कहा कि पुरुष के समान नारी भी धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भाग ले सकती है। नारी को हीन और

दीन समझना निरी अज्ञानता है। इसके अलावा, भगवान ने भिक्षु-संघ के समान भिक्षुणी संघ, तथा श्रावक संघ की भांति श्राविका संघ बना कर नारी जाति के सम्मान तथा आदर को सर्वथा सुरक्षित रखा। भगवान के संघ में जहां साधुओं की संख्या १४ हज़ार थी वहां साध्वियों की संख्या ३६ हज़ार थी। भगवान के दरबार में अध्यात्म नारी कितनी सम्मानित तथा सत्कृत होती थी? यह उन के चतुर्विध संघ में, भिक्षुणी संघ और श्राविका संघ के स्वतंत्र निर्माण से ही स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

भगवान महावीर के सामने दूसरी समस्या अछूतों की थी। उस समय का हिन्दू समाज शूद्र जाति को अछूत और अस्पृश्य बनाकर उस के साथ बड़ा दुर्व्यवहार करता था। शूद्रों की इतनी अधिक दुर्दशा थी कि यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण की छाया को भी छू जाता था तो बहुत बुरी तरह उस की मार–पीट की जाती थी। धर्म–स्थानों में किसी शूद्र को जाने नहीं दिया जाता था, यदि शूद्र किसी वस्तु आदि का स्पर्श करदे तो उसे फैंक दिया जाता था। शूद्रों के साथ हो रहे इस प्रकार के अमानवीय दुर्व्यवहार से भगवान महावीर को अत्यधिक वेदना हुई। और उन्होंने इस का भी डट कर विरोध किया। भगवान ने कहा कि मनुष्य जाति एक है, उस में जात–पात की दृष्टि से विभाग करना किसी भी तरह ठीक नहीं है। मनुष्य के प्रति, यह स्पृश्य है या अस्पृश्य है, इस प्रकार का भेद–मूलक विचार मानवता के लिए कलंक है। जन्म से कोई स्पृश्य नहीं है और कोई अस्पृश्य नहीं है। ऊंच, नीच के सम्बन्ध में भगवान के विचार कर्म–मूलक थे। भगवान का विश्वास था कि श्रेष्ठ कर्म व्यक्ति को श्रेष्ठ और दुष्ट कर्म व्यक्ति को दुष्ट बना देता है। अतः जन्म से न कोई श्रेष्ठ है और न

कोई दुष्ट है। जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न कोई क्षत्रिय है। जन्म से कोई वैश्य या शूद्र भी नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण आदि बनने के लिए ब्राह्मण के योग्य कर्मों का आचरण करना अपेक्षित होता है। इसी प्रकार उच्चता प्राप्त करने के लिए उच्च कर्मों के सम्पादन की आवश्यकता रहती है। उच्चता की प्राप्ति के लिए किसी वर्ण या वर्ग का कोई बन्धन नहीं है। उच्च विचारों वाला प्रत्येक व्यक्ति उच्चता के सिंहासन पर बैठ सकता है। भगवान महावीर का यह विश्वास केवल विश्वास ही नहीं था, किन्तु हरिकेशीबल जैसे चण्डाल-पुत्रों को अपने भिक्षु-संघ में सम्मान-पूर्वक सम्मिलित कर के भगवान ने जो कुछ कहा, वह करके भी दिखाया। और पोलासपुर में सद्दाल कुम्हार के यहां रह कर भगवान ने पतितपावनता तथा दीन-बन्धुता का उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया। आगम-साहित्य में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जहां भगवान किसी राजा, महाराजा अथवा ब्राह्मण या क्षत्रिय के महलों विराजमान रहे हों। राजपुत्र होकर भी साधारण स्थानों में निवास करना, यह प्रभुवीर के त्याग तथा पतितपावनता का ज्वलन्त उदाहरण है।

भगवान महावीर के सामने तीसरी समस्या यज्ञवाद की थी। उस समय का समाज यज्ञ में पशुओं और मनुष्यों की बलि दिया करता था। उसका विश्वास था कि यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और जीवन के समस्त दुःख दूर हो जाते हैं। अश्वमेध, गोमेध और नर-मेध उस युग के विशेष लब्ध-प्रतिष्ठ यज्ञ माने जाते थे। इन* यज्ञों में जीवित घोड़ों, गौओं और मनुष्यों को यज्ञ-कुण्ड में

*आज भी काली देवी आदि देवियों के मन्दिरों में भैंसों, बकरों, तथा सूअरों की जो बलियां दी जाती हैं, यह सब महावीर-काल में जो यज्ञ चल रहे थे, उन्हीं के ध्वंसावशेष हैं।

फेंक दिया जाता था। अहिंसा के अग्रदूत भगवान महावीर ने यज्ञ-वाद के इस किले को भी तोड़ा। और संसार को अहिंसा का संदेश देते हुए कहा था कि किसी के जीवन का नाश करना अनधिकार-चेष्टा है, अन्याय है, अत्याचार है, हिंसा है। हिंसा कभी स्वर्गदायी नहीं हो सकती। अग्निकुण्ड में जैसे कमल पैदा नहीं हो सकते, वैसे ही हिंसा की आग जहां जल रही हो वहां सुख, शान्ति और आनन्द के पौधे भी नहीं लहलहा सकते हैं। हिंसा से स्वर्ग मिलता है, कितनी ग़लत और विचित्र धारणा है यह ? बलिदान तो पशुओं का होता है, और स्वर्ग मारने वाले को मिलता है! यह अन्धेर नहीं तो और क्या है ? कहा जाता है कि यज्ञ करने से पशुओं का उद्धार हो जाता है। यदि यज्ञ से पशुओं का उद्धार होता है तो याज्ञिक लोग पहले अपना और अपने परिवार का ही उद्धार क्यों नहीं कर लेते ? बेचारे पशुओं को क्यों बलि चढ़ाते हैं ? उद्धार के चिन्तकों को सर्व-प्रथम अपना उद्धार करना चाहिए। विश्वास रखो, हिंसा आखिर हिंसा है। चाहे वह किसी भी उद्देश्य से की जाए और किसी भी धर्म-शास्त्र के नाम पर की जाए। जब हम में से किसी को दिया दुःख धर्म का रूप नहीं ले सकता तो पशुओं को दिया गया दुःख, सुख का कारण कैसे बन सकता है ? अतः हिंसा अधर्म है, पाप है और मानवता के लिए सब से बड़ा अभि-शाप है।

इस प्रकार विश्वन्दद्य भगवान महावीर ने तात्कालिक सभी समस्याओं का समाधान किया, और राष्ट्र की काया पलट दी। सोई मानवता को जगा डाला, भारत का धार्मिक और सामाजिक स्तर उन्नत किया। भगवान महावीर का सान्निध्य पाकर मनुष्य ने मनुष्यता की पावन भूमिका पर रह कर "स्वयं जीओ और दूसरों को

जीने दो" (Live and let live) के सर्वोच्च सिद्धान्त की शीतल छाया तले सानन्द जीवन व्यतीत करने का पवित्र ढंग सीखा। भगवान ने अपने जीवन-काल में धार्मिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में लोगों को एक अपूर्व और एक नया ही दृष्टिकोण दिया था, उनके जीवन का एक-एक पग निराला था, और वह आदर्शता से ओतप्रोत था। भगवान महावीर गृहस्थ में रहे तो भी शान के साथ, और जनगण के मान्य अध्यात्म नेता बने तो भी शान के साथ। अथ से अन्त तक वे आदर्शता का ही विलक्षण उपहार संसार को अर्पित करते रहे। कभी अपने जीवन में वे लड़खड़ाए नहीं, एक सफल सैनिक की भान्ति वे सदा प्रगति पथ पर बढ़ते ही चले गए। अन्त में, पावापुरी की पुण्य भूमि में उस महामहिम क्रांतिकारी महामानव का निर्वाण होता है, तीर्थंकर भगवान महावीर का मोक्ष होता है। कार्तिक मास की कृष्णा अमावस्या का दीपमाला× पर्व (दीवाली) इस जननेता भगवान महावीर के पवित्र निर्वाण का एक पुण्यमय मधुर स्मारक है, जिसे भारत के कोने-कोने में बड़े उत्साह और उल्लास के साथ मनाया जाता है।

महावीर के जीवन पर बहुत कुछ लिखा व कहा जा सकता है, परन्तु सभी कुछ लिखना इस समय हमारा लक्ष्य नहीं है। यहां तो केवल भगवान महावीर की जीवन-झांकी ही पाठकों के सामने चित्रित करना चाहते हैं। विशेष के जिज्ञासुओं को स्वतन्त्र रूप से भगवान महावीर का जीवन-चरित्र देखना चाहिए। संक्षेप में अपनी बात कह दूं: भगवान महावीर जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे, आप की जन्म-भूमि वैशाली (कुण्डलपुर), पिता महाराजा सिद्धार्थ,

×दीपमाला पर्व के सम्बन्ध में इस पुस्तक के "जैन-पर्व" नामक अध्याय में प्रकाश डाला गया है, पाठक उसे देखने का कष्ट करें।

और माता त्रिशला देवी है। आप का विवाह अपने समय की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोधा से सम्पन्न हुआ था*। प्रियदर्शना नाम की आप की एक पुत्री थी। बड़े भाई का नाम नन्दी-वर्धन था। आप उत्कृष्ट त्यागी महापुरुष थे। भारतवर्ष में फैले हुए हिंसामय यज्ञों का आप ने डट कर विरोध किया। बौद्ध साहित्य में भी आप का उल्लेख मिलता है। महात्मा बुद्ध आप के समकालीन थे। आजकल आप का ही शासन चल रहा है।

भगवान महावीर की लोक-प्रियता कितनी बढ़ी-चढ़ी है? इस सम्बन्ध में अपनी ओर से अधिक कुछ न लिख कर भारत के राष्ट्र-पुरुषों ने समय-समय पर जो भगवान महावीर के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, आगे की पंक्तियों में उन्हीं का दिग्दर्शन कराए देता हूं।

विश्व-शान्ति के अग्रदूत भगवान महावीर पर—

लोक-मत

भगवान महावीर अहिंसा के अवतार थे। उन की पवित्रता ने संसार को जीत लिया था। महावीर स्वामी का नाम इस समय यदि किसी भी सिद्धान्त के लिए पूजा जाता है, तो वह अहिंसा है।......अहिंसा तत्त्व को यदि किसी ने अधिक विकसित किया है, तो वे महावीर स्वामी थे।

—महात्मा गांधी

मैं अपने को धन्य मानता हूं कि मुझे महावीर स्वामी के

*दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि भगवान महावीर का विवाह नहीं हुआ; वे बाल-ब्रह्मचारी थे, किन्तु श्वेताम्बर इन्हें विवाहित मानते हैं।

प्रदेश में रहने का सौभाग्य मिला है। अहिंसा जैनों की विशेष सम्पत्ति है। जगत के अन्य किसी भी धर्म में अहिंसा सिद्धान्त का प्रतिपादन इतनी सफलता से नहीं मिलता। वर्तमान युग में भगवान महावीर के सिद्धान्तों के प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है, इस में कोई सन्देह नहीं है।

—राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद

यदि मानवता को विनाश से बचाना है, और कल्याण के मार्ग पर चलना है, तो भगवान महावीर के सन्देश को और उन के बताए हुए मार्ग को ग्रहण किए बिना और कोई रास्ता नहीं है।

—राष्ट्रपति डा० राधा कृष्णन

भगवान महावीर का सन्देश किसी खास क़ौम या फिरके के लिए नही है। बल्कि समस्त संसार के लिए है। अगर जनता महावीर स्वामी के उपदेश के अनुसार चले तो वह अपने जीवन को आदर्श बना ले। संसार में सच्चा सुख और शान्ति उसी सूरत में प्राप्त हो सकती है जब कि हम उन के बताए हुए मार्ग पर चलें।

—राजगोपालाचार्य

आधुनिक संसार एक धधकते ज्वालामुखी के मुंह में बैठा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस ने दोनों भयंकर और विनाशकारी महा-युद्धों से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं की। यदि ज्वालामुखी फट पड़े तो मानवता, सभ्यता, बल्कि संसार का पूर्ण विनाश होने में कोई सन्देह न रहेगा। इस चिन्तामय स्थिति में यदि त्राण पाने का कोई मार्ग है तो वह श्रमण शिरोमणि भगवान महावीर का बतलाया हुआ शान्ति, भ्रातृत्व तथा अहिंसा का सन्देश है।

—भीमसेन सच्चर, गवर्नर आन्ध्र प्रान्त

महावीर ने संसार को स्वतन्त्रता का सन्देश दिया है। मुक्ति सच्चे धर्म में शरण लेने से मिलती है, न कि समाज की बाहरी रीती, रिवाजों से।

—डाक्टर टैगोर

जैन-धर्म के सिद्धान्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरी आकांक्षा है कि मृत्यु के पश्चात् मैं जैन-परिवार में जन्म धारण करूं।

—जार्ज बर्नार्ड शाह

इस प्रकार अन्य भी अनेकों अभिमत महावीर के सम्बन्ध में उपलब्ध होते हैं, किन्तु विस्तार के भय से कुछ एक ऊपर दिए हैं।

प्रश्न—तीर्थंकरों की शरीरगत ऊंचाई कितनी थी?

उत्तर—भगवान ऋषभदेव के शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष की थी। अजितनाथ की ४५० धनुष, संभवनाथ की ४००, अभिनन्दन जी की ३५०, सुमतिनाथ जी की ३००, पद्मप्रभ जी की २५०, सुपार्श्वनाथ जी २००, चन्द्रप्रभ जी की १५०, सुविधिनाथ जी की १००, शीतलनाथ जी की ९०, श्रेयांसनाथ जी की ८०, वासुपूज्य जी की ७०, विमलनाथ जी की ६०, अनन्तनाथ जी की ५०, धर्मनाथ जी की ४५, शान्तिनाथ जी की ४०, कुन्थुनाथ जी की ३५, अरनाथ जी की ३०, मल्लिनाथ जी की २५, मुनिसुव्रत जी की २०, नमिनाथ जी की १५, और अरिष्टनेमि जी की शरीरगत ऊंचाई १० धनुष की थी। भगवान पार्श्वनाथ जी के शरीर की ऊंचाई नौ हाथ और भगवान महावीर के शरीर की ऊंचाई सात हाथ की थी।

प्रश्न—सागरोपम का क्या अर्थ होता है?

उत्तर—एक बार आंख की पलक गिराने में असंख्यात समय

वीत जाते हैं, ऐसे असंख्य समयों की एक आवलिका होती है। ४,४८० आवलिकाओं का एक श्वासोच्छ्वास, नीरोग पुरुष के ३,७७३ श्वासोच्छ्वासों का एक मुहूर्त्त (दो घड़ी), तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र (दिन-रात), १५ अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो महीनों की एक एक ऋतु (वसन्त आदि), तीन ऋतुओं का एक अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन), दो अयन का एक वर्ष होता है।

एक योजन लंबे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार गढहे में देवकुरु,उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य के एक दिन से लेकर सात दिन तक के जन्मे हुए वालक के बालाग्र ऐसे बारीक कर के ठूंस-ठूंस कर भर दिए जाएं,जिनके तीक्ष्ण शस्त्र से भी दो टुकड़े न हो सकें। चक्रवर्ती की सेना उनके ऊपर से निकले तो भी वे दबे नहीं। फिर उस गढहे में से सौ-सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर एक-एक बालाग्र निकाला जाय। इस प्रकार बालाग्र निकालते--निकालते जितने समय में सारा गढहा खाली हो जाए, एक भी वाल उस में शेष न रहे, उतने वर्षों को एक पल्योपम कहते हैं। और दस कोड़ाकोड़ी (१००००,००००,००००,००) पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

प्रश्न—धनुष किस को कहते हैं ?

उत्तर—चार हाथ के परिमाण को धनुष कहते हैं।

प्रश्न—मनुष्य सैंकड़ों हाथ का हो सकता है ? तथा उसकी आयु लाखों वर्षों की भी हो सकती है ? यह सत्य कैसे माना जाए ?

उत्तर—हम ने जो जमाना देखा है, वह केवल ५०–६० वर्ष

पहले का ही जमाना देखा है। उसे देख कर ही हमने प्राचीन जमाने को उस के साथ मिलाने का यत्न किया है। किन्तु यह हमारी भूल है। क्योंकि दोनों में अपेक्षाकृत वड़ा अन्तर पाया जाता है। और प्राचीन समय की वातें आज आश्चर्य से देखी जाती हैं। जैसे कुछ शताब्दियां पहले योद्धा लोग दो मन भारी लोहे का कवच पहन कर युद्ध करने जाते थे। हम्मीर-टीपू सुलतान आदि वीर पुरुष मनों भरी वज़न की गदा,तलवार आदि को हाथ में लेकर लड़ा करते थे। भीमसेन युद्ध में हाथियों को उठा-उठा कर फैंक दिया करते थे। अभी ३०–४० वर्ष पहले लाहौर ज़िले में चग्रां गांव का रहने वाला हीरासिंह नामक पहलवान २७ मन भारी मुदगर घुमाता था और इसी ज़िले के वलटोहे गांव का रहने वाला फत्तेसिंह नामक सिक्ख १०० मन तक भारी अरहट (रेंट) को उठा लेता था। राम-मूर्ति चलती गाड़ी को रोकने का साहस रखता था। इस प्रकार के अन्य अनेकों उदाहरण दिए जा सकते हैं, इन सब पर यदि हम आजकल के नाजुक, निर्वल शरीरों को देख कर विचार करें तो ये सब असंभव सी वातें मालूम पड़ेगी, किन्तु हैं सव की सब सत्य ! अतः हमें वर्तमान काल को अतीत काल के साथ मिलाने का यत्न नहीं करना चाहिए।

प्रकृति का यह अटल सिद्धान्त है कि भूमि यदि वलवान है, अधिक रस वाली है तो उस में उत्पन्न हुई वनस्पति में भी अधिक रस और वल होता है। उस सवल वनस्पति का जो सेवन करते हैं वे मनुष्य भी अधिक वली होते हैं, उनके शरीर में वीर्य भी अधिक होता है, जिस मनुष्य में वीर्य अधिक होता है उसकी सन्तति भी अधिक वलवान और क़दावर (विशाल शरीर वाली) होती है।

उदाहरणार्थ—पंजाब की भूमि से गुजरात की भूमि में रस और शक्ति कम है। इसलिए पंजाब की वनस्पति खाने वाले पंजाबियों के शरीर गुजरातियों की अपेक्षा अधिक बलवान और क़दावर होते हैं और पंजाब से काबुल की भूमि अधिक शक्ति सम्पन्न है, अतः वहां के मेवा आदि वनस्पति भारत की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न होने से वहाँ के पुरुष भी अधिक क़दावर और बलवान होते हैं। इस से स्पष्ट हो जाता है, शरीर की लम्बाई, चौड़ाई पर भूमि तथा भूमि-जन्य वनस्पति का भी बड़ा प्रभाव रहता है। प्राचीन-काल में भूमि शक्ति-सम्पन्न होती थी, तो उस से उत्पन्न हुई वनस्पति भी सबल होती थी, वनस्पति की सबलता से उसे ग्रहण करने वाले भी सबल होते थे, किन्तु आज अवसर्पिणी-काल अर्थात् कलियुग के प्रभाव से भूमि की भी वह पहली सी शक्ति नहीं रही, परिणाम-स्वरूप तज्जन्य वनस्पति भी सबल नहीं है और साथ में वनस्पति खाने वाले मनुष्य भी पहले से बलवान और क़दावर नहीं रहने पाए हैं।

प्राचीन समय के मनुष्यों में शरीर—बल बहुत होता था, जो कि कलियुग के प्रभाव से आगे-आगे के ज़माने में बराबर घटता चला आया है। यह घटती यहीं तक समाप्त नहीं होगी प्रत्युत और आगे बढ़ेगी। इस समय शरीरों में जो बल दृष्टिगोचर हो रहा है, भविष्य में इतना भी नहीं रहेगा, इससे भी कम पड़ जाएगा। ठीक इसी प्रकार शरीर की ऊंचाई के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। पहले समय में शरीर की ऊंचाई भी बहुत बड़ी होती थी, किन्तु घटते-घटते वह भी बहुत कम रह गई है। आज किसी के सामने यदि पुराने समय की शरीरगत ऊंचाई का वर्णन करते हैं, तो उसे वह असंगत और असंभव सी प्रतीत होती

है, परन्तु होती वह सर्वथा सत्य है ।

आजकल प्रायः मनुष्यों का क़द ४-५ फुट ऊंचा होता है। हमारी आंखों को इसी क़द के देखने का अभ्यास पड़ गया है। हमारी आंखें आज इतनी अभ्यस्त हो गई हैं कि यदि सात–आठ फुट का कोई आदमी नजर आ जाए तो हमें महान आश्चर्य होता है और हम उसे पुनः–पुनः देखते हैं। जब व्यक्ति को सामने देखकर भी हमें आश्चर्य होता है, तब जिस शरीर-गत ऊंचाई का हमने कभी साक्षात्कार नहीं किया, उसे सुनकर तो हमारा विस्मित होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे उस आश्चर्य के पीछे सत्यता होती है। क्योंकि अद्भुत और अश्रुत पूर्व पदार्थ को सुन या देखकर विस्मित होना मनुष्य का स्वभाव बन गया है। उसी स्वभाव के अनुसार आज मनुष्य तीर्थंकरों की शरीरगत विशाल ऊंचाई को सुनकर विस्मित हो उठता है।

तीर्थंकरों की शरीरगत ऊंचाई की सत्यता में सब से बड़ा प्रमाण यही दिया जा सकता है कि सौ वर्ष पहले शरीर की जो ऊंचाई पाई जाती थी वह आज नहीं है। समय के प्रभाव से शरीरगत ऊंचाई की क्रमशः हीनता ही इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन समय में शारीरिक ऊंचाई बहुत अधिक होती थी। इस के अतिरिक्त आज सामान्य रूप से शरीर का क़द ४ या ५ फुट ऊंचा माना जाता है, परन्तु आज भी इस से दूने ऊंचे क़द वाले मनुष्य मिल जाते हैं। बम्बई देवल सर्कस में ९ फुट ऊंचा एक आदमी काम करता था। जब आजकल ही दूने क़द वाले मनुष्य मिल जाते हैं, तब फिर प्राचीन समय में बहुत ऊंचे शरीर वाले मनुष्यों का होना क्यों असंगत और असंभव है? १८ सितम्बर सन १९९२ के "गुजरात

मित्र" के ३०वें अंक में अस्थिपंजरों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "कौनटोलोकस" नाम का एक राक्षस १५॥ फुट ऊंचा था। फरटीग्स नाम का मनुष्य २८ फुट ऊंचा था। मुलतान शहर में चौर दरवाज़े के भीतर एक ६ गज की क़ब्र अभी तक विद्यमान है, जिस से स्पष्टतया प्रकट होता है कि उस क़ब्र वाला मनुष्य ६ गज यानी १८ हाथ ऊंचा था। विलायत के एक अजायब घर में डेढ फुट लम्बा मनुष्य का दांत रखा हुआ है। विचार कीजिए, जिस मनुष्य का वह दांत है, वह स्वयं कितना बड़ा होगा ? १२ नव-म्बर सन् १८९३ के गुजराती पत्र में हंगरी में मिले हुए एक राक्षसी क़द के मेंढक के हाड़-पिंजर का समाचार छपा था। उस में लिखा है कि इस मेंढक की दोनों आंखों में १८ इंच यानी डेढ फुट का अन्तर है। जब कि आज कल लगभग एक इंच का होता है। उस की खोपड़ी ३१२ रतल भारी है और समस्त हाडों के पंजर का वज़न १८६०० रतल है। (रतल एक प्रकार का विशिष्ट मान होता है)

उक्त अस्थि-पंजर लाखों वर्ष पुराने नहीं हैं, किन्तु कुछ हज़ार वर्ष पहले के हैं। फिर जैन तीर्थंकरों को हुए तो लाखों, करोड़ों वर्ष बीत गए हैं। ये अनुमान से भी कितने अधिक ऊंचे होने चाहिएं, इसका अनुमान उपर्युक्त उदाहरणों से लगाया जा सकता है। तथा भगवान ऋषभदेव तथा अजितनाथ आदि तीर्थंकरों को तो इतना समय व्यतीत हो चुका है कि जिसकी अंकों द्वारा गणना ही नहीं की जा सकती है। आज के युग में ऊंचे क़द वाले मनुष्य तथा अस्थि-पंजर उपलब्ध हो रहे हैं, तो उस युग में इससे भी बहुत ऊंचे क़द वाले मनुष्य तथा अस्थि-पंजर हों, तो इस में आश्चर्य वाली कोई बात नहीं है।

सन् १८५० में भूमि खोदते समय राक्षसी क़द के मनुष्य का अस्थिपंजर भूमि से निकला था। उस में जवाड़े की अस्थि आज के मनुष्य के पांव जितनी लम्वी थी, उस की खोपड़ी इतनी वड़ी थी कि उसमें २८ सेर पक्के गेहूं समा जाते थे, और दांत का वज़न पौन आउंस(कुछ कम दो तोले)प्रमाण का था। प्रोफेसर"थीओडोर कुक" अपने वनाए "भूस्तर विद्या" के ग्रंथ में लिखते हैं कि पहले समय में उडते गिरोली (छिपकली, किरली) जाति के प्राणी इतने वड़े होते थे कि उन की पांख २७ फुट लम्वी होती थी। जव प्राचीन-काल में इतने विशाल-काय प्राणी मिलते थे तो मनुष्यों की अवगाहना (शरीर-सम्वन्धी लम्वाई.चौड़ाई) वहुत वड़ी हो, इस में आश्चर्य जैसी क्या वात है ? इस के अतिरिक्त वैदिक ग्रंथ महा-भारत के १९वें अध्याय में राहु का सर पर्वत के शिखर जितना वड़ा लिखा है। इसी ग्रन्थ के २९वें अध्याय में ६ योजन ऊंचा और वारह योजन लम्वा हाथी लिखा है। तथा तीन योजन ऊंचा और दश योजन के घेरे वाला कुर्मा-कछुआ वतलाया है। इन सव प्रमाणों से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है, कि प्राचीन-काल में प्राणियों की शारीरिक ऊंचाई वड़ी विशाल होती थी।

मनुष्य का यह स्वभाव रहा है कि वह वर्तमान को देखकर ही प्रायः चलता है। इसीलिए उसे अतीत काल की वातें असंगत और असंभव प्रतीत होती हैं। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं होती। सुनते हैं कि श्री हरदयाल जी एम०ए०हज़ारों पृष्ठों की पुस्तक को एक वार पढ़ लेने पर कण्ठस्थ कर लेते थे, और उन्हें उस पुस्तक का इतना अभ्यास हो जाता था कि उस पुस्तक को उन से इति से अथ की ओर भी सुनना चाहें तो वे ऐसे सुना सकते थे, जैसे कोई पुस्तक पढ़ कर सुना रहा हो। यह वात सर्वथा सत्य है, तथापि सौ वर्षों

के वाद जव किसी के सामने यह वात कही जाएगी तो यह कहेगा कि ऐसा हो ही नहीं सकता, यह सर्वथा असंभव और असंगत है, परन्तु उसके असंभव या असंगत कह देने से तो वह असंभव या असंगत नहीं हो जाएगा। भीम की शक्ति का जिस समय शास्त्रों में वर्णन पढ़ते हैं तो देखते हैं कि भीम हाथियों को आकाश में उछाल देता था और उस के उछाले हाथी न जाने कहां गिरते थे ? पर आज का मनुष्य इसे भी असंभव और असंगत मानता है। राम-मूर्ति ने चलती कार को रोक लिया था। और वह चलती गाड़ी को भी रोकने का साहस रखता था, उस ने अंग्रेजों से कहा था कि यदि गाड़ी सव के लिए मुफत कर दी जाए तो मैं ऐसा करके भी दिखला सकता हूं, पर अंग्रेजों ने ऐसा करना स्वीकार नहीं किया, फलतः वह वात नहीं बनने पाई। सौ वर्षों के पश्चात् यदि किसी के सामने राममूर्ति की वीरता-पूर्ण यह वात आएगी, तो भी असंभव या असंगत वतलाया जाएगा। इन सव वातों से फलित होता है कि वर्तमान को देखने का मनुष्य का प्रायः स्वभाव हो गया है, इसलिए वह वर्तमान काल से जो वात मेल नहीं खाती, उस अतीत-कालीन वात को मानने से इन्कार कर देता है। पर उस के इन्कार कर देने से वस्तु-स्थिति की हत्या नहीं हो सकती। अतः तीर्थंकरों की शारीरिक अवगाहना के सम्बन्ध में जैन शास्त्रों में जो कुछ लिखा है, वह भी सर्वथा सत्य है, इस में असत्यता की विचारणा नहीं करनी चाहिए।

रही तीर्थंकरों की आयु की वात, उसके सम्बन्ध में भी इतनी ही वात समझनी चाहिए कि आयु का प्रमाण आजकल की अपेक्षा प्राचीन-काल में वहुत अधिक था। इस का कारण इतना ही है कि उस समय शरीर में शक्ति वहुत होती थी। और आज उस

शक्ति का अभाव है, शक्ति-हीनता या निर्बलता के कारण ही आजकल मनुष्य प्रायः ४०-५० वर्ष तक कठिनता से पहुंच पाते हैं, जब कि कुछ समय पहले मनुष्य प्रायः ९० या १०० वर्ष के हो कर ही मरते थे। इस से सिद्ध होता है कि प्राचीन-काल में आयु का प्रमाण भी आजकल की अपेक्षा वहुत अधिक था, जो शरीर की ऊंचाई तथा वल के साथ-साथ वरावर दिनों-दिन घटता चला आया है, और घटता ही चला आ रहा है। जैसे अवसर्पिणी काल या कलियुग के प्रभाव से शारीरिक अवगाहना कम हो गई है, और होती जा रही है, वैसे ही प्राणियों की आयु भी अवसर्पिणी या कलियुग के प्रभाव से थोड़ी रह गई है और हीनता की ओर वढ़ रही है। काल का प्रभाव प्रत्येक पदार्थ पर पड़ता है। इस सत्य से कभी इन्कार नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ-सत्ययुग में मनुष्यों का वल, वुद्धि, विचार, तथा रहन-सहन जिस प्रकार का था, आज उस में वहुत अन्तर आ गया है। आज वे सव वातें केवल शास्त्रों की वातें या स्वप्न वन गई हैं। आज उस युग जैसी सात्त्विकता देखने को भी नसीव नहीं होती। यही स्थिति आयु की है। आयु भी समय के प्रभाव से अछूती नहीं रही है। अवसर्पिणी काल या कलियुग के भीषण प्रहारों ने आयु की लम्वाई को भी समाप्त कर दिया है।

तीर्थंकरों की महान आयु सुनकर हमें आश्चर्य होता है, और वह हमें असंभव और असंगत सी प्रतीत होती है, किन्तु वात इतनी विस्मयजनक नहीं है, जितनी आज हम ने समझ रखी है। क्योंकि काल के प्रहार वड़े जवरदस्त होते हैं। समय× के चक्र को समझ

×समय (काल) के विभागों का वर्णन प्रस्तुत के "लोक-स्वरूप" नामक अध्याय में किया गया है। पाठक उसे देखने का कष्ट करें।

लेने पर कुछ भी विस्मयजनक नहीं रहने पाता।

"प्राचीन कालीन महापुरुषों की आयु महान होती थी" यह मान्यता केवल जैन-दर्शन की ही नहीं है। वैदिक परम्परा भी ऐसा ही मानती है। उदाहरणार्थ, मनुस्मति की टीका में मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम की आयु दस हज़ार वर्ष की लिखी है। सम्वत् १६४६ में विरजानन्द प्रैस से लाहौर में प्रकाशित व्यासकृत भाष्यसहित योग-दर्शन पृष्ठ ६१-६२ पर "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" २६। इस सूत्र के भाष्य में लिखा है—

ततः प्रस्तारः सप्त लोका......अणिमाद्यैश्वर्योपपन्ना कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिनः औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः। एते...महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः इत्यादि।

अर्थात्—सात लोक हैं।......अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियों से सहित, यथेच्छभोगी, सुन्दरीप्रिय, अप्सराओं के परिवार वाले, औपपादिक शरीरधारी देव होते हैं। उनकी आयु (उम्र) कल्प के बराबर होती है।......ये देव महाभूतों को वश करने वाले, ध्यान मात्र से आहार करने वाले (विचार करते ही जिन को भोजन मिल जावे, भूख मिट जावे) हज़ार कल्प की आयु वाले होते हैं।

देव-तर्पण प्रकरण में सत्यार्थ-प्रकाश के १०१वें पृष्ठ पर स्वामी दयानन्द जी ने शतपथ ब्राह्मण का "विद्वांसो हि देवाः" यह प्रमाण देकर विद्वान मनुष्यों को ही देव बतलाया है। इस कारण स्वामी दयानन्द जी के कथनानुसार योगदर्शन के प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि विद्वान पुरुषों की आयु हज़ार कल्पों की होती है। एक कल्प हज़ारों वर्षों का होता है। इसलिए योगदर्शन के लिखे अनुसार कभी कहीं मनुष्यों की आयु लाखों वर्षों की भी

होनी चाहिए। जब वैदिक जगत का प्रामाणिक ग्रंथ योगदर्शन मनुष्यों की ऐसी लम्बी आयु बतलाता है, जिसका भाष्य महर्षि व्यासकृत है, तब तीर्थंकरों की लम्बी आयु असंभव, अप्रामाणिक या असंगत कैसे कही जा सकती है ?

वैदिक परम्परा के महामान्य ऋषिवर विश्वामित्र के तप के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे ८०-८० हज़ार वर्ष लगातार लम्बा तप किया करते थे। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन-काल में बहुत लम्बी आयु होती थी। यदि लाखों वर्ष की आयु को असंभव या असंगत मानलिया जाए तो ऋषि विश्वामित्र का ८०-८० हज़ार वर्ष का लम्बा तप कैसे संभव और संगत हो सकता है ?

इस के अतिरिक्त, भारत के मनुष्यों की ये टोटल आयु २६ वर्ष है। अमेरीका आदि देशों में कुल ४२ वर्ष की है,इससे अधिक वर्षों तक मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। किन्तु पृथ्वीराज चौहान के समय में भारतीय मनुष्यों की टोटल आयु ८० वर्ष की थी। इस प्रकार थोड़ी सी शताब्दियों में ही मनुष्यों की आयु में इतनी हीनता आ गई है तो लाखों करोड़ों, नहीं-नहीं अंकों द्वारा गणना न किए जा सकने वाले प्राचीन-काल से अब तक कितनी हीनता आनी चाहिए ? यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

आशा है, उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जैन तीर्थंकरों की लम्बी आयु तथा ऊंची काया का जो जैन-शास्त्रों में वर्णन मिलता है, वह सर्वथा सत्य ही है, उसे किसी भी प्रकार असंभव या असंगत नहीं कहा जा सकता।

पुरातनकालीन लम्बी आयु और शारीरिक लम्बाई-चौड़ाई के सम्बन्ध में लेखक ने श्री रणवीर जी, सम्पादक उर्दू-मिलाप, नई

दिल्ली, को एक प्रश्न-पत्र भेजा था। उस का जवाब उन्होंने २५-११-५८. मंगलवार के उर्दू-मिलाप के "आप के सवाल, और उन का जवाब यह है, इस स्तंभ में दिया है। वह मननीय, तथा चिन्तनीय होने से यहां दिया जाता है। वह ज्यों का त्यों इस प्रकार है—

प्रश्न—हमारे ग्रंथों में लिखा है कि पहले ज़माने में ऋषियों, महात्माओं और दूसरे साधारण लोगों की आयु बहुत लम्बी होती थी, हज़ारों और लाखों वर्षों की। यह भी लिखा है कि आज को अपेक्षा उन के शरीर अधिक लम्बे और चौड़े होते थे। क्या यह बात सत्य है ?

उत्तर—हमारे ग्रन्थों के अनुसार सृष्टि को प्रारंभ हुए पौने दो अरब वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। छः मन्वन्तर समाप्त हो चुके हैं। अब सातवें मन्वन्तर के २८वें महायुग (या चतुर्युग) का आखिरी युग कलियुग चल रहा है। इस के भी पांच हज़ार से अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। हमारे शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ महायुग होते हैं। प्रत्येक महायुग में चार युग, एक महायुग का समय ४३,२०,००० वर्ष होता है। एक मन्वन्तर का काल ३०,६७,२०,००० वर्ष है। इन्हीं शास्त्रों में यह भी लिखा है कि प्रत्येक मन्वन्तर के पश्चात् पृथ्वी पर एक लघु प्रलय आती है। प्रायः सभी मनुष्य और पशु नष्ट हो जाते हैं। नाश का यह समय एक महायुग अर्थात् ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इन ४३,२०,००० वर्षों में जो कुछ भी पुराना है, वह प्रायः सब नष्ट हो जाता है। तब अगले मन्वन्तर के प्रारम्भ होने पर पुनः सब तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। फिर शास्त्रों में यह भी लिखा है कि प्रत्येक महायुग के

अनन्तर महानाश होता है। सब कुछ नहीं,परन्तु बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। इस तरह प्रत्येक युग के अनंतर भी विनाश होता है। कोई इतना बड़ा युद्ध होता है, जिस में मानव-जगत का बहुत बड़ा भाग समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में कौन कह सकता है कि आज जो महायुग चल रहा है, इस से पहले के २७ महायुगों में संसार की और मनुष्य की स्थिति क्या थी ? और इस से पहले के छः मन्वन्तरों में क्या थी ?

आज जो ज्ञान हमारे पास है, वह अधिक से अधिक दस या पन्द्रह हज़ार वर्षों का है। वह भी अधूरा और धुन्धला सा। पाँच हज़ार वर्ष पहले का ज्ञान इस से कुछ अच्छा है। ठोस ज्ञान सिर्फ तीन या साढ़े तीन हज़ार वर्षों का है। इन तीन या साढ़े तीन हज़ार वर्षों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि साधारणतः उन लोगों की आयु बहुत अधिक थी या क़द बहुत लम्बे थे।

महाभारत के काल में श्री कृष्ण की आयु देहान्त के समय १२५ वर्ष की थी। आचार्य द्रोण की आयु ४०० वर्ष,द्रुपद इनसे भी बड़े थे,और लड़ रहे थे। भीष्मपितामह की आयु १६० वर्ष की थी। शान्तनु के भाई वल्हीक की आयु १८५ वर्ष की थी। महर्षि व्यास जिन्होंने महाभारत लिखा है, तीन सौ वर्षों तक जीवित रहे। इन सब महापुरुषों की आयु महाभारत में लिखी है। इन के अतिरिक्त कुछ ऐसे महापुरुष भी हैं, जिनका उल्लेख रामायण में भी आता है और इस के पश्चात् महाभारत में भी। ये महापुरुष हैं—महर्षि मार्कण्डेय,इन्द्र (देवता नहीं, बल्कि एक महाराज), नारद, और श्री परशुराम आदि। इन सब का उल्लेख राम की कथा में भी आता है, और महाभारत की कथा में भी। श्री राम त्रेतायुग में हुए, महाभारत द्वापर के अन्त पर हुआ, इस का अर्थ यह है कि यह

सब लोग कम से कम ८,६४,००० वर्ष तक जीवित रहे। आज यह बात कोरी गप्प मालूम होती है, किन्तु महर्षि चरक ने अपने आयुर्वेद ग्रंथ में लिखा है कि विशेष प्रकार के रसायन का उपयोग करके पुरातन समय में लोग हज़ारों वर्षों तक बीमारी, निर्बलता, वार्धक्य और मृत्यु के बिना जीवित रहते थे। यह विशेष प्रकार की रसायन आज हम जानते नहीं हैं। परन्तु मनुस्मृति में मनु महाराज ने भी कहा है कि सतयुग और त्रेता में लोगों की साधारण आयु चार सौ वर्ष होती थी। बाद में वह शनैः—शनैः घटती गई। प्रत्येक युग में चार सौ का चतुर्थ भाग कम हो जाता है। अर्थात् सतयुग में चार सौ, त्रेता में तीन सौ, द्वापर में दो सौ और कलियुग में एक सौ। परन्तु स्मरण रखिए कि यह साधारण लोगों की आयु है। महर्षियों, योगियों, सन्तों और उन विद्वानों की नहीं, जो रसायन विद्या को जानते थे। परन्तु यह बात कि पुरातन काल में लोगों की आयु लम्बी होती थी, सिर्फ हमारे देश के ग्रंथों में ही नहीं लिखी। बाईबिल (Bible) में और मिस्र की पुरानी पुस्तकों में कई सन्तों और महात्माओं की आयु सात सौ, आठ सौ और नौ सौ वर्ष लिखी है। ऐसी दशा में प्रश्न पैदा होता है कि अगर उस समय में लोगों की आयु इतनी लम्बी होती थी, तो आज क्यों नहीं होती ? इस का उत्तर जानना हो तो अमेरीका और अफ्रीका के खेतों में होने वाली फसलों को और बाग़ों में होने वाले फलों को देखिए। इन दोनों देशों के बहुत से भागों की भूमि पता नहीं कितनी शताब्दियों से कृषि (काश्त) के बिना पड़ी थी। जब इन में बीज बोए गए तो प्रत्येक वस्तु की फसल संसार के दूसरे भागों की अपेक्षा कई गुणा उत्तम होने लगी। कारण बिल्कुल स्पष्ट है कि इन दोनों स्थानों पर भूमि के अन्दर शताब्दियों तक

उपयोग में न लाए जाने के कारण जो शक्ति है, वह उन देशों की भूमियों में नहीं। जो शताब्दियों से आबाद हैं। और जिन भूमियों में क़ाश्त हो रही है। यह कई एक शताब्दियों तक उस को उपयोग में न लाए जाने का परिणाम है। इसलिए प्रत्येक मन्व-न्तर के बाद जब भूमि ४३,२०,००० वर्षों तक उपयोग में लाए बिना पड़ी रहेगी तो अगले मन्वन्तर के प्रारम्भ में भूमि की शक्ति असीम होगी और मनुष्यों की आयु आज की अपेक्षा अत्यधिक हो तो, यह असंभव नहीं है।

★

बरनार्ड शाह और जैन–धर्म

ट्रिब्यून ता० ३१–७–४६. पृष्ठ ४ सम्पादकीय लेख के कालम तीसरे में जार्ज बरनार्डशाह के विषय में लिखा है—

बरनार्डशाह इङ्गलैंड के ही नहीं,प्रत्युत संसार भर के सुप्रसिद्ध लेखक हैं। इन की आयु ९० साल की है। सुलझे हुए विचारों के ये विद्वान हैं। अपने समय के अनुपम उपन्यासकार हैं। सर्वतो-मुखी प्रतिभा के धनी हैं। इन का सब से बड़ा आर्ट (कला) जन-हित की भावना से भरपूर साहित्य का निर्माण है। अभी–अभी उन्होंने यह इच्छा प्रकट की है कि यदि मुझे अगले जन्म में धर्म चुनना पड़े तो मैं जैन–धर्म को ही पसंद करूंगा। बरनार्डशाह के अपने शब्द निम्नोक्त हैं—

"If I were to select a religion, it would be,, an eastern one, Jainism,"

अर्थात्—यदि मुझे कोई धर्म चुनना पड़े तो वह पूर्वीय "जैन–धर्म" होगा। जैन–धर्म की महानता और लोक–प्रियता कितनी अपूर्व है ? जैन–धर्म विश्व के धर्मों में कितना ऊंचा स्थान रखता है, यह बात जार्ज बरनार्डशाह के उक्त शब्दों से अच्छी तरह प्रकट हो जाती है।

★

स्थानकवासी और अन्य जैन संप्रदाएं

चतुर्दश अध्याय

प्रश्न—स्थानकवासी शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर—व्याकरण की दृष्टि से 'स्था' धातु से 'अनट्' प्रत्यय हो कर स्थान शब्द बनता है। फिर स्वार्थ में 'क' प्रत्यय कर लेने पर स्थानक रूप हो जाता है। वास शब्द से शीलार्थ में "णित्" प्रत्यय करके "वासी" शब्द बनता है। स्थानक और वासी दोनों शब्दों को मिलाकर 'स्थानकवासी' शब्द सिद्ध हो जाता है। स्थान का अर्थ है—ठहरने की जगह और वासी शब्द "निवास करने वाला" इस अर्थ का परिचायक है। स्थानक में निवास करने वाला व्यक्ति× स्थानकवासी कहलाता है।

स्थानक द्रव्य और भाव इन भेदों से दो प्रकार का होता है। द्रव्यस्थानक शब्द अमुक प्रकार का क्षेत्र, भूमि या निवास करने की जगह आदि अर्थों का बोधक है। स्थानक शब्द द्रव्य दृष्टि से सा-मान्यतया इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होता है, किन्तु जैन परम्परा में यह शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ हो गया है। स्थानक जैन-जगत का अपना एक पारिभाषिक शब्द बन गया है और उस का प्रयोग

×स्थीयते अस्मिन्निति स्थानम्, स्थानमेवेति स्थानकम्, स्थानके वसति, तच्छील इति स्थानकवासी।

उस स्थान के लिए किया जाता है जिस में माटी, पानी, तृण, घास आदि सचित्त पदार्थ नहीं हैं, जो स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित है, जो साधु-मुनिराजों के निमित्त तैयार नहीं किया गया है, अर्थात् साधु को निमित्त बनाकर जिस में किसी भी प्रकार की आरंभ, समारंभ आदि क्रियाएं नहीं की गई हैं, चाहे वह किसी व्यक्ति-विशेष का है, या किसी समाज का है, ऐसे शान्त, एकान्त तथा शुद्ध स्थान को स्थानक कहा जाता है। अथवा उस धर्म-स्थान का नाम स्थानक है, जिस का श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन परम्परा को मानने वाले गृहस्थ लोगों ने अपनी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्माण किया है। अथवा समय-समय पर संयमशील जेन-मुनि जिस स्थान में निवास करते हैं, धर्म प्रचार करने के लिए अपनी मर्यादा के अनुसार आकर ठहरते हैं वह स्थान स्थानक कहलाता है।

स्थानक शब्द की उक्त अर्थ-विचारणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानक शब्द का प्रयोग दो स्थानों के लिए किया जा सकता है, एक, जो सामान्य मकान है, जो धर्म-स्थान के रूप में नहीं बनाया गया है,जो किसी एक व्यक्ति का है,और जिस में साधु मुनि-राज ठहरते हैं,धर्मोपदेश करते हैं, तथा दूसरा, वह स्थान जिस का 'धर्म-स्थान' के रूप में समाज या एक व्यक्ति द्वारा निर्माण हुआ है। इस प्रकार स्थानक शब्द दो अर्थों का बोधक है, किन्तु आज-कल इस का अधिक प्रयोग श्वेताम्बर स्थानक-वासी जैन श्रावक संघ के एक धार्मिक स्थान के लिए ही किया जाता है।

स्थानक को उपाश्रय* भी कहा जाता है। स्थूल दृष्टि से देखा

*उपाश्रीयते संसेव्यते संयमात्मपालनायेत्युपाश्रयः। (स्थानांग-वृत्तिः)

जाए तो ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, दोनों एक ही अर्थ के परिचायक हैं। मूर्ति-पूजा को आगम-विहित न मानने वाली स्थानकवासी परम्परा और उसे आगमविहित मानने वाली श्वेताम्बर मन्दिर-मार्गी परम्परा दोनों में स्थानक और उपाश्रय इन शब्दों का व्यवहार चल सकता है। इन दोनों शब्दों में अर्थगत कोई विशेष भेद न होने पर भी सम्प्रदाय-भेद से एक ही भाव के वाचक दोनों शब्द आज बंट गए हैं। मूर्ति-पूजा में विश्वास न रखने वाली स्थानक-वासी परम्परा में प्रायः स्थानक शब्द प्रसिद्ध है, और मूर्ति-पूजा में विश्वास रखने वाली श्वेताम्बर या पीताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा में उपाश्रय शब्द को अपना लिया गया है। वैसे स्थानकवासी परम्परा में भी उपाश्रय शब्द का आदर पाया जाता है, किन्तु अन्तिम शताब्दियों से इस परम्परा में स्थानक शब्द का ही अधिक प्रयोग मिलता है।

भावस्थानक—

स्थानक का दूसरा भेद भावस्थानक है। आत्मा की स्वाभाविक गुण-परिणति या आत्मा का निज स्वरूप में रमण करना भावस्थान कहलाता है। जब आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारों को जीवन से अलग कर देता है, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता आदि आत्म-गुणों में रमण करता है। भौतिक पदार्थों की ममता को छोड़ कर ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अपने को लगा देता है उस समय वह भावस्थानक को प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः आत्मा का विभाव को छोड़ कर निज स्वरूप में रमण करना भावस्थानक है।

अध्यात्म जीवन में द्रव्य शुद्धि और भाव शुद्धि दोनों को नि-

तान्त आवश्यकता होती है। द्रव्यशुद्धि का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भाव शुद्धि में सहायता प्रदान करती है। इसलिए जैनागमों ने साधुओं के लिए स्थान-स्थान पर एकान्त और शान्त स्थान में रहने का तथा काम-विवर्द्धक स्थान के परित्याग करने का वल-पूर्वक आदेश दिया गया है। वह स्थान जहां संयम को वाधा पहुंचती हो, अन्तर्जगत के दूषित और अस्वस्थ होने की सम्भावना रहती हो उस को त्याग देने की आज्ञा प्रदान की है। इस प्रकार जहां द्रव्य शुद्धि के लिए जैनागमों ने ज़ोर दिया है। वहां इस से अधिक भाव-शुद्धि पर वल दिया है। भाव-शुद्धि का सर्वोपरि स्थान है। भाव शुद्धि के विना द्रव्य शुद्धि का कोई महत्त्व नहीं रहता। वस्तुतः भावशुद्धि से ही द्रव्य शुद्धि में जीवन आता है। अन्यथा वह मृत कलेवर की भांति निस्सार और निष्प्राण वन जाती है। द्रव्य शुद्धि केवल जीवन के वाह्य वातावरण को शुद्ध करती है किन्तु आत्मसमाधि और संयम की निर्मलता की प्राप्ति के लिए भावशुद्धि अपेक्षित होती है। इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक को द्रव्य शुद्धि से आगे वढ़ कर भावशुद्धि को अपनाने की आवश्यकता होती है। भाव शुद्धि का ही दूसरा नाम भावस्थानक है। भाव-स्थानक आत्मा की संयम-पूर्ण शुद्ध अवस्था का ही नामान्तर है।

जैनागमों ने भाव ५ वतलाए हैं— १-औपशमिक, २-क्षायिक, ३-क्षायोपशमिक, ४-औदयिक, और ५-पारिणामिक। जो उपशम से पैदा हो, उसे औपशमिक भाव कहते हैं। उपशम एक प्रकार की आत्मा की शुद्धि होती है। जो सत्तागत कर्म का उदय रुक जाने पर वैसे ही प्रकट होती है जैसे मल के नीचे वैठ जाने पर जल में स्वच्छता प्रकट होती है। क्षय से पैदा होने वाले भाव का नाम क्षायिक है। यह आत्मा की वह परमविशुद्धि है जो कर्म का सम्वन्ध सर्वथा

छूट जाने पर प्रकट होती है। जैसी सर्वथा मल के निकाल देने पर जल स्वच्छ हो जाता है, ऐसे ही क्षायिक भावों में आत्मा सर्वथा स्वच्छ हो जाती है। क्षय और उपशम दोनों से पैदा होने वाला भाव क्षायोपशमिक कहलाता है। क्षयोपशम भी एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि ही है। यह कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अंश का* प्रदेशोदय द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित है जैसे धोने से मादक शक्ति के कुछ क्षीण हो जाने और कुछ रह जाने पर कोदों (सांवाँ-की जाति का एक मोटा अन्न) की शुद्धि होती है। उदय से होने वाले भाव को औदयिक कहते हैं। उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य–मालिन्य है जो कर्म के विपाकानुभव‡ से वैसे हो पैदा होता है,जैसे मल के मिल जाने पर जल में मालिन्य प्रकट हो जाता है। पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है जो सिर्फ द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप प्रकट हुआ करता है। अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप–परिणमन ही पारिणामिक भाव कहलाता है। जीवत्व,चैतन्य,भव्यत्व–मुक्ति की योग्यता, अभव्यत्व-मुक्ति की अयोग्यता ये तीनों भाव पारिणामिक हैं, स्वाभाविक हैं। ये तीनों न कर्मों के उदय से, न उपशम से, न क्षय से और न क्षयोपशम से पैदा होते हैं, किन्तु अनादिसिद्ध आत्म–द्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध हैं, इसी से वे पारिणामिक हैं।

इन पांच भावस्थानों में क्षायिक भाव ही मुख्य भावस्थान है। यह भावस्थान कर्म सम्बन्ध के सर्वथा क्षय हो जाने के अनन्तर ही

---

*नीरस किए हुए कर्म–दलिकों का वेदन प्रदेशोदय कहलाता है।

‡रसविशिष्ट दलिकों का विपाकवेदन ही विपाकोदय होता है।

प्राप्त होता है। कर्म-सम्बन्ध का नाश करने के लिए संयम की परिपालना अत्यावश्यक है। संयम का पालन करने के लिए चारित्र को अपनाना होता है। चारित्र पांच हैं—१–सामायिक, २–छेदोपस्थापनीय, ३–परिहारविशुद्धि, ४–सूक्ष्मसम्पराय, और ५–यथाख्यात। समभाव में स्थित रहने के लिए सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक है। प्रथम दीक्षा लेने के बाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेष शुद्धि–निमित्त जो जीवन–पर्यन्त पुनः बड़ी दीक्षा ली जाती है या प्रथम ली हुई दीक्षा सदोष हो जाने पर उस का छेद कर के फिर नए सिरे से जो दीक्षा का आरोप किया जाता है वह छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है। जिस में विशेष प्रकार के तपः–प्रधान आचार का पालन किया जाता है, उसे परिहार–विशुद्धि–चारित्र कहते हैं। जिन में क्रोध आदि कषायों का तो उदय नहीं होता, सिर्फ लोभ का अंश अति–सूक्ष्म रूप से शेष रहता है वह सूक्ष्म–सम्पराय चारित्र कहलाता है तथा जिस में किसी भी कषाय का उदय नहीं होने पाता वह यथाख्यात (वीतराग) चारित्र कहा जाता है।

भाव–स्थान को प्राप्त करने वाला साधक उक्त चारित्र का पालन करता है। ये चारित्र भावस्थान को प्राप्त करने के साधन हैं। इन साधनों द्वारा भावस्थान की प्राप्ति होती है। इन साधनों पर "अन्नं वै प्राणाः"× इस सिद्धान्त के अनुसार यदि साध्य का आरोप कर लिया जाए तो इन को भी भावस्थान कह सकते हैं। साधन में साध्य का आरोप कर लेने पर सामायिक आदि संयम-स्थान भी भावस्थान के नाम से व्यवहृत किए जा सकते हैं। सामा-

×अन्न ही प्राण है। यहां अन्न प्राणों का साधन होने पर भी साध्य रूप में ही ग्रहण किया गया है।

यिक आदि अनुष्ठानों में संलग्न आत्मा पर-भाव को छोड़ कर निज स्वभाव में अवस्थित होता है। पुद्गलानन्दी न रह कर आत्मानन्दी बन जाता है। इसलिए भावस्थान का "आत्मा का विभाव को छोड़-कर निजस्वरूप में प्रतिष्ठित होना" यह अर्थ भी फलित हो जाता है। इस प्रकार भावस्थानक के दो अर्थ प्रमाणित होते हैं—१—आत्मस्वरूप तथा २—आत्मस्वरूप की प्राप्ति में साधन–भूत सामायिक आदि चारित्र।

स्थानक शब्द की द्रव्य और भाव गत अर्थविचारणा के अनन्तर यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य स्थानक में वास करने वाला द्रव्य-स्थानकवासी और भाव-स्थानक में वास करने वाला भावस्थानकवासी कहलाता है। स्थानके द्रव्यस्थानके कस्यांचित् वसत्यां वसति तच्छील इति द्रव्यस्थानकवासी, तथा भावस्थानके भावसंयमादिरूपे सम्यक्—चारित्रे वसति तच्छील:, भावस्थानकवासी। इस प्रकार गुणनिष्पन्न यौगिक व्युत्पत्ति के द्वारा स्थानकवासी के दोनों रूपों की स्पष्टता और प्रामाणिकता भली भांति सुनिश्चित हो जाती है। यह सत्य है कि शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर व्यक्ति चाहे जैन हो या अजैन हो द्रव्य और भाव स्थानक में वास करने से स्थानकवासी कहला सकता है। स्थानकवासी शब्द की भावना से भावित प्रत्येक व्यक्ति स्थानक-वासी पद से व्यवहृत किया जा सकता है किन्तु यह शब्द आज एक विशिष्ट सम्प्रदाय के रूप में रूढ़ हो गया है। मूर्ति–पूजा में वि-श्वास न रखने वाला श्वेताम्बर जैन–समाज ही आज स्थानकवासी शब्द द्वारा समझा व माना जाता है।

स्थानकवासी शब्द का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इस की परिधि में संयम के महा-पथ पर बढ़ने वाले, आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने के लिए कर्मसेना के साथ युद्ध करने वाले सभी संयमी, साधु,मुनि-

राज और आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने वाले,केवल ज्ञानी,सिद्ध,बुद्ध सभी जीव आ जाते हैं। मोक्ष-स्थान को प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले साधक तो विशुद्ध भाव से सामायिक आदि चारित्र रूप भावस्थान में निवास करने के कारण तथा भावस्थान (संयम) के पोषक निर्दोष स्थानक, उपाश्रय या वसति आदि में वास करने से स्थानकवासी कहलाते ही हैं किन्तु लोक के अग्रभाग में विराजमान सिद्ध भगवान भी स्थानकवासी कहे व माने जा सकते हैं। तथा सर्वोत्कृष्ट कैवल्य-विभूति द्वारा प्राप्त,परम-पुनीत जीवन-मुक्त स्थान में निवास करने वाले तीर्थंकर भगवान और अन्य केवली भी स्थानकवासी प्रमाणित हो जाते हैं, क्योंकि ये सब आत्माएं अपने भावस्थान-ज्ञान, दर्शन आदि आत्मस्वरूप में विराजमान रहती हैं। इनका भावस्थानक में होना ही इनको स्थानकवासी प्रमाणित कर देता है। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक मोक्षाभिलाषी साधक को सर्वप्रथम स्थानकवासी बनना ही पड़ता है। स्थानकवासी बनकर ही वह मोक्षमन्दिर को प्राप्त करने में सफल-मनोरथ हो सकता है। स्थानकवासी बने बिना मोक्ष का महामन्दिर हाथ नहीं आ सकता। कारण स्पष्ट है, जब तक यह आत्मा संयम रूप भावस्थान में वास करता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप को उपलब्ध नहीं होता तब तक मोक्ष प्राप्त होना कठिन ही नहीं, बल्कि सर्वथा असंभव है। अतः प्रत्येक साधक को सब से पहले स्थानकवासी बनना होता है। उसके अनन्तर ही उसे सच्चिदानन्द की अवस्था मिल सकती है।

स्थानकवासी शब्द का प्रयोग केवल जैन-साधुओं के लिए ही नहीं होता, बल्कि स्थानकवासी परम्परा को मानने वाले या देश-संयम रूप भावस्थान में वास करने वाले गृहस्थ वर्ग पर भी

होता है। जैन-परम्परा में श्वेताम्बर शब्द से जैसे श्वेताम्बर साधु और गृहस्थ दोनों का बोध होता है तथा दिगम्बर शब्द जैसे दिगम्बर साधु और गृहस्थ इन दोनों का परिचायक है, वैसे ही स्थानकवासी शब्द स्थानकवासी साधु और गृहस्थ दोनों का संसूचक है। दूसरे शब्दों में, स्थानकवासी शब्द से त्यागी वर्ग और गृहस्थ वर्ग दोनों का ग्रहण किया जाता है।

प्रश्न—स्थानकवासी समाज को ढूण्ढक मत भी कहा जाता है, ढूण्ढक शब्द का क्या भाव है ?

उत्तर—ढूंढक शब्द का भी अपना एक गंभीर और मौलिक रहस्य है। यह शब्द लघुता या हीनता को द्योतक नहीं है। इसके पीछे महान दृष्टिकोण रहा हुआ है। इस का अर्थ है—ढूण्ढने वाला, खोज करने वाला। जीवन-विकास में खोज का, अन्वेषण और अनुसन्धान का कितना बड़ा मूल्य है ? यह आज के वैज्ञानिक युग में किसी से छुपा हुआ नहीं है। अन्वेषणवृत्ति ने ही आज मनुष्य को पक्षी की तरह आकाश में उडादिया है, मछली की भांति समुद्र की छाती पर तरा दिया है। अणु शक्ति और विद्युत् शक्ति आदि अन्य भी अनेक प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव अन्वेषण और अनुसन्धान का ही सुपरिणाम है। अनुसन्धान में जीवन है, यदि उसका सदुपयोग हो तो इसी में स्वर्ग है और मुक्ति भी इसी के हाथों में खेलती है।

"जिन खोजां तिन पाइयां" की रहस्य-पूर्ण उक्ति ढूण्ढक शब्द की महत्ता, उपयोगिता और लोक-प्रियता को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार कर रही है। यह उक्ति सामान्य उक्ति नहीं है। विचार-जगत में इस का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। ढूण्ढक (ढूण्ढिया) शब्द उन लोगों का

वाचक है जिन्होंने अध्यात्मवाद की खोज की, धार्मिक क्रियाओं के आडम्बर युक्त आवरणों को हटा कर उन में अवस्थित अहिंसा, सत्य आदि का वुद्धि-शुद्ध शोधन किया। "वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" कह कर जो लोग हिंसा को धर्म वतला रहे थे,तथा मन्दिरों में वीतराग भगवान की प्रतिमा वनाकर उसे सरागता का चोला पहना कर उनकी वीतरागता को अपमानित एवं विडम्बित कर रहे थे, सर्वथा त्यागी और अहिंसक महापुरुषों की मूर्तियों के आगे सचित्त पुष्प तथा उनकी मालाएं चढ़ाकर उन की अहिंसकता को तिरस्कृत कर रहे थे। उन लोगों को अहिंसा का सत्पथ दिखला-कर संसार में अहिंसा के मूल रूप को जिन्होंने सर्वथा सुरक्षित रखा, उन लोगों को ढूण्ढक पद से व्यवहृत किया जाता है। कित-ना विलक्षण और अपूर्व भावों का परिचायक है ढूण्ढक शब्द ? ढूण्ढक शब्द का रहस्य निम्नोक्त कविता की भाषा में कितनी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है—

ढूण्ढत ढूण्ढत ढूण्ढ लियो सव, वेद पुराण किताब में जोई।
जैसे दही में माखन ढूण्ढत, ऐसे दया में लियो है जोई॥
ढूण्ढत है तव ही वस्तु पावत, विन ढूण्ढे नहीं पावत कोई।
ऐसे दया में धर्म है ढूण्ढयो, जीव दया विन धर्म न हाई॥

प्रश्न—स्थानकवासी परम्परा प्राचीन है या अर्वा-चीन ? यह परम्परा भगवान महावीर से सम्वन्धित है या इसका जन्म उनके अनन्तर हुआ है ?

उत्तर—भगवान महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों के युग में स्था-नकवासी परम्परा किस रूप में थी ? और वह भगवान महावीर से कैसे सम्वन्धित रही ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर ऐतिहासिक सा-

मग्री की अपेक्षा रखते हैं। ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में इस सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते। जहां इतिहास मौन हो जाता है तो वहां लेखक को भी मौन साधना पड़ता है। अतः विवशता से भगवान महावीर से पूर्व की स्थानकवासी परम्परा की ऐतिहासिक स्थिति पर कुछ न कह कर भगवान महावीर के बाद में स्थानकवासी परम्परा किस तरह से चली आ रही है और आज तक उस का प्रवाह अविच्छिन्न धारा से कैसे प्रवाहित होता चला आ रहा है? इसी सम्बन्ध में कुछ कहा जाएगा।

स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि भगवान महावीर से लेकर आज तक कोई भी ऐसी घड़ी नहीं रही जब कि मध्य में स्थानकवासी परम्परा का विच्छेद हो गया हो। इस परम्परा के साधु-मुनिराज सदा संसार को अहिंसा, सत्य का उपदेशामृत पिलाते रहे हैं और भगवान महावीर से लेकर आज तक भगवान महावीर की साधु–वंश परम्परा लगातार चली आ रही है। यह वंश, परम्परा कहीं भी कभी खण्डित नहीं होने पाई है। यह सत्य है कि साधु-साध्वियों की अधिकता और न्यूनता तो हो सकती। कभी साधुओं की संख्या बढ़ गई और कभी वे अल्पसंख्यक हो गए, ये सब बातें संभव हो सकती हैं, किन्तु ऐसा कोई समय नहीं आया, जब कि स्थानकवासी मुनिराजों की परम्परा की कड़ी भंग हो गई हो, साधु–जीवन का कभी सर्वथा अभाव हो गया हो, महावीर से लेकर आज तक कोई ऐसा समय नहीं आने पाया। स्थानकवासी परम्परा के विश्वास के अनुसार भगवान महावीर का धर्म-सिंहासन कभी खाली नहीं रहा। उसे कोई न कोई पूज्य आचार्य-देव विभूषित करते ही रहे हैं। वह धर्म–सिंहासन पूर्व की भांति आज भी किसी न किसी धर्माचार्य द्वारा आसेवित तथा परिपा–

लित है।

भगवान महावीर की शिष्य-परम्परा

स्थानकवासी परम्परा की प्राचीनता तथा अखण्डित धारा को समझने के लिए भगवान महावीर की शिष्य-परम्परा को देखना होगा। अतः नीचे की पंक्तियों में भगवान महावीर की शिष्य-परम्परा या शिष्य-वंशावली का परिचय कराया जाएगा।

१—पूज्य श्री सुधर्मा स्वामी

भगवान महावीर का जब निर्वाण होता है, उस समय अवसर्पिणी काल का चतुर्थ आरक चल रहा था। पंचम आरक लगने में तीन वर्ष और साढ़े सात मास शेष थे। इसके अनन्तर पंचम आरा चालू हो जाता है। महावीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद महाराज विक्रमादित्य ने अपना विक्रम सम्वत् चलाया, ऐसा इतिहास-वेत्ताओं का मत है। इस समय विक्रम सम्वत् २०२० चल रहा है। इस से सिद्ध होता है कि आज से ४७०+२०२०=२४९० वर्ष पूर्व भगवान महावीर स्वामी का शासन क़ायम था। इन के निर्वाण के अनन्तर संघ-व्यवस्था का उत्तरदायित्व श्री सुधर्मास्वामी के कन्धों पर आ पड़ा था।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी जी म० को भगवान का धर्म-सिंहासन क्यों नहीं सम्भाला गया? इन्द्र-भूति गौतम केवली बन चुके थे, तब महावीर के बाद आचार्य पद इन्हें भी दिया जा सकता था। पर ऐसा न करके श्री सुधर्मा स्वामी को आचार्य क्यों बनाया गया? केवली को छोड़कर अकेवली (छद्मस्थ) को आचार्यपद देने का क्या कारण है? इस के समाधान में निवेदन है कि जैन-धर्म के आध्यात्मिक जीवन की

उन्नति के क्रमिक विकास के अनुसार जीवन को पांच भागों में बाँट दिया गया है। पहला साधु, दूसरा उपाध्याय, तीसरा आचार्य, चौथा अरिहन्त और पांचवां सिद्ध। इन में आचार्य का तीसरा स्थान है, और अरिहन्त का चौथा। अरिहन्त का पर्यायवाची शब्द केवली है। केवली कहो या अरिहन्त एक ही बात है। शब्द-भेद के अतिरिक्त अर्थ-भेद कुछ नहीं है।

आचार्य का अर्थ है—जो आचार का, संयम का स्वयं पालन करता है, और संघ का नेतृत्व करता हुआ दूसरों द्वारा उस का पालन करवाता है। आचार्य शब्द की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि आचार्य अभी साधक है, साधना उस के जीवन का ध्येय है, जब कि अरिहन्त सिद्ध हो चुके हैं, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि जीवन-शत्रुओं पर उहोंने सर्वथा विजय प्राप्त करली है, अहिंसा और शान्ति के वे असीम सागर बन गए हैं। इस से स्पष्ट है कि अरिहन्त का स्थान आचार्य से बहुत ऊंचा है, उन के आत्म-गत विकास में महान अन्तर है। अतः अरिहन्त आचार्य का स्थान नहीं ले सकता और आचार्य अरिहन्त के रूप में नहीं देखा जा सकता। इसलिए श्री गौतम स्वामी को भगवान महावीर के अनन्तर आचार्य पद न देकर श्री सुधर्मा स्वामी को दिया था। गौतम स्वामी केवल-ज्ञान पा कर अरिहन्त बन चुके थे। अतः वे आचार्य के स्थान पर जो कि अरिहन्त की अपेक्षा बहुत छोटा स्थान है, बैठ भी नहीं सकते थे।

इस के अतिरिक्त, यदि अरिहन्त को आचार्य पद दे दिया जाए तो आचार्य पद समाप्त हो जाएगा। फिर तो पंच परमेष्ठी की बजाय, अरिहन्त, सिद्ध, उपाध्याय और साधु ये चार परमेष्ठी ही रह जाएंगे। पांच पदों की सुरक्षा के लिए भी अरिहन्त को आचार्य

का पद नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः अरिहन्त संघ-व्यवस्था से सर्वथा अलग-थलग रहा करते हैं। स्वयं भगवान महावीर भी संघ-व्यवस्था से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। उस समय गण का सारा उत्तरदायित्व गणधरों पर ही था, भगवान महावीर पर नहीं। महावीर स्वामी तो केवल संघ के संस्थापक थे तथा नियामक थे। व्यवस्थापक का रूप उन्होंने कभी नहीं लिया। अस्तु, गौतम स्वामी के केवल-ज्ञानी हो जाने के कारण उन को आचार्यपद नहीं दिया गया। प्रत्युत भगवान महावीर के प्रथम पट्टधर बनने का गौरव श्री सुधर्मा स्वामी को मिला। श्री सुधर्मा ने बारह वर्ष तक संघ की उचित व्यवस्था की। हर-तरह से संघ का संरक्षण, पोषण और संवर्धन किया। आप के केवली बन जाने पर संघ-व्यवस्था का सारा उत्तरदायित्व आप के ही विनीत शिष्य श्री जम्बू स्वामी जी पर आ गया।

२—पूज्य श्री जम्बू स्वामी

श्री सुधर्मा स्वामी के केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर श्री जम्बू स्वामी को आचार्य पद दिया गया। जम्बू एक नगरसेठ के पुत्र थे,धनी होने पर भी सदा वैराग्य-सरोवर में डुबकियां लगाते रहते थे। वैराग्य का रंग इतना अधिक चढ़ चुका था कि विवाह के अगले दिन ही आठ पत्नियों को छोड़कर साधु बन गए थे। यही नहीं, इन के माता, पिता, इन की विवाहित आठों स्त्रियां, इन स्त्रियों के माता-पिता और घर में चोरी करने आए प्रभव आदि ५०० चोर, इस प्रकार कुल ५२६ व्यक्तियों ने इन के साथ धर्म अंगीकार करके जीवन का कल्याण किया था। श्री सुधर्मा स्वामी के निर्वाण के पश्चात् श्री जम्बू स्वामी को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ।

इस अवसर्पिणी–कालीन जैन परम्परा में केवल–ज्ञान का आरंभ भगवान ऋषभदेव से होता है और उसका अन्त श्री जम्बू-स्वामी के बाद हो जाता है। जम्बू स्वामी ही इस काल के अन्तिम केवली थे। जम्बू स्वामी के निर्वाण के अनन्तर निम्नोक्त १० बातें समाप्त हो गई—

१–परम अवधिज्ञान,
२–मनः–पर्यवज्ञान,
३–पुलाक-लब्धि,
४–आहारक शरीर,
५–क्षायिक सम्यक्त्व,
६–केवल–ज्ञान,
७–जिन-कल्पी साधु,
८–परिहार-विशुद्धि-चारित्र,
९–सूक्ष्म-सम्पराय-चारित्र,
१०–यथाख्यात-चारित्र*

---

*इन्द्रियों और मन की सहायता के विना साक्षात् आत्मा से मर्यादा-पूर्वक सम्पूर्ण लोक के रूपी द्रव्यों का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे परमावधि ज्ञान कहते हैं। परमावधि ज्ञानी चरम शरीरी होता है। भगवती-सूत्र शतक १८ उद्देशक ८ की टीका के अनुसार परमावधि ज्ञानी अवश्य ही अन्तर्मुहूर्त में केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इन्द्रिय और मन की सहायता के विना मर्यादा को लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का जानना मनःपर्यव ज्ञान है। जिस लब्धि (तपोजन्य प्रभाव से उत्पन्न–शक्ति–विशेष) द्वारा मुनि संघ–रक्षा आदि की खातिर चक्रवर्ती का भी विनाश कर देता है, उस लब्धि को पुलाक लब्धि कहते हैं। प्राणी–दया, तीर्थंकर भगवान की ऋद्धि तथा संशय–निवारण आदि प्रयोजनों से १४ पूर्व धारी मुनि अन्य क्षेत्र (महाविदेह क्षेत्र) में विराजमान हुए तीर्थंकर भगवान के समीप भेजने के लिए लब्धि-विशेष से अतिविशुद्ध स्फटिक के समान अपने शरीर में से एक हाथ का जो पुतला निकालते हैं, उसे आहारक शरीर कहते हैं। अनन्तानुबंधी चार कषाओं के और दर्शन–मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के

३—पूज्य श्री प्रभव स्वामी

श्री जम्बू स्वामी के केवली बन जाने के अनन्तर प्रभव स्वामी उन के पाट पर विराजमान हुए। प्रभव जयपुर के राजा जयसेन के पुत्र थे। प्रजा को कष्ट दिया करते थे, इस कारण देश से निकाल दिए गए और फिर ये चोरों से जा मिले थे। चोरों के सरदार के मर जाने पर इनको चोरों का सरदार बना दिया गया। जम्बू कुमार के विवाह में दहेज रूप से मिले ९९ करोड़ सुनैयों को चुराने गए थे, परन्तु स्वयं ही चुराए गए। जम्बू कुमार की अध्यात्म विद्या ने इनकी, लोगों को सुला देने, तथा हाथ लगाते ही ताला खोल देने की,इन दो विद्याओं को निस्तेज बना दिया था। अन्त में, इन्होंने जम्बू स्वामी के चरणों में अपने को अर्पित कर दिया और इनके साथ ही ४९९ साथियों को संग लेकर दीक्षित हो गए। सत्य,

---

क्षय हो जाने पर जो परिणाम–विशेष होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है, यह सादि अनन्त है, एक बार ही आती है, और आने के बाद कभी जाती नहीं है। मति, श्रुत आदि ज्ञान की अपेक्षा बिना, त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना केवल–ज्ञान कहलाता है। उत्कृष्ट चारित्र का पालन करने की इच्छा से निकले हुए साधु-विशेष जिन-कल्पी कहे जाते हैं-इन के आचार को जिनकल्प स्थिति कहते हैं। जघन्य नवें पूर्व की तृतीय वस्तु और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व–धारी जिनकल्प अंगीकार करते हैं। वे वज्र-ऋषभनाराच संहनन के धारक होते हैं, अकेले रहते हैं, उपसर्ग और रोगादि की वेदना, बिना औषधादि का उपचार किए सहते हैं। उपाधि से रहित स्थान में रहते हैं, आदि इनके जीवन की चर्या होती है। परिहार–विशुद्धि चारित्र, सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र का भावार्थ पीछे पृष्ठ ६६७ पर लिखा जा चुका है।

अहिंसा की विराट् साधना ने जीवन को इतना ऊंचा उठा दिया कि जम्बू-स्वामी के केवली बन जाने पर समस्त जैन-संघ के आचार्य बन गए।

४–पूज्य श्री स्वयंभव स्वामी

ये वेद, वेदांगों के मर्मज्ञ ब्राह्मण विद्वान थे। एक बार प्रभव स्वामी से इनकी भेंट हो गई। प्रभवाचार्य ने इन्हें द्रव्ययज्ञ और भावयज्ञ का स्वरूप समझाया। इस से इन को प्रतिबोध हुआ और अन्त में, उन्हीं के चरणों में इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। प्रभवस्वामी के अनन्तर इन्होंने आचार्यपद संभाला। और बड़ी योग्यता तथा सफलता से संघ का संचालन किया। श्री दशवैकालिक सूत्र के निर्माता यही स्वयंभवाचार्य थे।

५–पूज्य श्री यशोभद्र, ६–पूज्य श्री सम्भूति–विजय

स्वयंभवाचार्य के अनन्तर श्री यशोभद्र इन के पाट पर विराजमान हुए और इनके बाद श्री सम्भूतिविजय आचार्य बने। आपने अपनी विलक्षण और अपूर्व प्रतिभा द्वारा संघ की उन्नति की और उस की सर्वोतमुखी व्यवस्था की।

७–पूज्य श्री भद्रबाहु स्वामी

आचार्यप्रवर यशोभद्र के पास आप दीक्षित हुए थे। बड़े प्रतिभाशाली थे आप। आप ने उनकी सेवा में रहकर १४ पूर्वों का अध्ययन किया। आचार्यदेव श्री सम्भूतिविजय जी के अनन्तर आपनें आचार्यपद संभाला। आप श्रुत–केवली थे।

एक समय की बात है कि कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन महाराज चन्द्रगुप्त ने पौषध किया था। उस समय रात्रि के पिछले भाग में उन्होंने सोलह स्वप्न देखे थे। इन स्वप्नों में एक स्वप्न

था–बारह फण वाला सांप। इस स्वप्न का फल भद्रबाहु स्वामी ने बताया कि बारह वर्ष का दुष्काल पड़ेगा। दुष्काल की उन घड़ियों में उन्होंने महाराज चन्द्रगुप्त को दीक्षा दी और उसके बाद दक्षिण में कर्णाटक की ओर विहार कर गए। भद्रबाहु स्वामी के कर्णाटक देश की ओर चले जाने पर संघ का नेतृत्व श्री स्थूलिभद्र जी महाराज ने सम्भाला।

इतिहास बतलाता है कि भद्रबाहु स्वामी के समय एक भयंकर दुष्काल पड़ा। इस दुष्काल से जैन-जगत को बहुत नुक्सान उठाना पड़ा। भिक्षा–जीवी जैन–साधु भिक्षा के अभाव में कैसे जीवित रहते? बहुत से जैन–साधु इस दुष्काल की भेंट हो गए। तथा जो साधु शेष रहे वे भी दुर्बल होने लगे। शारीरिक शिथिलता के कारण उन के शास्त्रीय ज्ञान का ह्रास होने लगा। उस युग में पुस्तकें तो थीं ही नहीं, अतः शास्त्र–स्वाध्याय मौखिक ही हुआ करता था। आचार्य अपने शिष्य को स्मरण करा दिया करते थे और शिष्य आगे अपने शिष्य को कण्ठस्थ करा दिया करते थे, इसी क्रम से अर्थात् गुरु-परम्परा से आगमों का स्वाध्याय होता था। किन्तु देश में दुष्काल पड़ जाने से साधुओं को आहार मिलना कठिन हो गया। आहार आदि के न मिलने से साधुओं के शरीर तथा उन की स्मरण शक्ति का दुर्बल हो जाना स्वाभाविक था। जिस का परिणाम यह हुआ कि साधुओं को कण्ठस्थ विद्या भूलने लगी। अन्त में, जैनेन्द्रप्रवचन के इस ह्रास से खेद-खिन्न हो कर संघ-हितैषी, और दीर्घदर्शी मुनिराजों ने पाटलीपुत्र (पटना) में एक मुनि–सम्मेलन बुलाया। उस सम्मेलन का प्रधान श्री स्थूलिभद्र जी म० को बनाया गया।

महामहिम मुनिराज श्री स्थूलिभद्र जी ने बड़ी दक्षता के साथ उक्त सम्मेलन का संचालन किया और जिन-जिन मुनियों को जो-जो आगम-पाठ स्मृति में थे, उन सब का संकलन करा दिया गया, किन्तु पूर्वों के ज्ञान में अत्यधिक ह्रास हो गया। इस ह्रास को दूर करने के लिए आचार्यवर्य श्री भद्रबाहु स्वामी की उपस्थिति आवश्यक थी। उस समय आचार्यवर्य कर्णाटक देश की ओर विचर रहे थे, अतः उन को बुलाने के लिए दो मुनिराजों को कर्णाटक देश भेजने की व्यवस्था की,किन्तु आचार्यदेव भद्रबाहु स्वामी उस समय× एक विशिष्ट साधना में लगे हुए थे, अतः उन का आना कठिन हो

×श्री वाडीलाल मोतीलाल शाह की लिखी "ऐतिहासिक नोंध" में उक्त प्रसंग को लेकर ऐसे लिखा है कि "मुनि अखीरी पूर्वधारी थे, इन के समय में अकाल पड़ने से चतुर्विध संघ को बड़ा संकट हुआ। उस समय पाटलीपुत्र शहर में श्रावकों का संघ इकट्ठा हुआ और सूत्रों के अध्ययन आदि का निश्चय किया तो कुछ फेरफार जान पड़ा, ऐसा देखकर इन्होंने दो साधुओं को नेपाल देश में भद्रबाहु स्वामी को बुलाने भेजा, उन्होंने संयोगों का विचार कर १२ वर्ष बाद आने को कहा। बारह वर्ष का अकाल पूरा हो जाने पर साधु इकट्ठे होकर सूत्रों को मिलाने लगे। ज्ञान का विच्छेद होता देख कर स्थूलिभद्रादि ५ साधुओं को भद्रबाहु स्वामी के पास नेपाल भेजा,चार साधु तो हिम्मत हार गए किन्तु स्थूलिभद्र ने दस पूर्व का अध्ययन किया,ग्यारहवें पूर्व का अभ्यास करते समय उन्हें विद्या आज़माने की इच्छा हुई, इस से जब भद्रबाहु स्वामी बाहिर गए, तब स्थूलिभद्र सिंह का रूप बना कर उपाश्रय में बैठे। गुरु ने पीछे आकर यह सब देखा। इससे उन्हें विचार आया कि अब ऐसा समय नहीं रहा कि विद्या को क़ायम रख सके या पचा सके, और आगे पढ़ाना बन्द कर दिया (पृष्ठ ५५-५६)

गया। अन्त में, ज्ञान के बढ़ते हुए ह्रास को रोकने के लिए स्वयं श्री स्थूलिभद्र जी महाराज अन्य चार मुनिराजों के साथ कर्णाटक देश की ओर चल पड़े। और आचार्यप्रवर श्री भद्रबाहु स्वामी की सेवा में पहुंच कर उन्होंने स्वयं ही अपने अन्य साथियों के साथ आचार्य महाराज से पूर्वों का अभ्यास करना आरम्भ किया।

ज्ञान की साधना भी बड़ी कठोर साधना है, कोई शक्ति-सम्पन्न जीवन ही इस का पार पा सकता है। पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करना तो फिर और भी कठिन समस्या थी। अतः पूर्वों के ज्ञाना-भ्यास की कठोरता ने श्री स्थूलिभद्र के सभी साथियों को निराश कर दिया। केवल श्री स्थूलिभद्र जी ही ऐसे निकले जो दृढ़ता और स्थिरता के साथ आगे बढ़ते रहे। इस तरह श्रम-करते-करते श्री स्थूलिभद्र को आशातीत सफलता मिली और उन्होंने १० पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक बार श्री स्थूलिभद्र जी महाराज की बहिनें अपने भाई के दर्शनार्थ आईं। बहिनों को अपनी विद्या का प्रभाव दिखलाने के लिए श्री स्थूलिभद्र जी ने रूप परि-वर्तिनी विद्या द्वारा अपने को सिंह बना डाला। भाई की जगह सिंह देखकर बहिनें डर गईं। आचार्यदेव से निवेदन किया गया कि श्री स्थूलिभद्र जी महाराज के स्थान पर सिंह बैठा है। ज्ञानी गुरुदेव सब बात समझ गए। विद्या पचाने की क्षमता का अभाव देख कर आचार्यदेव ने श्री स्थूलिभद्र जी को पढ़ाना बन्द कर दिया। संघ ने इस भूल की क्षमा मांगी तथापि वे नहीं माने। संघ का अत्यधिक आग्रह देखकर अन्त में आचार्यदेव ने शेष चार पूर्वों का केवल मूलपाठ ही पढ़ाया, उनका अर्थ सामझाने से उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस तरह श्री स्थूलिभद्र जी म० के सामान्य से विद्यामद ने १४ पूर्वों में से ४ का

विच्छेद कर दिया। स्वयं श्री स्थूलिभद्र जी महाराज को इस दुर्घटना का हार्दिक खेद था किन्तु भवितव्यता के आगे क्या वश चलता है? इस घटना से स्पष्ट हो जाता है कि श्री भद्रबाहु स्वामी ज्ञान के सागर थे, और अपने युग में उनका अद्वितीय व्यक्तित्व था।

८—पूज्य श्री स्थूलिभद्र स्वामी

आचार्यदेव भद्रबाहु का आचार्यत्व श्री स्थूलिभद्र जी म० ने सम्भाला। ये महामन्त्री शकडाल के प्रिय पुत्र थे। कोशा वेश्या से अत्यधिक स्नेह था। किन्तु माता-पिता के आकस्मिक निधन ने इन को वैरागी बना दिया। वैराग्य-सरोवर में गोते लगाते हुए आप आचार्यवर श्री संभूति विजय जी के पास दीक्षित हो गए। दीक्षा के बाद आप ने कोशा वेश्या का भी उद्धार किया, उसके घर में एक चातुर्मास करके उसे श्राविका बनाया।

श्री स्थूलिभद्र जी महाराज के अनन्तर चार पूर्व, प्रथम* संहनन और प्रथम संस्थान का विच्छेद हो गया। अवसर्पिणी काल का प्रभाव दिनों—दिन आगे बढ़ रहा था, उसी के कारण शारीरिक संहनन और संस्थान में भी ह्रास होना आरंभ हो गया।

---

*हड्डियों की रचना—विशेष को संहनन कहते हैं। ये छः होते हैं। इन में प्रथम वज्रऋषभनाराच संहनन है। यह संहनन सब से मजबूत और वज्र जैसा शक्ति-सम्पन्न संहनन होता है।

शरीर के आकार को संस्थान कहते है। ये भी छः प्रकार के होते हैं। इन में प्रथम समचतुरस्र-संस्थान है। पालथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों, अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव ठीक प्रमाण वाले हों उसे समचतुरस्र–संस्थान कहते हैं।

आचार्यदेव श्री स्थूलिभद्र जी म० के अनन्तर जो पूज्य आचार्य हुए, उनके शुभ नाम निम्नोक्त हैं—

९–पूज्य श्री	आर्य महागिरी जी			१८–पूज्य श्री	रेवन्त स्वामी		
१०–	,,	वलसिंह स्वामी		१९–	,,	सिंहगण	,,
११–	,,	सुवन	,,	२०–	,,	स्थण्डिल	,,
१२–	,,	वीर	,,	२१–	,,	हेमवन्त	,,
१३–	,,	संछडोल	,,	२२–	,,	नागजिन	,,
१४–	,,	जीतधर	,,	२३–	,,	गोविन्द	,,
१५–	,,	आर्य समद	,,	२४–	,,	भूतदिन	,,
१६–	,,	नंदला	,,	२५–	,,	छोगण	,,
१७–	,,	नाग-हस्त	,,	२६–	,,	दूसगणि	,,

२७–देवर्द्धि क्षमाश्रमण स्वामी

वीरसम्वत् ९८० और विक्रम सम्वत् ५१० में पूज्य आचार्य श्री देवर्द्धि क्षमाश्रमण हुए। उन्होंने वल्लभीपुर में श्रुतरक्षा के लिए मुनिराजों की एक परिषद् बुलाई थी, जिसमें आज तक जो भी आगम-साहित्य उपलब्ध है,उसे लिपिबद्ध कराया गया। ऐसा करने का एक कारण था और वह यह कि एक वार क्षमाश्रमण जी म० कहीं से सूण्ठ लाए थे, आवश्यकता पूरी होने पर शेष जो सूण्ठ बची उसे वापिस करना भूल गए। स्मरण आने पर उन्हें वड़ा पश्चात्ताप हुआ, और सूण्ठ वापिस की। साथ में एक विचार आया कि काल के प्रभाव से अब स्मरण-शक्ति शिथिल पड़ती जा रही है। इस शिथिलता का प्रभाव आगम-साहित्य पर भी पड़ेगा,इस से शास्त्रीय ज्ञान का ह्रास अवश्यंभावी है, अतः क्या ही अच्छा हो कि यदि

आगम-साहित्य को लिपिबद्ध करा दिया जाए। फलतः उन्होंने वल्लभीनगरी में मुनिराजों का एक वृहद् सम्मेलन बुलाकर जिस मुनि को जो पाठ याद था वह सब संकलित करके लिपिबद्ध करा दिया। आज जो आगम-साहित्य उपलब्ध हो रहा है। वह सब इन्हीं आचार्य श्री की दूरदर्शिता-पूर्ण विलक्षण बुद्धि का सुपरिणाम है। पूज्यपाद देवर्द्धिक्षमाश्रमण के अनन्तर होने वाले पूज्य आचार्य मुनियों के शुभ नाम निम्नोक्त हैं:—

२८—	पूज्य श्री	वीरभद्र स्वामी	४३-	पूज्य श्री	लक्ष्मीलाल स्वामी
२९—	,,	शंकरभद्र ,,	४४—	,,	रामर्षि ,,
३०—	,,	यशोभद्र ,,	४५—	,,	पद्मसूरि जी
३१—	,,	वीरसेन ,,	४६—	,,	हरिसेन जी
३२—	,,	वीरग्रामसेन,,	४७—	,,	कुशलदत्त जी
३३—	,,	जिनसेन ,,	४८—	,,	जीवनऋषि जी,
३४—	,,	हरिसेन ,,	४९—	,,	जयसेन जी,
३५—	,,	जयसेन ,,	५०—	,,	विजय ऋषि जी
३६—	,,	जगमाल ,,	५१—	,,	देवर्षि जी,
३७—	,,	देवर्षि ,,	५२—	,,	सूरसेन ,,
३८—	,,	भीम ऋषि ,,	५३—	,,	महासूरसेन जी,
३९—	,,	कर्म जी ,,	५४—	,,	महासेन जी,
४०—	,,	राजर्षि ,,	५५—	,,	जयराज जी,
४१—	,,	देवसेन ,,	५६—	,,	गजसेन जी,
४२—	,,	शकसेन ,,	५७—	,,	मिश्रसेन जी,

५८–पूज्य श्री विजयसिंह जी	७५–पूज्य श्री जयराज जी
५९– ,, शिव राजर्षिजी	७६– ,, लवजी ऋषि
६०– ,, लाल जी	७७– ,, सोम जी
६१– ,, ज्ञान ऋषि जी	७८– ,, हरिदास जी
६२– ,, भानुलुणा जी	७९– ,, विन्दरावन जी
६३– ,, पुरु जी	८०– ,, भवानीदासजी ऋषि
६४– ,, जीवराज जी	८१– ,, मलूक चन्द्र जी
६५– ,, भावसिंह जी	८२– ,, महासिंह जी
६६– ,, लघुवरसिंह जी	८३– ,, कुशालसिंह जी
६७– ,, यशवन्त जी	८४– ,, छज्जमलजी तपस्वी
६८– ,, रूपसिंह जी	८५– ,, राम लाल जी
६९– ,, दामोदर ,,	८६– ,, अमरसिंह ,, म०
७०– ,, धनराज ,,	८७– ,, रामबक्ष जी म०
७१– ,, चिन्तामणि जी	८८– ,, मोतीराम जी म०
७२– ,, क्षेमकर्ण जी	८९– ,, सोहनलाल ,, म०
७३– ,, धर्मसिंह ,,	९०– ,, कांशी राम ,, म०
७४– ,, नगराज ,,	९१– ,, आत्माराम ,, म०

इस तरह स्थानकवासी परम्परा के पूज्य मुनिराजों के साथ भगवान महावीर की शिष्यवंशावली का सम्बन्ध मिल जाता है। इससे भली-भांति यह प्रमाणित हो जाता है कि स्थानकवासी परम्परा सर्वथा प्राचीन परम्परा है और भगवान महावीर से लेकर आज तक लगातार चली आ रही है। यह परम्परा कहीं भी

खण्डित या भंग नहीं होने पाई। इसलिए स्थानकवासी परम्परा की प्राचीनता स्वतः सिद्ध है।

ऊपर जो भगवान महावीर की शिष्य–परम्परा दी गई है, यह पंजाबी पट्टावली के आधार पर दी गई है। इसलिए उसके अन्त में, पंजाबी पूज्य आचार्य मुनिराजों का सम्बन्ध जोड़ा गया है। भारत के अन्य प्रान्तों में स्थानकवासी परम्परा के जितने भी साधु मुनिराज विचर रहे हैं, वे सब भी ऊपर की भगवान महावीर की वंश-परम्परा से सम्बन्धित ही हैं। किस का किस आचार्यदेव से सम्बन्ध जुड़ा हुआ है ? यह उनकी अपनी-अपनी पट्टावली से जाना जा सकता है। सभी पट्टावलियों को अंकित करना न तो इस अध्याय का उद्देश्य है और नाहीं उन सब की यहां आवश्यकता ही है। यहां केवल भगवान महावीर की शिष्य-परम्परा बताकर स्थानकवासी समाज की प्राचीनता का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। और यह बताया गया है कि स्थानकवासी परम्परा के वर्तमान साधुओं का सम्बन्ध सीधा भगवान महावीर से जुड़ जाता है; उस में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचने पाती।

मूर्ति–पूजक श्वेताम्बर साहित्य में स्थानकवासी समाज के सम्बन्ध में एक कथा मिलती है। पीताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य श्री विजयानन्द सूरि द्वारा रचित जैनतत्त्वादर्श (उत्तरार्द्ध) के पृष्ठ ५३६ तथा ५३७ पर इस सम्बन्ध में लिखा है। इस का आशय इस प्रकार है—

सूरत नगर में वोहरावीर नाम का एक सेठ था। फूला नाम की उसकी बाल-विधवा एक पुत्री थी। उस ने लव जी नाम का एक बालक गोद ले लिया। लौंका यति के पास वह पढ़ने लग गया। यति के सम्पर्क से उस को वैराग्य हो गया और लौंका यति

के शिष्य वज्रङ्ग का वह शिष्य बन गया। दो वर्षों के अनन्तर लव जी अपने गुरु से कहने लगा कि भगवान महावीर ने साधु का जैसा आचार कहा है, आप उसका पालन क्यों नहीं करते ? इस पर गुरु ने कहा—पंचम काल में शास्त्रोक्त सभी बातों का पालन नहीं किया जा सकता। तत्पश्चात् लव जी नें कहा—तुम भ्रष्टाचारी हो, तुम मेरे गुरु नहीं हो। मै तो स्वयं ही फिर से साधु बनूंगा। इस तरह गुरु के साथ विरोध होने पर वह अलग हो गया, और भूणा और सुख नामक दो यति और साथ मिलाकर तीन हो गए। तीनों ने ही स्वयं को दीक्षित किया और मुंह पर कपड़ा बांध लिया। इन का नवीन वेष देखकर लोग इन को रहने को स्थान भी नहीं देते थे। तब ये उजड़े हुए मकानों में रहने लगे। गुजरात में टूटे-फूटे मकान को ढूण्ढ कहते हैं, इस वास्ते लोगों ने इन का नाम ढूण्ढिया रखा।

इसके अतिरिक्त आगे चलकर उक्त पुस्तक के पृष्ठ ५३६ पर लिखा है कि "ये पट्टीबन्ध जितने साधु हैं, इन का पन्थ× सम्वत् १७०६ के साल से चला है। और इनका मत जब से निकला है तब से लेकर आज पर्यन्त इन के मत में कोई विद्वान नहीं हुआ है.....।" यह सब कहां तक सत्य है ? उत्तर में निवेदन है।

स्थानकवासी समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्री विजयानंद सूरि ने जो कुछ लिखा है, इस में कुछ भी सत्यता नहीं है। निरी द्वेषपूर्ण उन की अपनी एक काल्पनिक बात है। ये पहले स्थानकवासी साधु थे, किन्तु आचार और विचार हीनता के कारण स्था-

---

×आजकल वीर सम्वत् २४९० है। विजयानन्दसूरि जी की मान्यता के अनुसार स्थानकवासी समाज को प्रादुर्भाव हुए ७८१ वर्ष हो गए हैं।

नक-वासी समाज ने इन को वहिष्कृत कर दिया था, इनका वेष उतार लिया था, इसलिए द्वेष के कारण स्थानकवासी समाज के सम्बन्ध में ये ऐसी असंगत और ऊटपटांग बातें लिख गए हैं। द्वेषान्ध व्यक्ति द्वेष में आकर क्या कुछ नहीं कहता, बदला चुकाने के लिए जो कुछ भी उस से बन पड़ता है, वह करता है। ऐसी ही दशा श्री विजयानन्दसूरि जी की थी*। अतः जैनतत्त्वादर्श में उक्त पंक्तियें लिखकर इन्होंने केवल अपने द्वेष का ही परिचय दिया है। इन पंक्तियों में वस्तुस्थिति कुछ नहीं है। आप पूछ सकते हैं कि इस में प्रमाण क्या है ? इस के उत्तर में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर श्री विजयानन्दसूरि जी के एक पत्र की कुछ पंक्तियां उद्धृत कर देता हूं, इन से स्पष्ट हो जाएगा कि मुखवस्त्रिका बांधने की परम्परा कहां तक प्राचीन और सत्य है ? और श्री विजयानन्द जी स्वयं उसे कितना अच्छा समझते हैं ?

विजयानन्दसूरि जी ने कार्तिक कृष्णा अमावस्या सम्वत् १६४७ बुधवार को सूरत से मुनि आलमचन्द्र जी महाराज को यह पत्र लिखा था। पत्र के लेखक पंजाब पीताम्बर सम्प्रदाय के मान्य

*तत्त्वनिर्णय प्रसाद, स्तंभ ३३ के पृष्ठ ५६० की "ढूंढक पंथ जैन श्वेताम्बर मत में नहीं है, यह तो सम्मूच्छिम पन्थ है सम्वत् १७०९ में सुरत के वासी लवजी ने निकाला है, जैसे दिगम्बरों में तेरापन्थी, गुमानपन्थी आदि तथा कितनेक विना गुरु के नग्न दिगम्बर मुनि, भोले श्रावगियों से धन लेने वास्ते बने फिरते हैं, ऐसे ही श्वेताम्बर मत के नाम को कलंकित करने वाला, आचार-विचार से भ्रष्ट ढूंढक मत हुआ है। इन का निन्द्य आचरण इन को ही दुःखदायी होवेगा......।" ये पंक्तियां स्पष्ट रूप से विजयानन्दसूरि जी की द्वेषान्धता का परिचय दे रही हैं।

आचार्य श्री वल्लभविजय जी हैं। इनके द्वारा लिखित पत्र की कुछ पंक्तिएं देखिए—

...मुंह पत्ति विषे हमारा कहना इतना ही है कि मुँहपत्ति बाँधनी अच्छी है और घणे दिनों से परम्परा चली आई है। इस को लोपना अच्छा नहीं है। हम बंधणी अच्छी जानते हैं, परन्तु हम ढूण्ढिए लोक में से मुंहपत्ति तोड़ के निकले हैं, इस वास्ते हम बंध नहीं सकते और जो बंधनी इच्छीए तो यहां बड़ी निन्दा होती है......।

पत्र की ये पंक्तिएं मुख पर मुखवस्त्रिका बांधने के सम्बन्ध में कितनी श्रद्धा और आस्था अभिव्यक्त कर रही हैं? यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यदि मुखवस्त्रिका का मुख पर बांधना अशास्त्रीय होता, और यह श्री विजयानन्द जी के पूर्व कथनानुसार लवजी के मस्तिष्क की उपज होती तो इस पत्र में स्वयं विजयानन्दसूरि जी उसका समर्थन क्यों करते? इस पत्र में तो उन्होंने यहां तक मान लिया है कि हम मुखवस्त्रिका बांधना स्वयं अच्छा मानते हैं और स्वयं भी उसे बांधने को तैयार हैं,किन्तु क्या करें? लोक-लज्जा के कारण ऐसा करना हमारे लिए कठिन है। वस्तुतः सत्यता छिपी नहीं रह सकती, वह तो कभी न कभी और किसी न किसी रूप में ज़बान पर आ ही जाती है। श्री विजयानन्द जी सूरि भले ही द्वेषवश स्थानकवासी परम्परा का उत्पत्ति–समय वीर सम्वत् १७०६ माने और यह कहें कि तभी से मुख पर मुखवस्त्रिका बांधनी आरंभ हुई है, किन्तु इन के ऐसा कह देने मात्र से वस्तुस्थिति की हत्या नहीं हो सकती। सूरि जी ने ऐसा लिखकर एक ऐतिहासिक भूल की है। तथा सचाई तो

आखिर सचाई थी। आखिरकार वह इस पत्र के रूप में प्रकट हो ही गई। इस से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि श्री विजयानन्दसूरि का यह कहना कि स्थानकवासी समाज की उत्पत्ति १७०९ में हुई और तभी से मुख पर मुखवस्त्रिका बांधने की परम्परा चालू हुई, सर्वथा द्वेषपूर्ण है। वस्तुस्थिति यही है कि स्थानकवासी परम्परा सब से प्राचीन परम्परा है और वह भगवान महावीर से पूर्णतया सम्बन्धित है। इस में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न—वीर लौंकाशाह कौन था ? स्थानकवासी परम्परा में इसका क्या स्थान है ? इस परम्परा का इसे आदि-पुरुष कहा जाता है ? यह कहां तक सत्य है ?

उत्तर—स्थानकवासी परम्परा रूढ़िवाद और अन्ध परम्परा का सदा विरोधी रही है। इस ने जड़-पूजा के स्थान पर गुण-पूजा की प्रतिष्ठा की है। गुण-पूजा की उपयोगिता तथा कल्याणकारिता का सत्य समझा कर जनमानस का सदा इसने मार्ग-दर्शन किया है।

कहा जा चुका है कि यह परम्परा प्राचीन है और भगवान महावीर के युग से लेकर आज तक बिना किसी अन्तर के लगातार चली आ रही है। इस को पल्लवित और पुष्पित बनाने के लिए अनेक महापुरुषों ने समय-समय पर अपना योगदान दिया है। भगवान महावीर की शिष्य-परम्परा या पट्टधर (आचार्य)-परम्परा के पूज्य आचार्य श्रमण महापुरुषों के शुभ नाम बताए जा चुके हैं। धर्मप्राण वीर लौंकाशाह भी उन गृहस्थ महापुरुषों में से एक हैं, जिन्होंने स्थानकवासी परम्परा के विकास तथा समुत्कर्ष के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था और जीवन की सभी शक्तियां लगा कर इस परम्परा को सम्बर्धित तथा सम्पोषित करके जिन्होंने

इस को ह्रास के महागर्त में गिरने से सर्वथा सुरक्षित रखा। महामहिम लौंकाशाह के माता, पिता कौन थे? उन्होंने जन्म लेकर किस भूभाग को पावन किया? आदि सभी बातों का संक्षिप्त वर्णन नीचे पढ़िए—

लौंकाशाह की जन्मभूमि अरहटवाड़ा नाम का ग्राम था। विक्रम सम्वत् १४७२ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन चौधरी गोत्र के सेठ हेमाभाई ओसवाल की पवित्र पति-परायणा भार्या गंगाबाई की कुक्षि से आप का जन्म हुआ था। आप विवाहित थे। सुदर्शना पत्नी का नाम था। अहमदाबाद में आप जवाहरात का काम किया करते थे। आप की प्रतिभा तो विलक्षण थी ही, फलतः तत्कालीन अहमदाबाद के बादशाह मुहम्मद ने आपके बुद्धिचातुर्य से प्रभावित होकर आप को अपना खजांची बना लिया। आप भी बड़ी प्रामाणिकता के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे थे, परन्तु एक दुर्घटना ने आप के जीवन की दिशा ही बदल डाली। बादशाह के पुत्र ने किसी मतभेद के कारण विष देकर बादशाह को मार डाला था। संसार की इस विचित्र स्थिति को देखकर आपका मानस काम्प उठा। विरक्ति में ही आप को शान्ति अनुभव होने लगी। अन्त में, आप ने राज्य की नौकरी छोड़ दी और आप अपने जवाहरात के धन्धे में ही जीवन बिताने लगे।

लौंकाशाह में जहां अन्य अनेकों गुण विद्यमान थे, वहां एक गुण यह भी था कि इन के हस्ताक्षर बड़े सुन्दर थे। जब कभी लिखने बैठ जाते तो इतना सुन्दर और आकर्षक लिखते कि मानों लेखन-कला साकार होकर सामने खड़ी प्रतीत होने लगती। जो भी उसे देखता, वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। उन्होंने

एक लेखक-मण्डल की भी स्थापना कर रखी थी। बहुत से लेखक रख कर ये प्राचीन शास्त्रों और ग्रंथों की नक़लें करवाया करते थे, और समय मिलने पर स्वयं भी लिखा करते थे। ज्यों-ज्यों ये शास्त्रों की नक़लें करते और करवाते, तथा उन्हें पढ़ते त्यों-त्यों शास्त्रों की रहस्यमयी बातों का तथा श्रमण भगवान महावीर के मंगलमय उपदेशों का भी इन्हें बोध प्राप्त होने लगा। फिर क्या था ? इन के ज्ञान-नेत्र खुल गए। एक ओर उनके सामने शास्त्रीय मर्यादाएं थीं, दूसरी ओर तात्कालिक समाज का वातावरण था। उन्होंने देखा कि साधु-जीवन में साधुता का ह्रास हो रहा है, शिथिलाचार पनप रहा है और अज्ञ लोग मन्दिरों में भगवान की प्रतिमा बना कर उस का पूजन करते हैं,उन पर सचित्त पुष्प और जल का प्रक्षेप किया जा रहा है। इस तरह धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण हो रहा है, वीतरागी भगवान को रागी का रूप दिया जा रहा है, हिंसा को अहिंसा समझा जा रहा है।

समाज में बढ़ती हुई शिथिलता और आगमों के अनुसार आचरण का अभाव लौंकाशाह को अखरने लगा। सब से अधिक खेद उन्हें जड़-पूजा की अशास्त्रीय मान्यता पर हुआ है। शास्त्रीय तथ्य उनके सामने थे। उन्होंने सोचा—भगवान महावीर ने आचारांग, सूयगडांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, भगवती सूत्र आदि आगमसाहित्य में कहीं पर भी साधु और श्रावक के लिए मूर्ति-पूजा करने का विधान नहीं किया। और मूर्ति-पूजा करने से कुछ लाभ होता है ? इस सम्बन्ध में आगमों में कोई संकेत भी नहीं मिलता है। राजगृह, चम्पा, हस्तिनापुर, द्वारिका, श्रावस्ती,तुंगिया, अयोध्या, मथुरा आदि नगर तथा नगरियों का वर्णन शास्त्रों में आता है, उन में यक्ष और भूत के पूजन का वर्णन तो मिलता है

किन्तु कहीं पर भी तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा का या तीर्थंकर-मन्दिर का वर्णन नहीं मिलता। यदि जिन-देव की मूर्ति का उस समय पूजन प्रचलित होता तो यक्ष-मन्दिरों की भांति शास्त्रकार तीर्थंकर-मन्दिरों का भी अवश्य निर्देश करते। परन्तु किसी भी जैनागम में तीर्थंकर-मन्दिर का कहीं निर्देश कहीं किया गया। इस से स्पष्ट है कि तीर्थंकरों की मूर्ति-पूजा का जैनागमों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैनागमों में बहुत से श्रावकों का वर्णन भी आता है। उसमें महाराजा प्रदेशी द्वारा दानशाला बनवाने का, मगधनरेश श्रेणिक द्वारा "अमार" घोषणा कराने का तथा त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण द्वारा धर्म का दलाल बनकर हजारों नर-नारियों को दीक्षा दिलवाने का, इसी प्रकार श्रावकों के अन्य कृत्यों का भी वर्णन शास्त्रों में मिलता है, परन्तु शास्त्रों में कहीं पर भी किसी श्रावक द्वारा मन्दिर बनवाने या प्रतिमा स्थापित कराने का ज़िक्र तक नहीं पाया जाता। जब शास्त्रों में श्रावकों के सुपात्रदान का वर्णन हो सकता है, अष्टमी, चतुर्दशी तथा पूर्णिमा को पौषध करने का, ग्यारह प्रतिमाओं (प्रतिज्ञाओं) का तथा कितने ही श्रावकों के संथारे* (आमरण-अनशन) का सूत्रों में वर्णन किया जा सकता है, तब जो लोग मूर्ति-पूजा करते थे, उनका उल्लेख क्यों नहीं हो सकता? परिवार के व्यक्तियों तक का शास्त्रकारों ने उल्लेख कर दिया तब यदि उस समय घरों में प्रतिमाएं स्थापित होतीं तो उन का उल्लेख भी अवश्य किया जाता? शास्त्रों में प्रतिमा-पूजन का अभाव ही यह प्रमाणित करता है कि मूर्ति-पूजा अशास्त्रीय है,

*देखो-अन्तकृद्दशा सूत्र, आनन्द श्रावक का वर्णन।

और उसमें कोई सचाई नहीं है।

धर्मप्राण लौंकाशाह की उक्त विचारणा दिन प्रतिदिन परिपक्व और परिपुष्ट होती गई। अन्त में, उन्होंने तात्कालिक शिथिलाचार तथा मूर्ति-पूजा की अशास्त्रीय मान्यता को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। निश्चय के अनुसार उन्होंने अन्धकार का नाश करने के लिए अपना तन, मन और धन लगा दिया। परिणाम यह हुआ कि सफलता उनके चरण चूमने लगी, मूर्ति-पूजा या चैत्य-पूजा के विरोध में समाज में नवक्राँति की एक लहर पैदा कर दी तथा कुछ ही दिनों में लखमशी शाह (उस युग के सुप्रसिद्ध श्रावक) जैसे हजारों महामान्य श्रेष्ठिवर भी इन से ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन के साथ मिल गए। ४५ श्रावक तो इनके उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि वे दीक्षित होने को तैयार हो गए। उन का मानस वैराग्यसरोवर में गोते लगाने लगा। अन्त में, भगवान महावीर के ६१ वें पट्टधर आचार्यदेव श्री ज्ञान ऋषि जी महाराज के चरणों में इन ४५ महानुभावों ने साधु-धर्म अंगीकार किया*। इन के इस धार्मिक उत्साह का सर्वोपरि श्रेय वस्तुतः धर्मप्राण लौंकाशाह को ही है। इन्हीं के सदुपदेशों से प्रेरित होकर ये साधु-धर्म के महान असिधाराव्रत को ग्रहण करने में सफल हो सके थे। वीर लौंकाशाह ने स्थानकवासी परम्परा की इस प्रकार जो महान सेवा की, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्थानकवासी समाज

*इन पैंतालिस मुनियों ने अपने मार्गदर्शक और उपदेशक के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए अपने संघ का नाम "लौंकागच्छ" रखा और अपने आचार-विचार और नियम लौंकाशाह के उपदेश के अनुसार बनाए।

—कान्फरंस का स्वर्णजयन्ती ग्रन्थ, पृष्ट ४०

के इतिहास में वह सदा अमर रहेगी।

पंजाव पट्टावली का विश्वास है कि धर्म-प्राण लौंकाशाह वृद्धत्व के कारण स्वयं दीक्षा नहीं ले सके थे। उन की इच्छा अवश्य थी कि साधु वन कर मैं भी समाज की सेवा करूं। समाज में फैल रहे शिथिलाचार और जड़-पूजा की अन्ध मान्यता को मूलतः समाप्त कर दूं, परन्तु शारीरिक दुर्बलता तथा वार्धक्य के कारण उनका यह मनोरथ सफल नहीं हो सका। तथापि वे अपने सिखाए हुए उम्मीदवारों को श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री ज्ञान ऋषि जी म० की सेवा में भेजते रहे, ताकि वे तो अपना आत्म-कल्याण कर सकें। एक पट्टावली में ऐसा भी लिखा है कि श्री लौंकाशाह ने स्वयं भी मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी, सम्वत् १५३६ को, श्रद्धेय श्री ज्ञान ऋषि जी म० के शिष्य श्री सोहन लाल जी म० के पास दीक्षा ले ली थी। तथा इनके उच्च-कोटि के संयम से प्रभावित होकर ४०० व्यक्ति इन के शिष्य बन गए और लाखों व्यक्तियों ने इन की दिव्य आध्यात्मिक ज्योति से ज्योतित हो कर श्रावकत्व अंगीकार किया।

धर्म-प्राण लौंकाशाह के जीवन-वृत्तों से यह भली-भांति प्रमाणित हो जाता है कि लौंकाशाह एक क्रांतिकारी महापुरुष थे। उन्होंने तात्कालिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक बुराइयों को दूर करने में अपनी समस्त शक्तियां लगा डालीं और अन्त में- विजय श्री इनके चरणों में नतमस्तक हो गई। लाखों व्यक्तियों ने आप से ज्ञान का प्रकाश पाया, लाखों आप के श्रद्धालु बने। अहमदाबाद से लेकर देहली तक आप ने अहिंसा-धर्म का ध्वज लहराया।

अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी में धर्म-प्राण लौंकाशाह स्वयं स्नान किया करते थे और जो भी आप के सम्पर्क में

आता उसे भी उस में स्नान करने की पवित्र प्रेरणा प्रदान किया करते थे। यही आप के आध्यात्मिक जीवन का सर्वतोमुखी ध्येय था। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए आपने अपना सारा जीवन लगा दिया। जीवन की अन्तिम घड़ियों में भी आपका अष्टम तप (लगातार तीन उपवास, तेला) चल रहा था। तपदेव की अराधना में ही आपने अपने अन्तिम सांस लगाए। इस प्रकार युग–पुरुष लौंकाशाह अपने अध्यात्म जीवन से नए युग को अनुप्राणित करके चैत्र शुक्ला एकादशी सम्वत् १५४६ को स्वर्गधाम जा विराजे।

धर्म–प्राण लौंकाशाह का स्थानकवासी परम्परा में बड़ा ऊंचा स्थान है। स्थानकवासी समाज उन्हें एक महान युग–स्रष्टा और अपूर्व क्रान्तिकारी नेता के रूप में देखती है और मानती है कि इन्होंने स्थानकवासी परम्परा की महान सेवा की है। लौंकाशाह के युग में स्थानकवासी परम्परा की जितनी सेवा इन्होंने की है, इतनी किसी अन्य श्रावक ने तो क्या, साधु ने भी नहीं की, यदि यह कह दिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। तथापि इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि धर्म–प्राण लौंकाशाह स्थानकवासी परम्परा के आदि-पुरुष नहीं थे, जन्मदाता नहीं थे। ये तो केवल इस परम्परा के सम्पोषक तथा सम्वर्धक थे। और इस में नव उत्साह, नूतन चेतना, नव्य तथा भव्य स्फूर्ति लाने वाले थे। स्थानकवासी परम्परा का अतीत बहुत प्राचीन है। और इतना अधिक प्राचीन कि वह धीरे–धीरे भगवान महावीर के चरणों में जा पहुंचता है, जो कि भगवान महावीर स्वामी की वंश-परम्परा* द्वारा बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

*भगवान महावीर की वंश–परम्परा का उल्लेख पीछे पृष्ठ ६७३ से लेकर ६८५ तक किया जा चुका है।

प्रश्न—मूर्तिपूजक श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्परा का प्रादुर्भाव कब हुआ ? और किन परिस्थितियों में हुआ ?

उत्तर—इस प्रश्न के उत्तर से पूर्व सर्वप्रथम श्वेताम्बर और दिगम्बर शब्द का अर्थ जान लीजिए। श्वेताम्बर का अर्थ है—श्वेतानि अम्बराणि यस्य स श्वेताम्बरः। अर्थात् जो श्वेत वस्त्रों को धारण करता है। श्वेताम्बर शब्द की इस व्युत्पति के आधार पर ही श्वेताम्बर साधु श्वेत-सफेद वस्त्रों का प्रयोग करते हैं। लाल,पीला, कृष्ण या पीत किसी भी वर्ण के वस्त्र का उपयोग करना इन के यहां सर्वथा त्याज्य एवं हेय होता है। केवल श्वेत-वस्त्रों को ही ये लोग धारण करते हैं।

दिगम्बर का अर्थ है—दिग् एव अम्बरं यस्य स दिगम्बरः। अर्थात् दिशाएं ही जिस के वस्त्र हों, उसे दिगम्बर कहते हैं। इसीलिए दिगम्बर साधु सर्वथा नग्न रहते हैं। वे किसी भी समय, किसी भी प्रकार के वस्त्र का उपयोग नहीं करते हैं। सदा नवजात शिशु की भांति वस्त्ररहित रहते हैं। दिगम्बर लोग मूर्ति-पूजक होते हैं। दिगम्बर होने से ये दिगम्बर मूर्ति का ही पूजन करते हैं। तीर्थंकर देवों की नग्न मूर्तियां ही इन के मन्दिरों में प्रतिष्ठित की जाती हैं।

श्वेताम्बर दो विभागों में विभक्त हैं—एक स्थानकवासी और दूसरे मूर्ति-पूजक। मूर्ति-पूजक श्वेताम्बर* शृंगारित मूर्ति की पूजा करते हैं। नग्न-मूर्ति का इन के मन्दिरों में पूजन नहीं होता। आभूषणों से सुसज्जित तथा विभूषित प्रतिमाएं ही इन के

*पंजाब के श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा के साधु पीले कपड़े पहनने लग गए हैं, अतः ये पीताम्बर कहलाते हैं।

यहां अर्चनीय मानी जाती हैं। दिगम्बर और मूर्ति-पूजक श्वेताम्बर दोनों में पूजा का विधि-विधान एक जैसा नहीं है। आंशिक समानता के होने पर भी दोनों के पूजागत विधि-विधानों में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है।

मूर्तिपूजक श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों का प्रादुर्भाव भगवान महावीर के काफी बाद हुआ है। इन की उत्पत्ति का कारण उस समय की कुछ परिस्थितियां थीं। वाडीलाल मोतीलाल शाह ने अपनी पुस्तक "ऐतिहासिक नोंध (पृष्ठ १८)" में उनके सम्बन्ध में कुछ जानकारी दी है। उसको आधार बनाकर तथा इस सम्बन्ध में प्रकाशित अन्य पुस्तकों के आधार पर उन परिस्थितियों का प्रस्तुत में संक्षिप्त वर्णन किया जाएगा। सर्व-प्रथम मूर्ति-पूजक श्वेताम्बर परम्परा के प्रादुर्भाव पर विचार करेंगे।

स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग ६२० वर्ष अनन्तर जब कि १६वें पाट पर विराजमान आचार्यप्रवर श्री नंदला स्वामी का शासन× चल रहा था। उस समय एक बार ५ वर्ष का, फिर ७ वर्ष का, इस प्रकार १२ वर्षों का एक भयंकर दुष्काल-क्रहत पड़ा। दुष्काल का भीषण परिणाम किसी से छुपा नहीं है। इस में वर्षा का अभाव हो जाता है। वर्षा के अभाव से अन्नादि की उत्पत्ति का अभाव स्वाभाविक है। और अन्नादि के अभाव से मनुष्य, पशु आदि प्राणियों का जीवित रहना भी असंभव है, फलतः इस दुष्काल से लाखों मनुष्यों की हानि हुई और इस ने देश को बहुत बुरी दशा बना डाली।

×एक पट्टावली भगवान महावीर के १६वें पाट पर आचार्य श्री वज्रसेन जी को मानती है।

लोग भूखे मरने लगे, सर्वत्र भुखमरी ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया।

दुष्काल का प्रभाव साधु–मुनिराजों पर भी पड़ा। परिणाम-स्वरूप साधु-मुनिराजों को भिक्षा दुष्प्राप्य हो गई। लोग सम्पन्न हों, सर्वथा सुखी हों, तथा घरों में अन्नादि खाद्य सामग्री पर्याप्त विद्यमान हो तभी दान आदि की स्थिति बन सकती है। जब लोग स्वयं ही भूख के हाथों तंग आ रहे हों तो वे साधु-मुनिराजों को भोजन कैसे दें? दुष्काल के प्रभाव से लोग स्वयं व्याकुल थे, ऐसी दशा में साधु–मुनिराजों को भोजन की प्राप्ति सुविधा–पूर्वक कैसे हो सकती थी? अतः साधना–प्रिय मुनिराजों ने उस समय को तपः–साधना का सुन्दर तथा अनुकूल अवसर समझ कर संथारा कर लिया, आमरण अनशन करके अपने जीवन के अन्तिम क्षणों को जप-तप की आराधना में लगा दिया। इतिहास बतलाता है कि उस समय ७८४ साधु–मुनिराजों ने आमरण अनशन करके अपना आत्म-कल्याण किया। और अन्य अनेकों मुनिराज दूर देशान्तर में चले गए। वहां जाकर उन्होंने अपना संयमी जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। रह गए वे मुनि, जिन्होंने न तो आमरण अनशन किया और नाँही जो दूर देशान्तर में गए। पेट तो इन्हें भी भरना था। जठराग्नि को शान्त किए बिना तो जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। अतः उन्होंने भी उदर–पूर्ति का एक उपाय सोच निकाला। इन्होंने अपने साधु–जीवन–चर्या में कई एक परिवर्तन कर लिए। सब से पहला परिवर्तन था–हाथ में लकड़ी रखना। भिक्षुक वृत्ति से स्पर्धा रखने वालों को दूर हटाने के लिए सदा हाथ में दण्ड रखना आरम्भ कर दिया।

दुष्काल की स्थिति में याचकों का बढ़ जाना स्वाभाविक

था, फलतः उस समय याचक टिड्डीदल की तरह घूमने लगे। लोग तो स्वयं अन्नाभाव के कारण दुःखी थे। फिर याचकों को वे अन्न कहां से देते? परन्तु याचक फिर भी नहीं मानते थे और पौनः-पुन्येन अलख जगाते ही रहते थे। फल यह हुआ कि लोगों ने दुःखी होकर अपने घरों के द्वार वन्द रखने आरम्भ कर दिए। द्वार बन्द देखकर याचक निराश हो लौट जाते थे। वन्द द्वारों की समस्या का सामना उक्त दण्डधारी जैन-साधुओं को भी करना पड़ा। ये भी जब भिक्षा को जाते तो इन्हें भी घरों के द्वार वन्द मिलते। तब इन्होंने इस समस्या का भी एक समाधान ढूण्ढ निकाला और वह यह कि घरों के वाहिर ही "धर्म-लाभ" का उच्च स्वर से प्रयोग करना चालू कर दिया। किवाड़ वन्द कर अन्दर बैठने वाले, जैनों को अपने आने का बोध कराने के लिए "धर्म-लाभ" यह आवाज़ लगाने की एक रीति× निकाली। श्रद्धालु लोग इस आवाज़ को सुनते ही द्वार खोल देते थे और इस तरह इन साधुओं को भी भोजन-प्राप्ति का सुन्दर अवसर प्राप्त हो जाता था।

उस समय मूर्ति-पूजा का अच्छा खासा प्रचार था। लोग मन्दिरों में राम, कृष्ण आदि अवतार-पुरुषों की मूर्तियों को खूब सजाया, बनाया करते थे, उन्हें भोग भी लगाया करते थे। स्वयं भूखा रह लेना मंजूर था। किन्तु मन्दिर के भगवान को भोजन

×संयमशील साधु इस तरह की आवाज़ लगाने में दोप मानते थे। क्योंकि आवाज़ को सुनकर श्रद्धालु लोग साधु के योग्य भोजन की व्यवस्था कर देते हैं, जल, वनस्पति आदि सचित्त पदार्थों का यदि देय पदार्थ के साथ संयोग हो, तो उसे पृथक् कर देते हैं। इसलिए संयम-शील साधु आवाज़ देने की इस सदोष और अशास्त्रीय प्रवृत्ति को काम में नहीं लाता है।

देना उस समय अत्यावश्यक समझा जाता था। इस से मन्दिर के पुजारियों की पांचों अंगुलिएं घी में थीं। उन्हें खूब माल-मलीदा प्राप्त होता था। मूर्ति-पूजा द्वारा प्राप्त अन्नादि सामग्री ने दुष्काल में पीड़ित जैन-साधुओं को भी बड़ा प्रभावित किया। उन्होंने देखा कि प्रतिमा-पूजन से खाने-पीने की सामग्री खूब हाथ लगती है और बिना याचना के ही काम बन जाता है। क्या ही अच्छा हो, यदि इसी काम को अपना लिया जाए। फलतः उन्होंने भी तीर्थंकर भगवान की मूर्तियों के सामने अन्नादि सामग्री रखने से तथा द्रव्यादि की भेंट करने से धर्म होता है, ऐसा उपदेश करना आरंभ कर दिया।

स्वार्थ में आकर मनुष्य कई प्रकार की प्रवृत्तियों को जन्म दे डालता है। एक समय किसी क्रिश्चियन पोप ने भी एक पद्धति चलाकर खूब धन जुटाया था। वह कहा करता था कि जो मेरे से प्रमाण-पत्र ले जाएगा, उस पर परमात्मा प्रसन्न होंगे और उस का हर तरह ध्यान रखेंगे। हज़ारों भोले लोग उस की बातों में फंस गए। पोप भी बड़ा चतुर था। प्रमाण-पत्र का मूल्य वह व्यक्ति देख कर निश्चित किया करता था। इस तरह उस ने लाखों पर हाथ साफ किया। वस्तुतः स्वार्थ मनुष्य से बहुत कुछ अविवेक-पूर्ण काम करा देता है। स्वार्थ-परायण होकर ही उस समय मूर्ति-पूजा जैसे धर्म-विरुद्ध और शास्त्र-विरुद्ध कर्मों को धर्म कहना आरम्भ कर दिया गया। तथा तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के आगे जो चढ़ावा चढ़ता उसे अपने प्रयोग में लाकर अपना जीवन-निर्वाह करना आरम्भ कर दिया। यह सत्य है कि आगे चलकर यह पद्धति इसी रूप में नहीं रही। दुष्काल के दूर होने पर समय के साथ-साथ इस में

अनेकों परिवर्तन× आते गए। आज मूर्ति–पूजक श्वेताम्बर परम्परा में मूर्ति–पूजन की जो रूपरेखा उपलब्ध होती है तथा आज इस परम्परा के मन्दिरों में चढ़े चढ़ावे का जो प्रयोग होता है, यह उस समय की दृष्टि से आज बिल्कुल बदला हुआ है।

हाथ में लकड़ी रखना, घरों के बाहिर ही उच्च स्वर से "धर्म-लाभ" की आवाज लगाना, तथा तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा करना, इन परिवर्तनों के साथ–साथ दुष्काल–पीड़ित जैन–साधुओं ने एक और विशेष परिवर्तन किया, वह था–मुखवस्त्रिका को सदा मुख पर न बांधना। व्याख्यान देने के समय तथा शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन के समय ही ये लोग मुखवस्त्रिका को मुख पर बांधते थे, इन कार्यों के हो जाने पर मुखवस्त्रिका भी मुख से उतार देते थे। इस प्रकार हर समय मुखवस्त्रिका का मुख पर प्रयोग करना इन्होंने छोड़ दिया। यह परिवर्तन भी आगे चलकर इस रूप में स्थिर न रह सका। इस में भी परिवर्तन लाया गया। व्याख्यान आदि के समय जो मुखवस्त्रिका मुख पर बांधी जाती थी, उसे हाथ में रखना आरम्भ कर दिया। मुखवस्त्रिका के डोरे का सदा के लिए परित्याग कर दिया गया। केवल बोलने के समय या शास्त्र देते समय मुख को एक वस्त्र-खण्ड से ढकना

×तेरहपन्थ का जब निर्माण हुआ था। उस समय तेरह साधु, तेरह ही श्रावक थे, इसीलिए इस पन्थ का नाम 'तेरहपन्थ' रखा था। किन्तु आज इस में परिवर्तन कर दिया गया है। आज तेरहपन्थ के स्थान पर "तेरापन्थ" यह शब्द प्रयुक्त होता है और इस का अर्थ किया जाता है–हे प्रभो! यह तेरा ही पन्थ है। भाव यह है कि समय के साथ परिवर्तन होते रहते हैं।

चालू कर दिया। पहले साधु सदा मुख पर मुखवस्त्रिका का प्रयोग किया करते थे, किन्तु उन से सर्वथा भिन्न होने के लिए और एक स्वतंत्र सम्प्रदाय बनाने के लिए अपनी वेषभूषा को सर्वथा परिवर्तित कर लिया गया।

आज तो श्वेताम्बर मूर्ति–पूजक परम्परा में मुखवस्त्रिका एक रूमाल सा बन गया है। भाषण आदि की आवश्यकता पड़ने पर उसे हाथ में रख कर मुख के आगे रखा जाता है। अन्तिम वर्षों से तो इस में अन्तर आ गया है। पूर्व जैसी दृढ़ता अब देखने में नहीं आती। अब "मुख ढक कर ही बोलना है, अन्यथा नहीं" ऐसी दृढ़ अवस्था नहीं रहने पाई है। व्यवहार इस सत्य का गवाह है। अस्तु,

इस प्रकार अनेक परिवर्तन कर लेने पर उक्त जैनसाधु एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में समाज के सामने आने लगे। कठोरतम चारित्र-मार्ग में रही हुई कठिनाईयों के कारण यह सम्प्रदाय उस पर चलने में अपने को अक्षम पाकर शास्त्रीय साधना के राजमार्ग से पीछे हट गया है और काल की अनेकों घाटियां पार करता हुआ यही सम्प्रदाय आज हमारे सामने श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

पंजाब का मूर्तिपूजक सम्प्रदाय—

पंजाब का श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय बने तो लगभग ११२ वर्ष हुए हैं। विक्रम सम्वत् १९२८ में इस का जन्म हुआ था। श्री विजयानन्द जी सूरि इस के संस्थापक थे। ये पहले पञ्चनदीय स्थानकवासी साधु थे। आत्माराम इन का नाम था। स्वनामधन्य पूज्यवर श्री जीवन राम जी महाराज के ये शिष्य थे। समाज ने

हज़ारों रुपए लगा करके इन को पढ़ाया, लिखाया और विद्वान बनाया। समाज को इन से बड़ी-बड़ी आशाएं थीं, किन्तु ये अस्मिता के पुजारी थे। अपनी वैयक्तिक प्रतिष्ठा का इन्हें जबर्दस्त मोह था। ये स्वयं नेता बनने का स्वप्न ले रहे थे। किन्तु अपने गुरुदेव के चरणों में रह कर या स्थानकवासी समाज में रह कर इन्हें अपना यह स्वप्न पूरा होता दिखाई नहीं दिया। अतः इन्होंने प्रच्छन्नरूप से एक नवीन समाज की रचना का कार्यक्रम बनाया। वह समाज था—श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक समाज। प्रत्यक्ष रूप से ये स्थानकवासी साधु थे, स्थानकवासी साधु के वेष में रहते थे किन्तु भीतर से लोगों के मानस को मूर्तिपूजक बनाते जा रहे थे।

पाप सदा नहीं छुप सकता। वह एक दिन प्रगट होकर ही रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार श्री विजयानन्द जी का उक्त कपट तथा समाजद्रोह एक दिन प्रकट हो गया। समाज को तथा गुरुदेव को इस के इस षड्यंत्र का पता चल गया। तब गुरुदेव श्री जीवनराम जी महाराज ने इन को इस समाजद्रोह को छोड़ने लिए बहुत कुछ कहा-सुना। जब ये नहीं माने तो इन्होंने इनको अपने संघ से बहिष्कृत कर दिया। और इन का स्थानकवासी परम्परा का वेष उतरवा दिया।

श्री विजयानन्द जी ने अपना जाल काफी फैला लिया था। कई एक साधुओं को भी अपने चंगुल में फंसालिया था। वे भी इन्हीं की नीति पर चल रहे थे। इन में पंजाब के महामहिम आचार्यप्रवर पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज* के श्री विष्णचन्द्र

* सभी जानकारी प्राप्त करने के अभिलाषियों को जैनधर्मदिवाकर, आचार्यसम्राट् गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा रचित "श्री-

जी, तथा श्री हुक्मचन्द्र जी आदि शिष्य प्रमुख रूप से भाग ले रहे थे। आचार्य देव ने इन्हें मूर्तिपूजन जैसे अशस्त्रीय कार्य के अनुमोदन से अनेकों वार रोका, किन्तु जब ये नहीं माने तब पूज्य महाराज ने इन सब को एकत्रित किया और उन्हें फिर समझाया कि स्थानकवासी साधु के वेष में रह कर मूर्तिपूजा का प्रचार करना समाज-द्रोह है, गुरुद्रोह है, तथा ऐसे कृतघ्नता-जनित कार्य अनन्त संसार के जन्मदाता हैं;अतः तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। किन्तु जब ये आचार्यदेव के आदेशानुसार चलने को तैयार न हुए तब इन सबको अपने संघ से निकाल दिया, और उन को स्थानकवासी वेष से अलग कर दिया।

विजयानन्द जी ने तथा उक्त साधुओं ने स्थानकवासी वेष में रह कर जिन स्थानकवासी श्रावकों को धर्म से भ्रष्ट किया था, उनका साहाय्य पाकर विजयानाद जी ने एक नया सम्प्रदाय खड़ा कर लिया। वह सम्प्रदाय श्वेताम्वर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय था। इस से पहले पंजाब में सभी स्थानकवासी परम्परा को मानने वाले ही लोग थे। कोई तीर्थंकरों की मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखता था। इससे स्पष्ट है कि पंजाब में श्वेताम्वर मूर्तिपूजकों का सम्प्रदाय बिल्कुल नवीन है, और इनका जन्म विक्रम सम्वत् १९२८ में हुआ है।

दिगम्बर परम्परा का प्रादुर्भाव—

दिगम्बर परम्परा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्वेताम्बर साहित्य में एक कथा मिलती है। वह इस प्रकार है—

मजैनाचार्य पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज का जीवन-चरित्र" नामक पुस्तक देखनी चाहिए।

रथवीरपुर में शिवभूति नाम का एक क्षत्रिय रहता था। उसने अपने राजा के लिए अनेक युद्ध लड़े। और उन में अपने राजा को विजयी वनाया। इसलिए राजा उसका खूव मान करता था। उत्सव आदि में उस की प्रतिष्ठा का विशेष ध्यान रखा जाता था। राजा द्वारा सम्मान पाकर वह इतना घमण्डी हो गया था कि किसी की भी परवाह नहीं करता था। एक वार शिवभूति वहुत रात गए घर लौटा। माता को उसकी प्रतीक्षा में विशेष जागृत रहना पड़ा था। इसलिए मां ने उसे खूव फटकारा। उस के ऊट-पटांग बोलने पर अन्त में, मां ने उसे घर से निकाल दिया। अपमानित तथा निराश हो कर वह संसार से विरक्त हो गया और वहां से चल दिया। फिरते-फिरते किसी स्थानक (उपाश्रय) में चला गया। वहाँ साधुओं को नमस्कार करने के अनन्तर उसने दीक्षा देने की प्रार्थना की। साधु, मुनिराजों के बिल्कुल इन्कार करने पर भी उसने स्वयं ही केशलोच कर डाला। उसकी दृढ़ता तथा अत्यधिक रूचि देख कर अन्त में, उसे जैनसाधु का वेष दे दिया। इस प्रकार शिवभूति साधु वन गया। साधु—जीवन के नियमों का कठोरता और दृढ़ता से पालन करने लगा। और गुरुदेव के साथ ही विचरने लगा।

एक वार विचरते—विचरते शिवभूति का अपने गुरुदेव के साथ रथवीरपुर में आना हुआ। इन के आगमनवृत्तान्त को जान कर नगर—नरेश भी पूर्वस्नेह के कारण इनके सन्मान में इन के पास गए। और उन्होंने भेंट में एक वहुमूल्य वस्त्र इन्हें अर्पित किया। शिवभूति ने स्नेह में आकर गुरुदेव की आज्ञा लिए विना ही उसे स्वीकार कर लिया। वात आखिर प्रकट हो गई। गुरुदेव

को उस वस्त्र का पता चल गया। इस पर उन्होंने उस वस्त्र को लौटा देने की शिवभूति को आज्ञा दी, किन्तु वस्त्र लौटाने को वह तैयार नहीं हुआ। तब शिवभूति को दण्डित करने के लिए या वस्त्र पर से उसका मोह दूर करने के लिए गुरुदेव ने उस वस्त्र को फाड़ कर उसके आसन, मुखवस्त्रिका या रजोहरण के निशीथिए बना दिए। इस पर शिवभूति को क्रोध आया। उसने आवेश में आकर कहा कि आज से मैं वस्त्र ही नहीं पहनता। ऐसा कह कर उसने सब वस्त्रों को त्याग दिया और दिगम्बर बन गया×।

शिवभूति की एक बहिन थी। नाम था—उत्तरा। वह भाई के मोह में साध्वी बन गई थी। उसने शिवभूति के दिगम्बर हो जाने की बात सुनी और यह भी सुना कि दिगम्बर मुनि शिवभूति पास के उद्यान में ठहरा हुआ है तो वह उस को वंदना करने गई। भाई के दिगम्बर हो जाने से मोहवश बहिन ने उसी का अनुसरण

×मारवाड़ी पट्टावली में ऐसे लिखा है कि बुटक नाम के एक साधु को आचार्यदेव ने एक क़ीमती वस्त्र दिया। बुटक ने ममत्व भाव से उस वस्त्र को पहना नहीं, उसे बांधकर रख लिया, प्रतिलेखना भी उसकी छोड़ दी। आचार्य महाराज ने इस अयतना को दूर करने के लिए उस वस्त्र को फाड़ कर मुंहपत्तियां बनाकर साधुओं को बांट दीं। बुटक इससे रुष्ट हो गया और उसने सब वस्त्र फैंक दिए और दिगम्बर हो कर घूमने लगा। बुटक विद्वान था, अतः उसने एक अलग सम्प्रदाय का निर्माण किया। स्त्री को मोक्ष नहीं मिलता, वस्त्र पहनने वाला साधु नहीं हो सकता आदि नवीन सिद्धान्तों की रचना की और नवीन ग्रंथ तैयार कर लिए। यही सम्प्रदाय समयान्तर में दिगम्बर सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गई।

—"ऐतिहासिक नोंध" की टिप्पणी पृष्ठ ६३

किया। उस ने भी सब वस्त्र उतार दिए, वह दिगम्बर बन गई, परन्तु जब वह नगर में भिक्षा को गई, तो उसका नग्न वेष सर्वत्र घृणा से देखा गया, और उसके कारण सर्वत्र उसे अवहेलना का पात्र बनना पड़ा। बहिन ने सब बात भाई को सुनाई। तब शिवभूति ने एक सिद्धान्त बनाया कि स्त्रियों को नग्न नहीं रहना चाहिए। और साथ में यह भी ज़ाहिर कर दिया कि स्त्रियां मोक्ष में नहीं जा सकतीं। मोक्ष में जाने के लिए पुरुष चोले की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, शिवभूति ने मूर्ति-पूजा आदि अन्य भी अनेकों सिद्धान्तों की कल्पना की और बहुत से लोगों को अपना अनुयायी बनाया। धीरे-धीरे शिवभूति ने एक स्वतन्त्र संघ बना डाला। यही संघ आगे चलकर दिगम्बर सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया। इस तरह महावीर-निर्वाण के ६०९ वर्ष अनन्तर दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ।

प्रश्न—स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के अनुसार भगवान महावीर नग्न थे या वस्त्रधारी ?

उत्तर—स्थानकवासी मान्यता के अनुसार भगवान महावीर वस्त्रधारी भी थे और वस्त्ररहित भी। भगवान महावीर के जीवन में सचेलक और अचेलक दोनों अवस्थाएं रही हैं। जब महावीर दीक्षित हुए, राज्यसिंहासन का परित्याग कर विश्वकल्याण के लिए साधु बने, उस समय शक्रेन्द्र महाराज ने भगवान को एक वस्त्र दिया था, उस वस्त्र को देवदूष्य कहते हैं। यह वस्त्र भगवान के पास १३ मास तक रहा। उस के अनन्तर उन के पास वह वस्त्र नहीं रहा। आधा फाड़ कर स्वयं उन्होंने एक ब्राह्मण को दे दिया था, शेष आधा वस्त्रखण्ड एक झाड़ी में उलझ जाने से वहीं छोड़

दिया गया। जो वाद में उसी ब्राह्मण ने उठा लिया था। इस तरह भगवान महावीर १३ मास तक वस्त्रधारी रहे। और उस के पश्चात् उन्होंने कोई वस्त्र नहीं रखा। वे सर्वथा नग्न ही रहते थे। इस से स्पष्ट है कि भगवान सचेलक भी रहे और अचेलक भी।

इस के अतिरिक्त, स्थानकवासी परम्परा की ऐसी भी मान्यता है कि भगवान महावीर किसी को नग्न नज़र नहीं आते थे। उनके× अतिशयविशेष के कारण वे सब को साधु-वेष में ही दृष्टि-गोचर होते थे। मुख पर मुखवस्त्रिका, हाथ में रजोहरण तथा शरीर पर अन्य आवश्यक वस्त्रधारण किए हुए प्रतीत होते थे। जैसा कि आज एक स्थानकवासी साधु का वेष है, उसी वेष में प्रभुवीर के दर्शन होते थे। ऐसा विश्वास है, स्थानकवासी परम्परा का।

भगवान महावीर ने दो तरह के कल्प माने हैं-जिनकल्प और और स्थविरकल्प। जिनकल्प को अचेलक-कल्प भी कहते हैं। तीर्थं-कर या जिनकल्पी साधुओं का वस्त्रों के अभाव के कारण अचेलक-

---

×तीर्थंकर भगवान चर्मचक्षु वाले व्यक्तियों को नग्न नज़र नहीं आते थे, और सदा साधुवेष में ही सब को दिखाई देते थे। यह कपोलकल्पित कल्पना नहीं है। इसके पीछे शास्त्रीय आधार भी है। समवायांग सूत्र के ३४वें समवाय में लिखा है कि तीर्थंकर भगवान के ४ अतिशय [अध्यात्म साधना द्वारा उत्पन्न महाशक्ति] होते हैं उन में पांचवां अतिशय है--तीर्थ-कर भगवान का आहार और नीहार (शौच जाना) प्रच्छन्न रहता है, चर्म-चक्षुवालों को दिखाई नहीं देता। जब भगवान आहार, नीहार करते हुए भी लोगों को उस रूप में दिखाई नहीं देते, तब उन का नग्न दृष्टिगोचर न होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

कल्प होता है। यद्यपि दीक्षा के समय इन्द्र द्वारा दिया गया देव-दूष्य (दिव्य वस्त्र) १३ मास तक भगवान महावीर के कन्धे पर रहता है, किन्तु उसके गिर जाने पर वस्त्र का अभाव हो जाता है। फिर वे सदा नग्न रहते हैं। हाथ ही उन के पात्र होते हैं। इन्हीं में वे भोजन करते हैं। इन के वस्त्र दिशाएं होती हैं। पात्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, चादर आदि किसी भी प्रकार का उपकरण इन के पास नहीं होता, ये सर्वथा त्यागी, विरक्त तथा अपरिग्रही होते हैं। ऐसे अध्यात्मयोगी महा-पुरुष जिनकल्पी या अचेलक कहलाते हैं। जिनकल्पी साधुओं का आचार-विचार बड़ा ऊंचा और कठोर होता है। साधनागत कठोरता को अधिकाधिक जीवन में ले आना ही इन के साधक जीवन का सर्वतोमुखी ध्येय रहता है।

स्थविरकल्प वस्त्रधारी साधुओं का होता है। स्थविरकल्पी साधु, वस्त्र, पात्र आदि उपकरण का उपयोग करते हैं। ये साधु अपना जीवन-व्यवहार चलाने के लिए १४ प्रकार का उपकरण रख सकते हैं। वह इस प्रकार है:—

१--पात्र—गृहस्थों के घर से भिक्षा लाने के लिए काठ, माटी तथा तूम्बे आदि द्वारा निर्मित भाजन।

२--पात्रबन्ध—पात्रों को बांधने का कपड़ा।

३—पात्रस्थापना—पात्र रखने का कपड़ा।

४—पात्र-केसरिका—पात्र पोंछने का कपड़ा।

५—पटल—पात्र ढकने का कपड़ा।

६—रजस्त्राण—पात्र लपेटने का कपड़ा।

७—गोच्छक—पात्र आदि साफ करने का कपड़ा।

८—१०—प्रच्छादक—ओढने की चादर। साधु उत्कृष्ट तीन चादर

रख सकता है। अतः ये तीन उपकरण माने जाते हैं।

११-रजोहरण-पाट, शय्या आदि पोंछने के लिए ऊन आदि का बना हुआ उपकरण-विशेष।

१२-मुखवस्त्रिका-मुखनिःसृत वायुकाया की रक्षा के लिए मुख पर बांधा जाने वाला वस्त्र।

१३-मात्रक-लघुशंका आदि गिराने के काम में आने वाला पात्र-विशेष।

१४-चोल्लपट्ट-गुप्त अंगों को ढकने के लिए धोती के स्थान में बांधा जाने वाला कपड़ा।

जिनकल्प और स्थविरकल्प इन दोनों कल्पों की प्ररूपणा स्वयं भगवान महावीर ने की है। भगवान महावीर के युग में दोनों कल्पों के साधु पाए जाते थे, किन्तु भगवान महावीर के पौत्र शिष्य श्री जम्बू स्वामी के निर्वाण के अनन्तर जिनकल्प का व्यवच्छेद हो गया, उस की समाप्ति हो गई। केवल स्थविरकल्प शेष रहा। आजकल स्थविरकल्प ही चल रहा है। इसी कल्प के नेतृत्व में आज साधु-मुनिराज संयम के महापथ पर बढ़ते चले जा रहे हैं।

प्रश्न—जिनकल्पी साधु नग्न रहता है, वह सर्वथा त्यागी होता है, यह सत्य है. किन्तु आज की दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु की भी ऐसी ही वेषभूषा होती है, वह सदा नग्न ही रहता है। नग्न होने के कारण ही वह दिगम्बर कहलाता है। फिर कहीं दिगम्बर परम्परा जिनकल्पी परम्परा का ही ध्वंसावशेष तो नहीं?

उत्तर—श्री जम्बूस्वामी के निर्वाण के अनन्तर जिनकल्पी परम्परा का तो अभाव हो गया था, अतः आज की दिगम्बर पर-

म्परा को जिनकल्पी परम्परा का ध्वसांवशेष नहीं कहा जा सकता। इस के अतिरिक्त, भगवान महावीर ने जिनकल्प का जो विधान किया है। उस का और आज की उपलब्ध दिगम्बर परम्परा के विधि-विधान में अत्यधिक अन्तर पाया जाता है, आचार-विचार-सम्बन्धी महान मतभेद है। इसलिए भी उस जिनकल्पी परम्परा का आज की दिगम्बर परम्परा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता।

भगवान महावीर ने कल्पों का जो द्वैविध्य बतलाया है। वह तो केवल साधक की साधनागत भिन्नता को लेकर ही बतलाया है, उस में सैद्धान्तिक मतभेद को कोई स्थान नहीं है। एक साधक अत्यधिक कठोर साधना कर सकता है, नग्न रह सकता है, रोगी होने पर किसी भी प्रकार की औषधि का सेवन नहीं करता, शैत्य लगता है तो शरीर को संकुचित नहीं करता प्रत्युत उसे अधिक प्रसारित करता है,* लज्जा-परीषह पर सर्वथा विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की उच्चतम तथा कठोरतम संयम साधना की जिस में क्षमता हो, उस साधक के लिए जिनकल्प का विधान किया गया है, किन्तु जो साधक इस प्रकार की भीषण साधना नहीं कर सकता, अपेक्षाकृत कुछ न्यून या सरल साधना के महापथ पर चल रहा है। उस के लिए स्थविरकल्प का निर्देश किया है। पर दोनों कल्पों की मौजूदगी में सैद्धान्तिक कोई भिन्नता नहीं है। दोनों ही

*नग्न होने पर व्यक्ति को लोगों से जो लज्जा की अनुभूति होती है, उस पर विजय प्राप्त कर लेना ही लज्जा-परीषह पर विजय प्राप्त करना होता है।

केवली* का कवलाहार, केवली का नीहार–शौच जाना, स्त्री की मुक्ति, शूद्र की मुक्ति, वस्त्रधारी की मुक्ति आदि सभी सिद्धान्तों को सदा स्वीकार करते हैं। किन्तु आज की दिगम्बर परम्परा का इन सिद्धान्तों पर किञ्चित् भी विश्वास नहीं है। यदि यह परम्परा–जिनकल्पी परम्परा का ही रूपान्तर या ध्वंसावशेष होती तो इस की तथा जिनकल्पी परम्परा की सैद्धान्तिक मान्यताओं में कोई अन्तर या मतभेद न होता। उक्त सिद्धान्तों में अन्तर स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। अतः आज की दिगम्बर परम्परा को जिन-कल्पी परम्परा का ध्वंसावशेष नहीं कहा जा सकता। दोनों का पारस्परिक कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त, जिनकल्पी परम्परा में तीर्थंकरों की मूर्तिपूजा को कोई स्थान नहीं था किन्तु आज की दिगम्बर–परम्परा सर्वथा मूर्तिपूजक है। यह भिन्नता भी दोनों को सर्वथा विभिन्न प्रकट कर रही है।

प्रश्न—स्थानकवासी परम्परा और श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा में आचार–विचार सम्बन्धी कहां–कहां अन्तर पाया जाता है ?

उत्तर—स्थानकवासी और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक इन दोनों परम्पराओं में आचार-विचार-सम्बन्धी अनेकों मतभेद हैं। उन सब का यदि यहां उल्लेख करने लगें तो काफी विस्तार हो जाएगा। अतः अधिक सूक्ष्मता में न जा कर स्थूल दृष्टि से ही उन मतभेदों पर विचार किया जाएगा।

---

* 'केवली का कवलाहार" आदि सिद्धान्तों की चर्चा आगे चल-कर "स्थानकवासी और दिगम्बर-परम्परा में क्या मतभेद है ?" इस प्रश्न के उत्तर में की जाएगी।

दोनों परम्पराओं में सर्वप्रथम अन्तर आगम-सम्बन्धी मान्यता का है। स्थानकवासी परम्परा× ३२ आगमों को प्रामाणिक मानती है। उसका विश्वास है कि ये आगम भगवान महावीर की वाणी है, और यही भगवान ने फरमाए हैं। इन से अधिक नहीं। किन्तु श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा ४५ आगम मानती है। ३२ तो वही हैं जो स्थानकवासी परम्परा द्वारा मान्य हैं, तथा १३ अन्य हैं। इस के अतिरिक्त, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा इन आगमों पर समय-समय पर आचार्यों ने जो संस्कृतटीकाएं लिखी हैं तथा इन पर जो भाष्य आदि लिखे हैं उन को भी आगमों की भांति प्रामाणिक मानती है, किन्तु स्थानकवासी परम्परा का ऐसा विश्वास नहीं है। यह परम्परा टीका और भाष्य आदि को आगमों की भांति प्रामाणिक नहीं मानती। मूल ३२ आगम ही इस की श्रद्धा का केन्द्र माने जाते हैं। इस परम्परा में मूल आगमों को ही

×स्थानकवासी परम्परा द्वारा प्रामाणिक रूप से मान्य ३२ आगम निम्नोक्त हैं—

११–अंगसूत्र–आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र।

१२–उपांगसूत्र–औपपातिक, रायप्रसेणी, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा।

४–मूलसूत्र–दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, अनुयोगद्वार। ४–छेदसूत्र–बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, दशाश्रुतस्कंध। ये सब ३१ होते हैं। और आवश्यक सूत्र मिलाकर ये ३२ हो जाते हैं।

सर्वाधिक मान प्राप्त है। हां, यह सत्य है कि जो टीकांश या भाष्यांश मूल आगमों के अनुकूल है, उस से इसे कोई विरोध भी नहीं है। सत्य तो यह है कि आगम-प्रतिकूल किसी भी व्याख्या या भाष्य आदि के लिए इस परम्परा में कोई स्थान नहीं है।

दूसरा अन्तर है—मुखवस्त्रिका का। स्थानकवासी परम्परा वायु-कायिक जीवों की रक्षा के लिए मुख पर मुखवस्त्रिका बांधने का विधान करती है। और उसका विश्वास है कि सदा मुख पर मुखवस्त्रिका लगाए विना वायुकायिक जीवों की सुरक्षा नहीं हो सकती, किन्तु श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा ऐसा विश्वास नहीं रखती। इस परम्परा के लोग हाथ में एक वस्त्रखण्ड रखते हैं, जिसे ये मुखवस्त्रिका कहते हैं। वस्तुतः उसे मुखवस्त्रिका की बजाय यदि हस्तवस्त्रिका कहा जाए तो अधिक उपयुक्त और बुद्धि-संगत है। इस का कारण यही है कि वह सदा हाथ में रखी जाती है। उसे कभी मुख पर नहीं बांधा जाता है।

मुखवस्त्रिका मुख पर बांधने पर ही वायुकायिक जीवों की संरक्षिका बन सकती है। इस सम्बन्ध में अनेकों शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं, किन्तु यहां उनके लिए न स्थान है, और नाँहीं उन की यहां आवश्यकता है। क्योंकि यहां तो दोनों परम्पराओं की आचार-विचार सम्बन्धी भिन्नता का ही दिग्दर्शन कराना इष्ट है। और दूसरे, इसी पुस्तक के १२वें अध्याय में इस सम्बन्ध में आवश्यक प्रकाश डाला जा चुका है। अतः जिज्ञासुओं को वह अध्याय देख लेना चाहिए।

तीसरा अन्तर मूर्तिपूजा का है। स्थानकवासी परम्परा मूर्ति-पूजा को अशास्त्रीय मानती है। उस का विश्वास है कि जैनागमों में मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में कहीं भी कोई विधान नहीं है। किसी भी

जैनआगम में मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रतिमापूजन का उल्लेख नहीं मिलता। मोक्ष के साधन तो दान, शील, तप और भावना है या सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की त्रिवेणी है। इन मोक्ष-साधनों में मूर्तिपूजा को कोई स्थान नहीं है। अतः स्थानकवासी परम्परा मूर्तिपूजा को आध्यात्मिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं देती। प्रत्युत इस प्रवृत्ति को मिथ्यात्व की पोषिका प्रवृत्ति स्वीकार करती है। इसके विपरीत, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा मूर्तिपूजा का विधान करती है और उसे आगमानुकूल मानती है। तथा इसके द्वारा वह आत्मकल्याण की कल्पना करती है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मूर्तिपूजा का आत्मकल्याण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। मूर्तिपूजन की अवास्तविकता तथा अनुपयोगिता का वर्णन इसी पुस्तक के "भाव-पूजा" नामक अध्याय में किया जाने वाला है। पाठक उसे देख सकते हैं। संक्षेप में यदि कहें तो इतना ही कहा जा सकता है कि स्थानकवासी परम्परा आत्मसाक्षात्कार के लिए किसी प्रतीक की उपासना की न तो आवश्यकता अनुभव करती है, और नाँहीं उसे आत्मसाक्षात्कार का साधन स्वीकार करती है।

चतुर्थ अन्तर तीर्थयात्रा का है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा पावापुरी, पालीताणा आदि स्थानों को तीर्थरूप मानती है, और वहाँ यात्रा करना धर्म स्वीकार करती है, किन्तु स्थानकवासी परम्परा तीर्थयात्रा में कोई श्रद्धा या आस्था नहीं रखती है। उसका विश्वास है कि तीर्थ-स्थानों पर चक्र लगाने से आत्मकल्याण नहीं हो सकता। तीर्थयात्रा ही यदि आत्मकल्याण का कारण होती तो तीर्थों पर रहने वाले पशु, पक्षी आदि प्राणियों का सर्वप्रथम आत्मकल्याण होना चाहिए था। क्योंकि वे तो सदा वहीं घूमते रहते हैं

और यात्रा करते रहते हैं। वस्तुतः आत्मकल्याण के लिए आत्म-विकारों को शान्त करने की आवश्यकता होती है। आत्मविकार शान्त और क्षय किए विना आत्मोन्नति नहीं हो सकती। भगवान महावीर ने भी किसी स्थानविशेष पर चक्र लगाने का कहीं विधान नहीं किया। वल्कि उन्होंने तो यात्रा का अर्थ ही बड़ा विलक्षण किया है। श्री भगवती सूत्र, शतक १८,उद्देशक १० में लिखा है कि एक वार सोमिल ब्राह्मण ने भगवान महावीर से पूछा कि प्रभो! आप के यहां यात्रा का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न के समाधान में भगवान बोले–सोमिल ! मेरे यहां तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योगों में यतना–प्रवृत्ति करना ही यात्रा है। देखा, भगवान महावीर ने यात्रा का कितना अपूर्व और आत्मशोधक विवेचन किया है ? स्थानकवासी परम्परा इसी यात्रा में विश्वास रखती है। पर्वतों पर या पर्वतों की गुफाओं में भ्रमण करने को यात्रा के रूप में स्वीकार नहीं करती, और उसने इस पर्वतभ्रमण को आत्मा की शुद्धि का कारण भी नहीं माना है।

इस के अतिरिक्त, स्थानकवासी परम्परा किसी स्थान-विशेष को तीर्थ के रूप में नहीं देखती है। वह तो मन की शुद्धि को ही तीर्थ मानती है। वैष्णवों के स्कन्धपुराण में भी इसी प्रकार का तीर्थ माना है। उस के काशीखण्ड अध्याय ६ में कहा है—

सत्यं तीर्थं, क्षमा तीर्थं ,तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं, तीर्थमार्जवमेव च ॥ १ ॥
दानं तीर्थं , दमस्तीर्थं , सन्तोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं,तीर्थं च प्रियवादिता ॥ २ ॥

ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं, तपस्तीर्थमुदाहृतम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं, विशुद्धिर्मनसः परा ॥ ३ ॥

अर्थात्—सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-दमन, जीवदया, सरलता, दान दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धृति और तपस्या ये सब तीर्थ हैं। तथा इन सब तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ है—मन की शुद्धि ।

यहां मन की शुद्धि ही मुख्य तीर्थ माना गया है। स्थानकवासी परम्परा भी मन की शुद्धि को ही, आत्मविकारों की उप-शान्ति को ही तीर्थ के रूप में स्वीकार करती है। पर्वत या पर्वत-गुफा आदि स्थान उस की मान्यता में तीर्थ नहीं होते ।

पंचम अन्तर है, रात्रि को पानी रखने का। श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा के साधु रात्रि को पानी रखते हैं। और कहते हैं कि दिशा या पेशाव जा कर शुद्धि करने के लिए रात्रि में जल रखना अत्यावश्यक है किन्तु स्थानकवासी परम्परा के साधु-रात्रि में जल रखने में रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत का भंग मानते हैं और इस व्रत-भंग को साधु-जीवन का एक महान दोष समझते हैं। शौच के अनन्तर शुद्धि करने की बात तो ये भी स्वीकार करते हैं किन्तु उनका कहना है कि इतना अधिक भोजन या अमर्यादित भोजन ही क्यों किया जाए ? जिससे रात्रि को शौचार्थ भागना पड़े। साधु को सदा परिमित और मर्यादित भोजन करना चाहिए। यदि परिमित और आवश्य-कतानुसार नियमित ही भोजन किया जाए तो असमय में शौच जाने का अवसर आ ही नहीं सकता। असमय में शौच की आशंका उसी व्यक्ति को रहा करती है, जिस का भोजन व्यवस्थित और नियमित नहीं होता।

यह सत्य है कि किसी शारीरिक विकार के कारण असमय में,

रात्रि को भी शौच जाने की स्थिति बन जाती है। किन्तु उस समय वस्त्र आदि द्वारा सफाई कर के सूर्योदय होने पर जल द्वारा शुद्धि कर लेनी चाहिए और जब तक शुद्धि न कर ली जाए तब तक शास्त्रस्वाध्याय आदि कोई भी आध्यात्मिक अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। शौच जाने के अनन्तर ही यदि शुद्धि करने का अवसर न हो, तो इस का यह अर्थ नहीं होता कि व्यक्ति सदा के लिए अशुद्ध ही हो जाता है। कई बार जीवन में ऐसे प्रसंग आते हैं कि पास में पानी का सर्वथा अभाव होता है, और शौच जाना पड़ता है। तथा शौच जाकर जब पानी मिल जाता है, तो उस के द्वारा शुद्धि कर ली जाती है। आप कह सकते हैं कि ऐसा प्रसंग तो आकस्मिक होता है, तो फिर इस का उत्तर स्पष्ट है कि शारीरिक विकार भी तो आकस्मिक ही हुआ करता है। नियमित और परिमित भोजन करने वाला व्यक्ति सदा तो असमय में शौच नहीं जाता। उसे भी तो किसी आकस्मिक शारीरिक विकार के कारण ही ऐसा करना पड़ता है। अतः आकस्मिक शारीरिक विकार के कारण यदि रात्रि को शौच जाना पड़े तो वस्त्र आदि द्वारा ही सफाई कर लेनी चाहिए। रात्रि में जल का सेवन तो कदापि नहीं करना चाहिए। यदि रात्रि को पानी रखा जाएगा तो साधु का* रात्रिभोजन विरमण व्रत भंग हो जाएगा। अपने व्रत का भंग करना किसी भी तरह ठीक नहीं है। क्योंकि यदि नियम तोड़ने की परम्परा चालू

---

*"रात्रिभोजन-विरमण" साधु का छठा व्रत होता है। इस का पालक साधु रात्रि को किसी भी प्रकार के भोजन का सेवन नहीं कर सकता, और नाँही अन्न-जल आदि खाद्य तथा पेय सामग्री अपने पास रख सकता है।

कर दी जाएगी फिर तो अन्य भी कई नियम भंग करने पड़ेंगे।

कल्पना करो, रात्रि को पानी रख लिया गया। किसी कुत्ते या बिल्ली ने उसे गिरा दिया, या साधु की अपनी ही असावधानी से वह गिर गया, तो फिर क्या किया जाएगा? अथवा जितना पानी रखा गया है, वह एक बार काम में आ गया, दूसरी बार फिर शौच जाना पड़ गया, या शारीरिक विकार के कारण ५-१० बार शौच जाना हो गया, पानी तो पहली बार ही समाप्त हो चुका है, तब क्या करना होगा? क्या रात्रि में ही किसी से पानी मंगाया जाएगा या रात्रि को स्वयं ही लोगों के घरों में जल के लिए अलख जगानी पड़ेगी? आखिर क्या किया जाएगा? यही न कि या तो शांत होकर बैठ जाना पड़ेगा, या फिर किसी गृहस्थ से पानी मंगाना पड़ेगा! यदि गृहस्थ से पानी मंगाया जाएगा? तो क्या साधु-धर्म की मर्यादा सुरक्षित रह सकेगी? उत्तर स्पष्ट है, कभी नहीं।

इसके अतिरिक्त, यदि रात्रि को वमन हो जाए तो क्या करना होगा? मुखशुद्धि के लिए कुरला करके रात्रि-भोजन* का दोष लगाया जाएगा? या चुपके हो कर बैठ जाना होगा? इस प्रकार कहां तक नियमों को तोड़ा जाएगा? भाव यह है कि रात्रि को जल रख कर साधु को अपना छठा व्रत नहीं भंग करना चाहिए। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा कहती है कि साधु को रात्रि में

*जैनतत्त्वादर्श (उत्तरार्द्ध) पृष्ठ १८४ पर लिखा है कि बालक तथा स्त्री के मुख का चुम्बन करने से चौविहार व्रत भंग हो जाता है। ऐसी स्थिति में रात्रि में यदि पानी से कुरला किया जाएगा तो रात्रिभोजन-विरमणव्रत स्वतः ही टूट जाएगा।

पानी नहीं रखना चाहिए। और वह यह भी कहती है कि साधु को अपना भोजन परिमित, नियमित और व्यवस्थित रखना चाहिए, ताकि उसे असमय में शौच जाने का अवसर ही न आने पाए।

छठा अन्तर है, प्रासुक पानी का। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधु केवल उष्ण जल को ग्रहण करते हैं। और वह विशेष रूप से गृहस्थों द्वारा इन के निमित्त तैयार किया जाता है, तथापि उसे ग्रहण करने की प्रायः इन के यहाँ परम्परा पाई जाती है। किन्तु स्थानकवासी परम्परा में साधु को निमित्त बना कर तैयार किया गया, उष्ण जल तथा अन्य खाद्य या पेय भोजन ग्रहण करना साधु के लिए दोष माना गया है। साधु के आहार-सम्बन्धी ४२ दोषों में आधाकर्म (साधु का उद्देश्य रखकर बनाना) यह एक दोष कहा गया है। अतः स्थानकवासी साधु उस उष्ण जल को ग्रहण नहीं करता, जो उस के निमित्त बनाया गया है। स्थानकवासी साधु वही उष्ण जल ग्रहण करते हैं, जो इन को निमित्त बना कर तैयार नहीं किया गया है।

स्थानकवासी साधु बरतनों का धोवन भी लेते हैं। रसोई के बरतनों को मांज कर उन का पहला और दूसरा धोवन गिरा देने पर तीसरा धोवन जो शेष रहता है, जिस में अन्न-कण या थन्दक नहीं होती है, केवल राख के कण होते हैं, जो एकान्त में रख देने पर दो घड़ी के बाद राख के कणों के बैठ जाने पर बिल्कुल साफ और स्वच्छ निकल आता है, उस प्रासुक पानी को लेने की परम्परा स्थानकवासी साधुओं में पाई जाती है, किन्तु श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधु उस पानी को ग्रहण नहीं करते। इसे वह झूठा और गन्दा कहते हैं। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। रसोई के बरतनों का

धोवन न जूठा ही होता है और न वह गन्दा ही होता है। रसोई के बरतनों के धोवन को यदि जूठा मान लिया जाए तो सारी रसोई ही जूठी माननी पड़ेगी, क्योंकि सारा भोजन उन्हीं बरतनों में बनाया जाता है। अतः रसोई के बरतनों के धोवन को जूठा नहीं कहा जा सकता। और उस पानी को गन्दा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दो घड़ी के अनन्तर राख-कणों के पानी के अन्दर बैठ जाने पर वह सर्वथा स्वच्छ और निर्मल निकल आता है। मलिनता की तो उस में गंध भी नहीं रहने पाती। इस का दैनिक प्रयोग इस सत्य का गवाह है।

प्रासुक जल के सम्बन्ध में इसी पुस्तक के १२वें अध्याय में, एषणासमिति के व्याख्यान में ऊहापोह किया गया है। जिज्ञासु उसे देख सकते हैं।

सातवां अन्तर है-सूतक-पातक मानने का। श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा में सूतक-पातक मानने का बड़ा ज़बर्दस्त विश्वास पाया जाता है। किसी के घर बालक या बालिका का जन्म हुआ हो तो कुछ निश्चित दिनों तक श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधु उस घर में भोजनादि को नहीं जाते। उस घर से भोजन लेना इन के यहां सदोष तथा घृणित समझा जाता है किन्तु स्थानकवासी परम्परा में सूतक-पातक के सम्बन्ध में ऐसा कोई विचार नहीं है। व्याव-हारिक रूप से इसे भले ही मान लिया जाता है, पर इस को सैद्धा-न्तिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। व्यावहारिक दृष्टि का अर्थ भी इतना ही है कि जिस घर में बालक, बालिका ने जन्म लिया है, उस घर वाले यदि सूतक-पातक को मानते हैं, और साधु के आहार आदि ले जाने पर कुछ बुरा अनुभव करते हैं तो केवल

उन की हृदय-शान्ति के लिए स्थानकवासी साधु उस घर से भोजन नहीं लेते हैं और जिस घर में इस के सम्बन्ध में कोई हीनता का विचार नहीं होता, वहां भोजन ग्रहण करने में स्थानकवासी साधु कोई दोष नहीं मानते हैं।

वास्तव में देखा जाए तो सूतक-पातक मानना, एक अन्ध-परम्परा है, इस में कोई भी सार नहीं है। क्योंकि यदि प्राणियों के जन्म तथा मरण आदि बातों को लेकर ही सूतक-पातक का विचार किया जाएगा तो जीवन का निर्वाह ही नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ पानी को ही ले लीजिए। जैन धर्म की दृष्टि से जलकायिक जीवों की जघन्य (कम से कम) स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त (४८ मिण्टों से कम काल) की होने से जल में स्थित असंख्य जीव जन्म लेते हैं और मरते हैं। ऐसी स्थिति में जहां पानी पड़ा है वहां सूतक होगा ही। सूतक की दशा में न पानी लिया जा सकता है और न वहां पर ठहरा ही जा सकता है। घरों में सब्ज़ियां काटी जाती हैं, बनाई जाती हैं, इस में जीवों का संहार होता है। इस के अतिरिक्त, घरों में चूहे, कीड़े-मकौड़े, मक्खी, मच्छर आदि अनेकों चल जीव प्रायः प्रतिदिन मरते रहते हैं। फिर किस-किस का सूतक-पातक मनाते फिरेंगे ? और लीजिए, यदि किसी हलवाई के यहाँ कोई पुत्र उत्पन्न हुआ है या उसकी मृत्यु हो गई है, तो उसकी दुकान खुलने पर लोग उसके यहाँ से मिष्टान्न नहीं खरीदेंगे ? आजकल दूध प्रायः बाज़ार से ही घरों में आता है। बाज़ार का दूध प्रायः दोभियों (दूध बेचने वालों) के यहां का होता है। उन के यहां प्रायः गाय, भैंसों के बच्चे होते ही रहते हैं, उन बेचारों के सूतक-पातक के दिन पूरे भी नहीं होते। परन्तु उन के यहां का दूध तो बाज़ार में बिकता ही है। क्या उसे खरीदा नहीं जाता ? यदि इस प्रकार सूतक-पातक के विचारों से खाने-पीने

की सब वस्तुओं का उपयोग करना छोड़ दिया जाए तो क्या ऐसे जीवन का निर्वाह हो सकता है ? उत्तर स्पष्ट है, कदापि नहीं ।

एक बात समझ में नहीं आती कि यदि किसी के घर बालक ने जन्म ले लिया तो इस से घर वालों को क्या लग जाता है? और निश्चित दिनों के व्यतीत हो जाने पर उन पर से क्या उतर जाता है ? सूतक का अर्थ है—जन्म का अशौच। जन्म का अशौच जन्म देने वाली माता के होगा या जन्म लेने वाले बालक को होगा। घर वालों का उस से क्या सम्बन्ध होता है ? और फिर वह अशौच भी तो सदा चिपटा नहीं रहता। उसे जलादि साधनों द्वारा साफ कर दिया जाता है, फिर सूतक रहा कहां ? वस्तुतः सूतक की मान्यता एक ऊल-जलूल मान्यता है, उसका कोई आधार नहीं है। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा इस अन्ध और अशास्त्रीय मान्यता में कोई विश्वास नहीं रखती।

आठवाँ अन्तर है—मक्खन को माँस के समान समझने का। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा मक्खन और मांस को एक समान मानती है और कहती है कि जिस प्रकार मांस अभक्ष्य है उसी प्रकार दो घड़ी के बाद का मक्खन भी अभक्ष्य है, मांस की तरह जीवों का पिण्ड है, समूह है। इसीलिए यह परम्परा दो घड़ी के बाद के मक्खन को भी ग्रहण करने का विरोध करती है। किन्तु स्थानकवासी परम्परा ऐसा विश्वास नहीं रखती। इस का विश्वास है कि माखन का जब वर्ण, रस, गंध और स्पर्श बदल जाता है, किसी विकार के कारण अपना स्वाभाविक रस खो कर किसी अन्य रस को प्राप्त कर लेता है तब वह माखन अग्राह्य होता है। तब उस का सेवन नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत यदि उसका वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ठीक-ठाक है, उस में कोई विकार नहीं आने पाया, तब उसे किसी भी समय

ग्रहण किया जा सकता है। सर्वथा निर्विकार माखन के ग्रहण कर लेने में कोई दोष नहीं होता है।

×श्री वृहत्कल्प सूत्र के उद्देशक ५. सूत्र ५१ में लिखा है कि साधु रोगादि के कारण माखन को चतुर्थ प्रहर में अपने काम में ला सकता है। इस से स्पष्ट है कि यदि माखन दो घड़ी के अनन्तर अग्राह्य, अभक्ष्य या जीवों का पिण्ड होता तो सूत्रकार उस को सेवन करने की कभी आज्ञा प्रदान न करते। शास्त्रीय आज्ञा स्पष्ट होने पर भी माखन को अभक्ष्य या जीवों का पिण्ड बतलाना, शास्त्रीय अनभिज्ञता प्रकट करना है। यदि माखन को कुछ क्षणों के लिए सर्वथा अभक्ष्य मान लिया जाएगा, तब तो माखन से चुपड़ी रोटी, या वह शाक जिस में माखन डाला गया है, उस का सेवन नहीं किया जा सकता। तथा घी का भी सर्वथा परित्याग करना पड़ेगा क्योंकि वह भी तो माखन से ही निकाला जाता है। माखन के बिना घृत की प्राप्ति नितान्त असंभव है। फिर घृत में भी प्रायः माखन का अंश सदा बना रहता है। वास्तव में देखा जाए तो

× नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासिएणं तेल्लेण वा घएणवा नवणिएण वा वसाए वा गायाइं अब्भंगेत्तए वा नन्नत्थ ओगाढेहिं रोगायंकेहिं।

अर्थात् साधु, साध्वी को प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ तेल, घृत, मक्खन, औषधि योग्य सुगन्धित द्रव्य, चौथे प्रहर में अपने शरीर को लगाना, बारंबार लगाना, मसलना कल्पता नहीं है परन्तु उक्त वस्तुएं यदि चतुर्थ प्रहर में प्राप्त न हो सकें तो रोगादि के कारण चतुर्थ प्रहर में भी इन का प्रयोग किया जा सकता है।

—आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा की "दो घड़ी के अनन्तर ही माखन को अभक्ष्य तथा जीवों का पिण्ड-स्वरूप मान लेने की" मान्यता सर्वथा अशास्त्रीय तथा असंगत प्रमाणित होती है।

नौवां अन्तर है—दही को गरम करके खाना। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा का विश्वास है कि दही का उपयोग नहीं करना चाहिए, यदि करना ही हो तो उसे गरम करके करना चाहिए। इसी प्रकार इस परम्परा का यह भी कहना है कि तीन दिन से अधिक समय के सभी आचार अग्राह्य हैं, अभक्ष्य हैं, अतः उन का भी सेवन नहीं करना चाहिए, किन्तु स्थानकवासी परम्परा इन सभी बातों में कोई विश्वास नहीं रखती। इस परम्परा का कहना है कि दही हो या आचार, जब तक उस का वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श दूषित नहीं होता, उस में किसी प्रकार का कोई विकार पैदा नहीं होता तब तक उसका सेवन किया जा सकता है, उसके सेवन में कोई दोष नहीं है। हां, यदि ये पदार्थ दूषित हो जाएं, इन में विकार पैदा हो जाए तो इन का सेवन नहीं करना चाहिए।

दसवां अन्तर है—वर्षा पड़ते समय भिक्षा को जाना। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधु मंद वर्षा पड़ रही हो तो भी भोजन के लिए गृहस्थों के घरों में चले जाते हैं, किन्तु स्थानकवासी मुनिराज वर्षा की एक बून्द भी पड़ रही हो तब भी भिक्षा को नहीं जाते। वर्षा के सर्वथा बन्द हो जाने पर ही स्थानकवासी साधु मुनिराज भिक्षा के लिए जाते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधु, साध्वी एक दण्ड रखते हैं जबकि स्थानकवासी साधु, साध्वियों के लिए दण्ड रखना आवश्यक नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधु, साध्वी छोटा सा रजोहरण रखते हैं जब कि स्थानकवासी साधु, साध्वी पूर्ण परिमाण का रजोहरण रखते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा

की अकेली साध्वी भिक्षा आदि कार्यों के लिए जा सकती है किन्तु स्थानकवासी परम्परा की अकेली साध्वी कहीं नहीं जा सकती है। दो साध्वियां ही उक्त कार्य के लिए जा सकती हैं। इस प्रकार अन्य भी ऐसी मान्यताएं हैं जो स्थानकवासी परम्परा और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में मतभेद का कारण बन रही हैं। विस्तारभय से सभी न बता कर परिचय के लिए केवल कुछ एक मान्यतागत मतभेदों का वर्णन किया गया है।

प्रश्न—स्थानकवासी परम्परा और दिगम्बर परम्परा इन दोनों में आचार-विचार-सम्बन्धी क्या मतभेद है?

उत्तर—स्थानकवासी परम्परा और दिगम्बर परम्परा दोनों में पर्याप्त मतभेद उपलब्ध होते हैं। उन मत-भेदों को संक्षेप में १६ भागों में बांट सकते हैं। वे भाग इस प्रकार हैं:—

१. केवली का कवलाहार	२. केवली का नीहार
३. स्त्री की मुक्ति	४. शूद्र की मुक्ति
५. वस्त्र-सहित-मुक्ति	६. गृहस्थ-वेष में मुक्ति
७. मुनियों के १४ उपकरण	८. तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री होना
९. ग्यारह अंगों की विद्यमानता	१०. भरत चक्रवर्ती को शीशमहल में केवल-ज्ञान की प्राप्ति
११. भगवान महावीर स्वामी का गर्भहरण	१२. महावीर को तेजोलेश्या-जनित उपसर्ग
१३. महावीर का विवाह (कन्या-जन्म)	१४. तीर्थंकर के कन्धे पर देव-दूष्य (वस्त्र)
१५. मरुदेवी माता को हाथी पर चढ़े हुए केवल-ज्ञान और मुक्ति	१६. साधु की सामुदानिक गोचरी

इन १६ बातों को लेकर स्थानकवासी परम्परा और दिगम्बर परम्परा में गंभीर मतभेद चलता है। स्थानकवासी परम्परा इन बातों को स्वीकार करती है और दिगम्बर परम्परा इन को मानने से इनकार करती है। अग्रिम पंक्तियों में इन्हीं मतभेदों का संक्षेप में परिचय कराया जायगा।

केवली का कवलाहार

दिगम्बर परम्परा का विश्वास है कि केवली को भूख, प्यास वेदना नहीं होती, किन्तु स्थानकवासी परम्परा उसे स्वीकार करती है। उसने कर्म-सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध किया है कि केवली को भी भूख, प्यास लगती है। स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि केवली के वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष् ये चार अघातिक कर्म अभी शेष होते हैं। अतः वेदनीय कर्म के उदय कारण, ×क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श

×भूख और प्यास की चाहे कैसी भी वेदना हो, फिर भी साधु-मर्यादा के विरुद्ध आहार पानी न लेना तथा समभावपूर्वक इन वेदनाओं को सहन करना क्रमशः क्षुधा और पिपासा परीषह है। ठण्ड और गरमी से चाहे कितना ही कष्ट होता हो तो भी उसके निवारणार्थ किसी भी अकल्पनीय वस्तु का सेवन न करके समभावपूर्वक इन वेदनाओं को सहन करना क्रमशः शीत और उष्ण परीषह है। डाँस, मच्छर आदि जन्तुओं का उपद्रव होने पर खिन्न न होते हुए उसे समभावपूर्वक सहन कर लेना दंशमशक परीषह है। धर्म-जीवन को पुष्ट करने के लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर विहार करना और किसी भी एक स्थान पर बिना कारण नियतवास स्वीकार न करना चर्या-परीषह है। कोमल या कठिन, ऊंची या नीची जैसी भी सहज भाव से मिले वैसी जगह में समभावपूर्वक शयन करना शय्या

और मल ये *ग्यारह परीषह केवली के भी होते हैं। दिगम्बर परम्परा के लोग ऐसा समझते हैं कि मोहनीय कर्म का प्रभाव जर्जरित हो जाता है, मोहनीय के नष्ट हो जाने पर वेदनीय कर्म का कोई वश नहीं चलता है। किन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं है। कर्म-सिद्धान्त के द्वारा यह बात सिद्ध नही हो पाती। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर तज्जन्य राग-द्वेष परिणति का अभाव हुआ करता है किन्तु वेदनीय कर्म की सत्ता में वेदनीय कर्मजन्य वेदना का अभाव कैसे हो सकता है? यदि ऐसा ही होता हो तो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय इन चार घातिक कर्मों के नाश के साथ ही वेदनीय कर्म भी समाप्त हो जाना चाहिए था, पर वह केवल ज्ञान के होने के अनन्तर भी क़ायम रहता है। इस का उदय तो सयोगी और अयोगी गुण-स्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इस प्रकार इस की सत्ता मान लेने पर भी तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना किसी भी तरह संगत नहीं कहा जा सकता। अतः केवली के साथ वेदनीय कर्म की सत्ता मान लेने के अनन्तर क्षुधा-वेदनीय को शान्त करने के लिए केवली का आहार ग्रहण करना

परीषह है। कोई ताड़न करे, तर्जन करे फिर भी उसे सेवा ही मानना वध परीषह है। किसी भी रोग से व्याकुल न होकर समभावपूर्वक उसे सहन करना रोग परीषह है। तृण आदि की तीक्ष्णता या कठोरता अनुभव हो तो मृदु-शय्या के सेवन सरीखा उल्लास रखना तृणस्पर्श परीषह है। चाहे कितना ही शारीरिक मल हो फिर भी उससे उद्वेग न पाना और स्नान करने की इच्छा न करना मल परीषह कहलाता है।

* एकादश जिने। तत्त्वार्थ सूत्र अ० ९/११

भी स्वीकार करना पड़ेगा। केवली का कवलाहार ग्रहण करने की बात मानने पर केवली का केवल ज्ञान सर्वथा सुरक्षित रहता है उस में किसी भी प्रकार की कोई हानि नहीं पहुँच सकती।

केवली का नीहार

विष्ठा तथा मूत्र के उत्सर्ग का नाम नीहार है। स्थानक-वासी परम्परा की मान्यता है कि केवली के नीहार भी होता है। दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। उस का विचार है कि केवली को शौच जाते समय स्वयं को घृणा होती है और उसे देख कर दूसरों को घृणा होती है। इसलिए केवली का नीहार मानना ठीक नहीं है, किन्तु स्थानकवासी परम्परा कहती है कि केवली तो वीतराग होते हैं, राग द्वेष का उन के यहां सर्वथा अभाव होता है। राग द्वेष के अभाव के कारण केवली को घृणा होती ही नहीं है। रही दूसरे लोगों की बात, उसकी भी कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनके अतिशयविशेष के कारण वे नीहार करते समय किसी को दिखाई ही नहीं देते हैं। भगवान के ३४ अतिशयों में "भगवान का आहार और नीहार प्रच्छन्न होता है, वह चर्म-चक्षु वाले को दिखाई नहीं देता" यह पांचवां अतिशय है। अतः केवली का नीहार मानना किसी भी तरह असंगत नहीं ठहरता है।

स्त्रीलिंग में मुक्ति

स्थानकवासी परम्परा की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी होता है वैसे स्त्री भी मोक्ष की अधिकारिणी है। पुरुष की भांति नारी भी मोक्ष में जाती है। इसीलिए स्थानक वासी परम्परा ने १५ प्रकार के सिद्धों में स्त्रीलिंग सिद्ध भी माना

है। स्त्रीलिंग शब्द स्त्रीत्व का बोधक है। स्त्रीत्व तीन प्रकार का होता है–१–वेद, २–शरीराकृति और ३–वेष। यहां पर शरीराकृति रूप स्त्रीत्व का ग्रहण किया गया है। क्योंकि वेद [स्त्री को पुरुष की कामना और पुरुष को स्त्री की कामना का होना] के उदय में तो कोई भी जीव सिद्ध नहीं हो सकता। रही वेष की बात, उसका आत्म-कल्याण के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। सारांश यह है कि स्त्रीलिंग सिद्ध उस सिद्ध को कहते हैं जो स्त्री के आकार में होता है। स्त्रीलिंग में सिद्ध बन जाने की मान्यता स्थानकवासी परम्परा की है, किन्तु दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। दिगम्बर परम्परा का विश्वास है कि पुरुष ही मुक्ति का अधिकारी है, स्त्री मुक्ति में नहीं जा सकती। इस में उस की दलील यह है कि स्त्री पुरुष से हीन× है। अतः पुरुष से हीन होने के कारण नारी मुक्त नहीं हो सकती। किन्तु ऐसा विश्वास सर्वथा भ्रान्ति–मूलक है। क्योंकि नारी को पुरुष से सर्वथा हीन मान लेना ठीक नहीं है। पुरुषों में जैसे आत्मा निवास करती है, वैसे ही नारी में भी आत्मा की अवस्थिति है। चेतना, शक्ति, बुद्धि, धीरता आदि बातों में नारी पुरुष से कभी पीछे नहीं रही है। नारी जीवन का उज्ज्वल इतिहास इस सत्य का सर्वथा पोषक रहा है। अध्यात्म शक्ति की सजीव प्रतिमा महासती चन्दन–बाला, सीता, द्रौपदी, दमयन्ती, मृगावती आदि अनेकों ऐसे नारी-जीवन हमारे सामने आते हैं, जिन्होंने प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपने धर्म का दृढ़ता तथा स्थिरता से पालन और संरक्षण किया है। अध्यात्मवाद के सभी चमत्कार इनके चरणों में लोटते रहे हैं। इसके अति-

×स्त्रीणां न मोक्षः, पुरुषेभ्यो हीनत्वात्, नपुंसकादिवदिति।

रिक्त, पांच महाव्रत, तीन गुप्ति और पांच समितियों की जिस प्रकार एक पुरुष आराधना करता है उसी प्रकार नारी भी इन की परिपालना करती है। फिर पुरुष को मोक्ष मिल जाए और नारी उस से वञ्चित रहे, यह कहां का न्याय है ?

जिस नारी को दुर्बल या सत्त्वहीन कहा जाता है वह नारी जिस समय अपने अन्दर सोए अध्यात्म देवता को जगा लेती है तब वह इतनी ऊंची उठ जाती है कि पुरुष को भी मात कर जाती है। अध्यात्म–वाद की चोटियों को पार करके मानव को संयम का मंगलमय महापाठ पढ़ाती है। उसकी सर्वदा अध्यात्म सुरक्षा करती है। संयम से भ्रष्ट हो रहे रथनेमि मुनि को संयम में स्थिर करने वाली कौन थी ? यही नारी थी। इसी नारी ने महासती राजीमती के रूप में अपना आदर्श नारीत्व दिखलाया था। उपासकदशांसूत्र में ऐसी अनेकों श्रावक मिल जाते हैं, जिनका आध्यात्मिक नेतृत्व नारी के हाथों में रहा था। नारी ने उन को धर्म से भ्रष्ट होने से बचाया था। उन के मृत धार्मिक अनुष्ठानों को उस ने जीवनदान दिया था। ऐसी दशा में नारी को पुरुष से हीन बतलाना सत्यता की हत्या करना है। वस्तुतः दिगम्बर परम्परा नारी के नारीत्व को आंक ही नहीं सकी है। इसीलिए उस ने नारी को मुक्ति के अयोग्य बतला कर एक भयंकर अन्याय किया है।

शूद्र की मुक्ति

जैन इतिहास बतलाता है कि भगवान ऋषभदेव तथा उन के पुत्र भरत ने मानव जगत को व्यवस्थित रूप देने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्णों को स्थापना की थी। समाज को ज्ञान, ध्यान के मोतियों से मालामाल करना ब्राह्मणों का काम था।

आततायी लोगों से दीन, दुःखी की रक्षा का, तथा देश, जाति की सुरक्षा का उत्तरादायित्व क्षत्रियों पर डाला गया था। अन्न, वस्त्र आदि सभी जीवनोपयोगी पदार्थों की व्यवस्था करने की सेवा वैश्यों को दी गई थी। तथा समाज–सेवा का पुण्य कर्म शूद्रों ने संभाला था। इस तरह समाज को चार वर्गों में बाँट कर समाज को बहुत सुन्दर व्यवस्थित रूप दे दिया था। उस समय सब लोग अपना–अपना कर्त्तव्य समझ कर अपने-अपने उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयास करते थे, किसी में उच्चता या नीचता के भाव नहीं थे। और जन्म से कोई ब्राह्मण होता है, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी कोई जन्म से होता है, ऐसी भावना भी किसी में नहीं पाई जाती थी। सभी जाति की व्यवस्था कर्म से किया करते थे, जो जैसा कर्म करना चाहता है या करता है, उसे उसी जाति का या वर्ण का कहा जाता था। कर्मणा जाति ही उस युग का जातिवाद था। जन्म से जातिवाद को कोई स्थान नहीं था। किन्तु जब वैदिक परम्परा ने ज़ोर पकड़ा तब इन में उच्चता तथा नीचता की भावना ने जन्म लिया। इस परम्परा ने जन्म से जाति को प्राधान्य देकर कर्म से जाति के पुनीत सिद्धान्त को निस्तेज बना दिया। भगवान महावीर के युग में यह वैदिकी भावना बहुत ज़ोरों पर थी। जन्मना जातिवाद के प्रभुत्व के कारण ही उस समय शूद्रों की बड़ी दुर्दशा थी, इन की छाया भी त्याज्य समझी जाती थी। अन्त में, भगवान महावीर ने जन्मना जातिवाद के सिद्धान्त को समाप्त किया और इस के लिए उन्होंने अपनी समस्त शक्ति होम दी। वैदिक परम्परा से उन्हें खूब लोहा लेना पड़ा था किन्तु अन्त में, इन्हें विजय की प्राप्ति हुई। कर्मणा जातिवाद के सिद्धान्त को इन्होंने जीवनदान दिया और सर्वत्र उसकी प्रतिष्ठा की।

समय ने फिर करवट ली। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद वैदिक परम्परा ने फिर से सर उठाया और आचार्य शंकर के समय में तो यह परम्परा अपने पूर्ण यौवन पर आ गई थी। इस का फल यह हुआ कि जन्मना जातिवाद के सिद्धान्त की प्रायः सर्वत्र प्रतिष्ठा हो गई। आगे चलकर स्वयं जैन भी इस के प्रभाव से न बच सके। आज के दिगम्बर जैनों में जो—"शूद्र की मुक्ति नहीं होती, हरिजन दिगम्बर जैन-मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकता—" आदि भ्रान्त धारणाएं पाई जाती हैं यह सब वैदिक परम्परा का ही प्रभाव समझना चाहिए। क्योंकि जैनधर्म तो जन्मना जातिवाद का सदा खण्डन करता आया है। और संसार को सदा उपदेश देता है कि व्यक्ति कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है×। तथापि जैनों में जो जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और जन्म से शूद्र होने की भावना आ गई है, तथा छूआछूत, अस्पृश्यवाद आदि जो मान्यताएं दृष्टिगोचर हो रही हैं, यह सब वैदिक परम्परा का ही तात्कालिक प्रभाव प्रतीत होता है। क्योंकि वैदिक पपम्परा कहती है—न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयताम्, अर्थात् स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। इस से स्पष्ट है कि जो परम्परा स्त्री,शूद्र के वेद पढ़ने का भी निषेध करती है, वह परम्परा उन्हें मुक्ति प्रदान कैसे कर सकती है? इस के विपरीत जैन परम्परा कहती है कि प्रत्येक

×कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २५

व्यक्ति को धर्म सुनाना चाहिए, चाहे, वह कैसा भी हो* ।

वैदिकपरम्परा के उक्त प्रभाव के कारण ही दिगम्बर परम्परा की मान्यता बन गई है कि शूद्र की मुक्ति नहीं हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से शूद्र आगे नहीं बढ़ सकता है,किन्तु स्थानकवासी परम्परा इस बात में विश्वास नहीं रखती है। इस का विश्वास है कि प्रत्येक भव्य जीव मुक्ति में जा सकता है, शूद्र के वास्ते मुक्ति का द्वार बन्द नहीं है। मोक्ष के साधन भूत सम्यग् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को जीवन में लाने वाला प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष के द्वार खोल सकता है। फिर चाहे वह शूद्र हो, या वैश्य तथा ब्राह्मण हो या क्षत्रिय ।

वस्त्रसहित मुक्ति

स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि मनुष्य यदि वस्त्रों का सर्वथा परित्याग कर दे तो यह उसकी साधना की पराकाष्ठा है, किन्तु यदि वह वस्त्रों का बिल्कुल त्याग नहीं कर पाता, तथापि वह सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के महापथ पर चलकर आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है, पहले गुणस्थान से ऊपर उठा हुआ अन्त में, वह चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में,वस्त्रों में रहता हुआ भी अनासक्त बनकर मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। पर दिगम्बर परम्परा की ऐसी मान्यता नहीं है। उस के विश्वासानुसार मनुष्य जब वस्त्रों का सर्वथा त्याग कर देता है, बिल्कुल दिगम्बर (नग्न) बन जाता है,

*जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ, जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ।

—आचारांग अ० २ उद्दे० ६

उस के बाद ही संयमी या साधु का पद प्राप्त करता है और ऐसा दिगम्बर साधु ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है दिगम्बर बने बिना मुक्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती।

संसार-परिभ्रमण का कारण ममत्व है, ममत्व से ही संसार के सब प्रपंचों का विकास होता है। ममत्वहीन जीवन सर्वथा निर्लेप और विरक्त रहता है। वास्तव में सभी प्रकार की आशाओं की जननी ममता ही है। आचार्य शंकर से एक वार पूछा गया था कि संसार में अमृत नाम का कौन सा पदार्थ है, जिसको पाकर मनुष्य सुखसरोवर में निमग्न हो जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने एक ही बात कही वह थी-निराशा×। आचार्य बोले-आशाओं की समाप्ति या अभाव ही वस्तुतः अमृत है। जहां आशा की विष-वेल है, वहीं उस के विषमय फल लगते हैं। आशा का पुजारी मानव ही संसार में दुःख और संकट की चक्की में पिसता रहता है। आशाओं की जननी ममता है। अतः ममता का निरोध ही संयम का सार है।

ममता को परिग्रह भी कहा जाता है। मुक्ति के साधक को इसका त्याग करना आवश्यक होता है। स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि यदि हृदय ममता से खाली है, किसी पदार्थ की आसक्ति नहीं रख रहा है, तब वह साधना की ओर बढ़ता है; आत्म-शुद्धि उस के निकट आती चली जाती है। इस के विपरीत यदि साधक का मन ममता से ओत-प्रोत हो रहा है, उसे वस्त्रों से, या अन्य उपकरणों से ममत्व भाव है, तब वह मुक्ति के पथ से पीछे जा रहा है किन्तु दिगम्बर परम्परा कहती है कि जब तक

×किंवामृतं स्यात्, सुखदा निराशा। (चर्पट-मंजरी)

साधक वस्त्रों का परित्याग नहीं करता, सर्वथा नग्नत्व स्वीकार नहीं करता, तब तक वह मुक्ति की साधना नहीं कर सकता, साधु नही बन सकता। गम्भीरता से यदि विचार किया जाए तो इस मान्यता में कोई भी सार प्रतीत नहीं होता। क्योंकि नग्नत्व ही यदि मुक्ति का कारण हो फिर तो वहुत से अनाथ, जिन को वस्त्र नहीं मिलता, सदा नंगे रहते हैं, उन को मुक्ति अवश्य मिल जानी चाहिए। गाय, भैंस, कुत्ते और गधे आदि सभी पशु भी आजीवन नग्न रहते हैं। इन का नग्नत्व भी मुक्ति का साधक होना चाहिए। पर ऐसा दिगम्बर परम्परा को भी स्वीकार नहीं है। क्यों ? इसीलिए, कि वहां ममत्व का त्याग नहीं है। भले ही वह जीव नग्न रहते हैं, किन्तु वे ऐसा विवशता से करते हैं। वहां मनसा ममत्व का त्याग नहीं होता। वस्तुतः ममत्व का अभाव ही मुक्ति का साधन है, सोपान है। वस्त्र हों या न हों, इस से कुछ फर्क़ नहीं पड़ता। आवश्यकता ममत्व के त्याग की है। प्रत्यक्ष से नग्नत्व स्वीकार कर लेने पर भी यदि शरीर से ममत्व चल रहा है तब भी मुक्ति दूर रहती है। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि मुक्ति की प्राप्ति के लिए वस्त्रों का सर्वथा त्याग या विल्कुल नग्नत्व अपेक्षित है, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। वस्तुतः जिस आत्मा ने ममतारूपी वस्त्रों को विल्कुल उतार दिया है, जीवन को निर्मम बना लिया है वही आत्मा मुक्ति का हक़दार है। मुक्ति प्राप्ति में वस्त्र बाधक नहीं बनते। द्रव्य-नग्नत्व की अपेक्षा भाव-नग्नत्व (ममता का अभाव) की आवश्यकता है।

गृहस्थवेष में मुक्ति

दिगम्बर परम्परा का विश्वास है कि मुक्ति को प्राप्त करने

के लिए साधु बनना जरूरी है। साधु बने बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है, किन्तु स्थानकवासी परम्परा कहती है कि यह सत्य है आत्मशुद्धि के लिए साधु–जीवन में जो साधना हो सकती है वह गृहस्थ जीवन में नहीं हो सकती। क्योंकि साधु–जीवन सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा अलग थलग होने के कारण अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी में अधिक गोते लगा सकता है। साधना करने का जितना अवसर साधु को प्राप्त हो सकता है, उतना गृहस्थ को नहीं। गृहस्थ पर अनेकों पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्व हैं, उसे परिवार के पालन-पोषणार्थ आजीविका आदि अनेकों चिन्ताएं घेरे रहती हैं। तथापि मुक्ति किसी वेष विशेष से बन्धी हुई नहीं होती है, जिस जीवन में साधु-भाव आ जाए, वही जीवन मुक्ति को पा सकता है, फिर वेष चाहे गृहस्थ का हो या साधु का। मुक्ति के साथ वेष का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वहां तो संयम की साधना चाहिए।

सभी गृहस्थ बुरे होते हैं, ऐसी बात नहीं है। कई गृहस्थ साधुओं से भी अच्छे होते हैं। जिन साधुओं के जीवन में साधुता नहीं है, केवल जिन्होंने साधु का वेष पहन रखा है, किन्तु ईर्षा, द्वेष, की आग में सदा जलते रहते हैं, कामना और वासना के दास बने हुए हैं, ऐसे भेषधारी साधु व्यक्तियों से वे गृहस्थ अच्छे हैं जिन का जीवन सात्त्विक है, हिंसा, असत्य, चोरी, दुराचार और परिग्रह से दूर रहता है। भगवान महावीर ने भी कहा है:—

सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्थ–संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥

—उत्तरा० अ० ५–२०

अर्थात्–किसी–किसी शिथिलाचारी भिक्षु से गृहस्थ संयम में अधिक श्रेष्ठ होते हैं और गृहस्थों में, साधु संयम में श्रेष्ठ हैं ही।

साधु साधना से होता है, वेष से नहीं। इसलिए स्थानकवासी परम्परा में १५ प्रकार के सिद्धों में गृहस्थलिंग सिद्ध भी स्वीकार किया है। जो जीव सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की साधना द्वारा गृहस्थ के वेष में ही मोक्ष में चले जाते हैं,वे गृहस्थलिंग सिद्ध कहलाते हैं। जैसे मरुदेवी माता। उस ने गृहस्थ वेष में ही निर्वाण पद पाया था। उन्होंने साध्वी का वेष अंगीकार नहीं किया था। भावों की विलक्षण उच्चता ने उन के कर्मों का क्षय कर के उन्हें अजर, अमर पद से विभूषित कर दिया था किन्तु दिगम्बर लोग ऐसा नहीं मानते।

मुनियों के १४ उपकरण

दिगम्बर परम्परा का विश्वास है कि साधु नग्न होते हैं, उन के पास किसी भी प्रकार का कोई भी उपकरण नहीं होना चाहिए। वे दिन में एक वार गृहस्थों के घर में ही खड़े होकर अपने हाथों में भोजन कर लेते हैं, इसलिए उन्हें पात्र की आवश्यकता नहीं होती। दिगम्बर शब्द ही उन के नग्नत्व का परिचायक है। किसी भी उपकरण को अपने पास रखना इस परम्परा में परिग्रह माना गया है। उपकरण साधुता का नाश कर देता है। अतः दिगम्बर परम्परा कहती है कि साधु के पास किसी भी प्रकार का उपकरण नहीं होना चाहिए। किन्तु स्थानकवासी परम्परा का ऐसा विश्वास नहीं है। यह परम्परा किसी भी उपकरण को परिग्रह का रूप नहीं देती। इस ने आसक्ति और मूर्च्छाभाव को ही परिग्रह माना है। साधु के साथ वस्त्र आदि उपकरण हों या न हों, यदि मन में उन के प्रति

आसक्ति है, मोह है, तो परिग्रह है, यदि उन में मूर्च्छाभाव नहीं है, तो सब उपकरणों के होते हुए भी साधु अपरिग्रही ही है। साधु संयम-साधना के लिए जिन वस्त्र आदि उपकरणों का उपयोग करता है, उन पर वह यदि ममत्व भाव नहीं रखता, तो उसे परिग्रही नहीं कहा जाता। श्री दशवैकालिक सूत्र में इस तथ्य का बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया गया है। वहां लिखा है—

जं पि वत्थं पायं वा, कम्बलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारन्ति परिहरन्ति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा॥

—दशवै० अ० ६/२०-२१

अर्थात्—मोक्ष-साधक साधु जो कल्पनीय वस्त्र, पात्र, कम्बल तथा रजोहरण आदि आवश्यक वस्तुएं रखते हैं, वे संयम की लज्जा के लिए ही रखते हैं–अपने उपयोग में लाते हैं, ममत्व भाव के लिए नहीं।

श्रमण भगवान महावीर ने वस्त्र, पात्रादि उपकरणों को परिग्रह नहीं बतलाया है, किन्तु मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहा है। इन्हीं भगवान महावीर के प्रवचन को अवधारण करके महर्षि गणधर देवों ने भी मूर्च्छाभव को ही परिग्रह माना है।

इसलिए स्थानकवासी परम्परा के विश्वासानुसार साधु वस्त्र, पात्र आदि उपकरण रख सकता है। उन पर यदि ममत्त्व भाव नहीं है तो वे उपकरण परिग्रह रूप नहीं हैं। वे उपकरण १४ माने गए हैं, जिन का वर्णन पीछे पृष्ठ ७१० तथा ७११ पर किया जा चुका है।

वस्त्र पात्र आदि को परिग्रह का रूप देने की दिगम्बर मान्यता युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यदि उपकरण–मात्र को परिग्रह स्वीकार कर लिया जाए तो शरीर को क्या कहा जाएगा ? "शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्" की उक्ति शरीर को सब से बड़ा साधन प्रमाणित कर रही है। ऐसी दशा में दिगम्बर मान्यता के अनुसार शरीर को भी परिग्रह ही मानना पड़ेगा। फिर "शरीरधारी मुनि मुनित्व को प्राप्त नहीं कर सकता" यह भी स्वीकार करना होगा। और बिना शरीर के धर्म–साधना नहीं हो सकती, ऐसी दशा में बात कैसे बनेगी ? व्यक्ति कैसे संयम–साधना कर सकेगा ? अतः सर्वोत्तम मार्ग यही है कि किसी भी उपकरण को परिग्रह न मानकर मूर्च्छाभाव को ही परिग्रह का रूप देना चाहिए। इसी मान्यता के आधार पर सब समस्याएं समाहित हो सकती हैं, अन्यथा नहीं।

आजकल के दिगम्बर साधु मोर पंखों की बनी एक पीछी रखते हैं, इस के द्वारा जीव-जन्तु को दूर हटाते हैं; तथा मलमूत्र आदि की शुद्धि के लिए एक कमण्डलु भी रखते हैं, उस में प्रासुक पानी रखा जाता है। पीछी और कमण्डलु रखकर भी निष्परिग्रही होने का दावा कहां तक ठीक है ? यह पाठक स्वयं सोच सकते हैं ? जब वस्त्र का एक धागा भी परिग्रह की परिभाषा से बाहिर नहीं है तब पीछी आदि पदार्थ परिग्रह से कैसे बाहिर रह सकते हैं ?

तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्रीत्व

दिगम्बर परम्परा का विश्वास है कि स्त्री साध्वी नहीं हो सकती। वैदिक परम्परा की "न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयताम्" इस उक्ति की भाँति यह परम्परा भी स्त्री को आध्यात्मिक उन्नति का अवसर नहीं देती। इस परम्परा का यह कहना है कि स्त्री,

स्त्री के रूप में कभी केवली या तीर्थंकर नहीं बन सकती, किन्तु स्थानकवासी परम्परा का ऐसा विश्वास नहीं है। यह परम्परा कहती है कि नारी भी पुरुष की भांति आध्यात्मिक उन्नति कर सकती है, साध्वी बनकर अहिंसा की विराट् साधना द्वारा घातिक कर्मों का क्षय करके केवली बन सकती है, तीर्थंकर पद के योग्य पूर्व भूमिका तैयार करके समय आने पर तीर्थंकर पद भी प्राप्त कर सकती है। नारी में जब पुरुष की भांति चेतना है, विचारणा है, अध्यात्मिक जागरणा है तो उसके आध्यात्मिक विकास पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध कैसे लग सकता है ? इसीलिए स्थानकवासी परम्परा इस अवसर्पिणीकालीन २४ तीर्थंकरों में से १९वें तीर्थंकर भगवान मल्लिनाथ को नारी रूप से स्वीकार करती है। किन्तु दिगम्बर लोग भगवान मल्लिनाथ को पुरुष रूप से ही देखते हैं। इन के यहाँ इन का स्त्रीत्व किसी भी प्रकार मान्य नहीं है।

यह सत्य है कि स्थानकवासी परम्परा यह स्वीकार करती है कि भगवान मल्लिनाथ स्त्री थे, किन्तु साथ में वह यह भी मानती है कि स्त्री का तीर्थंकर होना अवसर्पिणीकालीन १० आश्चर्यों में से एक आश्चर्य है। जो घटना अभूतपूर्व हो, पहले कभी न हुई हो और लोक में जो विस्मय और आश्चर्य की दृष्टि से देखी जाती हो ऐसी घटना को जैन परिभाषा में आश्चर्य कहा गया है। अवसर्पिणी काल में ऐसे दस आश्चर्य हुए हैं। उन में भगवान मल्लिनाथ का स्त्री रूप से तीर्थंकर होना भी एक आश्चर्य है। त्रिलोक में निरुपम अतिशय और अनन्त महिमा धारण करने वाले प्रायः पुरुष ही हुआ करते है और वही तीर्थ की स्थापना किया करते हैं, यह सत्य है किन्तु अनन्त अवसर्पिणियां और अनन्त उत्सर्पिणियां व्यतीत हो

जाने पर कभी-कभी नारी भी तीर्थंकर का स्थान ले लेती है। नारी भी पुरुष की भांति निरुपम अतिशय को धारण करके त्रिलोक-पूज्य बन जाती है और साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ (संघ) की संस्थापना करके तीर्थंकर पद को उपलब्ध कर लेती है।

११ अंगों की विद्यमानता

तीर्थंकर भगवान के उपदेशानुसार गणधरदेव जिन शास्त्रों की स्वयं रचना करते हैं, वे शास्त्र अंगसूत्र कहलाते हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण संस्कृति का आधार चार वेद और बौद्ध संस्कृति का आधार त्रिपिटक और ईसाइयों का आधार बाइबल (Bible) है उसी प्रकार जैन-संस्कृति का आधार अंग-सूत्र हैं। जिस प्रकार पुरुष के शरीर में दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो पसवाड़े (गात्रार्द्ध), दो भुजाएं, एक गरदन और एक सर ये १२ अंग होते हैं। उसी प्रकार श्रुत-शास्त्र रूपी पुरुष के १२ अंग हैं, जो अंग-सूत्र के नाम से कहे जाते हैं। अंग-सूत्रों की संख्या १२ है, किन्तु इन में बारहवां अंग दृष्टिवाद आजकल उपलब्ध नहीं है। अतः आज अंग-सूत्र ११ ही माने जाते हैं। इन अंग-सूत्रों का नामनिर्देश पीछे पृष्ठ ७१४ की टिप्पणी में कर दिया गया है।

इतिहास कहता है कि भगवान महावीर के प्रवचन का स्वाध्याय प्रथम मौखिक होता था। आचार्य शिष्य को और शिष्य आगे अपने शिष्य को स्मरण करा दिया करते थे। इस प्रकार गुरु परम्परा से आगमों का पठन-पाठन चलता था। भगवान महावीर के लगभग १५० वर्षों के अनन्तर देश में दुर्भिक्ष पड़ा। दुर्भिक्ष के होते अन्न का अभाव स्वाभाविक था। अन्नाभाव से बुद्धिशैथिल्य होने पर कण्ठ-

स्थ विद्या भूलने लगी। जैनन्द्र प्रवचन के इस ह्रास को रोकने के लिए जैनमुनिराजों ने एक वृहत्सम्मेलन का आयोजन किया। इस के प्रवान आचार्यवर श्री स्थूलिभद्र जी महाराज वनाए गए। श्री स्थूलिभद्र जी महाराज की देखरेख में जिन मुनियों को जो आगम-पाठ याद थे, उन सब का संकलन किया गया। यह आगमसाहित्य पूर्व की भांति अंग और उपांग× के नाम से निर्धारित था। तद-नन्तर पुनः दुर्भिक्ष पड़ा, उस दुर्भिक्ष में जैन-मुनियों का काफ ह्रास हुआ। प्रवचन–सुरक्षा के लिए मुनिराज श्री स्कन्दिल जी महाराज की अध्यक्षता में पुनः एक मुनिसम्मेलन मथुरा में बुलाया गया। और पूर्व की भांति आगमों का संरक्षण किया गया। काल की वि-चित्रता से तीसरो वार दुर्भिक्ष ने देश को फिर आक्रांत कर लिया। अव कि निर्ग्रन्थ प्रवचन को सुरक्षित रखने के लिए श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वलभी नगरी में मुनिवरों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में भी पूर्व की भाँति सभी आगमों का संकलन किया गया, किन्तु अबकि वार उसे मौखिक नहीं रहने दिया, मुनिराजों को जितने आगमस्थल स्मरण थे उन सब को अंग, उपांग आदि के रूप में लिपिवद्ध करवा दिया गया। और उन की अनेकों प्रतियां लिखवा डालीं, योग्य-योग्य स्थानों पर उन को भिजवाकर आगम-साहित्य की अनमोल निधि को सदा के लिए सुरक्षित करवा दिया। वही आगमसाहित्य आज हमारे सामने है और इसी को जैन–जगत अपना आध्यात्मिक आधार मानकर चल रहा है।

×अंगों के विषयों को स्पष्ट करने के लिए श्रुत-केवली या पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचे गए आगम उपांग कहलाते हैं। उपांग १२ होते हैं। इन का नाम-निर्देश पीछे पृष्ठ ७१४ की टिप्पणी में किया जा चुका है।

स्थानकवासी परम्परा की मान्यता है कि देवर्धिगणी क्षमाश्रमण ने जो अंगसाहित्य लिपिवद्ध कराया था वह भगवान महावीर की ही वाणी है, अतः वह सर्वथा प्रामाणिक है, किन्तु दिगम्बर परम्परा इस बात को स्वीकार नहीं करती है,उसका विश्वास है कि अंगसाहित्य भगवान महावीर की वाणी नहीं है। अतः वह इस अंगसाहित्य को प्रामाणिक रूप में स्वीकार करने से इन्कार करती है।

भरत को सीस–महल में केवल–ज्ञान

इतिहास बतलाता है कि एक बार भगवान ऋषभदेव के वड़े पुत्र भरत महाराज स्नान करके तथा वस्त्र आभूषणों से अलंकृत होकर आदर्शभवन सीसमहल में गए। वहां दर्पण में अपना रूप देखने लगे। अचानक एक हाथ की अंगूठी अंगुलि में से निकलकर नीचे गिर पड़ी। तब दूसरी अंगुलियों की अपेक्षा वह अंगुलि असुन्दर प्रतीत होने लगी। भरत जी महाराज को विचार आया कि यह शोभा केवल सोने के आभूषणों के धारण करने से ही है या वैसे स्वाभाविक है? दूसरी अंगुलि की अंगूठी भी उतार दी। यहां तक कि अन्त में, मस्तक का मुकुट तक सर से उतार दिया। पत्ररहित वृक्ष जैसे शोभाहीन हो जाता है। उसी प्रकार की अवस्था अपने शरीर को देखकर भरत महाराज की अन्तरात्मा बोल उठी—वस्तुतः यह शरीर सुन्दर नहीं है। इस की जो सुन्दरता है, वह भी वाह्य पदार्थों पर आश्रित है। जिस प्रकार अनेकविध चित्रों से दीवार को शृंगारित कर दिया जाता है। उसी प्रकार केवल आभूषणों से ही इस शरीर की शोभा दृष्टिगोचर होती है। इसका वास्तविक स्वरूप तो कुछ और ही है। भरत म०

की विचारधारा गंभीरता पकड़ने लगी। वे सोचने लगे कि यह शरीर विनाशशील है, अनित्य है, नश्वर है, मलमूत्रादि निकृष्ट पदार्थों का भण्डार है। कपूर, केसर, कस्तूरी और चन्दन कोई भी सुगन्धित पदार्थ इस के सम्पर्क में आ जाए तो वह भी दूषित हो जाता है, सब पदार्थों को यह दुर्गन्धमय बना डालता है। कितना घृणास्पद है, यह शरीर ?

इस शरीर की रक्षा के लिए मनुष्य अनेकविध यत्न करता है। रोगों से उन्मुक्त रखने के लिए नाना प्रकार की औषधियों का सेवन करता है किन्तु फिर भी यह साथ छोड़ जाता है, एक दिन मृत्यु की गोद में सो जाता है। वे लोग धन्य हैं, जो इस से धार्मिक लाभ उठाते हैं। वे तपस्वी मुनीश्वर धन्य हैं जो इस शरीर की अनित्यता तथा असारता जानकर मोक्षफलदायक तप द्वारा इस का उपयोग करते हैं। इस प्रकार की अध्यात्म विचारधारा का प्रबल वेग जब उत्पन्न हुआ तब भरत जी महाराज धीरे-धीरे भावों की विशुद्धता से इतने ऊंचे उठ जाते हैं कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चतुर्विध घातिक कर्मों का क्षय करके केवल-ज्ञान को उपलब्ध कर लेते हैं। आदर्शभवन से सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बनकर ही बाहिर निकलते हैं।

स्थानकवासी परम्परा इस प्रकार भरत महाराज को आदर्शभवन में केवली बन जाने की मान्यता में विश्वास रखती है, किन्तु दिगम्बर परम्परा इस बात को मानने से इन्कार करती है। उस के विश्वासानुसार जब तक मनुष्य दिगम्बर साधु न बने, नग्नत्व स्वीकार न करे तब तक केवल-ज्ञान तो क्या उसे साधुत्व भी प्राप्त नहीं हो सकता। दिगम्बर परम्परा व्यक्ति को साधु बनाने के लिए सर्वप्रथम दिगम्बर बनाती है किन्तु स्थानकवासी परम्परा केवल

भावनागत उच्चता की अपेक्षा रखती है। इस परम्परा का विश्वास है कि जब अन्तर्जगत की शुद्धि हो जाती है, अन्तः–स्वास्थ्य स्वस्थ हो जाता है, राग, द्वेष जीवन से सर्वथा निकाल दिए जाते हैं, तब घातिक कर्मों का नाश होने पर जीवन सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है। फिर भले ही वह सीसमहल में खड़ा हो, या किसी अटवी में बैठा हो ?

महावीर का गर्भहरण

भगवान महावीर स्वामी का जीव जब मरीचि (त्रिदण्डी) के भव में था, तब जातिमद के कारण उस ने नीचगोत्र का बन्ध कर लिया था। अतः परिणामस्वरूप प्राणतकल्प (दसवें देवलोक) के पुष्पोत्तर विमान से च्यवकर वह ब्राह्मण–कुण्ड ग्राम में ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में आकर पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। ८२ दिन व्यतीत हो जाने पर सौधर्मेन्द्र (प्रथम देवलोक के स्वामी शकेन्द्र महाराज) को अवधिज्ञान (ज्ञानविशेष, जिस से कुछ मर्यादा के साथ रूपी पदार्थों का प्रत्यक्ष बोध होता है) से इस बात का बोध होने पर उन्होंने विचार किया कि तीर्थंकर भगवान का जन्म ब्राह्मण के कुल में कभी नहीं हुआ करता, और न भविष्य में कभी ऐसा होगा, यह प्रकृति का नियम है। यह विचार कर उन्होंने हरिणगमेषी देव को बुलाया और उसे आज्ञा दी कि चरम तीर्थंकर भगवान महावीर का जीव पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म के कारण ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो गया है, किन्तु उसका जन्म वहां से नहीं हो सकता, क्योंकि तीर्थंकर सदा क्षत्रियों के कुलों में जन्म लिया करते हैं, अतः तुम जाओ और देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से उस जीव का हरण करके क्षत्रियकुण्ड नगर के स्वामी महाराज

सिद्धार्थ की महारानी माता त्रिशला के गर्भ में स्थापित करो। शकेन्द्र महाराज की आज्ञा के अनुसार देव ने देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ का हरण करके महारानी त्रिशला की कुक्षि में स्थापित कर दिया, और त्रिशला के गर्भ को देवानन्दा के यहाँ पहुंचा दिया। इस प्रकार भगवान महावीर के इस गर्भ-हरण की मान्यता स्थानकवासी परम्परा की है, किन्तु दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। उस का विश्वास है कि भगवान महावीर का जीव देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न ही नहीं हुआ, वह तो देवलोक से सीधा त्रिशला माता की कुक्षि में आया था।

स्थानकवासी परम्परा ने भगवान महावीर के गर्भहरण को अवश्य स्वीकार किया है किन्तु इस घटना को वह दशविध आश्चर्यों में एक आश्चर्य के रूप में देखती है। तीर्थंकर भगवान की गर्भ-हरण की बात अभूतपूर्व थी। अनन्त काल के अनन्तर इस अवसर्पिणी काल में ऐसा हुआ था, अतः स्थानकवासी परम्परा इस गर्भहरण को एक आश्चर्य के रूप में स्वीकार करती है। आश्चर्य शब्द के सम्बन्ध में पीछे पृष्ठ ७४२ पर ऊहापोह किया जा चुका है।

गर्भहरण की बात लोगों को कुछ असम्भव सी प्रतीत होती है। किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो पता चलेगा कि इस में असम्भव कुछ नहीं है। क्योंकि वर्तमान को देखना मनुष्य का स्वभाव है। अतः वह वर्तमान में न दिखाई देने वाली घटना को असम्भव मानने लग जाता है। पर उस के असम्भव मान लेने मात्र से वह असम्भव नहीं हो जाती। कुछ वर्ष पहले विमानों की बातें सुनकर लोग हंसा करते थे, और कहा करते थे कि आकाश में उड़ने वाला यंत्र कैसे हो सकता है? यह सर्वथा असम्भव है, किन्तु

आज एक या दो नहीं, करोड़ों की संख्या में ऐसे यंत्र आकाश में उडारियां ले रहे हैं। इन की गति प्रति घण्टा चार-चार हज़ार माइल है और लाखों कोस की यात्रा तय कर लेते हैं ये। दूसरी ओर विज्ञान ने चिकित्सा के क्षेत्र में जो उन्नति की है, वह भी चिन्तनीय है। डाक्टर लोग एक व्यक्ति का रक्त दूसरे व्यक्ति में दाखिल कर देते हैं एक फेफड़ा (Lungs) निकालकर दूसरा लगा देते हैं। नारियों के गर्भाशय निकालकर उन्हें ठीक करके पुनः वहीं रख देते हैं। यदि ये साधारण बुद्धि के मनुष्य ऐसा कर सकते हैं तो अनेकों दिव्य शक्तियों के स्वामी देवताओं के लिए गर्भहरण कर देना कैसे असम्भव कहा जा सकता है ? फिर स्थानकवासी परम्परा तो स्वयं इसे आश्चर्य (अनन्त काल के अनन्तर होने वाली अशुभ कर्मजन्य घटना) कहती है और भगवान महावीर के एक पूर्वकृत अशुभ कर्म का अशुभ फल मानती है।

श्री मदन कुमार मेहता द्वारा अनुवादित श्री भगवती सूत्र (हिन्दी) की भूमिका में श्री मोहनलाल बांठिया ने इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर ऊहापोह किया है। वे लिखते हैं कि भगवान वर्धमान महावीर के जन्म समय की गर्भ-स्थानान्तरण की घटना को लेकर बहुत कुछ आक्षेप हुए हैं और कहा गया है कि यह असम्भव जैसी बात जैन भगवान के जीवन को अन्य धर्मों के भगवानों के जीवन की तरह चमत्कारमय बनाने के लिए ही पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने जैन शास्त्रों में मिलादी है। जैन-शास्त्रों में वर्णित गर्भस्थानान्तरण की घटना में सरल बात (या प्रश्न) यह है कि क्या एक स्त्री के गर्भाशय से गर्भजीव को पक्व या अपरिपक्व अवस्था में निकाल कर अन्य स्त्री के गर्भाशय में आरोपित किया जा सकता है ? और वह आरोपित बीज फिर स्वाभाविक रूप से पैदा हो सकता है ? आधुनिक वैज्ञा-

निकों ने अपनी बहुमुखी प्रगति में इस विषय को भी अछूता नहीं छोड़ा है। प्राणि–शास्त्रवेत्ता डाक्टर चांग ने बोस्टन विश्वविद्यालय के जैव-रसायनशाला में इस सम्बन्ध में अर्थात् गर्भस्थानान्तरण सम्बन्धी परीक्षण किए हैं। इन में उन्हें प्राथमिक सफलताएं मिली हैं। अमेरीकन हिरनी के गर्भबीज को एक अंग्रेजी हिरनी के गर्भाशय में सफलता से स्थानान्तरित किया गया है। जैवरसायनागार जैव बोस्टन तथा कृषि कालेज केम्ब्रिज में पारस्परिक सहयोग से गर्भस्थानान्तरण सम्बन्धी अन्वेषण जारी हैं और शीघ्र ही इस सम्बन्ध में सविस्तृत विवरण ज्ञात होगा। (पृष्ठ २१–२२)

महावीर को तेजोलेश्या–जनित उपसर्ग

गोशालक भगवान महावीर का शिष्य था, भगवान ने ही उसे शिक्षित और दीक्षित किया था, किन्तु वह आगे चलकर भगवान का ही विरोधी बन गया। भगवान की अवहेलना और भर्त्सना करना उसने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। एक बार उस ने अपने तपस्तेज से भगवान के दो साधुओं को जला डाला था, निरपराध दो मुनियों के बलिदान से भी गोशालक की क्रोधज्वाला शान्त नहीं हुई। वह क्रोधावेश में भगवान महावीर को भी अपमानजनक ऊटपटांग बातें बोलता जा रहा था। अन्त में, करुणा के सागर भगवान महावीर ने उसको कहा–गोशालक ! एक अक्षर देने वाला विद्यागुरु कहलाता है, एक भी आर्य धर्म का वचन सुनाने वाला धर्मगुरु माना जाता है। मैंने तो तुझे दीक्षित और शिक्षित किया है, मैंने ही तुझे पढ़ाया है, और मेरे ही साथ तेरा यह व्यवहार ? गोशालक ! तू यह अनुचित कर रहा है ? तुझे ऐसा नहीं करना चाहिए।

चाहिए तो यह था कि गोशालक अपने गुरुदेव से क्षमा मांगता, किन्तु भगवान के वचनों का उस पर उल्टा ही परिणाम हुआ। वह शान्त होने की वजाय अधिक उत्तेजित हो गया, और उसने क्षण भर में अपनी तेजोलेश्या (तपोजन्य तेज-शक्ति) को भगवान के ऊपर छोड़ दिया। उसे अटल विश्वास था कि इसके प्रयोग से वह भगवान का अन्त कर देगा, किन्तु उस की धारणा निष्फल हुई। पर्वत से टकराई हुई वायु की भांति गोशालक द्वारा छोड़ी गई तेजोलेश्या भगवान से टकरा कर चक्र काटती हुई ऊंची चढ़ कर पुनः वापिस गोशालक के शरीर में ही प्रवेश कर गई। तेजोलेश्या के शरीर में प्रविष्ट होते ही गोशालक जलने लगा। अन्त में, निर्विष नाग की भांति निस्तेज हालत में गोशालक वहां से चला गया।

गोशालक ने भगवान महावीर पर जो तेजोलेश्या छोड़ी थी यद्यपि उस से तात्कालिक हानि नहीं हुई पर उस की प्रचण्ड ज्वालाएं अपना थोड़ा सा प्रभाव महावीर पर अवश्य कर गईं। उन के ताप से प्रभु के शरीर में पित्त ज्वर हो गया। परिणामस्वरूप भगवान को खून के दस्त आने लगे। रक्त के अधिक स्राव से भगवान का शरीर काफी शिथिल और कृश हो गया। केवल-ज्ञान होने के पश्चात् पहली बार भगवान को यह तेजोलेश्याजनित उपसर्ग सहन करना पड़ा। ऐसी मान्यता है, स्थानकवासी परम्परा की, किन्तु दिगम्बर परम्परा भगवान के तेजोलेश्याजनित इस उपसर्ग को स्वीकार नहीं करती। उस का विश्वास है कि सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व जैसी उच्चतम आत्मिक भूमिका पर विराजमान तीर्थंकर भगवान महावीर को यह भीषण वेदना क्यों ? ऐसी लोमहर्षक वेदना ऐसी वीतराग आत्मा को नहीं हो सकती, किन्तु स्था-

नकवासी परम्परा का कहना है कि केवली भगवान ने भले ही घातिक कर्मों को क्षय कर दिया है पर अभी तक उनके वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष ये चार अघातिक कर्म अवशिष्ट होते हैं, वेदनीय कर्मजन्य सुख-दुःख का उनको भी उपभोग करना पड़ता है। यदि वेदनीय कर्म का फल ही न हो तो फिर उसकी अवस्थिति का अर्थ ही क्या है ? अतः वेदनीय कर्मजन्य सुख, दुःख का अनुभव तो तीर्थंकरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व प्राप्त कर लेने पर भी आत्मा को करना ही होता है।

तीर्थंकर भगवान का यह अतिशय होता है कि वे जहां विराजते हैं, उस स्थान के चारों ओर सौ योजन के अन्दर किसी भी प्रकार का वैरभाव, मरी आदि रोग, और दुर्भिक्ष आदि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होने पाता, किन्तु श्रमण भगवान महावीर स्वामी को केवली अवस्था में भी यह जो गोशलक—निस्सारित तेजोलेश्या द्वारा उपसर्ग सहन करना पड़ा, यह एक आश्चर्य की बात है। तीर्थंकर भगवान तो देव, मनुष्य, तिर्यञ्च सब के लिए सत्कार के पात्र हैं, उपसर्ग के पात्र नहीं हैं। तथापि अनन्त काल के अनन्तर कभी ऐसी दुःखद घटना उनके जीवन में भी संघटित हो जाती है। यही दशविध आश्चर्यों में एक आश्चर्य का अपना स्वरूप है। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा भगवान महावीर के इस उपसर्ग को एक आश्चर्य के रूप में देखती है।

महावीर का विवाह (कन्याजन्म)

स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि भगवान महावीर विवाहित थे, राजकुमारावस्था में इन का राजकुमारी यशोदा के साथ विवाह सम्पन्न हुआ था और उस से उन के प्रियदर्शना नाम

की एक पुत्री भी हुई थी, किन्तु दिगम्बर परम्परा भगवान महावीर को अविवाहित मानती है। उस का विश्वास है कि महावीर अखण्ड ब्रह्मचारी थे, वैवाहिक जीवन को उन्होंने कभी अंगीकार नहीं किया था।

तीर्थंकर के कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र

स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि भगवान महावीर जब दीक्षित हुए थे, साधु बने थे, तब सौधर्मेन्द्र शक्रेन्द महाराज ने भगवान को एक वस्त्र अर्पित किया था, जो प्रभु ने अपने कन्धे पर डाल लिया था, और जो जैन-साहित्य में देवदूष्य के नाम से प्रख्यात है। यह देवदूष्य भगवान के पास १३ महीने रहा था, बाद में वह उन के पास नहीं रहा, किन्तु दिगम्बर परम्परा ऐसा विश्वास नहीं रखती। उसका कहना है कि भगवान सर्वथा दिगम्बर थे, नग्न थे, दिशाएं ही उनके वस्त्र थे। एक बार वस्त्र और भूषणों को उतार कर इन्होंने कभी किसी वस्त्र को धारण नहीं किया। इनका यह नग्नत्व आजीवन रहा।

मरुदेवी माता की हाथी पर मुक्ति

एक हज़ार वर्ष की निरन्तर कठोर साधना के अनन्तर जब भगवान आदि नाथ को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई तो उसी समय भगवान के पुत्र भरत महाराज की आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। पुण्योत्कर्ष के प्रताप से भरत को हर्षमहोत्सव के एक साथ दो पुण्य अवसर प्राप्त हो गए। प्रश्न उपस्थित हुआ कि पहले किस उत्सव को मनाया जाए? भरत ने सोचा-चक्ररत्न तो केवल इस भौतिक संसार के लाभ की वस्तु है, किन्तु प्रभु के केवल-ज्ञान महोत्सव लोक और परलोक दोनों के लिए हितकारी है। अतः सर्व-

प्रथम भगवान के केवलज्ञान महोत्सव को मनाना चाहिए और उसी में सम्मिलित होना चाहिए। इस निश्चय के बाद भगवान के दर्शन करने के लिए दर्शन–यात्रा की व्यवस्था के वास्ते मंत्री को आदेश दिया और इस शुभ समाचार को लेकर स्वयं अपनी पूज्य दादी मरुदेवी माता के चरणों में उपस्थित हुए। राजमाता के चरणों में नतमस्तक होने के अनन्तर उन्होंने अर्ज की–माता! आज मैं आप को एक शुभ समाचार सुनाने आया हूं। आप के पुत्र आज केवली बन गए हैं। केवल-ज्ञान प्राप्ति के उपलक्ष्य में बड़ा भारी उत्सव होने वाला है। देवी, देवता, मनुष्य, मानुषी सभी लोग उसमें सम्मिलित हो रहे हैं। आप भी चलिए। आप प्रतिदिन अपने पुत्र को देखने की लालसा व्यक्त किया करती हैं और मुझे उपालंभ दिया करती हैं, कि तू मेरे पूत्र की खबर नहीं मंगाता। आज बड़ा सुन्दर अवसर है मां! तैयार हो जाओ। भगवान के दर्शन होंगे और केवलज्ञान-महोत्सव देखा जाएगा।

मरुदेवी माता उक्त समाचार सुन कर फूली न समाई। झट तैयार हो गई। और सहर्ष हाथी के हौदे पर बैठ गई। राजमाता के पीछे स्वयं भरत महाराज बैठ गए, अन्य हजारों राजे महाराजे तथा चतुरंगिणी सेना भी साथ-साथ चली। इस प्रकार बड़े समारोह के साथ भगवान आदिनाथ के दर्शन करने के लिए भरत महाराज ने प्रस्थान किया। मरुदेवी माता मातृसुलभ-ममता के कारण विचार करती जा रही थीं–पता नहीं, मेरे पुत्र की क्या अवस्था है? राजपाट छोड़े वर्षों बीत गए हैं, न जाने बेचारा किस दशा में बैठा होगा? बड़ा निर्मोही हो गया है वह, उसने आज तक मेरी खबर तक नहीं ली। अच्छा, मिलूंगी तो उपालंभ दूंगी........। समवसरण के पास आने पर भरत बोले—माता! अपने पुत्र को

ऋद्धि तो देखो। इन के आगे आकाश में धर्म-चक्र शोभायमान है, सर पर तीन छत्र हैं, इन के दोनों ओर तेजोमय श्रेष्ठ चंवर अवस्थित हैं, आकाश के समान स्वच्छ, स्फटिक, मणि के बने हुए पादपीठ वाले सिंहासन पर ये विराजमान हैं। पत्र, पुष्प और पल्लव से शोभित, छत्र, ध्वज और पताका से युक्त अशोक वृक्ष प्रकट हो रहा है। इन के पीछे मस्तक के पास देदीप्यमान भामण्डल (गोलाकार प्रकाशपुंज) कितना सुन्दर लग रहा है मां! जरा ध्यान से अपने पुत्र के अध्यात्म वैभव को देखो।

हर्ष से रोमाञ्चित और आनन्दातिरेक के कारण निस्सृत अश्रुजल से परिपूर्ण नयनों से अपने पुत्र के अलौकिक अध्यात्म वैभव और ऐश्वर्य को निहार कर माता मरुदेवी आनन्द-सागर में निमग्न हो गई। उसने सोचा—मेरा पुत्र तो बड़ा सुखी है। देवी, देवता भी इस की सेवा में नतमस्तक खड़े हैं, मनुष्यों का तो कहना ही क्या है? मैं तो व्यर्थ में ही इस के अनिष्ट की आशंका कर रही थी। इस से बढ़ कर और कौन सुखी होगा? मैं सोचा करती थी, पुत्र ने कभी मेरी सार नहीं ली, अब समझी। ऐसे आनन्द-सरोवर में रह कर भला यह मुझे क्यों याद करने लगा? अच्छा चलती हूं, पूछूंगी जरूर, पुत्र कितना भी बड़ा क्यों न हो जाए, आखिर मां तो मां ही रहती है.........इस प्रकार के विचारों में निमग्न मरुदेवी माता प्रभु के दरबार में गई, पर वीतरागी प्रभु ने तो आंख उठाकर अपनी जननी की ओर निहारा भी नहीं।

मां सन्न रह गई। उसे स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि मेरा पुत्र मुझे देखेगा भी नहीं। झट वापिस चल दी। और हाथी के हौदे पर बैठी विचार करने लगी कि पुत्र-मोह में पागल होकर मैंने तो अपने नयन भी खोलिए और उसने मुंह उठा कर मेरी ओर देखा भी

नहीं। मां का दिल भर आया। रोने लगी। अन्त में बोली—धिक्कार है ऐसे मोह को। तू पागल है, जो पुत्र के मोह में विह्वल हो रही है। जगत में कौन किस का है? माता, पुत्र आदि सभी सम्बन्धों में कोई तथ्य नहीं है, ये सब काल्पनिक सम्बन्ध है। जीव अकेला आया है, और अकेला ही जाएगा। पुत्र आदि किसी ने भी साथ नहीं देना। किसी ने सच कहा है:—

दुनिया के बाज़ार में चलकर आया एक।
मिले अनेकों बीच में अन्त एक का एक॥

ममता का बांध टूट गया। माता की गंभीरता बढ़ती चली गई, बाह्य संसार को भूल कर अन्तर्जगत में विहरण करने लगी। अन्त में, एकत्व भावना के सहारे वीतरागता के महा—मन्दिर की उसने सब श्रेणियां पार कर लीं, उस की अध्यात्म चेतना उच्चता के किनारे पहुंच गई। बस फिर क्या था? हाथी के हौदे पर ही घातिक कर्मों को क्षय करके माता का आत्ममन्दिर केवल—ज्ञान की दिव्य ज्योति से ज्योतित हो उठा और उसी समय शेष आयु आदि अघातिक कर्मों की समाप्ति होने पर मरुदेवी माता मोक्षधाम में जा विराजीं। जन्ममरण की परम्परा को सदा के लिए समाप्त करके उन्होंने परमात्मपद को प्राप्त कर लिया।

इस अवसर्पिणीकाल में मुक्ति-पुरी का सर्वप्रथम द्वार माता मरुदेवी ने खोला था। सिद्धों के संसार में सर्वप्रथम दाखिल होकर अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द में रमण करने वाली न केवल इस अवसर्पिणीकालीन प्रथम नारी थी बल्कि यह वह पहला व्यक्ति था जिसने इस युग में सर्वप्रथम मोक्ष प्राप्त की थी।

"मरुदेवी माता हाथी के हौदे पर केवलज्ञान प्राप्त करके

सर्वप्रथम सिद्ध बनीं" यह मान्यता स्थानकवासी परम्परा की है किन्तु दिगम्बर ऐसा नहीं मानते हैं। उनका विश्वास है कि नग्नत्व अंगीकार करने पर ही व्यक्ति साधुत्व को पा सकता है, अन्यथा नहीं। और नारी का नग्न रहना इनके यहाँ सर्वथा निषिद्ध है। ऐसी दशा में नारी साधु-जीवन में प्रविष्ट नहीं हो सकती और साधुत्व प्राप्त किए बिना केवलज्ञान या सिद्धत्व की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। अतः दिगम्बर परम्परा में मरुदेवी माता का हाथी के हौदे पर मुक्त होना सर्वथा अमान्य है। इसके विपरीत स्थानकवासी परम्परा उक्त पद्धति से मरुदेवी की मुक्ति को सहर्ष स्वीकार करती है। इस का कहना है कि साधुजीवन के लिए निष्परिग्रही होना आवश्यक है। निष्परिग्रही अवस्था मूर्च्छाभाव छोड़ने से प्राप्त होती है। मूर्च्छा का परित्याग नर और नारी दोनों ही कर सकते हैं। जब नारी मूर्च्छा का, आसक्ति का सर्वथा परित्याग कर देती है, सर्प जैसे कांचली को त्याग कर फिर उस की ओर देखता भी नहीं है। वैसे ही नारी-जीवन जब संसार के प्रलोभनों से मुंह फेर लेता है, सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की सम्यक् आराधना द्वारा आत्मा को निष्कर्म बना लेता है, तब उसका मुक्त होना सर्वथा सत्य है। उस में संसार की कोई शक्ति प्रतिबन्धक नही बन सकती। वस्तुस्थिति तो यह है कि मुक्ति न पुरुष वेष को मिलती है, न नारीवेष को। मुक्ति की प्राप्ति के लिए अवेदी होना आवश्यक है। वेद तीन होते हैं—स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। मैथुन करने की अभिलाषा का मार्ग वेद है। जैसे पित्त के प्रभाव से मधुर पदार्थ ग्रहण करने की रुचि होती है, उसी प्रकार स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की जो इच्छा होती है, वह स्त्रीवेद है। जैसे कफ़ के प्रभाव से खट्टे पदार्थ की रुचि

होती है वैसे ही पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की जो इच्छा होती है, वह पुरुष वेद है। जैसे पित्त और कफ के प्रभाव से मद्य-पदार्थों के प्रति रुचि होती है, उसी तरह नपुंसक को स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की जो अभिलाषा होती है, उसे नपुंसक वेद कहते हैं। वेद का अभाव अवेद होता है। अवेद जिस में होता है, उसे अवेदी कहते हैं। मुक्ति की प्राप्ति के लिए वेद का परित्याग करना पड़ता है। वेद का परित्याग चाहे नारी करे, चाहे नर करे, प्रत्येक अवेदी जीवन मुक्ति का अधिकारी होता है। वेद का सर्वथा अभाव ही मुक्ति का सोपान है। वस्त्रों का या चोले का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

साधु की सामुदानिक गोचरी

सामुदानिक शब्द उस भिक्षा का परिचायक है जो भिक्षा मधुकरी वृत्ति द्वारा प्राप्त की जाती है, बिना भेदभाव के सभी घरों से ली जाती है। तथा जिस में धनी, निर्धन या अपने और पराए का कोई भेद नहीं रखा जाता। निर्धन हो या धनी, सम्बन्धी हो या असम्बन्धी, सामान्य हो या विशेष, परिचित हो या अपरिचित सभी घरों से प्राप्त की जाने वाली निर्दोष भिक्षा का नाम सामुदानिक भिक्षा है। जिस प्रकार भ्रमर यह प्रतिबन्ध नहीं रखता कि मैं अमुक पुष्पवाटिका से या अमुक पुष्प से ही रस लूंगा किन्तु वह सर्वत्र सभी पुष्पों से थोड़ा–थोड़ा रस लेता रहता है, ऐसे ही सामुदानिक भिक्षा द्वारा जीवन–निर्वाह करने वाला भिक्षु भी ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं रखता कि मैं अमुक व्यक्ति के ही घर से या अमुक व्यक्ति से ही या अमुक प्रकार का ही आहार ग्रहण करूंगा। प्रत्युत अपने स्थान से निकलकर जिधर को वह भिक्षार्थ चल देता

है, उधर के सभी प्रामाणिक और आहार, विचार आदि की दृष्टि से सात्त्विक घरों से भिक्षा प्राप्त करता है। किसी के यहां अवश्य जाना है और बिना कारण किसी के यहां नहीं जाना है; ऐसा उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

श्री दशवैकालिक आदि सूत्रों में ऐसा लिखा है कि भिक्षु स्वादपूर्त्यर्थ भिक्षा के समय धनिक परिवारों की ही खोज में न रहे, बल्कि मार्ग में चलते हुए रास्ते में जो भी घर आजाए, उसमें बिना किसी भेद-भाव के उसे भिक्षा को जाना चाहिए, और अपनी विधि के अनुसार जैसा सुन्दर अथवा असुन्दर किन्तु प्रकृति के अनुकूल भोजन मिले, ग्रहण करना चाहिए। भोजन के सम्बन्ध में स्वास्थ्य का ध्यान रखना तो आवश्यक है किन्तु स्वाद का ध्यान कतई नहीं रखना चाहिए। भगवान महावीर ने भिक्षा–सम्बन्धी प्रत्येक नियम मानव जीवन की दुर्वलताओं को लक्ष्य में रख कर ऐसा बनाया है कि जिससे भिक्षा में किसी भी प्रकार की दुर्वलता प्रवेश न कर सके, और भिक्षा का आदर्श भी कलंकित न हो।

स्थानकवासी परम्परा भिक्षा–जीवी साधु के लिए सामुदानिक भिक्षा ग्रहण करने का विधान करती है, उस का विश्वास है कि साधु को नियत घरों में ही भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए। अनियत और अनिश्चित घरों से ही उसे भिक्षा प्राप्त करनी चाहिए, किन्तु दिगम्बर परम्परा ऐसा स्वीकार नहीं करती। उसका विचार है कि आहार-सम्बन्धी शुद्धि सामुदानिक भिक्षा में नहीं हो सकती। अतः अनियत घरों को वजाय नियत घरों में ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में स्थानकवासी परम्परा का कहना है कि नियत घरों से आहार ग्रहण करने से आसक्ति, लोलुपता, तथा रागद्वेष को प्रोत्साहन मिलता है, आधाकर्म आदि भिक्षा–दोषों की

उत्पत्ति होती है, अतः साधु को सामुदानिक भिक्षा ही ग्रहण करनी चाहिए और उसी में आहार-शुद्धि का पूर्णतया ध्यान रखना चाहिए।

दिगम्बर परम्परा में सामुदानिक भिक्षा की मान्यता न होने के कारण भिक्षागत अनेकों दोष देखे जाते हैं। इस में दिगम्बर साधुओं के लिए विशेष रूप से भोजन बनाया जाता है। गृहस्वामिनी अपने हाथों से स्वयं अन्न को साफ करती है, चक्की द्वारा स्वयं पीसती है। उस अन्न को बालक आदि कोई छू नहीं सकता। उस अन्न को पका कर स्वयं ही साधु को खिलाती है। इस प्रकार कई एक झंझट करने पड़ते हैं, जो कि साधु जीवन के भूषण न बन कर दूषण बन जाते हैं। इसलिए स्थानकवासी परम्परा सामुदानिक भिक्षा के लिए विधान करती है।

स्थानकवासी परम्परा और दिगम्बर परम्परा में मुख्य रूप से जो मतभेद चलता है, उसे १६ भागों में विभक्त करके ऊपर की पंक्तियों में वर्णित कर दिया गया है। इन मतभेदों के अतिरिक्त कुछ एक अन्य भेद भी हैं, जैसे स्थानकवासी परम्परा मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखती, दिगम्बर परम्परा नग्न तीर्थंकर मूर्तियों की पूजा करने में विश्वास रखती है। स्थानकवासी परम्परा मुख ढक कर बोलने में भाषा की निर्वद्यता स्वीकार करती है, पर दिगम्बर परम्परा में खुले मुंह बोलने से भाषा सावद्य होती है और ढक कर बोलने से भाषा निर्वद्य होती है, ऐसी कोई आस्था नहीं पाई जाती है। आदि बातें दिगम्बर परम्परा को स्थानकवासी परम्परा से भिन्न प्रकट करती हैं।

प्रश्न—स्थानकवासी परम्परा, श्वेताम्बर मूर्ति-

पूजक परम्परा तथा दिगम्बर परम्परा ये तीनों परम्पराएं कहां तक एक दूसरे के निकट हैं ?

उत्तर—उपर्युक्त तीनों परम्पराओं में कई एक मतभेद होने पर भी अनेकों मन्तव्यों में तीनों की एकता भी है। जैन-धर्म के इन विभिन्न सम्प्रदायों में जो कुछ भिन्नता पाई भी जाती है। वह अधिकांश में व्यावहारिक दृष्टि से ही पाई जाती है, तात्त्विक दृष्टि से नहीं। क्योंकि सभी जैन परम्पराएं, अहिंसावाद, अनेकान्तवाद, अपरिग्रहवाद, कर्मवाद तथा आत्मवाद को स्वीकार करती हैं, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, संसार आदि के स्वरूप में कोई मतभेद नहीं है। नवतत्त्वों का स्वरूप सभी एक सा मानते हैं, कुछ एक परिभाषाओं को छोड़कर कर्म-सिद्धान्त की मान्यता में भी कोई मार्मिक भेद नहीं हैं। श्राद्ध, पितृतर्पण, अपुत्रस्य गतिर्नास्ति (पुत्र-हीन की गति नहीं होती), ईश्वर जगत का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्म फल का प्रदाता है, तथा अवतार धारण करके मनुष्य और पशु के रूप में अवतरित होता है, पाषाण, रजत, सुवर्ण आदि की मूर्तियों में भगवान विराजमान रहता है, भूमि पर प्राण छोड़े विना मनुष्य की गति नहीं होती है, पृथ्वी बैल के सींगों पर अवस्थित है, या शेषनाग ने अपने फण पर उठा रखी हैं; बैल जब सींग बदलता है, तो भूचाल आता है, इस प्रकार की अन्य भी अनेकों वैदिक परम्परा सम्मत मान्यताओं पर जैन-धर्म की तीनों सम्प्रदाय कोई आस्था तथा श्रद्धा नहीं रखती हैं। इस तरह तीनों परम्पराओं में तात्त्विक दृष्टि से कोई विशेष मतभेद नहीं है; इन सब बातों में तीनों एकमत हैं।

प्रश्न—जैन-धर्म की इन तीनों परम्पराओं में मतभेद

के कारण जो वैर-विरोध की दीवार खड़ी है, इसे किसी तरह गिराया जा सकता है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों में स्थानकवासी परम्परा, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा और दिगम्बर परम्परा तीनों परम्पराओं का जो मतभेद प्रकट किया गया है, यह सत्य है कि यह भेद गिराया नहीं जा सकता, किन्तु यह भी सत्य है कि इस भेद के कारण दिलों में जो ईर्षा-द्वेष, वैर-विरोध की दीवार खड़ी हो चुकी है, इसे अवश्य गिराया जा सकता है, संकीर्ण मानस को उदारता अर्पित की जा सकती है। यह उदारता कैसे अर्पित की जा सकती है ? यह नीचे की पंक्तियों में समझ लीजिए।

स्थानकवासी परम्परा ३२ आगम मानती है, और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक ४५, परन्तु ३२ आगमों को तो दोनों ही स्वीकार करती हैं। दोनों ही परम्पराएं इन आगमों को प्रामाणिक रूप से देखती हैं। दोनों परम्पराएं मुखवस्त्रिका को जीवरक्षा का साधन मानती हैं। इस में किसी का कोई मतभेद नहीं है। रही बात मूर्तिपूजा तथा तीर्थयात्रा आदि अन्य मान्यताओं की, इनको लेकर भी लड़ने की तथा द्वेष करने की आवश्यकता नहीं है। जीवन में सर्वत्र विचारों की एक-रूपता संभव भी नहीं है। कहीं न कहीं विचार-भिन्नता आ ही जाती है, पर उसे शान्ति से सहन करना चाहिए। और इस सिद्धान्त को मान देकर चलना चाहिए कि जीवन के कल्याण के लिए रागद्वेष को छोड़कर वीतरागता की अपेक्षा होती है। चाहे कोई स्थानकवासी है, चाहे कोई श्वेताम्बर मूर्तिपूजक है, किन्तु आत्म-शुद्धि के लिए दोनों को रागद्वेष से पिण्ड छुड़ाना होता है, वीतरागता के महापथ पर चलना होता है। यह

नहीं हो सकता कि रागद्वेष भी हमारे साथ चलते जाएं और हमारा जीवन कल्याण के निकट भी पहुंच जाए। रागद्वेष की आंधियों में वीतरागता का दीपक कभी जगमगा नहीं सकता। अतः वीतरागता की प्राप्ति के लिए रागद्वेष को छोड़ना ही होता है।

स्थानकवासी यदि द्वेषी है, द्वेष की आग में जल रहा है, तो उसका कभी कल्याण नहीं हो सकता, चाहे वह मुखवस्त्रिका बांधता है, और ३२ आगमों का विश्वासी है। ऊपर का क्रिया-काण्ड कितना भी अच्छा हो, किन्तु यदि वह द्वेष से प्यार करता तो उस का कभी उद्धार नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक श्वेताम्बर मूर्तिपूजक यदि मन्दिर में जाकर पूजा करता है, प्रतिमाओं को स्नान कराता है, उन्हें तिलक लगाता है, टल्लियां बजाता है, पाषाण की प्रतिमा पर मस्तक रगड़-रगड़ कर मस्तक पर निशान बना लेता है, किन्तु उस का अन्तःकरण कामनाओं और वासनाओं की अन्ध गलियों में भटक रहा है, लोगों के साथ विश्वासघात करता है, जो सोचता है, वह कहता नहीं है, जो कहता है, वह करता नहीं है, और जो करता है, उसे उसी रूप में बतलाता नहीं है, सदा छलकपट के जाल बुनता रहता है, ईर्षा–द्वेष, वैर–विरोध की आग में जलता, सड़ता तथा कुड़ता रहता है, तो उसका कभी कल्याण नहीं हो सकता। वस्तुतः आत्म–कल्याण के लिए जीवन के विकारों को शान्त करने की और वीतरागता के महापथ पर चलने की आवश्यकता होती है। अतः जहां विचारों में कहीं मत-भेद हो तो उसे शान्ति से सहन करना चाहिए। निन्दा, चुगली से दूर हट कर अपने आत्म–मन्दिर में ज्ञान तथा सहिष्णुता के दीपक जगा कर आचरण के भाड़ू द्वारा उसमें स्थित विकारों के कूड़े-कर-कट को निकाल कर फेंक देना चाहिए। जीवन के भविष्य को

उज्ज्वल बनाने का इससे बढ कर और कोई मार्ग नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के साथ १६ बातों को लेकर जो मतभेद प्रदर्शित किया गया है, उसको लेकर भी मनमुटाव पैदा करने की आवश्यकता नहीं है। इस मतभेद के होने पर भी एक दूसरे को एक दूसरे से द्वेष नहीं रखना चाहिए। "भिन्नरुचिर्हि लोकः" के सिद्धान्त को आगे रखकर मतभेद–जनित मानसिक सन्तुलन नष्ट नहीं होने देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, मुक्ति का प्रश्न, केवल–ज्ञान की प्राप्ति व अप्राप्ति के प्रश्न को लेकर आज के पंचम आरे में लड़ने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मोक्ष और केवल–ज्ञान आज के इस अवसर्पिणी काल के अन्त तक और उत्सर्पिणी के प्रारम्भिक आरकद्वय तक प्राप्त होने वाला नहीं है। फिर इस को लेकर विवाद क्यों किया जाए? रुपया मिला नहीं, उस के बंटवारे को लेकर मुष्टा-मुष्टि होना समझदारी की निशानी नहीं है और जहां तक भगवान महावीर के विवाह, सन्तान, देवदूष्य तथा उपसर्ग आदि का प्रश्न है, और भगवान मल्लिनाथ के स्त्रीत्व का प्रश्न है, ये सब पुराने युग की बातें हैं। आज तो हमारे सामने ये परिस्थितियां नहीं हैं, फिर इनको वैरविरोध का माध्यम क्यों बनाया जाए? साधुगोचरी की मर्यादा, शूद्रों को हीन मानने की वृत्ति में सब जन्मना वर्णव्यवस्था के द्वारा पैदा हुए विकार हैं। जैन–धर्म मनुष्य तो क्या संसार के सभी प्राणियों को "सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीवियं न मरिज्जियं" यह कह कर समान प्यार प्रदान करता है। किसी को भी द्वेष से देखने का निषेध करता है। अतः इन बातों को भी वैर–विरोध और ईर्षा–द्वेष का आधार नहीं बनाना चाहिए।

मनुष्य उद्यान में जाता है, वहां नाना रंगों के फूलों को दे-

खता है। वे नाना फूल उद्यान की शोभा के घातक या वाधक नहीं हैं, प्रत्युत साधक हैं। पर यदि वे आपस में लड़ने लग जाएं केवल अपने को सुरक्षित रखकर शेष पुष्पों को समाप्त कर देना चाहें तो क्या होगा? यही कि उद्यान का सत्यानाश हो जाएगा। यही दशा विचारों के उद्यान की है। विचारों के बाग़ में नानाविध मान्यताओं के पुष्प खिल रहे हैं, इससे उस की शोभा है, वे सब प्रतिभा-व्यायाम के चमत्कार हैं, वे भले ही परस्पर-विरोधी विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथापि उनको परस्पर लड़ना नहीं चाहिए, बल्कि उनको उद्यान के पुष्पों की भांति स्वस्थ रहना चाहिए। इस प्रकार मानव यदि अपने को उदार और विराट् बनाले तो कभी वैरविरोध और ईर्षा-द्वेष को आग सुलग नहीं सकती। और विचारगत अनेकता रहने पर भी शान्ति क़ायम रह सकती है।

प्रश्न—तेरहपंथ का आरम्भ कब और कहां पर हुआ? तथा किस ने किया?

उत्तर—तेरहपन्थ के प्रवर्तक श्री भीषण जी थे। इनका जन्म विक्रम सम्वत् १७८३ कण्टालिया (जोधपुर) में माता श्री दीपा जी के उदर से हुआ था। पिता का नाम बल्लू था। अपने भर यौवन में यह घर-बार को छोड़ कर विक्रम सम्वत् १८०८ में स्थानकवासी परम्परा के महामान्य पूज्य श्री रघुनाथ जी महाराज के चरणों में दीक्षित हो गए थे। इन्हीं के पास भीषण जी ने जैन शास्त्रों का अध्ययन किया। इन की प्रतिभा विलक्षण थी किन्तु कुछ स्वच्छंदता का उस में पुट था। श्रद्धा ने आग्रह का स्थान ले लिया था। यही कारण था कि अपने विचार को ही अन्तिम निर्णय समझने में इन्होंने कभी संकोच नहीं किया।

शिष्य की स्वच्छंदता गुरु को अखरने लगी। कुछ-कुछ मतभेद भी रहने लगा। धीरे-धीरे यह मतभेद परिपक्व हो गया। परिणाम यह हुआ कि गुरु-शिष्य के दरमियान शास्त्रीय तथ्यों को लेकर काफी विरोध रहने लगा। गुरु फरमाया करते थे कि कोई जीव किसी को मारता हो तो उसे छुड़ाने में धर्म होता है, किन्तु शिष्य इसको अन्तराय मानता था। शिष्य का कहना था कि जिस जीव को छुड़ाया जाएगा, उस के कर्मों का जो भुगतान हो रहा है, उस में विघ्न पड़ेगा। इसके अलावा, छुड़ाया हुआ जीव हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन आदि जो कुछ भी पाप कर्म करेगा, उसका कारण उसे छुड़ाने वाला होगा। अतः मरते जीव को बचाने की कोई आवश्यकता नहीं है। शिष्य की इस शास्त्र-विरुद्ध विचारधारा से गुरुदेव सहमत नहीं थे। गुरुदेव का विश्वास था कि जीव-रक्षा मनुष्य का धर्म है। यह सर्वोत्तम कार्य है, और यह पुनीत कार्य जीव के शुभ परिणामों द्वारा सम्पन्न होता है। अतः इस कार्य से पाप कर्म का बन्ध नहीं हो सकता।

पाप का बन्ध आर्त और रौद्र ध्यान से होता है। आर्त, रौद्र ही जीवन का पतन किया करते हैं। बकरा, मुर्गा आदि जिन जीवों पर बलात्कार किया जाता है, उन्हें जो मारणान्तिक-कष्ट दिया जाता है, उस से उन का आर्त और रौद्र ध्यान का आना स्वाभाविक है। तथा इन दुर्ध्यानों से कर्म-बन्ध का होना भी स्वाभाविक ही है। आर्त-रौद्र ध्यान नरकादि दुर्गति में जाने के कारण होते हैं। मरते हुए ऐसे जीवों को जो बचाया जाता है उस से उनका नुकसान नहीं, बल्कि उन्हें शान्ति प्राप्त होती है। शान्ति-लाभ से उन्हें आर्त-रौद्र ध्यान से छुटकारा मिलता है। आर्त-रौद्र से बचाने पर होने वाला उन का दुर्गति-बन्ध भी रुक जाता है।

इसलिए मरते हुए जीव को बचाने में अन्तराय कर्म का वन्ध या पाप नहीं समझना चाहिए, प्रत्युत उससे धर्म होता है। यही जानना चाहिए। अनुकम्पा की भावना से किसी जीव को बचाना सर्वथा निर्वद्य कार्य है, आत्मकल्याण तथा मोक्ष–मन्दिर में जाने के लिए वह पावन सोपान है। इस के अतिरिक्त, रक्षित व्यक्ति की अच्छी या बुरी प्रवृत्तियों की जवाबदारी रक्षक पर नहीं आ सकती। उन का उत्तरादायित्व तो कर्ता पर ही रहता है। भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशक ४ में लिखा है कि स्वकृत कर्म ही फल देता है, परकृत कर्म नहीं। कर्म पिता करे और उसका दण्ड पुत्र भुगते, या पुत्र किसी की हत्या कर दे और फांसी पिता को दे दी जाए, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। वस्तुतः अपना किया हुआ कर्म ही मनुष्य को सुख या दुःख दिया करता है। दूसरे व्यक्ति के शुभाशुभ कर्म के फल के साथ उस का कोई सम्वन्ध नहीं है।

इस प्रकार अन्य भी अनेकों मतभेद गुरु और शिष्य के मध्य में जन्म ले चुके थे, तथापि परम हितैषी गुरुदेव पूज्य श्री रघुनाथ जी महाराज स्नेहपूर्वक अपने शिष्य श्री भीषण जी को समझाया करते थे, अयथार्थ धारणा छोड़ने के लिए उन्हें पौनः–पुन्येन कहा करते थे, पर श्री भीषण जी के गले एक भी वात नहीं उतरती थी, वे अपनी धुन के पक्के थे, गुरुदेव के अनेक वार समझाने पर भी वे अपना दुराग्रह छोड़ने को तैयार न थे। तथापि गुरुदेव आशावादी थे, और उन्होंने शिष्य को समझाने का यत्न चालू ही रखा।

पूज्य श्री रघुनाथ जी महाराज जिस जगह ठहरे हुए थे, एक बार उस स्थान में एक कुतिया ने बच्चे दे दिए। पूज्य श्री जब शौच जाने लगे तो पीछे श्री भीषण जी को छोड़ गए और उन को

आदेश दे गए कि इन बच्चों का ध्यान रखना। कुतिया यहाँ नहीं है। ऐसा न हो कि कोई दूसरा कुत्ता इनको हानि पहुंचाए। तुम ने सतर्क रहना, सावधानी के इनका ध्यान रखना। गुरुदेव यह कह कर चले गए पर भीषण जी तो भीषण ही ठहरे। उन्होंने गुरु के आदेश की तनिक परवाह नह की और उधर अकस्मात् किसी कुतिया ने उन बच्चों को समाप्त कर दिया। शौच से निवृत्त होकर जब पूज्य गुरुदेव वापिस आए और उन्होंने कुतिया के उन बच्चों को मरे हुए पाया तो उन की अन्तरात्मा मारे वेदना के सिहर उठी। उन्होंने भीषण जी से कहा—भीषण! बाहर जाते समय मैंने तुम्हें इन बच्चों का ध्यान रखने को कहा था, किन्तु तुम ने इनका कोई ध्यान नहीं रखा। चाहिए तो यह था कि भीषण जी अपनी असावधानी के लिए अपने गुरुदेव से क्षमा मांगते, किन्तु उलटा वे गुरु को ही समझाने लगे। बोले—हम साधु सन्तों को इस से क्या? हमारी बला से कोई मरे या जीए। साधु बन कर भी यदि इन्हीं प्रपंचों में पड़े रहे तो साधु बनने की क्या आवश्यकता है? शिष्य के असंभावित उत्तर से गुरुदेव के आश्चर्य की सीमा न रही। शिष्य की इस निर्दयता पर गुरुदेव को मार्मिक वेदना भी हुई। तथापि उन्होंने सप्रेम कहा—भीषण! साधु दया का स्रोत होता है, उस के कण-कण से करुणा और परहित की भावना का स्रोत स्रवित रहता है। "दया बिन सिद्ध कसाई" की उक्ति दया की ही महिमा प्रकट कर रही है। स्वयं भगवान महावीर की वाणी ×समस्त जीवों की रक्षा की ही महाप्रेरणा लेकर मानव जगत के सामने

×सव्व-जग-जीव-रक्खण-दयट्ठयाए, पावयणं भगवया सुकहियं।

—आचारांगसूत्र

आई है। अतः तुम्हें दया भगवती की इस तरह निर्मम हत्या नहीं करनी चाहिए, साधु के चोले में राक्षसी वृत्ति को मत लाओ। इस प्रकार दया के सम्बन्ध में गुरुदेव ने अपने शिष्य को बहुत समझाया। लगभग दो वर्ष तक इसी तरह गुरुदेव शिष्य को दया-धर्म का महासत्य समझाते रहे किन्तु भीषण जी अपनी भीषणता छोड़ने को तैयार न हुए। गुरुदेव के अनुपम उपदेशों का इन पर किञ्चित् भी प्रभाव नहीं पड़ा। तब निराश होकर विक्रम सम्वत् १८१७ चैत्र शुक्ला नवमी शुक्रवार के दिन नगड़ी (जोधपुर) में गुरुदेव पूज्य श्री रघुनाथ जी महाराज ने भीषण जी को अपने संघ से पृथक् कर दिया। साथ में भीषण जी के विचारों से जो अन्य साधु सहमत थे उन को भी संघ से बहिष्कृत कर दिया। भीषण जी को मिलाकर ये सभी साधु १३ हो गए थे। इन्होंने अपना पहला चातुर्मास केलवाँ ग्राम में किया और विक्रम सम्वत् १८१७ आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन वहां पर अर्थात् उदयपुर (राजस्थान) के अन्तर्गत केलवां नामक ग्राम में तेरहपन्थ को चालू किया।

प्रश्न—भीषण जी द्वारा संस्थापित तथा सम्प्रसारित सम्प्रदाय का नाम 'तेरह-पन्थ' क्यों रखा गया ?

उत्तर—श्री भीषण जी अपने साथियों सहित विचार करके जोधपुर पहुंचे, वहां इन्हें १३ श्रावकों का सहयोग मिल गया। इस प्रकार ये १३ साधु और तेरह ही श्रावक एक दुकान पर बैठे थे। अचानक उस समय वहीं के दीवान श्री फतेह सिंह जी सिंघी उधर से आ निकले और विस्मित हो कर पूछने लगे कि तुम स्थानक को छोड़ कर यहां क्यों बैठे हो ? तब श्रावकों ने पूज्य श्री रघुनाथ जी महाराज द्वारा भीषण जी तथा इनके विचारों के अन्य साधुओं

को संघ से बहिष्कृत कर देने की सारी बात सुनाई। उस समय सेवक जाति का एक कवि वहां खड़ा था। उसने तेरह साधु और तेरह श्रवकों को संख्या को ध्यान में रख कर एक दोहा बनाया और ये तेरह ही साधु हैं और तेरह हो श्रावक हैं, इसलिए इन का नाम तेरह-पन्थी होना चाहिए। वह दोहा यह है—

आप आप रो गिलो करे, आप आप रो मन्त।
सुणज्यो शहर रा लोगा, ऐ तेरहपन्थी तन्त॥

समय की बात थी कि कवि का यह दोहा और नामकरण भीषण जी को बहुत पसन्द आया। बस उस दिन से श्री भीषण जी और उनके अनुयायी तेरह-पन्थी कहलाने लगे। आगे चल कर तेरह-पन्थ इस शब्द को परिवर्तित कर दिया गया। इसके स्थान में 'तेरा-पंथ' इस शब्द का प्रयोग होने लगा। इस का अर्थ करते हैं—हे प्रभु! यह तेरा ही पन्थ है, मेरा इस में कुछ नहीं है। मैं तो केवल तेरे बतलाए हुए पन्थ का पन्थी हूं, राही हूं। इस के अतिरिक्त, तेरह-पन्थ के साथ एक और नवीन कल्पना कर ली गई है। वह कल्पना यह है कि पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति इन जैन शास्त्रों के तेरह नियमों का पूर्ण रूप से जो पालन करेगा वह तेरह-पन्थी साधु होगा। और उक्त साधु को अपना गुरु मानने वाला गृहस्थ तेरह-पन्थी श्रावक होगा।

प्रश्न—तेरहपन्थ में कितने आचार्य हो चुके हैं ?

उत्तर—तेरहपन्थ के सर्वप्रथम आचार्य भीषण स्वामी थे। इन का विक्रम सम्वत् १८६० भाद्र-पद शुक्ला १३ के दिन स्वर्गवास हुआ था। इनके पश्चात् क्रमशः श्री भारमल जी, श्री रायचन्द जी, श्री जीतमल जी, श्री मेघराज जी, श्री माणिक लाल जी,

श्री डालचन्द जी, श्री कालू राम जी और श्री तुलसी जी हुए। आजकल श्री तुलसी जी तेरहपन्थ का नेतृत्व कर रहे हैं।

साधु-समाज का भविष्य सुव्यवस्थित तथा सुदृढ़ बनाने के लिए तेरहपन्थ के नेताओं ने कुछ क्रान्ति अवश्य की है। जैसे अपने नाम से चेली-चेला न बनाना, आचार्य श्री को भगवान की तरह मानना और उन्हीं को अपना आराध्य मान कर चलना। इन के यहां सभी शिष्य आचार्य के बनाए जाते हैं। सब साधु, साध्वी एक ही आचार्य की निश्राय में रहते हैं। अन्तिम कुछ वर्षों से तो इस सम्प्रदाय ने अच्छी खासी उन्नति की है। आचार्य तुलसी ने इस समाज का कायाकल्प सा कर दिया है। अपने पूर्वाचार्यों के, मरते हुए को बचाना पाप है, भूखे, प्यासे को अन्न, पानी देना १८ पापों का सेवन करना है, आदि सिद्धान्तों का बाह्य रूप बदल दिया है। अब लोगों के सामने इन सिद्धान्तों की विशेष चर्चा नहीं की जाती है। इसके अतिरिक्त, अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से साधु-साध्वियों को योग्य और विद्वान बनाया जाता है। उन्हें लेखन-कला, व्याख्यान-कला तथा अवधान-कला की योग्य व्यवस्थित शिक्षा दी जाती है। अणुव्रत आन्दोलन चलाकर अब आचार्य तुलसी अपने को व्यापक तथा लोक-प्रिय बनाने में अधिक रस लेने लगे हैं। भले ही इस आन्दोलन के पीछे अपने व्यक्तित्व को अधिकाधिक प्रभावपूर्ण बनाने की महत्त्वाकांक्षा ही काम कर रही हो। तथापि इस महात्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए इन्हें अपने मूल सिद्धान्तों में काफ़ी फेरफार करना पड़ा है।

प्रश्न—स्थानकवासी परम्परा में और तेरहपन्थ में सिद्धान्त-सम्बन्धी क्या अन्तर पाया जाता है?

उत्तर—तेरहपन्थ के मूल सिद्धान्तों को हम संक्षेप में तीन भागों में बांट सकते हैं। सर्वप्रथम तेरहपन्थ का सिद्धान्त है कि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, इस प्रकार त्रस और स्थावर सभी प्राणी एक समान हैं। अतः एक त्रस प्राणी की रक्षा के लिए अनेकों स्थावर प्राणियों की हिंसा नहीं की जानी चाहिए। जैसे किसी को भोजन दिया गया, पानी पिलाया गया। तव रक्षा तो एक आत्मा की हुई परन्तु इस कार्य में असंख्य और अनन्त स्थावर जीवों का संहार हो जाता है, वह पाप उस जीव-रक्षा करने वाले को लगता है। इतना ही नहीं किन्तु जो जीव वचा है, उसके जीवन भर खाने, पीने तथा अन्य कार्यों में त्रस-स्थावर जीवों की जो हिंसा होगी वह हिंसा भी उसी को लगेगी जिस ने उसको मरने से बचाया है अतः मरते हुए किसी जीव को नहीं बचाना चाहिए।

दूसरा सिद्धान्त है कि जो जीव मरता है, या दुःख पा रहा है, वह अपने पूर्व-सञ्चित कर्मों का फल भोग रहा है, उसको मरने से बचाना या उस को सहायता दे कर कष्टमुक्त करना, उसको कर्म-ऋण चुकाने से वञ्चित करना है, जिसे वह मृत्यु या कष्ट सहने के रूप में भोग कर चुका रहा था।

तीसरा सिद्धान्त यह है कि साधु के सिवाय संसार के सब प्राणी कुपात्र हैं, कुपात्र को बचाना, कुपात्र को दान देना, कुपात्र की सेवा—सुश्रूषा करना सब पाप है।

इन तीन सिद्धान्तों के आधार पर तेरहपन्थी लोग साधु के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति की दया करने एवं उसे दान देने से एकांत पाप कहते हैं और जिन्होंने दयादान का आसेवन किया है, उन्हें दोषी या पापी कहते हैं। जैसे भगवान महावीर ने गोशालक को

बचाया× । भगवान पार्श्वनाथ ने आग में जलते हुए नाग-नागिन को बचाया, भगवान अरिष्ठ नेमि के दर्शन को जाते समय श्री कृष्ण वासुदेव ने एक वृद्ध पुरुष को, ईंटें उठा कर सहायता प्रदान की, भगवान ऋषभदेव ने समाज–व्यवस्था क़ायम की, महाराजा मेघरथ ने कबूतर को बचाया, राजा श्रेणिक ने जीव-हिंसा न करने के सम्बन्ध में अमारीपटह (जीव न मारने की घोषणा) कराई, राजा प्रदेशी ने दान–शाला खुलवाई, ये सब तेरहपन्थ की दृष्टि से पाप-रूप कार्य हैं। तेरहपन्थ उक्त सिद्धान्तों के आधार पर उक्त सब प्रवृत्तियों को धर्म या पुण्य का कार्य स्वीकार न करके पाप रूप कार्य मानता है।

तेरहपन्थ के उपर्युक्त सिद्धान्तों में स्थानकवासी परम्परा विश्वास नहीं रखती है। स्थानकवासी परम्परा इन सिद्धान्तों से जो मतभेद रखती है, अब वह समझ लीजिए। सर्वप्रथम तेरहपन्थ के 'एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीव एक समान हैं।' इसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में विचार कर लें। स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि त्रस और स्थावर जीव एक समान नहीं हैं। एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव का, द्वीन्द्रिय की अपेक्षा त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय की अपेक्षा चतुरिन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव की अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीव का अधिक महत्त्व है। स्वयं तेरहपन्थी लोग एकेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव को एक समान बतलाते हुए भी एकेन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीव को अधिक महत्त्व देते हैं तथा पंचेन्द्रिय की रक्षा और उसके हित के लिए एकेन्द्रिय

×इसके लिए तेरहपन्थी भगवान महावीर को चूका हुआ–भूला हुआ (पथ-भ्रष्ट) कहते हैं।

आदि जीवों की हिंसा खुद करते हैं। उदाहरणार्थ—तेरहपन्थी साधु प्रति-दिन वस्त्र, पात्र आदि उपकरण की प्रतिलेखना करते हैं। यह क्यों ? इसीलिए कि वस्त्र पात्रादि की प्रतिलेखना करके उस में रहे हुए द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों को बचाया जा सके। यदि त्रस-कायिक जीवों की रक्षा करना उद्देश्य न हो तो फिर प्रति-लेखना ही क्यों की जाती है ? इसके अलावा, जैनदर्शन के अनुसार हाथ पैर के हिलने-चलने से असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा हो जाती है। वस्तुतः प्रति-लेखना करते समय असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा सर्वथा संभव है। इस तरह प्रति-लेखना द्वारा थोड़े से त्रस जीवों को बचाने के लिए असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा हो जाती है। यदि तेरहपन्थी साधु कहें कि प्रतिलेखना करने का उद्देश्य हमारा त्रसकायिक जीवों को बचाना नहीं है। किन्तु हम ने अपने-आप को वस्त्र, पात्र या शरीर द्वारा होने वाली हिंसा से बचाना है। बहुत ठीक, त्रस जीवों को हिंसा से बचने के लिए ही सही। परन्तु वायुकायिक जीवों की हिंसा तो हो ही गई। चाहे त्रस जीवों को बचाने का उद्देश्य नहीं है पर उनको रक्षा तो हो ही जाती है। असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा करने पर ही आप थोड़े से त्रस जीवों की हिंसा से अपने को बचा सके हैं न ? फिर एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव बराबर कैसे रहे ?

दूसरी युक्ति लीजिए। तेरहपन्थी साधु एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं,तब यदि मार्ग में नदी आती हो तो उस नदी को पार करते हैं। यदि नदी से नाव लगती है तो नाव के द्वारा, यदि नाव न लगती हो तथा पानी यदि घुटनों से नीचे है तो पानी में उतर कर नदी पार करते हैं। चाहे नाव में बैठ कर नदी पार करें या पानी में उतर कर, दोनों अवस्थाओं में अप्कायिक जीवों की हिंसा

तो होती है। जैनदर्शन ने जल के एक–एक बिन्दु में पानी के असंख्य जीव कहे हैं। जल के आश्रित निगोद में अनन्त जीव होते हैं। उन जीवों की हिंसा कर के ही साधु नदी पार करते हैं। किस लिए करते हैं? लोगों को धर्मोपदेश सुनाने के लिए ही न? और उनके द्वारा सुनाए जाने वाले धर्मोपदेश से यदि किसी को फायदा होता है तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप स्वीकार करने वाले थोड़े से मनुष्यों को ही। यदि एकेन्द्रिय जीव और पंचेन्द्रिय जीव समान हैं तो फिर असंख्य वल्कि अनन्त जीवों की हिंसा थोड़े से मनुष्यों के हित के लिए क्यों की जाती है?

तीसरी युक्ति लीजिए। एक साधु (तेरहपन्थी) आहार या शौच को गया, रास्ते में अचानक वर्षा आ जाने से भीग गया। असंख्य जीवों की हिंसा हो गई। दूसरे साधु की असावधानी से कुछ चींटियें मर गईं। तीसरे साधु के हाथ से प्रमाद वश चिड़िया की घात हो गई। तीनों ने आ कर गुरु से आलोचना की। तेरहपन्थ के मान्य सिद्धान्त के अनुसार पानी की हिंसा करने वाले को अधिक प्रायश्चित्त देना चाहिए परन्तु होता यह है कि पानी के जीवों की विराधना करने वाले की अपेक्षा चींटियों के हिंसक को और उसकी अपेक्षा चिड़िया मारने वाले को प्रायश्चित्त अधिक दिया जाता है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि इनकी मान्यता में कितनी भ्रांति है?

चौथी युक्ति लीजिए। यदि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव एक समान हैं और दोनों की हिंसा भी समान है तो तेरहपन्थी साधु पंचेन्द्रिय जीव की हत्या करने वाले कसाई को अपना श्रावक क्यों नहीं बनाते। जब कि असंख्य और अनन्त एकेन्द्रिय जीवोंकीहिंसा

करने वाले व्यक्ति को वे अपना श्रावक बना लेते हैं ? तब पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाले व्यक्ति को वे अपना श्रावक बनाने से क्यों इन्कार करते हैं ? है कोई तेरहपन्थ समाज में ऐसा श्रावक जो पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने की आजीविका द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करता हो और बारह व्रती श्रावक कहलाता हो ? जब सिद्धान्त के अनुसार स्वयं नहीं चलना, तो दूसरों को समझाने से क्या लाभ ?

पांचवीं युक्ति लीजिए। एक व्यक्ति बिना ढके मुख से बोलता है और एक किसी मुर्गे या बकरे को मार देता है। दोनों तेरहपन्थी साधु के पास आए और उन का उपदेश सुन कर दोनों को हिंसा से विरक्ति हो गई। साधु बनने का दृढ़ संकल्प कर लिया किन्तु पूर्वकृत पाप का प्रायश्चित्त लेने के लिए उन्हों ने अर्ज़ की। पहला बोला—महाराज ! मैं खुले मुख बोलता रहा हूं, इससे वायुकायिक जीवों की हिंसा होती रही है। अतः उस का मुझे प्रायश्चित्त दे दीजिए। दूसरा बोला—महाराज ! मैंने बकरे की गरदनें काटी हैं। मुझे भी प्रायश्चित्त करवा दीजिए। अब तेरहपन्थी साधु दोनों को एक समान दण्ड देंगे या उस में कुछ भेद रखेंगे ? एक ओर असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा है दूसरी ओर कुछ एक पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा है, यदि एक समान दण्ड दिया जाएगा तो क्यों ? क्योंकि पंचेन्द्रिय जीव तो कुछ एक मरे हैं और वायुकायिक असंख्य जीव मरे हैं। यदि त्रस जीवों को मारने वाले को अधिक दण्ड दिया जाएगा तो यह क्यों ? जब एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय सभी जीव समान हैं तो त्रस जीव के घातक को अधिक दण्ड कैसे दिया जा सकता है ? इन दोनों बातों से स्पष्ट हो जाता है कि त्रस और स्थावर जीव एक समान नहीं हैं।

छठी युक्ति लीजिए। एक व्यक्ति तेरहपन्थी साधुओं के पास आया। उन्होंने "उसे सभी जीव एक समान होते हैं" यह सिद्धांत समझाया। बात उसकी समझ में आ गई। उस ने निवेदन किया— महाराज ! साग सब्जी में तो असंख्य या अनन्त जीव हैं किन्तु बकरे में एक जीव है। फिर जब एक ही जीव की हिंसा से मेरा काम चल सकता है तो असंख्य या अनन्त जीवों की हिंसा क्यों करूं ? अतः आप नियम करा दीजिए कि आज से सब्जी का सेवन नहीं करूंगा और बकरा मार कर अपना जीवन-निर्वाह किया करूंगा। ऐसी दशा में तेरहपन्थी साधु क्या कहेंगे ? सब्जी का नियम करायेंगे या नहीं ? यदि नहीं करायेंगे तो 'सभी जीवन एक समान होते हैं' इस सिद्धान्त को क्यों स्वीकार करते हैं ?

सातवीं युक्ति लीजिए। जैन—शास्त्रों में त्रस पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले की गति नरक की बतलाई है, परन्तु क्या कहीं किसी जगह यह भी कहा है कि स्थावर जीव की हिंसा के पाप से कोई जीव नरक में गया है ? उत्तर स्पष्ट है—कोई नहीं।

आठवीं युक्ति लीजिए। भगवान अरिष्टनेमि का जीवन हमारे सामने है। भगवान को इस बात का बोध था कि जल की एक-एक बून्द में असंख्य-असंख्य जीव हैं। ऐसा होते हुए भी उन्होंने राजीमती के यहां जाने से पूर्व माटी, तांबा, पीतल, सोने और चांदी इन में से प्रत्येक के बने हुए एक सौ आठ घड़ों के जल से स्नान किया। यह कितने जीवों की हिंसा हुई ? फिर बरात सजा कर राजीमती के यहां गए। उस में भी कितने त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा हुई होगी ? इतनी बड़ी हिंसा के समय तो वे कुछ भी न बोले और राजीमती के यहां बाड़े में बन्द पशुओं को देख कर बोले—मेरे कारण होने वाली यह बहुत जीवों की हिंसा मेरे लिए परलोक में

श्रेयस्कारी नहीं हो सकती×।

पाठक समझते ही हैं कि वाड़े में बन्द पशुओं की हिंसा उन्होंने स्वयं अपने हाथों से नहीं करनी थी। इस के अतिरिक्त, वाड़े में प्राणियों की संख्या सीमित है किन्तु जल के जो जीव मरे उन की तो कोई संख्या ही नहीं है, वे तो असंख्य हैं। फिर वाड़े में बन्द थोड़े से जीवों की हिंसा के लिए तो उन्होंने खेद प्रकट किया। यहाँ तक कि विवाह करना अस्वीकार कर दिया किन्तु जलादि जीवों की हिंसा के लिए ऐसा कुछ भी नहीं कहा, न उन को हिंसा के लिए खेद या पश्चात्ताप किया। ऐसी दशा में एकेन्द्रिय जीवों से पंचेन्द्रिय जीव प्रधान रहे या नहीं? और एकेन्द्रिय जीवों की उपेक्षा करके भी पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना सिद्धान्त हुआ या नहीं?

इन युक्तियों द्वारा यह वताना इष्ट है कि स्थानकवासी परम्परा में एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं माने जाते हैं। किन्तु एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों को वहुत अधिक महत्त्व प्राप्त है। पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा का या पंचेन्द्रिय जीव के कल्याण का प्रश्न हो और दूसरी ओर एकेन्द्रिय जीव की रक्षा का प्रश्न हो, तो सर्व से पहले पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा करनी चाहिए। तदनन्तर एकेन्द्रिय जीव की। तेरहपन्थी लोग दया-दान के विरोधी होने से ही एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव को एक समान वताकर एकेन्द्रिय की हिंसा के नाम पर पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा को पाप

×जइ मज्झ कारणा एए, हम्मन्ति सुवहु जीवा।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सइ॥

—उत्तराध्ययन अ—२२/१९

बताते हैं। यह एक ज़बर्दस्त भ्रांति है, भूल है ? यदि ऐसा नहीं है तो फिर तेरहपन्थी साधु स्थावर जीवों की रक्षा के लिए वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की प्रतिलेखना करना क्यों नहीं छोड़ते ? ग्रामानुग्राम विहार करना क्यों नहीं त्यागते ? नदी के पार जाना क्यों नहीं छोड़ते ? पंचेन्द्रिय जीव के मर जाने पर ज़्यादा प्राय-श्चित्त क्यों लेते हैं ? मांस-भक्षी की अपेक्षा अन्नाहारी या शाका-हारी को बड़ा पापी क्यों नहीं मानते ? पंचेन्द्रिय जीव की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव के हिंसक को नरक-गामी क्यों नहीं बतलाते ?

तेरहपन्थियों का दूसरा सिद्धान्त है कि जो जीव मारा जा रहा है या कष्ट पा रहा है, वह अपने पूर्व-संचित कर्म का भुग-तान कर रहा है। ऐसे जीव को मरने से बचाना या उस की सहा-यता करना उस जीव को अपने ऊपर चढ़ा हुआ कर्म-ऋण चुकाने से वंचित रखना है। किन्तु स्थानकवासी परम्परा तेरहपन्थ के इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखती। क्योंकि जो जीव कसाई आदि द्वारा मारा जा रहा है वह तो महान, घोर कर्मों का बन्ध कर रहा है। पूर्व-कृत कर्मों के भुगतान की वहां स्थिति नहीं हो सकती।

तेरहपन्थी लोग अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में एक युक्ति दिया करते हैं। साहूकार के दो लड़के हैं। एक अपने सिर पर क-र्ज़ा चढ़ा रहा है। दूसरा अपना कर्ज़ा उतार रहा है। अतः पिता जो पुत्र कर्ज़ा चढ़ा रहा है उस को रोकेगा और जो पुत्र कर्ज़ा उतार रहा है, उस की प्रशंसा करेगा। इसी प्रकार साधु पिता के तुल्य है और बकरा जिस को क़साई मार रहा है तथा क़साई जो बकरे को मार रहा है, दोनों साधु रूपी पिता के पुत्र हैं। इन दोनों में कसा-ई बकरे को मार कर अपने सिर पर कर्म का ऋण चढ़ा रहा है, किन्तु बकरा क़साई के हाथ से मर कर अपने पूर्व-संचित कर्म रूप

ऋण का भुगतान कर रहा है। इसलिए साधु रूपी पिता कसाई रूप पुत्र को रोकेगा और कहेगा—अपने सिर पर कर्म रूप ऋण क्यों चढ़ा रहा है? कर्म रूप ऋण के कारण तुझे दुर्गतियों में दुःख उठाना पड़ेगा। अतः सिर पर कर्म का कर्ज़ा मत चढ़ा, परन्तु बकरे को बचाने के लिए साधु रूपी पिता कुछ नहीं कहेगा, क्योंकि वह तो मर कर अपने कर्म-ऋण को चुका रहा है। उस को कर्म-ऋण चुकाने से वह क्यों रोके?

साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति तेरहपन्थी लोगों की इस युक्ति में फंस जाता है और समझ लेता है कि मरते हुए या कष्ट पा रहे जीव को सहायता देना ठीक नहीं है। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। सब से पहले यह देखना है कि क्या अज्ञान-पूर्वक कष्ट सहने या मरने से भी कर्म की सकाम [कर्मनाश की इच्छा से किए गए तप द्वारा होने वाली] निर्जरा होती है? क्या चिल्लाते या रुदन करते, हाय-वांय करते तथा दुःखी होते हुए मरने या कष्ट सहने से कर्म का ऋण चुकता है? इन प्रश्नों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर मालूम होगा कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार के मरण या कष्ट सहन करने से कर्म का कर्ज़ा चुकता हो तो फिर संयम का पालन और पण्डित-मरण (साधु-मरण) व्यर्थ हो जाएंगे। इस के अलावा, संयम लेने या पण्डित-मरण से मरने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी और धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी निरर्थक सिद्ध होगा।

जैन-शास्त्रों ने आर्त और रौद्र ध्यान को कर्म-बन्ध का कारण माना है। शोक, चिन्ता से उत्पन्न चित्त वृत्ति आर्तध्यान है। क्रूर आशय से उत्पन्न हुई चित्त-विचारणा रौद्रध्यान कहलाती है। कसाई आदि द्वारा जो जीव मारा जा रहा है वह परवशता से

दुःख सहन कर रहा है। अतः उसका आर्त और रौद्र ध्यानी होना स्वाभाविक है। किसी हिंसक या कसाई द्वारा किसी मारे जाते हुए जीव को देखो कि वह कैसा दुःख पाता है ? और किस प्रकार तड़-पता एवं चिल्लाता हुआ मरता है ? उस का वाह्य रूप ही उस के आर्त और रौद्र ध्यान का स्पष्ट रूप से परिचय दे देता है। जैन-शास्त्र कहते हैं कि जो जीव आर्त और रौद्र ध्यान करता हुआ मरता है, वह हलके कर्म को भारी करता है, मन्द रस वाले को तीव्र रस वाले करता है और अल्प स्थिति के कर्मों को महा स्थिति वाले वनाता है। अतः ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मरता हुआ जीव अपना कर्ज़ा चुका रहा है। कर्ज़ा तो श्री गज सुकुमार जी सरीखे महापुरुष ही, जिन्होंने शान्ति से कष्ट सहन किया, चुकाते हैं। परवशता से दुःखी हो कर मरने वाले जीव कर्ज़ा नहीं चुकाते, वे तो अधिक कर्ज़ा कर लेते हैं। कसाई द्वारा जो वकरा मारा जा रहा है, वह अत्यधिक दुःखी होने से आर्त, रौद्र ध्यानी होता है। अतः वह अपना कर्म-ऋण चुका नहीं रहा, वल्कि उसे और अधिक वढ़ा रहा है। इस लिए जो जीव मर रहा है, या मारा जा रहा है उसे वचाना मनुष्य का धर्म होता है। उसे वचाने में 'उसके कर्म रूपी ऋण चुकाने में विघ्न डाला जा रहा है।" ऐसी भ्रान्त धारणा नहीं रखनी चाहिए। वल्कि मरने वाले जीव को बचाने से उसे शान्ति मिलती है। उस का आर्त और रौद्रध्यान हटता है दुर्ध्यान में जो कर्म-वंध होना था, शान्त दशा में उसका वह कर्म-वंध रुक जाता है। इस प्रकार जीव-रक्षा से रक्षित प्राणी का भला ही होता है, उस में उस की हानि हो जाने वाली कोई वात नहीं है। यदि किसी को वचाने में, कर्म ऋण चुकाने में अन्तराय माना जाएगा तव तो वड़ी गड़वड़ हो जाएगी। इस वात को एक

उदाहरण से समझिए।

मान लीजिए। एक साधु ने एक महीने की तपस्या कर रखी है। साधु को धर्म का ज्ञान है और वह जानता है कि समभावपूर्वक कष्ट सहन करने से कर्म की निर्जरा होती है। अतः समभाव से वह तपोजन्य कष्ट सहन कर रहा है। उस को जब तक आहार नहीं मिलता तब तक उसके कर्म की महान् निर्जरा हो रही है। अपने पूर्वसंचित कर्मों के कर्ज को वह उतार रहा है। आखिर उस के पारने का दिन आ गया। वह पारना लेने चला। तब "कर्म ऋण चुकाते हुए को अन्तराय देना पाप है" इस मान्यता वाले व्यक्ति ने सोचा—आहार मिलने से तपस्वी मुनि को हो रही कर्म-निर्जरा रुक जाएगी। ऐसा विचार कर वह स्वयं भी मुनि को पारने के लिए आहार नहीं देता तथा औरों से भी कह देता है कि मुनि के कर्म की होती हुई निर्जरा को मत रोको। तो उस का यह कार्य उचित होगा या अनुचित? इसके अलावा, जो लोग उस तपस्वी मुनि को आहार देंगे, उनको पाप तो नहीं होगा? जिस तरह साधु बकरे और कसाई दोनों का पिता है उसी तरह शास्त्रानुसार श्रावक भी साधु का पिता है। जिस तरह साधु बकरे का कर्म ऋण चुकाने से नहीं रोकता, उसी प्रकार श्रावक को भी यही उचित है कि वह कर्म–ऋण चुकाते हुए साधु को न रोके। ऐसा होते हुए भी यदि कोई श्रावक साधु को आहार देकर उस कर्म–ऋण चुकाने से रोकता है तो उसको भी वैसा ही पाप हुआ या नहीं,जैसा पाप कर्म-ऋण चुकाते हुए बकरे को बचाने से हो सकता है? पर शास्त्र कहता है और स्वयं तेरहपन्थी साधु कहते हैं कि साधु को आहार देना धर्म है। यदि साधु को आहार पानी देना धर्म है तो मरते हुए जीव को बचाना अथवा कष्ट पाते हुए जीव

की सहायता करना पाप क्यों होगा ?

दूसरी बात, यदि कसाई को हिंसा न करने का उपदेश दिया जाएगा और उस से कसाई उस हिंसा से विरत हो जाएगा। तो क्या उस दशा में भी बकरे के कर्म–ऋण चुकाने में बाधा नहीं आएगी ? यदि कर्म–ऋण चुकाते हुए को अन्तराय देना पाप है इस सिद्धान्त को मान लिया जाएगा तो चाहे बकरे को बचाया जाए या चाहे कसाई को उसे मारने से रोका जाए, दोनों अव–स्थाओं में पाप तो लगेगा ही। क्योंकि दोनों अवस्थाओं में बकरा बच जाएगा। अतः इस सिद्धान्त को मान कर न बकरे को बचाने की बात कही जा सकती है और न कसाई को हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया जा सकता है।

तेरहपन्थ का–'मरते हुए की रक्षा करने से, दीन दुःखी की सहायता करने से उसका चुकता हुआ कर्म–ऋण चुकना रुक जाता है। इसलिए मारे जाते हुए जीव को बचाना या दुःखी की सहायता करना पाप है।' यह सिद्धान्त मान लिया जाए तो यह भी मानना पड़ेगा कि आर्तध्यान और रौद्रध्यान से कर्म का बंध नहीं होता है, उससे कर्म-निर्जरा होती है। तो जो किसी जीव को मार रहा है उस को भी हिंसा न करने का उपदेश नहीं देना होगा तथा जिस सुपात्र दान को धर्म का कारण कहते हैं उसे पाप का साधन मानना पड़ेगा। यदि तेरहपन्थी इन बातों को नहीं मानते तो मानना होगा कि उनका उक्त सिद्धान्त केवल दया और दान का घातक है, तथा वह सर्वथा त्याज्य एवं हेय है।

तेरहपन्थ का तीसरा सिद्धान्त है कि साधु के सिवाय संसार के सभी प्राणी कुपात्र हैं। कुपात्र को बचाना, दान देकर उसे सन्तुष्ट करना या कष्ट से मुक्त करना, तथा उसकी सेवा-सुश्रूषा करना

पाप है। किन्तु स्थानकवासी परम्परा तेरहपन्थ के इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखती है। उसका विश्वास है कि साधु की भांति श्रावक सुपात्र है और वह साधना द्वारा कल्याण के महामन्दिर को प्राप्त कर सकता है।

सुपात्र और कुपात्र ये दो शब्द हैं। सुपात्र के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य सुपात्र सम्यक् दृष्टि है, मध्यम सुपात्र श्रावक और उत्कृष्ट सुपात्र साधु होता है। कुपात्र शब्द हिंसक, चोर, जार, वेश्या इन अर्थों का परिचायक है। यदि तेरह-पन्थ के विश्वासानुसार साधु के सिवाय सभी कुपात्र हैं तो वे धर्म का उपदेश किन को देते हैं? उत्तर स्पष्ट है, कुपात्रों को। कुपात्रों को उपदेश देने से क्या लाभ? पात्र ही वस्तु को धारण कर सकता है—अपात्र नहीं। जैसे सिंहनी के दूध के धारण करने को स्वर्ण कटोरा ही पात्र माना जाता है, दूसरा नहीं। जब अपात्र ही उत्तम पदार्थ को धारण नहीं कर सकता तब धर्म जैसे सर्वोत्कृष्ट पदार्थ के लिए कुपात्र कैसे योग्य बन सकते हैं? श्री वीतराग सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत स्यादवाद्-मय नय, निक्षेप आदि सापेक्ष मार्ग को समझने के लिए तो पात्र ही चाहिए।

तेरहपन्थ के सिद्धान्तानुसार इन के सब श्रावक कुपात्र हैं। कुपात्रों का अन्न, पानी ग्रहण करने पर जीवन में सुपात्रता कैसे आ सकती है? सिद्धान्त है कि 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन, जैसा पीवे पानी वैसी बोले वाणी'। इस लिए तेरहपन्थी साधु भी कभी सुपात्र नहीं बन सकते। कुपात्रों के वस्त्र-पात्र, अन्न-जल, मकान आदि का उपभोग करके इन में सुपात्रता का सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा। दूसरी बात, साधु होने से पहले इन के बड़े-बड़े आचार्य भी कुपात्रों की श्रेणी में ही थे। सम्भव है, इसी कुपात्रता के कारण

हो उन्होंने दयादान का विरोध किया और भगवती दया का कण्ठ मरोड़ने का कुत्सित प्रयास किया।

यदि श्रावक कुपात्र है तो श्रावक को कुपात्र कहने वाले भी कुपात्र ही हैं। यह बात दूसरी है कि श्रावक में कुपात्रता अधिक निकले और साधु में उससे कम। परन्तु यह सुनिश्चित है कि श्रावक को कुपात्र कहने वाले स्वयं कुपात्रता से बच नहीं सकते। देखिए, मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच आश्रव माने जाते हैं। इन पांचों आश्रवों को हम संख्या में १, २, ३, ४, ५ मान लेते हैं। मिथ्यात्व आश्रव को साधु और श्रावक दोनों ने छोड़ दिया है। बाकी २, ३, ४, ५ यह संख्या रही। इस में से अव्रत आश्रव को साधु ने सर्वथा बन्द कर दिया है और श्रावक ने उसे आंशिक रूप से बन्द किया है। इस प्रकार २, ३, ४, ५ संख्या में से साधु ने २ का अंक सर्वथा उड़ा दिया और श्रावक ने उस दो के अंक को तोड़ कर, एक कर दिया है। शेष में साधु और श्रावक दोनों ही बराबर हैं। यदि दोनों द्वारा छोड़े गए आश्रव की संख्या घटा दी जावे तो श्रावक के जिम्मे श्रावक का अंक १, ३, ४, ५ रहता है और साधुओं के हिस्से ३, ४, ५ रहता है। अब विचार करने की बात है कि जिस ने १, ३, ४, ५ रुपये देने हैं यदि वह कर्जदार कहा जावेगा, तो क्या जिसने ३, ४, ५ रुपये देने हैं वह कर्जदार नहीं कहा जावेगा? कर्जदार तो दोनों ही हैं, कोई कम कर्जदार है तो कोई ज्यादा। इस प्रकार यदि आश्रव की अपेक्षा श्रावक को कुपात्र कहा जा सकता है, तो साधु को भी कुपात्र कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि श्रावक की अपेक्षा साधु पर आश्रव का ऋण बहुत कम है, इस लिए साधु सुपात्र है और श्रावक कुपात्र है तो इस का उत्तर स्पष्ट है कि मिथ्यात्वी की अपेक्षा श्रावक का

ऋण बहुत कम है। इस लिए मिथ्यात्वी कुपात्र और श्रावक सुपात्र है। साधु की अपेक्षा केवली में आश्रव का ऋण बहुत कम है इस लिए केवली सुपात्र है और साधु कुपात्र है।

जिस श्रावक ने १, २, ३, ४, ५ में से दस हज़ार का ऋण चुका दिया है, फिर भी यदि वह कुपात्र बन जाता है, तो जिसने २, ३, ४, ५ में से दो हज़ार का ऋण चुकाया है, वह सुपात्र कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः साधु और श्रावक अपेक्षाकृत दोनों सुपात्र हैं। श्रावक को कुपात्र कहना, सत्यता की हत्या करना है।

तेरहपन्थ ने ावकों को कुपात्र बताकर उन के साथ बड़ा अत्याचार किया है। इसका यह अत्याचार यहीं तक सीमित नहीं रहा, प्रत्युत यहां तक बढ़ा कि इस ने श्रावकों को सूत्र पढ़ना भी निषिद्ध घोषित कर दिया है। इस पन्थ के उन्नायक आचार्यों ने शास्त्रीय अर्थों के जो अनर्थ किए हैं, वे श्रावकों को ज्ञात न हो जावें। इस के लिए तेरहपन्थी साधुओं ने श्रावकों को सूत्र पढ़ना मना कर दिया है, इन के यहां श्रावकों का सूत्र-पठन जिनाज्ञा के बाहिर बतलाया है। श्रावकों को सूत्र पढ़ना पाप है, यह बताने और सिद्ध करने के लिए इस पन्थ की पुस्तक 'भ्रमविध्वंसन' में पृष्ठ ३६१ से लेकर ३७३ तक सूत्र पठनाधिकार नाम का एक पूरा अध्ययन ही है।

उक्त तीन सिद्धान्तों के आधार पर तेरहपन्थ ने दान, पुण्य आदि शुभ कर्मों का जो निषेध किया है। इसे भी समझ लीजिए। तेरहपन्थ का विश्वास है कि पुण्य की उत्पत्ति निर्जरा के साथ ही होती है। विना निर्जरा के पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती। जिस तरह खेत में अनाज के साथ घास अपने-आप उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार निर्जरा के साथ पुण्य भी उत्पन्न होता है। स्वतन्त्ररूप से

तेरहपन्थ का विश्वास है कि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना अथवा मित्र सम्बन्धी आदि को खिलाना-पिलाना पाप है। इस की पुष्टि में उस की ओर से आनन्द ।वक का उदाहरण दिया जाता है। कहा जाता कि आनन्द श्रावक ने भगवान महावीर के सामने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं श्रमण व निर्ग्रन्थ के सिवाय और किसी को आहार-पानी नहीं दूंगा, न उनका स्वागत करूंगा। इस उदाहरण द्वारा यह प्रमाणित किया जाता है कि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना, खिलाना तथा पिलाना पाप न होता, तो आनन्द श्रावक ऐसा अभिग्रह क्यों लेता? और भगवान महावीर ऐसा अभिग्रह क्यों कराते? किन्तु स्थानकवासी परम्परा तेरहपन्थ के इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखती। उसका विश्वास है कि आनन्द श्रावक का उदाहरण उपस्थित करके जो दान का निषेध किया जाता है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि आनन्द श्रावक ने जो अभिग्रह लिया था, वह अन्यतीर्थी साधुओं को गुरु-बुद्धि से दान देने के विषय में था। उस का भाव यह था कि मैं जैनेतर साधुओं को गुरु मानकर, पांच महाव्रत–धारी समझ कर दान नहीं दूंगा। साधुओं के सिवाय और किसी को भोजन देना पाप है, इस दृष्टि से आनन्द ने वह अभिग्रह धारण नहीं किया था। आप पूछ सकते हैं कि इसमें प्रमाण क्या है? इसमें प्रमाण आनन्द श्रावक का अपना जीवन ही है। यदि आनन्द श्रावक 'साधु के सिवाय किसी अन्य को खिलाने-पिलाने से पाप होता है' इस विश्वास का होता तो वह अपने सगे सम्बन्धी मित्र आदि को भोजन, वस्त्र आदि से सत्कृत न करता। एक बार धर्म–जागरण करते समय आनन्द ने यह संकल्प किया था कि अपने नागरिक कार्यों में हस्तक्षेप करते रहने से मैं भगवान महावीर से गृहीत धर्म का पूरी तरह

पालन करने में असफल रहता हूं। इसलिए कल सूर्योदय होने पर अपने मित्र, सम्बन्धी तथा सामाजिक लोगों को बुलाऊंगा, उन्हें बहुत सा भोजन, वस्त्र आदि से सम्मानित करके तथा उनसे सम्मति लेकर पुत्र पर सब उत्तरदायित्व डाल कर तथा पुत्र को 'पुत्र ! जिस प्रकार मैं नागरिक लोगों के लिए, राजा आदि के लिए, कुटुम्ब के लिए आधार बन कर रहता था। उसी प्रकार तुम ने भी सब के लिए आधार बन कर रहना" यह कह कर और पौषधशाला में जाकर भगवान महावीर से स्वीकृत धर्म की आराधना करता हुआ जीवन व्यतीत करूंगा। इस प्रकार निश्चय कर सूर्योदय के अनन्तर आनन्द ने बहुत से खाने-पीने की सामग्री बनवाई और मित्र, ज्ञाति तथा नगर के लोगों को बुलाकर उनको खिलाया, पिलाया, तथा पुष्प, वस्त्र आदि से उन सब का सत्कार, सम्मान किया और उन से सम्मति लेकर तथा अपने पुत्र पर अपना सारा व्यावहारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व डालकर आनन्द श्रावक पौषधशाला में धर्मध्यानार्थ चला जाता है।

यदि आनन्द श्रावक का अभिग्रह साधु के सिवाय अन्य सभी को खिलाने-पिलाने या दान न देने का अभिग्रह होता तो आनन्द मित्र, ज्ञाति और नगर के लोगों के लिए भोजन आदि बनवा कर उनको क्यों जिमाता? उनका सत्कार, सम्मान क्यों करता? तथा उन्हें वस्त्र, पुष्प आदि क्यों देता? आनन्द का यह कार्य उस के द्वारा रखे गए किसी आगार के अन्तर्गत भी नहीं था और राजा, गुरुजन आदि के दबाव से भी उसने यह कार्य नहीं किया, उसने जो कुछ किया वह अपनी इच्छा से किया था। आनन्द ने इस कार्य के लिए कोई प्रायश्चित्त भी नहीं लिया और तो क्या, उसने सब को भोजन आदि खिलाने का जो निश्चय किया था वह भी धर्म जाग-

रण करते हुए। यदि साधु के सिवाय किसी अन्य को खिलाना या किसी को कुछ देना पाप होता तो आनन्द यह पाप क्यों करता ? अधिक क्या, उसने अपने पुत्र को भी सब का आधार बनने की शिक्षा दी। दूसरे की सहायता करने, दूसरे का दुःख दूर करने तथा दूसरे के प्रति उदारता-पूर्वक व्यवहार रखने की आदर्श प्रेरणा प्रदान की। यदि वह सब विचार पापमय होता तो उसे धर्म-जागरणा का रूप शास्त्रकार कभी न देते। अतः तेरहपन्थ की 'साधु के सिवाय दूसरे को दान देना पाप है' यह मान्यता किसी भी तरह ठीक नहीं ठहरती है।

राय-प्रसेणी सूत्र में राजा प्रदेशी का वर्णन आता है। उसने अपने राज्य की आय के चार। भाग किए थे। उन में से एक भाग से उसने दान-शाला खुलवाकर, उस में बहुत से नौकर रखकर, बहुत सा खाद्य तथा पेय पदार्थ बनवाकर साधु, ब्राह्मण, भिक्षु और पथिकों को खिलाने-पिलाने के लिए लगाया था। यदि साधु के सिवाय अन्य किसी को दान देने में पाप होता, तो राजा प्रदेशी ऐसा कार्य क्यों करता ? इस कार्य की अपने गुरुदेव श्री केशी श्रमण के सामने प्रतिज्ञा क्यों करता ? इससे स्पष्ट है कि दीन, दुःखी, भिखारी आदि को दान देना पाप नहीं है। राजा प्रदेशी के सम्बन्ध में तेरहपन्थी लोग यह युक्ति देते हैं कि राजा प्रदेशी की दान-शाला खोलने विषयक प्रतिज्ञा सुनकर भी केशी श्रमण मौन ही रहे। केशी मण कुछ बोले नहीं। यदि यह कार्य पुण्यमय होता तो केशी श्रमण उसकी अवश्य प्रशंसा करते। उन का मौन रहना ही इस बात का प्रमाण है कि दानशाला खोलना पापमय कार्य था। इस सम्बन्ध में हमारा कहना है कि यदि केशी श्रमण का मौन रहना ही दानशाला की सावद्यता का प्रमाण है तो हम पूछते हैं कि जिस

समय राजा प्रदेशी ने दानशाला खोलने की बात कही थी, उसी समय यह भी कहा था कि मैं शील, प्रत्याख्यान और पौषध-उपवास करता हुआ जीवन व्यतीत करूंगा। राजा प्रदेशी के इस कथन को सुनकर भी केशी श्रमण कुछ नहीं बोले थे। उनके मौन रहने से क्या शील, प्रत्याख्यान और पौषध आदि धार्मिक कार्य भी पापमय माने जाएंगे? केशी मुनि के खामोश रहने पर भी यदि पौषध आदि अनुष्ठान पापमय नहीं हैं तो दानशाला खुलवाना तथा दान देना ही पाप क्यों माना जावेगा? एक साथ ही× दो बातों के कहने पर यदि श्री केशी मण एक का समर्थन करते और एक के लिए मौन रहते, तब कहा जा सकता था कि दानशाला खुलवाना पाप है किन्तु वे तो दोनों बातों पर ही मौन रहे। अतः दानशाला खुलवाना या दान देना पाप नहीं है।

दया दान के विरोध में तेरहपन्थी एक युक्ति दिया करते हैं कि यदि सौनैय्या, धन, धान्य आदि असंयति लोगों को देने में तथा मरते हुए असंयति जीवों को बचाने में धर्म होता तो भगवान महावीर की प्रथम वाणी निष्फल क्यों जाती? देवता लोग लोगों को सोनैय्या धन, धान्य, रत्न आदि देकर तथा समुद्र में मरती हुई

×अहं णं सेयंविया-पामोक्खाइं सत्तगामसहस्साइं चत्तारि भागे करिस्सामि। एगे भागे बलवाहणस्स दलइस्सामि, एगे भागे कोट्ठागारे दलइस्सामि, एगे भागे अन्तेउरस्स दलइस्सामि, एगेण भागेण महइमहालिय-कूडागार-सालं करिस्सामि। तत्थ णं बहुहिं पुरिसेहिं दिण्ण-भत्ति-भत्तवेयणाहिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता बहूणं समणमाहण-भिक्खुयाणं पन्थियपहियाणं य परिभोएमाणे बहुहिं सीलवयपच्चक्खाणं पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामि।
—राय-पसेणी

पुण्य की उत्पत्ति तेरहपन्थ को मान्य नहीं है। इसी मान्यता के आधार पर तेरहपन्थी लोग साधु के सिवाय और किसी को दिए गए दान में पुण्य नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि जहां निर्जरा नहीं वहां पुण्य नहीं और साधु के सिवाय जो दान दिया जाता है उस से निर्जरा नहीं होती है, इसलिए वहां पुण्य भी नहीं होता। किन्तु स्थानकवासी परम्परा इस बात में विश्वास नहीं रखती। इसका कहना है कि जिस तरह घास खेत में अनाज के साथ अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है और कभी अनाज के न होने पर भी उत्पन्न हो जाता है तथा केवल कभी घास ही उत्पन्न किया जाता है। उसी तरह पुण्य कभी निर्जरा के साथ उत्पन्न होता है, कभी निर्जरा के विना भी उत्पन्न होता है और कभी केवल पुण्य ही उत्पन्न किया जाता है। जिस प्रकार आवश्यकतानुसार घास भी उपादेय माना जाता है, उसी प्रकार आवश्यकतानुसार पुण्य भी उपादेय है। आवश्यकता पूर्ति होने पर जैसे घास त्याज्य होता है वैसे पुण्य भी कार्य-समाप्ति पर हेय बन जाता है।

तेरहपन्थ का यह सिद्धान्त कि जहां निर्जरा नहीं, वहां पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती और साधु के सिवाय जो दान दिया जाता है उस से निर्जरा नहीं होती, अतः दीन, दुःखी को दिया गया दान पुण्य का उत्पादक नहीं होता, सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है। श्री दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्ययन में ×लिखा है कि पुण्य के लिए

×असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्जा सुणेज्जा वा, पुणट्ठा पगडं इमं॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिन्तियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

—दशवै० अ० ५, उ०/४९-५०

बनाया हुआ पदार्थ साधु ग्रहण नहीं कर सकता। ज़रा विचार कीजिए कि पुण्य के लिए बना हुआ भोजन साधु तो लेते नहीं, भगवान ने उस आहार को ग्रहण करने का निषेध कर दिया है, तब वह पुण्यार्थ किस के लिए हुआ ? तेरहपन्थ के सिद्धान्तानुसार यदि साधु को दिया जाए तभी वह निर्जरा का कारण बनता हुआ पुण्योत्पादक बन सकता है, अन्यथा नहीं। तब दशवैकालिक के 'पुण्ट्ठा पगडं इमं' (पुण्य के लिए बनाया हुआ) इस पाठ की निष्पत्ति कैसे होगी ? इस से स्पष्ट सिद्ध है कि पुण्य के लिए बनाया हुआ उसी को कहते हैं जो रंक, भिखारी, दुःखी, पशु, पक्षी आदि के लिए बनाया गया हो। इस में निर्जरा को स्थान नहीं होता। ऐसे दीन, हीन, अपंग, अनाश्रितों को दान देने में पुण्य ही होता है। भाव यह है कि निर्जरा के बिना भी पुण्य की उत्पत्ति होती है।

स्थानांग सूत्र के नवमस्थान में नव प्रकार का पुण्य कहा है। वहां मूल पाठ में निर्वद्य, सावद्य,या निर्जरा के साथ पुण्य होता है, ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। दूसरी बात, यदि पुण्य का उत्पादन स्वतन्त्र रीति से न हो सकता होता तो पुण्य को अलग तत्त्व ही क्यों बनाया जाता ? खेत में अनाज के साथ उत्पन्न होने वाले घास का अलग वर्णन कोई नहीं करता। तीसरे, यदि पुण्य निर्जरा के साथ उत्पन्न होता है तो पाप किस के साथ पैदा होगा ? जैसे पुण्य और पाप भिन्न गुणवाले के साथी हैं, दोनों आश्रवतत्त्व की पर्याय हैं, उसी प्रकार संवर, निर्जरा भी भिन्न गुण वाले के साथी हैं, वे मोक्ष तत्त्व के पर्याय रूप हैं। इसलिए जब पुण्य की उत्पत्ति निर्जरा के साथ ही मानी जावेगी तो पाप की उत्पत्ति किस के साथ होगी ? फिर बेचारा पाप अकेला और स्वतंत्र क्यों उत्पन्न होगा ?

निर्जरा दो तरह की होती है—अकाम और सकाम। अकाम (कर्मनाश की इच्छा विना) निर्जरा मिथ्यात्वी की होती है और कर्म-वन्ध का कारण वनती है। सकाम-कर्मनाश की इच्छा से होने वाली, निर्जरा सम्यग् दृष्टि की होती है,यह मोक्ष को प्रदान करती है। जीव सम्यग् दृष्टि तभी माना जाता है जव कि निश्चय में दर्शन सप्तक अर्थात् अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, ×मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहनीय, इन सात प्रकृतियों का क्षयोपशम करे और व्यवहार में जीव, अजीव आदि नव तत्त्व को समझे तथा देव, गुरु, धर्म का स्वरूप समझ कर शुद्ध देव, गुरु, धर्म की द्धा करे तव सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जहां तक सम्यक्त्व नहीं होता वहाँ तक जीव सकाम निर्जरा नहीं कर सकता। पुण्य वन्ध तो पहिले से लगाकर तेरहवें गुणस्थान तक सभी जगह होता है। जव आत्मा एकेन्द्रिय अवस्था में होता है, वहां पर सम्यक्त्व होता ही नहीं और सम्यक्त्व विना सकाम निर्जरा नहीं, तव विना निर्जरा के पुण्य प्रकृति कैसे वढ़ती है ? यदि पुण्य प्रकृति का विकास नहीं माना जाएगा तो एकेन्द्रिय जीव द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक कैसे पहुंचेंगे ? सम्यक्त्व तो पंचेन्द्रिय को ही प्राप्त होती है। वहां तक पुण्य प्रकृति कैसे वांधी

×जिस कर्म का उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक और क्षायिक भाव वाली तत्त्वरुचि का वाधक वनता है वह सम्यक्त्व मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से तत्त्वों के यर्थार्थ रूप को समझने का रुचि न हो वह मिथ्यात्व मोहनीय तथा जिस कर्म के उदयकाल में यर्थार्थता की रुचि या अरुचि न हो कर दोलायमान स्थिति रहे उसे मिश्र-मोहनीय कहते हैं।

जाएगी ? इसीलिए यही मानना पड़ेगा कि पुण्य का उत्पादन निर्जरा के बिना भी हो सकता है और पुण्य-रहित निर्जरा भी हो सकती है। इसके अलावा, यदि पुण्य-रहित निर्जरा का होना नहीं माना जाएगा तो जीव कभी मुक्त नहीं हो सकेगा। क्योंकि निर्जरा के साथ पुण्य की उत्पत्ति आवश्यक मानने पर जीव जैसे—जैसे कर्म की निर्जरा करेगा, वैसे—वैसे पुण्य उत्पन्न होता रहेगा। और जब तक पुण्य और पाप दोनों नहीं छूट जाते तब तक मोक्ष नहीं हो सकता।

तीर्थंकर भगवान लोगों को सौनय्यों का जो दान देते हैं वह दान साधु तो लेते ही नहीं हैं, असाधु ही लेते हैं। यदि तर्थंकरों को उस दान से पुण्य का उत्पन्न होना न माना जाए तो फिर तेरहपन्थ के विश्वासानुसार उस दान को पाप मानना पड़ेगा। यदि कहा जाए कि यह तीर्थंकरों की रीति है। इसलिए इसमें न धर्म है, न पुण्य है और न पाप है। तो फिर ावक का विवाह करना, विवाहोपलक्ष्य में दिया गया भोजन आदि कार्यों को भी ऐसे ही रीति मानना पड़ेगा। क्योंकि ये काम भी तो रीति (रिवाज) के अनुसार ही किए जाते हैं। रीति के अनुसार दिया गया तीर्थंकरों द्वारा दान प प के अन्दर नहीं है, तो रीति के अनुसार कराए गए विवाह आदि कर्म भी पाप कैसे हो सकते हैं ? यदि रीति के कारण किए जाने पर भी इन कार्यों में पाप होता है तो तीर्थंकरों द्वारा दिए गया दान पाप क्यों नहीं ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकरों द्वारा दिए गए दान से पुण्योत्पादन होता है और वह पुण्योपार्जन निर्जरा के साथ नहीं होता, बल्कि स्वतन्त्र रूप से होता है। इसलिए तेरहपन्थ का यह सिद्धान्त कि पुण्य निर्जरा के साथ ही उत्पन्न होता है, सर्वथा शास्त्र—विरुद्ध कथन है।

मछलियों को बचाकर भगवान महावीर की वाणी सफल करते ? यह सब कुछ नहीं हुआ, इस से सिद्ध होता है कि दान देना तथा जीवों को बचाना पाप है। इस का समाधान इस प्रकार है। भगवान महावीर को जिस समय केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, उस समय प्रभु जंगल में थे तथा सन्ध्या का समय था, भगवान महावीर ने केवलज्ञान होते ही वाणी फरमाई। तब उस समय मानुष-मानुषी, तिर्यञ्च, तिर्यञ्ची नहीं थे। इसलिए किसी ने चारित्र रूप धर्म को अंगीकार नहीं किया। केवल देवी, देवता थे, वे प्रत्याख्यान नहीं कर सकते थे। इस दृष्टि से भगवान की वह वाणी निष्फल मानी जाती है न कि दान, पुण्य या जीव-रक्षा की दृष्टि से। इस से जीवरक्षा या दान देना निषिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह मान लिया जाए और यह समझ लिया जाए कि जो काम देवता नहीं करते तो मनुष्य को भी वह काम निषिद्ध है, पाप है। तो देवता साधुओं को आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि भी नहीं देते, दीक्षा भी नहीं लेते। इसलिए मनुष्य को भी साधु को आहार आदि देना, दीक्षित होना पाप मानना पड़ेगा और यदि साधु को देव आहार आदि नहीं देते तब भी मनुष्य के लिए साधु को आहार आदि देना, पाप नहीं है बल्कि धर्म-प्रद है तो किसी मरते जीव को बचाना तथा दीन, दुःखी को दान देना भी पाप कैसे हो सकता है ?

तेरहपन्थ का विश्वास है कि किसी मरते हुए जीव को बचाना पाप है। उस का कहना है कि किसी मरते हुए जीव को बचाने या किसी प्यासे को पानी पिलाने में या किसी को कष्ट से मुक्त करने में अग्नि-पानी आदि के असंख्य स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसलिए किसी मरते हुए जीव को बचाना, पानी में डूबते हुए या आग में जलते हुए को निकालना या किसी प्यासे को पानी

पिलाना पाप है। किन्तु स्थानकवासी परम्परा तेरहपन्थ के इस सिद्धान्त में कोई विश्वास नहीं रखती। यह परम्परा एकेन्द्रिय और और पंचेन्द्रिय जीवों को एक समान नहीं मानती है। इस सम्बन्ध में पीछे वर्णन किया जा चुका है।

तेरहपन्थ के इस विश्वास को यदि मान लिया जाए तो साधु का दर्शन करना, व्याख्यान सुनना, साधु को चातुर्मास आदि की विनति करने के लिए जाना, दीक्षा देना, सम्मेलन करना यहां तक कि तीर्थंकर के दर्शन करना भी पाप माना जाएगा। क्योंकि इन सभी कार्यों के आरम्भ में एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। बल्कि कभी–कभी तो च्यूण्टी आदि पांव के नीचे आ जाने पर त्रस जीवों की भी हिंसा हो जाती है। यदि इस हिंसा के होते हुए भी साधु के दर्शन करना, चातुर्मास आदि के लिए उन्हें विनति करना तथा व्याख्यान सुनने के लिए घर से चलना, दीक्षा-महोत्सव की तैयारी करना, मुनियों का सम्मेलन भरना तथा तीर्थंकर महाराज के दर्शन करना आदि धार्मिक कार्य पापरूप नहीं, तो फिर आरम्भिक हिंसा के कारण किसी मरते हुए जीव को बचाना या कष्ट पाते हुए किसी जीव को कष्ट–मुक्त करना पाप कैसे माना जा सकता है? दूसरी बात यह है, जहाँ स्थावर जीवों की हिंसा नहीं है उस जीव–रक्षा में तो पाप नहीं होना चाहिए। कल्पना करो। एक व्यक्ति प्यासा है,भूखा है। उसे एक व्यक्ति दूध पिला देता है। ऐसी दशा में कोई पाप नहीं होगा? क्योंकि दूध पिलाने में तो स्थावर जीवों की हिंसा नहीं होने पाती है। पर तेरहपन्थ तो ऐसी जीव–रक्षा में भी पाप मानता है। उसके यहां तो जीव–रक्षा ही पाप है, चाहे उसमें स्थावर जीवों की हिंसा हो या न हो।

जैन–शास्त्र अहिंसा–प्रधान शास्त्र है। इनकी रचना प्रधान-

तथा जीवों की रक्षा के निमित्त ही हुई है। इस बात को जैनेतर विद्वान भी सहर्ष स्वीकार करते हैं। इतिहासज्ञों का भी यही कथन है कि जैन-धर्म संसार में दुःख पाते हुए तथा मारे जाते हुए जीवों जी रक्षा के लिए ही संसार के सामने आया है। जैन-शास्त्रों में मरते हुए जीवों को बचाने के लिए आदर्श रूप में अनेकों उदाहरण मिलते हैं। भगवान अरिष्टनेमि ने,मारे जाने के लिए बन्द किए हुए पशुओं को बाड़े में से छुड़ाया। भगवान पार्श्वनाथ ने,आग में जलते हुए नाग नागिन को बचाया। भगवान महावीर ने, यज्ञ में होने वाली पशु-हिंसा का ज़बर्दस्त विरोध करके उन जीवों का संरक्षण किया। इसके इलावा, भगवान महावीर ने तेजोलेश्या से जलते हुए गोशालक को बचाया था। यदि मरते हुए जीव को बचाना पाप होता तो तीर्थंकर भगवान स्वयं यह पाप क्यों करते ?

उक्त उदाहरणों के सम्बन्ध में तेरहपन्थी लोग बड़ी विचित्र बात बनाते हैं। भगवान अरिष्टनेमि के लिए कहते हैं कि उन जीवों की हिंसा भगवान अरिष्टनेमि के निमित्त हो रही थी। इसी से भगवान अरिष्टनेमि ने उन जीवों की हिंसा का पाप अपने लिए माना और उन्होंने उस पाप को टाला। कितना आश्चर्य है कि इन जीवों के पाप की तो भगवान अरिष्टनेमि को इतनी चिन्ता हो गई, पर विवाह में पानी के सैंकड़ों घड़े अपने ऊपर डलवा लिए,उन में स्थित असंख्य जीवों के पाप की भगवान को कोई चिन्ता नहीं हुई। वस्तुतः भगवान ने केवल अपने को पाप से बचाने के लिए ही ऐसा नहीं किया,बल्कि उन जीवों के संरक्षण का उन्हें विशेष ध्यान था। यदि अपने को पाप से बचाना ही उनको इष्ट होता तो "ये जीव मेरे निमित्त मारे जाएंगे" इतना बोध होने पर ही वे वाः

पिस हो जाते, पर उन्होंने वाड़ा खुलवा कर उन को वहां से मुक्त क्यों करवाया ? वाड़े से मुक्त कराने का उद्देश्य केवल उन को संरक्षित करना था। यदि भगवान अरिष्टनेमि की इच्छा जीवों को बचाने की न होती तो बेचारे सारथि की क्या ताक़त थी, जो वह महाराज उग्रसेन के वाड़े में बन्द पशु, पक्षियों को मुक्त कर देता। कदाचित् सारथि ने उन की इच्छा न होने पर भी पशु-पक्षियों को छोड़ दिया था तो भगवान अपने आभूषण पारितोषक रूप से उस को क्यों देते ? यदि वैराग्य आने से दिए तो मुकुट क्यों न दे दिया ?

भगवान पार्श्व नाथ और महावीर के लिए वे कहते हैं कि नाग–नागिन तथा गोशालक को बचा कर भगवान ने भूल की है। तेरहपन्थियों की इस अविवेक–पूर्ण बात से किस को आश्चर्य न होगा ? तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञान के धारक होते हैं। तेरहपन्थी साधुओं में दो ज्ञान भी पूरे नहीं हैं। तथापि तीर्थंकरों द्वारा की गई जीव–रक्षा को भूल कहना कितनी बड़ी भूल है ? भगवान पार्श्वनाथ की भूल या पाप, भगवान स्वयं न जान सके। भगवान महावीर भी न जान सके तथा भगवान महावीर की ग़लती भगवान महावीर को अन्त तक न दिखाई दी। लेकिन तेरहपन्थी साधु इन तीर्थंकरों की भूल को समझ गए ?× आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भगवान महावीर ने संयम लेकर न तो स्वयं पाप किया, न दूसरों द्वारा कराया और नाँही पापमय कार्य का

×णच्चा णं से महावीरे, णो चिय पावगं सयमकासी।
अन्नेहिं वा कारित्था, कीरन्तं वि नाणुजाणित्था॥

—आ० अ० ९, उ०४

भी उन्होंने कभी अनुमोदन किया।* आचारांग सूत्र के अनुसार भगवान सदा अप्रमत्त अवस्था में रहे, छद्मस्थ दशा में उन्हों ने किसी प्रमाद का सेवन नहीं किया। इतने स्पष्ट प्रमाण होने पर भी भगवान महावीर को भूला कहना शास्त्रीय अज्ञता नहीं तो और क्या है ?

एक बात और है। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महा-वीर ने जो भूल की थी, उन्हें अपनी भूल को स्वीकार करके जनता को सावधान करना चाहिए था कि मैंने यह भूल की है, तुम ने ऐसी कोई भूल मत करना। पर उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया।

जीव को बचाना पाप नहीं है, किन्तु धर्म है। यह बात ज्ञाता-सूत्र में वर्णित मेघ कुमार के जीवन से भी भली भांति प्रमाणित हो जाती है। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा था—मेघ कुमार ! तूने हाथी के भव में चार कोस का मण्डल बनाकर आग से जीवों की रक्षा की थी। एक खरगोश की रक्षा के लिए तो बीस पहर तक पांव ऊंचा रख कर अपने शरीर का ही बलिदान कर दिया था। इसी से मनुष्य-जन्म, राजसी वैभव की प्राप्ति हुई है और अन्त में तू संयम ले सका है। यदि जीव-रक्षा में पाप होता तो भगवान स्वयं उस की महिमा क्यों गाते ? इस सम्बन्ध में तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि मेघकुमार ने हाथी के भव में खरगोश को नहीं मारा था, इसी से उस को मनुष्य जन्म आदि मिला। परन्तु हाथी के मण्डल में जो बहुत से जीवों ने आ कर आश्रय लिया था,

*एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसी य तेरस-वासे।
राइंदियं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति॥
—आ० अ० ९, उ० २

उस से तो हाथी को पाप ही लगा। पर तेरहपन्थी लोगों का ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीवों को बचाना पाप होता तो भगवान उसे अवश्य फरमा देते कि तूने खरगोश को नहीं मारा, यह तो तुझे पुण्य या धर्म हुआ, परन्तु अन्य जीवों को जो तूने अपने मण्डल में आश्रय दिया, यह तूने पाप किया। जब उस के वह पुण्य-कर्म का वर्णन कर सकते हैं तो पाप कर्म का वर्णन करने में भगवान को संकोच हो सकता है ? दूसरी बात, हाथी ने अपने मण्डल में अनेकानेक जीवों को आश्रय दिया, उस से लगा, उसे पाप। यदि इस बात को मान लें तो प्रश्न पैदा होता है कि एक खरगोश को न मारने से हाथी मर कर मेघकुमार बना, पर उस ने जो अनेकानेक जीव बचाकर पाप किया, उस को दुष्परिणाम—स्वरूप क्या फल मिला ? पुण्य या धर्म तो हुआ एक जीव को न मारने का और पाप हुआ अनेकों जीवों को बचाने का। इस प्रकार धर्म या पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हुआ। ऐसी दशा में हाथी मर कर मेघकुमार के भव को कैसे प्राप्त हो गया ?

राय-प्रसेणी सूत्र में राजा प्रदेशी का वर्णन आता है। प्रदेशी नास्तिक था। इसलिए वह द्विपद (मनुष्य आदि), चतुष्पद (पशु आदि) आदि जीवों को मार डालता था, भिक्षुओं की भिक्षा भी छीन लेता था, अपने राज्य को उसने बहुत दुःखी कर रखा था। प्रदेशी के प्रधान मन्त्री का नाम चित्त था। चित्त बारह व्रत धारी श्रावक था। राजा प्रदेशी द्वारा होने वाले अत्याचारों से जनता को बचाने के लिए उस ने केशी स्वामी से कहा—महाराज ! आप यदि प्रदेशी को धर्म सुनावें तो प्रदेशी राजा को तथा उसके हाथ से मारे जाने वाले मानुष, मानुषी, मृग आदि प्राणियों को बड़ा लाभ होगा, भिक्षुओं को भी लाभ होगा।

यह प्रार्थना केशी श्रमण से उस चित्त प्रधान ने की थी, जो बारह व्रतधारी श्रावक था और धर्म, अधर्म को अच्छी तरह जानता था। चित्त प्रधान की ही इस प्रार्थना को मान कर केशी श्रमण ने प्रदेशी की नगरी में आ कर उसे धर्म का उपदेश दिया तथा उस को श्रावक बनाया। यदि मरते जीव को बचाना या कष्ट पाते जीव को कष्ट—मुक्त करना,कराना पाप होता तो चित्त प्रधान जो श्रावक थे, इस तरह का पाप कार्य करने, कराने के लिए केशी स्वामी से प्रार्थना ही क्यों करते ? और केशी स्वामी उस की यह प्रार्थना स्वीकार ही क्यों करते ? इस से स्पष्ट है कि मरते जीव को बचाना तथा उस के लिए उपदेश देना साधु और श्रावक का परम धर्म है।

सूयगडांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के छठे अध्ययन में "दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं" यह पाठ आता है। इस में अभयदान की श्रेष्ठता की बात कही गई है। जो मांग रहा है, उस को अपने और मांगने वाले के अनुग्रह के लिए उस के द्वारा मांगी गई चीज़ देने का नाम दान है। ऐसा दान अनेक प्रकार का होता है। उन में अभयदान सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि अभयदान उन मरते हुए प्राणियों को प्राण का दान करता है ? जो प्राणी मरना नहीं चाहते हैं, जीवित रहने की इच्छा रखते हैं। मरते हुए प्राणी को एक ओर करोड़ों का धन दिया जाने लगे और दूसरी ओर जीवन दिया जाने लगे तो वह धन लेकर जीवन ही लेता है। प्रत्येक जोव को जीवन सब से अधिक प्रिय है। इसी से अभयदान सब में श्रेष्ठ है। किन्तु तेरहपन्थी अभयदान का 'किसी जीव को न मारना' यही अर्थ करते हैं। उन के मत में मरते हुए जीव को बचाना अभयदान नहीं है। तेरहपन्थियों का ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि देने का

नाम दान है। न देने का नाम तो दान है ही नहीं। यदि विन दिए ही दान हो सकता हो, तब तो साधु को आहार-पानी दिए बिना ही सुपात्र दान भी हो जावेगा। साधु को कष्ट न देने मात्र से ही सुपात्र दान देने की मान्यता उन के यहां नहीं है। केवल अभयदान के सम्बन्ध में ऐसी मान्यता बना कर उन्होंने कितना अर्थ का अनर्थ किया है। यदि तेरह-पन्थियों की यह मान्यता ठीक हो तब तो स्थावर जीव सब से अधिक अभयदान देने वाले सिद्ध होंगे। क्योंकि पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पति-कायिक जीव किसे भय देते हैं ? इसलिए भय न देने का नाम अभयदान नहीं है किन्तु भय पाते हुए जीव का भय मिटाने का नाम ही अभयदान है। व्यवहार में भी अभयदान का अर्थ "भयभीत को भय-रहित बनाना" ही किया जाता है। कोष आदि में भी अभयदान का यही अर्थ है। अभयदान का पात्र वही है जो भय पा रहा है। गीदड़ यदि सिंह को नहीं मार सकता तो क्या इस का नाम अभयदान हो जावेगा*।

प्रश्न—उक्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तेरहपन्थ के मान्य ग्रन्थों का कोई प्रमाण दे सकते हैं ?

उत्तर—तेरहपन्थ के सिद्धान्तों का जो परिचय कराया गया है, वह उन के अपने 'भ्रम-विध्वंसन' आदि ग्रंथों के आधार पर ही कराया गया है। इन सिद्धान्तों के परिचायक वाक्य निम्नोक्त हैं—

'साधु थी अनेरा कुपात्र छे, अनेरा ने दीधा अनेरी

---

*तेरहपन्थियों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त के लिए तथा उन की भ्रमोत्पादक युक्तियों का समाधान जानने के लिए पाठकों को "जैन-दर्शन में श्वेताम्बर तेरहपन्थ" नामक पुस्तक (मूल्य ९ आना) प्राप्ति-स्थान-श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर (बीकानेर) देखनी चाहिए।

प्रकृति नो वन्ध कह्यो ते अनेरी प्रकृति पापनी छे।

—भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९

अर्थात्—साधु के सिवाय बाकी सब मनुष्य कुपात्र हैं, उन्हें दान देने से पाप होता है। पाठकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि तेरहपन्थ के साधु अपने को ही साधु मानते हैं, अन्य किसी को भी साधु मानने को वे तैयार नहीं हैं,यदि उन से कोई पूछे कि आप के सिवाय अन्य सम्प्रदाय के जो साधु हैं, महात्मा हैं। उनको आप साधु मानते हैं या नहीं ? तो स्पष्ट उत्तर न देकर गोलमोल भाषा में उत्तर देंगे कि तुम ही समझलो, हम तो यही कहते हैं कि जिस में साधु के लक्षण हैं वही साधु है। परन्तु जब अपने पन्थ के सामने भाषण करते हैं तो अन्य सम्प्रदाय के सभी साधुओं को असाधु ही बतलाते हैं और उनको दान देने का कोई त्याग करे तो उस की प्रशंसा भी करते हैं।

"अव्रत में दान देना तणा,
कोई त्याग करे मन शुद्ध जी।
तेने पाप निरन्तर रोकियो,
तेनी वीर बखानी बुद्ध जी।"

भीषण जी के सिद्धान्तानुसार तेरहपन्थी साधुओं के सिवाय सभी अव्रती हैं। उनको दान देने का यदि कोई त्याग करे तो उस ने अपने आते हुए पाप कर्मों को रोक दिया और उसकी बुद्धि की प्रशंसा महावीर ने की है।

"कुपात्र दान कुक्षेत्र कहया,
कुपात्र रूप कुक्षेत्र में पुण्य बीज किम उपजे ?"

—भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८०

कुपात्र को दान देना तो खराब खेत में बीज बोना है। वहां पुण्य बीज कैसे उत्पन्न हो सकता है। अर्थात् नहीं होता।

कुपात्र दान, मांसादि सेवन, व्यसन कुशीलादिक यह तीनों एक ही मार्ग के पथिक हैं। जैसे चोर, जार, ठग यह तीनों समान व्यवसायी हैं। उसी तरह कुपात्र दान भी मांसादि सेवन, व्यसन कुशीलादि की श्रेणी में गणना करने योग्य है।

—भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८०

अर्थात्—कुपात्रदान, मांसाहार और वेश्यागमन ये तीनों एक समान हैं। जैसे चोर, यार और ठग इन तीनों के एक जैसे संकल्प होते हैं, वैसे ही कुपात्रदान भी मांस-भक्षण और कुशील-सेवन के समान ही समझना चाहिए।

"कुपात्र दान में पुण्य परूपे,
तिण सूं लोक हणे जीवा ने विशेषो।
कुगुरु एहवा चाला चलावे,
ते भ्रष्ट हुआ लेई साधुरो भेषो।"

—अनुकम्पा ढाल १३, कड़ी ६

कुपात्रदान में पुण्य बताने से लोग जीवों को विशेष मारते हैं, पुण्य बताने वाले कुगुरु हैं, वे साधु का वेष लेकर भ्रष्ट होते हैं।

"कुपात्र जीवां ने बचावियां,
कुपात्र ने दिया दान जी।
ओ सावद्य कर्तव्य संसार नो,
भाख्यो छे भगवान जी॥"

—अनुकम्पा ढाल १२, कड़ी १०

अर्थात्—कुपात्र जीवों को मरने से बचाना, कुपात्र को दान देना, यह संसार का पापमय कार्य है।

"असंयति जीवरो जीवणो,
तो सावद्य जीतव साक्षात् जी।
तिण ने देवे तें सावद्य दान छे,
तिण ने धर्म नहीं अंश मात जी।"

—अनुकम्पा ढ़ाल १२, कड़ी ४०

अर्थात्—असंयमी (तेरहपंथी साधु से अन्य सब का) जीवन पापमय है, उनको दान देना एकान्त पापमय दान है,उसमें धर्म का अंश मात्र नहीं है।

"जितरा उपकार संसार रा।
ते तो सगला ही सावद जाणो हो।"

—अनुकम्पा ढ़ाल ४, कड़ी १९

अर्थात्—संसार के जितने उपकार हैं वे सब पाप हैं।

संसार के उपकारों को बताते हैं—

"कोई लाय सूं बलताने काढ़ बचायो,
बले कुए पड़ता ने बचायो।
बले तलाब में डूबता ने बाहर काढ़े,
बले ऊंचा थी पड़ताने झेले तायो।
ओ उपकार संसार तणो छे,
संसार तणो उपकार करे छे
तिण रे निश्चय ही संसार बधे ते जाणो।"

—अनुकम्पा ढ़ाल ११, कड़ी १२

अर्थात्—अग्नि में जलते हुए, कूप में गिरते हुए, तालाब में डूबते हुए, ऊंचे से पड़ते हुए, जीवों को कोई बचावे तो ये संसार के उपकार हैं। इनके करने से निश्चय ही भव-भ्रमण की वृद्धि होती है, ऐसे पापकारी कार्यों से प्राणी दुर्गति में भटकता है।

कोई मात-पिता री सेवा करे दिन रात,
मनमाना भोजन त्याँ ने कराई।
वले खांधे कावड़ लियां फिरे त्याँ री,
वले दोनों वक्ते स्नान कराई ताई॥
ओ उपकार संसार तणो छे।

—अनुकम्पा ढ़ाल ११, कड़ी १८

अर्थात्—कोई गृहस्थ दिन-रात माता-पिता की सेवा करता है, उन्हें रुचि के अनुसार भोजन कराता है, काँवर (वहंगी) में उठाये फिरता है, दोनों वक्त स्नान कराता है तो यह सब उपकार संसार के हैं, जो दुर्गतियों में भटकाने वाले हैं।

गृहस्थ ने औषध भेषज देई ने,
अनेक उपाय करी जीव बचावे।
यह संसार तणो उपकार कियाँ में,
मुक्ति रो मारग मूढ़ बतावे।

—अनुकम्पा ढ़ाल ८, कड़ी ५

अर्थात्—औषध आदि देकर अथवा अन्य उपायों से गृहस्थ का जीवन बचाना, संसार बढ़ाने वाला पापकारी उपकार है, मूढ़ लोग इसको मुक्ति का मार्ग अर्थात् धर्म बता रहे हैं।

'कई एक अज्ञानी इम कहे—

छः काया काजे हो देवां धर्म उपदेश ।
एकण जीव ने समझावियाँ,
मिट जावे हो घणां जीवरां क्लेश ।
छव काय धरे शान्ति हुवे एहवा,
भाषे हो अन्य तीर्थी धर्म ।
त्यां भेद न पायो जिन धर्म रो,
ते तो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म ।'

—अनुकम्पा ढ़ाल ५, कड़ी १६-१७

अर्थात्—किसी मरते हुए जीव को बचाने के लिए कोई उपदेश देवे या किसी भी जीव को शान्ति हो, ऐसी भाषा तेरहपंथ जैन-धर्म को जानने वाला नहीं बोल सकता है । वह उपदेश--दाता मिथ्यात्वी, अज्ञानी और अशुभ कर्म बांधने वाला है ।

'रांकां ने मार धींगा ने पोषे,
आ तो बात दीसे घणी गहरी ।
इणं मांही दुष्टी धर्म परूपे,
तो रांक जीवां रा शत्रु है भारी ।'

—अनुकम्पा ढ़ाल १३, कड़ी ४

अर्थात्—ग़रीब वनस्पति आदि स्थावर जीवों को मार कर जो शैतान पंचेन्द्रिय जीवों का पोषण करते हैं, वे ग़रीब जीवों के शत्रु हैं ।

"व्याधि अनेक कोढ़ादिक सुण ने,
तिण ऊपर बैद चलाई ने आवे ।
अनुकम्पा आणी साझो कीधो,

गोली चूरण दे रोग गमावे ॥"

—अनुकम्पा ढ़ाल १, कड़ी २४

अर्थात्—कुष्ठादिक कठिन रोग से पीड़ित रोगियों को सुन-कर कोई वैद्य दया-भाव से उन को गोली चूर्ण दे कर रोग-रहित कर दे तो यह दया पापकारी दया है।

"साधु के अतिरिक्त सब प्राणी असंयति होते हैं। असंयति जीवों के जीने-मरने को वाँछा करना एकान्त पाप है, उन के सुख, जीने आदि की कामना करने से असं-यममय जीवन की अनुमोदना लगती है तथा विषय-भोगों में लगी हुई इन्द्रियों को उत्तेजन मिलता है। इस प्रकार और अधिक पापोपार्जन करा कर उन जीवों की आत्मिक दुर्गति के कारण होता है।

—"श्रीमदाचार्य भीषण जी के "विचार-रत्न"—पृष्ठ ५३"

गृहस्थ रे पग हेठे जीव आवे तो,
साधु ने बताणो कठे नहीं चाल्यो।
भारी करमा लोका ने भ्रष्ट करण ने,
ओपिण घोचो कुगुरां घाल्यो॥"

—अनुकम्पा ढ़ाल ८, कड़ी ८३

अर्थात्—गृहस्थ के पैर के नीचे कोई छोटा जीव दब कर मरता हो तो साधु को बताना नहीं चाहिए। जो बत ते हैं वे कुगुरु हैं।

जो आरम्भ सहित जीवणी असंजति रो अस्भ।

जिण बांछ्यो एहं जीवणो, तिण बांछ्यो आरम्भ ॥

—भिक्षु यश–रसायण, पृष्ठ ६६

अर्थात्—असंयति का जीवन आरम्भ (हिंसा) सहित होता है, इसलिए इसके जीवन की कामना करना आरम्भ का अनुमोदन करना है।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, विशेष जिज्ञासुओं को तेरह-पन्थ की मूल पुस्तकें देख लेनी चाहिए।

प्रश्न—औषधालय, विद्यालय, अनाथालय, शरणार्थी कैम्प आदि की अन्न, वस्त्र, मकान, औषध आदि द्वारा शुभ भावना से सहायता करने वाले को पुण्य होता है या पाप ?

उत्तर—स्थानकवासी परम्परा के विश्वासानुसार पुण्य होता है, किन्तु तेरह-पन्थ इन कामों में पाप मानता है। कुछ समय से तेरह-पन्थी इन कामों में लौकिक पुण्य भी कहने लगे हैं,पर लौकिक पुण्य शब्द भी उनके यहां पाप का ही बोधक है। जन-साधारण को भुलावे में डालने के लिए लौकिक पुण्य शब्द का आविष्कार किया गया है। जैन-शास्त्रों तथा टीका-ग्रन्थों में कहीं लौकिक पुण्य शब्द नहीं मिलता है।

प्रश्न—दया से प्रेरित हो कर आग लगे मकान के द्वार खोल कर मनुष्य,गाय आदि प्राणियों की रक्षा करना, ऊपर से गिरते या मोटर को झपट में आते हुए बालक को बचा लेना और गौ–रक्षा के लिए कसाई को उपदेश देना पुण्य है या पाप ?

उत्तर—स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि दया से प्रेरित होकर विपत्तिग्रस्त की रक्षा करना, धर्म है, पुण्य है, किन्तु तेरह-पन्थ कहता है कि उक्त कार्य करने वाले को पाप होता है। उस की दृष्टि में यह सब सांसारिक कार्य हैं, और सांसारिक कार्य पापमय होते हैं। उस का विश्वास है— "संसार तणा उपकार किया में, धर्म कहे ते मूढ़ गंवार—" अर्थात् सांसारिक उपकार को धर्म कहने वाले मूढ़ और गँवार होते हैं।

प्रश्न—पितृ-भक्ति से प्रेरित हो कर पुत्र के द्वारा पिता के हाथ पैर दवा देने और प्रणाम करने से पुण्य होता है या पाप ?

उत्तर—स्थानकवासी परम्परा इस में पुण्योत्पादन मानती है, किन्तु तेरह-पन्थ इस में पाप वतलाता है। उसका विश्वास है कि पिता असंयति है, असाधु है, कुपात्र है, अतः उसकी भौतिक साधनों द्वारा सेवा करना या उसको नमस्कार करना पाप है।

प्रश्न—अहिंसा का अर्थ केवल न मारना है या दया-भाव से प्रेरित होकर मरते जीव को वचा लेना भी होता है ?

उत्तर—स्थानकवासी परम्परा कहती है कि अहिंसा का निवृत्ति रूप अर्थ किसी जीव की हिंसा न करना है और प्रवृत्ति रूप अर्थ मरते जीव की रक्षा करना होता है। इस के विश्वासानुसार जीव-रक्षा की भावना अहिंसा है,हिंसा नहीं है,किन्तु तेरहपन्थ में न मारना ही अहिंसा है। इस के यहां मरते प्राणी की रक्षा करना हिंसा है। अहिंसा का प्रवृत्ति रूप अर्थ इन को मान्य नहीं है। 'जीवरो जीवणो वंछे ते राग, मरणी वंछे ते द्वेष और तिरणो वंछे तो धर्म—'

इस मान्यता के अनुसार तेरहपन्थ जीव बचाने में पाप मानता है।

प्रश्न---स्थानकवासी परम्परा और तेरह-पन्थ परम्परा में आचार-विचार-सम्बन्धी क्या मतभेद है ?

उत्तर—स्थानकवासी साधुओं और तेरहपन्थी साधुओं में सर्व-प्रथम वेष-कृत अन्तर है। स्थानकवासी साधु ज़रा चौड़ी मुखवस्त्रिका का प्रयोग करते हैं और तेरहपन्थी लम्बी का।

स्थानकवासी साधुओं के निवास-स्थान में सूर्यास्त होने के बाद और सूर्योदय तक कोई स्त्री और साध्वियों के यहां कोई पुरुष प्रवेश नहीं कर सकता। किन्तु तेरहपन्थी साधुओं के स्थान पर रात्रि के दस बजे तक स्त्रियाँ और साध्वियों के स्थान पर पुरुष आ जा सकते हैं और प्रातःकाल सूर्योदय से एक पहर पहले अन्धेरे २ साधुओं के यहां स्त्रियां और साध्वियों के पास पुरुष आ सकते हैं।

स्थानकवासी साधु-साध्वी जब एक ग्राम से विहार करके दूसरे ग्राम को जाते हैं, तब उनके साथ मार्ग में आहार-पानी के कष्ट को दूर करने के लिए कोई गृहस्थ नहीं रहता, रास्ता बताने के लिए या कभी कुछ श्रावक प्रसंग-वश कुछ एक गांव तक पहुंचाने या लेने के लिए साथ हो लेते हैं, तो उस समय उनके द्वारा बनाया हुआ आहार-पानी साधु ग्रहण नहीं करते। ऐसा विधान है और उस विधान के कारण ही साधुओं के साथ गृहस्थों के चलने की परम्परा नहीं रहती। क्योंकि श्रावक लोग प्रायः आहार-पानी वहराने (देने) का लाभ उठाने की लालसा से ही साथ चलते हैं। वह लालसा जब पूरी नहीं होती तो वे अधिक लम्बे समय तक साथ नहीं रहते। अतः साधुओं के स्वतन्त्र एवं अप्रतिबन्ध रूप से विहरण करने में किसी तरह की बाधा नहीं पड़ती।

विहार में साथ रहने वाले व्यक्तियों का आहार–पानी लेने के निषेध के पीछे स्थानकवासी आचार्यों का एक ही दृष्टिकोण रहा है कि साधु को आहारादि लेने में कोई दोष न लगे। यह निर्दोष आहार लेने की मर्यादा तो साधु जिस गांव में जाए उस गांव के घरों से आहार-पानी ग्रहण करने से ही सु–व्यवस्थित रह सकती है। यदि साथ के व्यक्तियों से आहार–पानी लेते हैं, तो वे जो भोजन बनाएंगे उस में साधु का निमित्त आए विना नहीं रहेगा, क्योंकि उन्हें यह निश्चित पता रहता है कि साधुओं को हमारे पास से भोजन लेना है, इसलिए उसमें साधुओं का भाव आ जाना स्वाभाविक है। इसी दृष्टि को सामने रख कर साधु के लिए रास्ते में सेवा करने वाले श्रावक या रास्ता बताने वाले व्यक्ति का आहार-पानी भी लेने का निषेध किया है। इस से साधु को गांव में निर्दोष आहार मिल जाता है और गांव के लोगों के संपर्क से उन में दान देने को प्रवृत्ति जगती है एवं धर्म–प्रेम पैदा होता है। इसके अतिरिक्त, मुनिराज किसी ग्राम या शहर में चातुर्मासार्थ या खुले काल ठहरे हुए हों और वाहिर के श्रावक दर्शनार्थ आए हों तो उन के घर का आहार–पानी तीन दिनों तक ग्रहण नहीं किया जाता। किन्तु तेरहपन्थी साधुओं में खास कर आचार्य श्री के साथ विहार में काफी संख्या में गृहस्थ रहते हैं। वे लोग मार्ग में या ठहरने के स्थान पर जो भोजन बनाते हैं, उन में से तेरहपन्थी साधु ग्रहण कर लेते हैं।

स्थानकवासी साधु धोवन का पानी या गरम किया हुआ पानी ग्रहण करते हैं और एक वार जो पानी अचित्त हो जाता है उसे पांच प्रहर के बाद पुनः सचित्त हो जाने की मान्यता रखते हैं, किन्तु तेरहपन्थी साधुओं का इस सम्बन्ध में एक निराला सिद्धान्त

है। इन का विश्वास है कि पानी के मटके में राख डालने से सारा पानी अचित्त हो जाता है। तेरहपन्थी गृहस्थ लोग अपने घरों में रखे कई मटकों में राख डाल लेते हैं। इस से वह पानी अचित्त मान लिया जाता है और तेरहपन्थी साधु उस पानी को ले जाते हैं। इनके यहां यह परम्परा भी है कि जो पानी एक वार अचित्त हो जाता है, वह सदा-सर्वदा के लिए अचित्त मान लिया जाता है।

स्थानकवासी साधु बीमार आदि किसी विशेष कारण के विना किसी साध्वी से आहार-पानी मंगाने या प्रतिलेखना आदि की सेवा नहीं करवाते। किन्तु तेरहपन्थी साधु विना किसी कारण के साध्वी द्वारा लाया हुआ आहार-पानी ग्रहण करते हैं। उन से वस्त्रों की प्रतिलेखना भी करवाते हैं। तेरह-पन्थ के आचार्य श्री की सेवा के लिए तो अमुक सतियां विशेष रूप से नियुक्त रहती हैं, जिन्हें राजसती आदि नामों से संबोधित किया जाता है। ये सतियां आचार्य श्री को भोजन परोसती हैं, उनका बिछौना तैयार करती हैं, उनके वस्त्रों का प्रतिलेखन करती हैं।

स्थानकवासी साधु गृहस्थों की किसी सभा, सोसायटी, सम्मेलन आदि के सभापति नहीं बनते और न सभा आदि का संचालन करते हैं। किन्तु तेरहपन्थी साधु गृहस्थों की सभाओं के सभापति बनते हैं। कभी विचार-परिषद् के कभी कवि-सम्मेलन के और कभी महिमा-सम्मेलन के सभापति बनते हैं। अणुव्रती संघ के सभापति-संचालक आचार्य श्री तुलसी स्वयं हैं। गृहस्थों के संघ का साधिकार संचालन करने की पूर्ण सत्ता आचार्य श्री तुलसी ने अपने हाथों में ले रखी है। किसी भी सदस्य को भरती करने या बरखास्त करने की पूर्ण सत्ता आचार्य श्री तुलसी के पास है।

स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि अणुव्रती बनने के लिए सर्व-प्रथम जीवादिक तत्त्वों पर श्रद्धा रखना परमावश्यक है। बिना श्रद्धा के जो भी नियमादि ग्रहण किए जाते हैं, वे मोक्षोपयोगी नहीं हो सकते। श्रद्धा साधना का प्रथम सोपान है और अणुव्रत ग्रहण करना द्वितीय सोपान है। श्रद्धा मूल है। अणुव्रत शखा, पत्ते और फलफूल के समान है। मूल के बिना वृक्ष कैसा? किन्तु आचार्य श्री तुलसी के अणुव्रती संघ का सदस्य बनने के लिए सम्यक्त्व की आवश्यकता नहीं है। आत्मा को अमर मानने की आवश्यकता भी नहीं, स्वर्ग, नरक मानना भी आवश्यक नहीं है, तथा परमात्मा और परमात्मा बनाने वाले नियमों पर आस्था रखना भी ज़रूरी नहीं है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक, चाहे वह हिंसा में विश्वास रखता हो या अहिंसा में वह अणुव्रती बन सकता है। श्रद्धा रूप प्रथम भूमिका की आवश्यकता और अनिवार्यता को वहां कोई महत्त्व प्राप्त नहीं है। जब कि स्थानकवासी परम्परा में सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान होने के बाद ही अणुव्रती बनने की योग्यता स्वीकार की गई है।

तेरहपन्थ के साधु साध्वी अपने निवास-स्थान पर यात्रियों द्वारा लाए गए भोजन का ग्रहण कर लेते हैं किन्तु स्थानकवासी साधु ऐसा नहीं करते हैं।

केवल ५७१ से ८१४ तक मालवा स्टीम प्रेस, मोगा में छपी।

जैन पर्व

पन्द्रहवां अध्याय

प्रश्न—आध्यात्मिक जगत में पर्व का क्या महत्त्व है ?

उत्तर—आध्यात्मिक तथा सामाजिक जगत में पर्व का वड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर्व में अनेकों गुण पाए जाते हैं। पर्व किसी सम्प्रदाय या जाति के जीवन के चिन्ह होते हैं। एक विद्वान का कहना है कि जिस लाठी में जितनी निकट-निकट गांठें होंगी, वह लाठी उतनी ही अधिक मज़बूत और चिरस्थायी होगी। ऐसे ही जिस जाति में अपने पूर्वजों की मान्यताओं एवं परम्पराओं को जीवित रखने के लिए अधिकाधिक पर्व मनाए जाते हैं, वह जाति संसार में अनेकों क्रान्तियों के होने पर भी जीवित रहती है, संसार की कोई शक्ति उस के जीवन को समाप्त नहीं कर सकती। इस तरह पर्व समाज की अस्तव्यस्त तथा विखरी हुई शक्ति को केन्द्रित करने में सहायक होते हैं।

पर्व की सव से वड़ी विशेषता यह है कि पर्व समाज को व्यवस्थित एवं संगठित करता है, क्योंकि पर्व के दिन समस्त लोग एक स्थान पर एकत्रित हो कर अपनी जाति की उन्नति और अवनति के सम्वंध में सोच सकते हैं। यदि समाज अवनति की ओर जा रहा हो तो अवनति से वचा कर उन्नति की ओर उस का मोड़ मोड़ सकते हैं। इस में सन्देह नहीं कि जैन जाति पर समय-समय पर जैनेतर जातियों द्वारा आध्यात्मिक और सामाजिक हर

तरह के *आक्रमण होते रहे हैं और इसे समाप्त करने में किसी ने कोई कसर नहीं छोड़ी। तथापि यह जाति आज भी जीवित है। आज भी चट्टान की तरह मजबूती के साथ खड़ी है, तो इसका कारण केवल जैन जाति के अपने पर्व थे। पर्वों के माध्यम से इसे एक स्थान पर बैठ कर अपने हानि-लाभ सोचने का अवसर मिलता रहा है। इसी लिए पर्व किसी भी जाति की बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करने में अत्यधिक लाभदायक माने जाते हैं, और आध्यात्मिक तथा सामाजिक संसार में इनका अपना एक विशिष्ट स्थान है।

प्रश्न-पर्व कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर—पर्व दो तरह के होते हैं। एक लौकिक और दूसरे अलौकिक। जिस पर्व में केवल लौकिकता की प्रधानता होती है, सांसारिकता का पोषण होता है। नवीन-नवीन वस्त्र सिलाए व पहने जाते हैं, अनेक प्रकार के मिष्टान्न और खाने-पीने के अन्य अनेकविध साधन जुटाए जाते हैं। नूतन-नूतन आभूषणों का निर्माण और उन से शरीर को आभूषित एवं शृंगारित किया जाता है। नृत्य और संगीत होते हैं, रंगरलियां मनाई जाती हैं तथा जिस में जीवन का उपवन रागरंग के सुगन्धित पुष्पों से महक उठता है, उस पर्व को लौकिक पर्व कहते हैं। होली, विजयदशमी, महावीर जयन्ती आदि लौकिक पर्व हैं। वैसे तो लौकिक पर्वों का सम्बंध केवल जीवन के बाह्य वातावरण से होता है, और आत्मिक जीवन के उत्थान या कल्याण के साथ उन का कोई विशेष सम्बंध नहीं होता, किन्तु जैन धर्म की यह विशेषता रही है कि उसने लौकिक पर्वों की लौकिकता को गौण रख कर उन में अलौकिकता के दर्शन

* इसके लिए 'सरिता' का "हमारी धार्मिक सहिष्णुता" नामक लेख देखना चाहिए।

करने का प्रयास किया है। लौकिक पर्वों को भी अपने ढंग से अलौकिक पर्व बनाने पर अधिक बल दिया है। उदाहरणार्थ, विजय-दशमी को ही लें। विजयदशमी के राम और रावण ये दो प्रधान पात्र हैं। राम सदाचारी थे और रावण दुराचारी। अतः जैनदर्शन ने राम को सदाचार का प्रतीक माना है, और रावण को दुराचार का। राम और रावण के युद्ध का अर्थ है—सदाचार और दुराचार का युद्ध। रावण की पराजय को दुराचार की पराजय का प्रतीक माना है और राम की विजय को सदाचार की विजय का। इस प्रकार जैन दर्शन ने विजय-दशमी द्वारा सदाचार को प्रसादान्त और दुराचार को विषादान्त मान कर मानव को सदाचारी बनने की आदर्श प्रेरणा की है। यही विजयदशमी को आध्यात्मिकता है।

ऐसी ही स्थिति महावीर-जयन्ती पर्व की है। महावीर जन्म के उपलक्ष्य में बच्चे, युवक और वृद्ध सभी जैन व्यक्ति आमोद-प्रमोद से फूले नहीं समाते, सभी सुन्दर और नवीन वेषभूषा से अपने को विभूषित करते हैं। कहीं नगर-कीर्त्तन का कार्य-क्रम चलता है, कहीं अहिंसा-सम्मेलन, कहीं कवि-सम्मेलन और कहीं महिला-सम्मेलन का आयोजन होता है, कहीं-कहीं व्याख्यानों और आख्यानों द्वारा महावीर-जीवन पर प्रकाश डाला जाता है। इस तरह महावीर-जयन्ती द्वारा खूब मनोरंजन चलता है, किन्तु अध्यात्मवादी और निवृत्ति-प्रधान जैन-दर्शन इस उत्सव के बाह्य रूप को इतना महत्व नहीं देता, जितना कि उसके अन्तरंग रूप को। वह तो इस पर्व से अन्तर्जगत को विकसित, निर्विकार तथा कल्याणोन्मुख बनाने की प्रेरणा लेने को कहता है! भगवान महावीर की शिक्षाओं तथा उनके उपदेशों को जीवन में लाकर मानव को अपने में महावीरत्व प्रकट कर लेने के लिए अधिक बल देता है।

इस प्रकार जैनदर्शन लौकिक पर्वों द्वारा मानव को जीवन-

निर्माण की कुछ अलौकिक सामग्री जुटाने की आदर्श प्रेरणा प्रदान करता है।

यह सत्य है कि लौकिक पर्वों में सांसारिक आमोद-प्रमोद की वर्षा होती है किन्तु अलौकिक पर्वों में इससे सर्वथा विपरीत होता है। वहां आध्यात्मिकता के नेतृत्व में सभी प्रवृत्तियां चलती हैं, अन्तरंग जीवन की उन्नति और प्रगति ही उनका प्रमुख उद्देश्य रहता है, अन्याय, अत्याचार एवं अनैतिकता के पतझड़ से शुष्क और नीरस हुए जीवन-तरु को सत्य, अहिंसा के पावन जल से सींचना पड़ता है। तपस्या की भट्ठी में कर्मों के ईन्धन की भस्म बनाई जाती है। जैनेन्द्र वाणी की छाया तले बैठ कर आत्मज्योति जगाने के लिए मानसिक दुर्बलता, स्वार्थ-परायणता तथा अस्मिता के दुर्भावों का वहिष्कार करना पड़ता है। इसके अलावा अलौकिक पर्व में—

* सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्य-भावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव!॥

की पावन तथा मधुर झंकार से अन्तर्वीणा झंकृत हो उठती है। जीवन के महाकाश पर आत्मदेव के महासूर्य को जो मोहवासना का केतु ग्रस रहा है उससे आत्मदेव को मुक्त कराना होता है। ऐसी अन्य अनेकों विशेषताओं के कारण ही अलौकिक पर्व पर्वजगत में बड़ा ऊँचा और आदर्श स्थान रखते हैं। अक्षय तृतीया, महापर्व

* हे जिनेन्द्रदेव! मैं चाहता हूं कि यह मेरी आत्मा सदैव प्राणी मात्र के प्रति मित्रता का भाव, गुणी जनों के प्रति प्रमोद का भाव, दुःखी जीवों के प्रति करुणा का भाव और धर्म से विपरीत आचरण करने वाले अधर्मी तथा विरोधी जीवों के प्रति रागद्वेष से रहित उदासीनता का भाव धारण करे।

पर्युषण, महापर्व सम्वत्सरी आदि अनेकों अलौकिक पर्व माने जाते हैं।

प्रश्न—क्या जैन धर्म में लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के पर्व मनाए जाते हैं? यदि मनाए जाते हैं तो वे कौन-कौन से हैं?

उत्तर—जैन जगत में लौकिक और अलौकिक दोनों तरह के पर्व मनाए जाते हैं। जिनमें से कुछ एक पर्वों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

अक्षय—तृतीया

जैन संस्कृति तथा जैन धर्म के इतिहास में अक्षय-तृतीया का बड़ा माहात्म्य वर्णित है। जैन जगत ने इस पर्व को तपः-शक्ति का प्रतीक माना है। तप के मेरुपर्वत पर कौन कितना ऊँचा चढ़ सकता है? यह चढ़ने वाले व्यक्ति की शक्ति का मापदण्ड है। एक वर्ष भर निरन्तर चल रहे तप की पूर्ति अक्षय-तृतीया के पवित्र दिन हुई थी। इसलिए अक्षयतृतीया वर्षीतप का पूरक होने के साथ-साथ तपोगिरि का वह उच्चतम शिखर है कि जिस पर भगवान ऋषभदेव को छोड़ कर आजतक अवसर्पिणी काल का कोई भी व्यक्ति आरोहण नहीं कर सका।

अक्षयतृतीया का सीधा सम्बन्ध युगादि पुरुष भगवान ऋषभ-देव से है, वे स्वयं युगसंस्थापक और युग-प्रवर्तक थे। पर जब सब कुछ छोड़ कर त्यागी बने तो एक वर्ष तक उन्हें भोजन नहीं मिला। उस समय के लोगों ने साधु-साध्वी को देखा नहीं था, वे साधुवृत्ति से सर्वथा अनजान थे। इसलिए प्रभु के त्याग और आहार की विधि को कोई जानता और पहचानता भी नहीं था। वैशाख शुक्ला तृतीया के पुण्य दिन ठीक एक वर्ष के बाद हस्तिनापुर में राजकुमार

श्रेयांस† के हाथ से उन्हें ईख के रस से पारणा करना पड़ा था, यही इस तृतीया का इतिहास है, और यही उसका महत्त्व है, जिस के कारण वह सदा के लिए अक्षय बन गई।

वैशाख शुक्ला तृतीया को दान-तृतीया भी कहा जा सकता है, किन्तु उसे दानतृतीया न कह करके जो अक्षयतृतीया कहा गया है, इसके पीछे कई एक रहस्यमयी बातें हैं। प्रथम तो युगादि-देव भगवान ऋषभदेव के ✱ पाणिपात्र में जितना इक्षुरस डाला गया था, उसमें से एक कण भी नीचे नहीं गिरने पाया, एक बूंद भी क्षय नहीं होने पाई। इस चमत्कारपूर्ण अक्षयविधि के सर्व-प्रथम दर्शन भगवान ऋषभदेव के पारणे में हुए और यह अक्षय विधि भगवान के शरीर

---

† श्रेयांस कुमार भगवान ऋषभदेव का प्रपौत्र, बाहुबलि का पौत्र और सोम-प्रभ राजा का पुत्र था। एक दिन वह महल की खिड़की में बैठा था, उसने बाहर भगवान ऋषभदेव को देखा, वे एक वर्ष की कठोर तपस्या का पारणा लेने के लिए भिक्षार्थ घूम रहे थे। शरीर एक दम सूख गया था। उस समय के भोले लोग भगवान को अपना राजा समझ कर अपने घर निमंत्रित कर रहे थे। कोई उन्हें भिक्षा में धन देना चाहता था, कोई कन्या। इस बात का किसी को ज्ञान न था कि भगवान इन सब चीजों को त्याग चुके हैं। ये वस्तुएं उनके लिए व्यर्थ हैं। उन्हें तो लम्बे उपवास का पारणा करने के लिए शुद्ध आहार की आवश्यकता है। श्रेयांस इस दृश्य को देखता चला गया, गंभीर विचारणा के अनन्तर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। इस ज्ञान में मनुष्य अपने पिछले जन्मों को जान लेता है। श्रेयांस ने इस ज्ञान के प्रभाव से अपने अतीत के आठ भव जान लिए थे, इस कारण इसे दान देने की विधि का बोध हो गया। श्रेयांस तत्काल उठा और उसने भगवान का गन्ने के रस से पारणा कराया।

✱ तीर्थंकरों के पात्र उनके हाथ ही हुआ करते हैं, काष्ठ आदि का अन्य कोई पात्र वे अपने पास नहीं रखते।

के अक्षय रहने का, सुरक्षित होने का कारण बनी।

दूसरी बात, राजकुमार श्रेयांस के इक्षुरस के दान से अन्य लोगों को दान के विधिविधान का बोध हुआ, जो अन्य साधु-मुनिराजों के संयमशरीर को अक्षय (सुरक्षित) रखने में पूर्ण सहायक प्रमाणित हुआ। तीसरी बात, मानव जगत वर्षीतप की आराधना करके इस दिन अक्षय हुआ, उसे अक्षयस्थिति (मोक्ष) प्राप्त करने का मार्ग मिला। इन्हीं कारणों से वैशाख शुक्ला तृतीया को दानतृतीया न कह कर अक्षयतृतीया कहा गया है।

अक्षय-तृतीया भगवान ऋषभदेव के पारणे का महोत्सव है। इस महोत्सव के माध्यम से उस प्रकाशपुंज के आत्म-प्रकाश से अपने आतममन्दिर को प्रकाशित किया जाता है और इस दान से माधुर्यदान देने की प्रेरणा प्राप्त की जाती है। इक्षुरस तो जब तक मुंह में रहता है, तभी तक मिठास देता है और क्षणिक शक्ति प्रदान करता है, किन्तु माधुर्य का दान जहां जीवन में आत्मिक शक्ति पैदा करता है, बाहिरी जीवन को अनेक कटुप्रसंगों से बचा लेता है, वहां जीवन की रूक्षता को स्निग्धता में परिवर्तित कर देता है। शक्कर के टीन खा कर भी यदि मनुष्य का जीवन मीठा नहीं बना, इस का कारण केवल मानव की कटुता विषमता और माधुर्य की न्यूनता है। अक्षयतृतीया के महोत्सव से इसी की प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त की जाती है।

अक्षयतृतीया को इक्षुरस का दान दिया जाता है, और वर्षीतप का पारणा किया जाता है। आज लगातार एक वर्ष तक उपवास करने का शारीरिक बल तो है नहीं, इस लिए एक उपवास के अनन्तर पारणा, पुनः उपवास करना, इस तरह निरन्तर वर्ष भर तप किया जाता है। इस तप को वर्षीतप की संज्ञा दी जाती है। वैशाख शुक्ला द्वितीया को वर्षीतप का अन्तिम उपवास होता है, और

अक्षयतृतीया को उसका पारणा होता है, वर्षीतप का पारणा बड़े समारोह तथा आमोद प्रमोद के साथ किया जाता है।

महापर्व पर्युषण

महापर्व पर्युषण एक अलौकिक पर्व है। यह पर्व हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता और हमारे धर्ममय जीवन के समुज्ज्वल सिद्धान्तों का पुण्य प्रतीक है। जैन धर्म का साँस्कृतिक और धार्मिक यह पर्व किस कारण महान आदर तथा श्रद्धा का केन्द्र बन गया ? और इस के मनाने का उद्देश्य क्या है ? आदि प्रश्नों का समाधान पर्युषण शब्द की अर्थ-विचारणा से भली भांति प्राप्त हो जायगा।

पर्युषण* शब्द में परि उपसर्ग है, उष् धातु और अनट् प्रत्यय है। परि का अर्थ है—चारों ओर से, हर प्रकार से। उष् धातु जलाना, क्षय करना इस अर्थ का परिचायक है। तथा अनट् प्रत्यय धातु से संज्ञा बनाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाव यह है कि जिस अनुष्ठान से कर्मों का सर्वतो-मुखी विनाश किया जाए, कर्ममल को हर तरह से जलाया जाए उस अनुष्ठान को पर्युषण कहते हैं। अथवा जिन दिनों में मनुष्य का प्रत्येक आचरण कर्मों के ईन्धन को जलाने वाला हो, आत्मा को सोने की भांति कुन्दन बनाने वाला हो, उन दिनों को पर्युषण पर्व कहा जाता है। वस्त्रों को स्वच्छ बनाना, और उन का मल दूर कर देना जैसे धोबी का उद्देश्य होता है, वैसे ही आत्मा के दोषों, विकारों तथा कुसंस्कारों के मल को विनष्ट कर देना ही पर्युषण पर्व का प्रधान लक्ष्य होता है।

आत्मशुद्धि के अनुष्ठानों को यूं तो जीवन में सदैव लाया जा सकता है, पर हमारे आचार्यों से विशेष रूप से कुछ दिन ऐसे निश्चित कर दिए गए हैं जिन में विशेष रूप से धर्माराधन किया

* परि समन्तात् ओषति दहति समूलं कर्मजालं यत् तत् पर्युषणम्।

जाए और विशेष रूप से आत्मनिरीक्षण करके आत्मदोषों का आमूलचूल विनाश किया जाए। पर्यु षण के पीछे भी यही भावना है। यह पर्व एक सप्ताह में सम्पन्न होता है। आजकल जैसे खादी-सप्ताह, गीता-सप्ताह आदि सप्ताह मनाए जाते हैं वैसे ही यह पर्व एक आध्यात्मिक सप्ताह है। वर्ष भर में यदि मनुष्य अपने जीवन की जांच पड़ताल न कर सका हो, आत्मचिन्तन तथा आत्म-निरीक्षण का उसे अवसर न मिल सका हो तो कम से कम इस सप्ताह में तो वह अपने जीवन के बही-खाते को अवश्य देख ले, और उस में जो हेराफेरी या गड़बड़ चल रही हो उसे दूर करने का यत्न कर ले, ताकि भविष्य में जीवन की पुस्तक साफ सुथरी और प्रामाणिक बन सके।

महापर्व पर्यु षण का उदय भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी में होता है और भाद्रपद शुक्ला में उसका अन्तर्धान हो जाता है। कृष्ण पक्ष से चालू हो कर शुक्लपक्ष में समाप्त होने का अभिप्राय इतना ही है कि यह मानव को अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में आने की प्रेरणा देता है। मानव जीवन की अज्ञानता और उसकी हेय, उपादेय के प्रति विवेकशून्यता ही उस का अंधकार है। इस अंधकार को हटा कर पर्यु षण पर्व मानव हृदय में अहिंसा, सत्य और समदर्शिता के दीपक जलाता है। ताकि आध्यात्मिकता की दिव्य ज्योति से ज्योतित हुआ मानवी जीवन अपने भविष्य को समुज्ज्वल बना सके, और अपने अन्दर सोए प्रभुत्व के देवता को जगाने की क्षमता प्राप्त कर सके।

पर्यु षण पर्व एक आध्यात्मिक यज्ञ है, इस में हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन आदि आत्मविकारों की आहुति डालनी पड़ती है। आहुति डालने की यह प्रक्रिया सप्ताह भर चलती रहती है और आठवें दिन इस यज्ञ में विकारों की पूर्णाहुति डाल दी जाती है।

यही आठवां दिन महापर्व सम्वत्सरी के नाम से जैन संसार में प्रसिद्ध है। वैसे तो सप्ताह भर ही कर्मनाश के निमित्त आध्यात्मिक साधना में प्रयास चलता है, किन्तु आठवें दिन साधक कर्मों का नाश करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है। इस दिन वह पौषध करके २४ घण्टे आत्मदोषों का अन्वेषण, निरीक्षण और तन्निमित्तक क्षमायाचन के द्वारा आत्मा को कर्ममल से रहित करने का सर्वतोमुखी यत्न करता है। यदि दोनों पर्वों की मूलभावना को देखा जाए तो इन में कोई विशेष विभिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती। दोनों का एक ही लक्ष्य है, एक ही ध्येयपूर्ति के दोनों साधक हैं, संभव है इसी लिए इन आठ दिनों को अष्टान्हिक पर्व कहा जाता है।

अष्टान्हिक पर्व के पुण्य दिनों में प्रायः सभी स्त्री पुरुष अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार तप देव की उपासना करते हैं। कोई एक उपवास करता है, कोई दो इस तरह कोई लगातार आठ उपवास भी करता है। कोई आठों दिन एक बार भोजन करते हैं, अर्थात् एकाशन तप करते हैं, कुछ लोग स्तोत्र पढ़ते हैं, मंगल पाठ करते हैं, महामंत्र नवकार का अखण्ड जाप करते हैं। इन दिनों व्याख्यानों में श्री अन्तकृद्दशांग या कल्पसूत्र सुनाया जाता है। प्रभावना के लिए मोदक भी बांटे जाते हैं।

अष्टान्हिक पर्व श्वेताम्बर परम्परा में भाद्रपद कृष्णा १३ से लेकर भाद्रपद शुक्ला ५ तक मनाया जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में यह पर्व प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला ५ से चतुर्दशी तक मनाया जाता है और उसके यहां यह पर्व दशलक्षण नाम से कहा जाता है। इन दस दिनों में इसके यहां तत्त्वार्थसूत्र के १० अध्याय और धर्म के दस लक्षणों पर व्याख्यान सुनाए जाते हैं।

महापर्व सम्वत्सरी

सम्वत्सरी एक लोकोत्तर या अलौकिक महापर्व है। यह महापर्व मानव को आत्मनिरीक्षण, आत्मचिन्तन तथा स्व-स्वरूपरमण की मधुर प्रेरणा प्रदान करता है। मानवी जाति को सुखशान्ति का दिव्य आलोक दिखाता है। वैयक्तिक दोषों, त्रुटियों, स्खलनाओं तथा भूलों पर गंभीर दृष्टिपात करके आत्मशुद्धि की पवित्र प्रेरणा देता है। कड़े से कड़े सामाजिक तथा राष्ट्रीय वैरविरोध व मतभेद को भूल कर शत्रुतक के साथ सरल हृदय से सप्रेम व्यवहार करना और पारस्परिक मनोमालिन्य हटा कर—

* खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ॥

के मंगल पाठ को जीवनसात् करलेना, तथा दूसरे प्राणियों की भूलों व ग़ल्तियों को भी उदार हृदय से क्षमा कर देना, उनसे मैत्री भाव स्थापित कर लेना आदि इस महा पर्व की आदर्श विशेषताएँ हैं। इस महापर्व की छाया तले बैठने वाला व्यक्ति आसुरीभावना को छोड़ कर सात्त्विकता को प्राप्त कर लेता है और उसका कण-कण अध्यात्मवाद के सुरम्य पुष्पों से सुगन्धित हो उठता है। मानव बाह्य जगत की आपातरमणीय वृत्तियों को छोड़ कर अन्तर्जगत की पूर्व भूमिका पर अवस्थित हो कर अपूर्व आनन्द सागर में डुबकियां लेने लगता है।

सम्वत्सर नाम वर्ष का है। सम्वत्सर शब्द से पर्व (त्यौहार)

---

* मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और वे सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरा सब जीवों के साथ पूर्ण मित्रता-भाव है, किसी के साथ भी वैरविरोध नहीं है।

अर्थ में संस्कृत व्याकरण द्वारा* अण् प्रत्यय लगा कर साम्वत्सर शब्द वनता है। वर्ष के अनन्तर मनाए जाने वाले पर्व को साम्वत्सर पर्व कहते हैं। स्त्री लिंग में यही पर्व सम्वत्सरी कहलाता है। जैन संसार में यह पर्व सम्वत्सरी के नाम से ही प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। वर्ष भर में मनुष्य से जो भूलें हुई हों, त्रुटिएँ और अपराध वन पाये हों, उनका अन्वेषण, चिन्तन और उसके लिए पश्चात्ताप करना तथा अन्त में क्षमा-याचना करके अपनी आत्मा को शुद्ध, निर्विकार तथा पवित्र वनाना ही इस पर्व का सर्वतोमुखी लक्ष्य रहता है।

वैसे क्षमायाचना की प्रेरणा जैनेतर शास्त्रों में भी पाई जाती है। अन्यशास्त्र भी क्षमा—आराधना की वात कहते हैं, किन्तु क्षमायाचना के माध्यम से की जा रही इस आत्म शुद्धि के परम सत्य को एक महापर्व के रूप में उपस्थित करके जैनाचार्यों ने मानव जगत पर भारी उपकार एवं अनुग्रह किया है। मनुष्य जाति सदा के लिए इन महापुरुषों की ऋणी रहेगी।

इस पर्व का केवल आध्यात्मिक ही महत्त्व नहीं है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यह पर्व आर्थिक दृष्टि से भी समाज और राष्ट्र के लिए बड़ा लाभप्रद है। इस की आराधना से राष्ट्र का वहुत सा धन जो राष्ट्र की व्यवस्था करने के लिए उपयोग में आता है वच सकता है। सरकार जव वजट वनाती है तो सव से पहले सेना, फिर पुलिस और फिर अदालत का ध्यान रखती है। जव तालीम और हॉस्पिटल की वात आती है तो कहा जाता है कि पैसे नहीं हैं। यदि लोग सम्वत्सरी के संदेश अर्थात् क्षमा को अपना लें, शान्ति के पुजारी हो

---

* संवत्सरात् पर्व-फले ।३।१।१६७। सम्वत्सरशब्दात् पर्वणि च फले चाण् भवति। सांवत्सरं फलं पर्व वा अन्यत्र साम्वत्सरिको रोगः। इतिशाकटायनम्। सम्वत्सरात्फलपर्वणोः। साम्वत्सरं फलं पर्व वा। साम्वत्सरिकमन्यत्। (सिद्धान्त कौमुदी)

जाएं, आपसमें भाई-भाई वन कर रहें तो किसी में कोई लड़ाई झगड़ा न हो। यदि देश में सर्वत्र भ्रातृ-भाव हो, शान्ति स्थापित हो, कोई आपस में क्लेश न करे, तो पुलिस और अदालत के लिए इतना धन व्यय करने की क्या आवश्यकता है? जो धन देश के विवादों और पारस्परिक झगड़ों को शान्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, वही धन यदि देश के निर्माण और उत्थान में लगाया जाए, अशिक्षित जनता को शिक्षित करने में प्रयुक्त किया जाए तो हमारा देश आध्यात्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सभी दृष्टियों से उन्नत और समुन्नत हो सकता है।

*सम्वत्सरी जैनों का एक विशेष आध्यात्मिक और लोकोत्तर पर्व है। इस पर्व में खास तौर से तप, त्याग और ब्रह्मचर्य का आराधन किया जाता है। व्याख्यानों के लिए विशेष रूप से पण्डाल बनवाए जाते हैं, वाहिर से बड़े-बड़े विद्वानों को बुलाकर इस पर्व की महत्ता पर व्याख्यान कराए जाते हैं। इस पवित्र दिन परोपकारी संस्थाओं को दान दिया जाता है। सब पुरुष एकत्रित हो कर परस्पर गले मिलते हैं, और गतवर्ष की अपनी ग़ल्तियों के लिए परस्पर क्षमा-याचना करते हैं। जो लोग देशान्तर में होते हैं, उनसे पत्रों द्वारा क्षमायाचना की जाती है। गतवर्ष में कोई वैर विरोध एक दूसरे के प्रति हो गया हो, उसके लिए "मिच्छा मि दुक्कडं"—मेरा दुष्कृत मिथ्या हो" यह कह कर या लिख कर क्षमा मांगी जाती है, इस दिन सभी स्त्री पुरुष अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार पौषध, व्रत, एकाशन, दया, सामायिक. संवर आदि करते हैं। इस दिन जैन समाज कोई व्यापार नहीं करता और सभी सावद्य प्रवृत्तियों से किनारा

* सम्वत्सरी पर्व की विशेष जानकारी के इच्छुकों को मेरी लिखी 'सम्वत्सरी पर्व क्यों और कैसे ?" नामक पुस्तक देख लेनी चाहिए।

किया जाता है। इस के अलावा, प्रान्त या नगर आदि के कसाईखाने वन्द कराने का पूरा-पूरा प्रयास किया जाता है। अहिंसा के प्रतीक पुण्य पर्व के दिन हिंसा बन्द रख कर अहिंसा की सर्वतोमुखी प्रतिष्ठा की जाती है।

पार्श्व-जयन्ती

जैन धर्म ने २४ तीर्थंकर माने हैं, उन में पहले भगवान् ऋषभ देव थे और अन्तिम भगवान् महावीर। भगवान महावीर से अढाई सौ वर्ष पूर्व २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व नाथ थे। जैन साहित्य में जो स्थान भगवान् महावीर का है, वही स्थान भगवान पार्श्व नाथ का है। भगवान् महावीर की तरह भगवान् पार्श्व नाथ भी अपने युग के तीर्थंकर थे, इन्हों ने अपने युग में मानव को मानवता का सत्य समझाया था, इन्सान को भगवान् वनने की कला सिखलाई थी। भगवान् पार्श्व नाथ की आध्यात्मिक जगत में महान प्रतिष्ठा है। भगवान की स्तुति में लिखे गए हज़ारों स्तोत्र भगवान् की लोकप्रियता तथा इन के प्रति सर्वतोमुखी श्रद्धा तथा आस्था के समुज्वलन्त उदाहाण हैं।

अन्तिम कुछ वर्षों से पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ को केवल जैन परिवार ही जानते थे, किन्तु अव आज के पुरातत्त्ववेत्ता लोगों ने भी इन्हों को भारत का एक आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक महापुरुष मान लिया है। खुदाई में ऐसे अनेकों तत्त्व मिले हैं, जिन के आधार पर भगवान् पार्श्व नाथ का तीर्थंकरत्व निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो गया है।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म आज से २८०० वर्ष पहले हुआ था। आपने राज परिवार में जन्म लिया था। महाराज अश्वसेन आपके पिता थे और माता का नाम वामादेवी था। भारत को विख्यात विद्या-

धाम काशी आपकी जन्म भूमि थी। और आपने युवावस्था में ही दीक्षित हो कर लगभग ७० वर्ष तक भारत में अहिंसा का प्रचार किया और १०० वर्ष की आयु में सम्मेतशिखर पर जाकर निर्वाण-मोक्ष प्राप्त किया। आपके पावन उपदेशों की चिरस्मृति के लिए भारत सरकार ने सम्मेतशिखर का "पारसनाथ हिल" यह नाम रख दिया है। ऐतिहासिकों का कहना है कि "बुद्ध ने अपने धर्म का मूल पाठ भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय साधु की सेवा में रह कर ही सीखा था"।

भगवान पार्श्वनाथ का पुण्य जन्म पौष कृष्णा दशमी को हुआ था, पौष की कृष्णा दशमी जैन जगत् में एक पुण्य तिथि मानी जाती है। इस तिथि को समस्त जैन जगत् भगवान पार्श्वनाथ का जन्म दिवस मनाता है। बड़े समारोह के साथ भगवान् के चरणों में श्रद्धाञ्जलियां अर्पित की जाती हैं। सार्वजनिक सभाओं में भगवान के जीवन पर प्रकाश डाल कर उन के सत्य, अहिंसा सम्बंधी पुनीत सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता है।

महावीर-जयन्ती

जैन धर्म के चौवीसवें तीर्थंकर, सत्य अहिंसा के अमरदूत, भगवान महावीर महाराजा सिद्धार्थ के घर में पैदा हुए थे। आप की माता का नाम महारानी त्रिशला था। सिद्धार्थ नरेश के यहां आप के अवतरण से यश, लक्ष्मी, सौभाग्य आदि में वृद्धि हुई थी, इस लिए आप का जन्म नाम वर्धमान रखा गया था, किंतु आत्म-साधना काल में भीषणातिभीषण, लोम-हर्षक संकटों की छाया तले ज़रा भी विचलित न होने के कारण आप संसार में महावीर के नाम से प्रख्यात हुए।

महावीर का मानस आरंभ से ही तप, त्याग और वैराग्य

की ओर झुका हुआ था। महावीर युवक होने पर भी क्रान्तिकारी तप, त्याग और वैराग्य के आदर्श प्रतीक थे। परिणाम-स्वरूप भरी जवानी में सोने के सिंहासन को लात मार कर आप विश्वकल्याण का ध्वज ले कर आत्म साधना की ओर बढ़े, और साधु बन गए। वर्षों की कठोर और उच्च कोटि की तपस्या के द्वारा आप ने केवल ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) पाया और कैवल्य की अनुपम ज्योति से आप ने संसार को सत्य, अहिंसा का सत्पथ दिखलाया। अज्ञानता, संकीर्णता और असहिष्णुता आदि कृष्णतम मेघों को हटा कर संसार के महाकाश को अहिंसावाद, कर्मवाद, अपरिग्रहवाद और स्याद्वाद के दिव्य आलोक से आलोकित किया। भगवान् महावीर ने अपने अलौकिक व्यक्तित्व और ज्ञान ज्योति द्वारा भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक आध्यात्मिक क्रान्तिकारी युग का श्री गणेश करके धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रों में नव चेतना, नव स्फूर्ति और एक नवीन उत्साह का संचार एवं प्रसार किया था।

भगवान् महावीर विश्व के अद्वितीय क्रान्तिकारी महापुरुष थे, उन की क्रान्ति किसी एक क्षेत्र तक सीमित न थी, उन्हों ने तो सर्वतोमुखी क्रान्ति का मंत्र फूंका था। अध्यात्म दर्शन, समाज-व्यवस्था यहाँ तक कि भाषा के क्षेत्र में भी उन की देन अनुपम है। अहिंसा की त्रिविध (मानसिक, वाचनिक, कायिक) गंगा बहा कर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" की युक्ति-हीन मान्यता का परिहार किया, पारस्परिक खण्डन-मण्डन में निरत दार्शनिकों को अनेकान्त-वाद का महामंत्र दिया, सद्‌गुणों की अवहेलना करने वाले जन्मना जातिवाद पर कठोर प्रहार करके गुण कर्म के आधार पर जाति-व्यवस्था का सिद्धान्त उपस्थित किया। नारियों की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा, और विभ्रान्त भारत को साध्वीसंघ तथा श्राविका-संघ की अनमोल निधि दे कर नारी जगत की प्रतिष्ठा का पूर्णतया

संरक्षण किया। यज्ञ के नाम पर पशुओं के प्राणों से खिलवाड़ करने वाले स्वर्ग-गामियों को स्वर्ग का सच्चा मार्ग बताया। नदियों और समुद्रों में स्नान करने या पाषाण-पूजा में धर्म समझने की लोकमूढ़ता का निराकरण किया। लोकभाषा को अपने उपदेश का माध्यम बना कर पण्डितों के भाषाभिमान को समाप्त किया। संक्षेप में यह कि भगवान् महावीर ने समाज के समग्र मापदण्ड को बदल डाला और सम्पूर्ण जीवनदृष्टि में एक भव्य और दिव्य नूतनता उत्पन्न कर दी।

चैत्रशुक्ला त्रयोदशी भगवान् महावीर की जन्मतिथि है। इसी तिथि को बिहार प्रान्त के कुण्डलपुर नगर में भगवान् महावीर ने जन्म लिया था। इस दिन भारतवर्ष के सभी जैन लोग अपना समस्त कारोबार बन्द करके अपने-अपने स्थानों पर बड़ी धूमधाम से महावीर जयन्ती मनाते हैं। ब्राह्ममुहूर्त्त में प्रभातफेरियां निकलती हैं, प्रातः रमणीक और विशाल पण्डालों में भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र को ले कर भाषण होते हैं; भजन और कविताएं पढ़ी जाती हैं। मध्याह्न में जलूस निकलते हैं, रात्रि में पुनः सार्वजनिक सभा का आयोजन होता है। उसमें प्रभु जीवन-सम्बंधी घटनाओं पर प्रकाश डाला जाता है, कवि-सम्मेलन होता है। इस प्रकार खूब समारोह के साथ महावीर-जयन्ती का पुण्य पर्व मनाया जाता है।

आकाशवाणी (रेडिओ) द्वारा भगवान् महावीर के जीवन-वृत्त लोगों तक पहुंचाए जाते हैं, प्रभु के चरणों में श्रद्धापुष्प अर्पित किए जाते हैं। प्रायः भारत का प्रत्येक राज्याधिकारी इस उत्सव में सम्मिलित होता है। भारत भर में बहुत सी प्रान्तीय सरकारों ने अपने-अपने प्रान्तों में महावीर जयन्ती के पुण्यदिवस को 'अवकाश-दिवस' घोषित कर दिया है। केन्द्रीय सरकार से महावीर जयन्ती की छुट्टी के लिए जैनों द्वारा प्रयत्न चालू है। ब्रह्मा में महावीर जयन्ती की छुट्टी होती है। कितना आश्चर्य है कि विदेशी केन्द्रीय

सरकारें तो महावीर-जयन्ती की छुट्टी करें और अपनी ही सरकार जिस अहिंसा द्वारा प्राप्त स्वतंत्रता का आनंद लूट रही है उस अहिंसा के मूलस्रोत भगवान महावीर की छुट्टी के लिए संकोच करे ?

वीरनिर्वाण-महापर्व (दीपमाला)

वीर निर्वाण महापर्व आज दीपमाला के नाम से प्रख्यात हो रहा है। इसके सम्बंध में कई एक विश्वास पाए जाते हैं। कोई इसका सम्बंध वनवासकाल समाप्त करके वापिस आए मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के अयोध्या-प्रवेश से जोड़ता है। कोई इसे सम्राट् अशोक की दिग्विजय का सूचक मानता है। किंतु जैन जगत् इन में से किसी बात पर भी विश्वास नहीं रखता, क्योंकि इस के सम्बन्ध में जैनजगत् की अपनी स्वतंत्र मान्यता है।

कल्पसूत्र में लिखा है कि कार्तिक अमावस्या की रात्रि थी। उस समय पावापुरी नगरी की विशाल पौषधशाला में नव मल्लकी जाति के काशी-देश के राजा और नव लिच्छवी जाति के कोशल देश के राजा इस प्रकार १८ देशों के राजा भगवान महावीर की चरण-सेवा में पौषध व्रत* धारण करके उनके उपदेशामृत का पान कर रहे थे। इसी रात्रि को भगवान महावीर का निर्वाण होता है। सूर्यास्त हो जाने पर जैसे जगतीतल पर अन्धकार अपना शासन जमा लेता है, वैसे ही सत्य, अहिंसा के दिवाकर भगवान् के निर्वाण हो जाने से उन का भामण्डल† समाप्त होने पर सर्वत्र अन्धकार

* अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में किया जाने वाला जैन गृहस्थ का एक व्रत विशेष पौषध कहलाता है।

† आध्यात्मिकता की चोटियों के शिखर पर विराजमान महापुरुष के सिर के पीछे एक गोलाकार प्रकाशपुंज सदा अवस्थित रहता है जो उनके आध्यात्मिक साधनाजनित अध्यात्म प्रकाश का एक मुख्य प्रतीक समझा जाता है। उसे ही भामण्डल कहते हैं।

व्याप्त हो गया। इस अन्धकार को दूर करने के लिए भगवान की सेवा में उपस्थित राजा लोगों ने रत्नों का प्रकाश किया। रत्नों के प्रकाश द्वारा भामण्डल की पुण्य स्मृति में द्रव्य प्रकाश की प्रतिष्ठा कर दी गई। कालान्तर में सभी स्थानों में कार्तिकी अमावस्या की रात को रत्नों का प्रकाश करके भगवान् महावीर के निर्वाण-दिवस की पुण्य स्मृति को ताज़ा किया जाने लगा। इस द्रव्य प्रकाश से भाव प्रकाश (ज्ञान) को प्राप्त करने की प्रेरणा भी प्राप्त की जाने लगी। जैन नरेशों के प्रभावाधिक्य से तथा भगवान महावीर के अपने महान आध्यात्मिक व्यक्तित्व से धीरे-धीरे यह निर्वाण दिवस एक धार्मिक पर्व के रूप में परिवर्तित हो गया, और सारे भारतवर्ष में ही मनाया जाने लगा। काल की अनेकों घाटियां पार करता हुआ वही निर्वाणदिवस कुछ फेरफार के साथ आज दीपमाला के रूप में परिवर्तित हो गया है और इसी नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है।

जैन दृष्टि से दीपमाला अलौकिक पर्व है। सांसारिक रागरंगों के साथ इस का कोई सम्बंध नहीं है। यह तो केवल भगवान महावीर के निर्वाण का स्मारक पर्व है, और इसके माध्यम से ज्ञान-स्रोत भगवान महावीर के ज्ञानालोक से आत्ममन्दिर को आलोकित करना है, किन्तु आज इस पर्व के अवसर पर भाव लक्ष्मी को छोड़ कर द्रव्य लक्ष्मी का पूजन किया जाता है, मिठाइयां खाई जाती हैं, आतिशबाज़ी जलाई जाती है, जूआ खेला जाता है। अतएव यह पर्व जैन दृष्टि से अपनी अलौकिकता खो बैठा है, ऊपर-ऊपर से यह सर्वथा लौकिक पर्व ही बन गया है, किन्तु यदि इस के वास्तविक स्वरूप को देखा जाए तो निस्सन्देह यह अलौकिक पर्व ही है।

जैनों के लिए दीपमाला के महत्त्व तथा सम्मान की एक और भी बात है। इतिहास बतलाता है कि जब भगवान महावीर का निर्वाण हुआ, उस समय अनगार गौतम भी उनके पास बैठे उनके

पावन मुख से "समयं गोयम ! मा पमायए" इन मंगल वचनों का श्रवण कर रहे थे। भगवान का निर्वाण हो जाने पर वे सन्न से रह गए। इन के मन में भूचाल सा आ गया, आंखों के आगे अन्धेरा छा गया। वे वज्राहत की भांति दुःख-सागर में डूब गए। अन्त में, बड़ी मुश्किल से इन का मानस कुछ स्वस्थ हुआ और इन की अन्तरात्मा झंकृत हो उठी—

दुनिया के बाज़ार में, चल कर आया एक।
मिले अनेकों बीच में, अन्त एक का एक ॥

इस सात्त्विक और धार्मिक विचारणा की पराकाष्ठा के सुदर्शन चक्र ने कर्म सेनापति मोहकर्म को सदा के लिए शान्त कर दिया। सेनापति मोह के समाप्त होते ही भगवान गौतम को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। श्री गौतम जी महाराज* का अन्तर्जगत केवल ज्ञान की ज्योति से ज्योतित हो उठा। जैन परम्परा के अनुसार देवों ने आकाश में हर्ष-दुन्दुभि बजाई और बड़े समारोह के साथ भगवान् गौतम के केवल ज्ञान महोत्सव को मनाया।

दीपमाला की रात्रि को दो माँगलिक कार्य सम्पन्न हुए थे। एक भगवान महावीर का निर्वाण और दूसरे भगवान गौतम को केवल ज्ञान। यही कारण है कि दीपमाला की रात्रि जैनों की परम आराध्य तथा उपास्य रात्रि बन गई है। जैन लोग इस पवित्र रात्रि को सब से महत्त्व पूर्ण तथा आत्मशुद्धि की सर्वोत्तम सन्देशवाहिका रात्रि समझते हैं। शास्त्रीय मान्यता है कि इस रात्रि को आकाश के

---

*भगवान महावीर द्वारा स्वयं दीक्षित किए हुए १४ हजार साधु थे, उनमें प्रधान श्री गौतम स्वामी थे। भगवान के ११ गणधरों में इनका पहला स्थान है। इनका वास्तविक नाम इन्द्र-भूति था। गौतम तो इनका गोत्र था किन्तु जैन संसार में ये अपने गोत्र से ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

निवासी देव देवियों ने भी वीर-निर्वाण तथा श्री गौतम स्वामी के केवल ज्ञान का महोत्सव मना कर प्रभु वीर तथा श्री गौतम जी महाराज के चरणों में अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलियां अर्पित की थीं। वृद्ध परम्परा का विश्वास है कि अतीत की भांति आज भी देव-देवियां वीर-निर्वाण तथा गौतमीय केवल ज्ञान के उपलक्ष्य में इस रात्रि को आमोद-प्रमोद करते हैं और उत्सव मनाते हैं।

जैन जगत में दीपमाला* एक महत्त्वपूर्ण और आध्यात्मिक पर्व माना गया है। जैन लोग बड़ी श्रद्धा तथा आस्था के साथ इस पर्व को मनाते हैं। इस के उपलक्ष्य में धर्म-प्रेमी लोग अधिकाधिक धार्मिक अनुष्ठान करते हैं। पौषध, व्रत आदि तप करते हैं सामायिक करते हैं! उत्तराध्ययन सूत्र का पाठ करते हैं, भगवान के नाम का २४ घण्टों के लिए अखण्ड जाप करते हैं। कुछ लोग तो दीपमाला से पूर्व दो दिन लगातार उपवास करते हैं, दीपमाला के तीसरे दिन तेला (लगातार तीन व्रत) करते हैं। इस तरह दीपमाला का दिन तथा रात्रि धर्म-ध्यान के वातावरण में व्यतीत किये जाते हैं।

भय्या-दूज

दीपमाला भगवान महावीर की निर्वाणरात्रि है। इस विषय पर "वीर निर्वाण महापर्व" के प्रसंग में प्रकाश डाला जा चुका है। महावीर के निर्वाण का वृत्तान्त जव इन के बड़े भाई महाराज नन्दीवर्धन के कानों तक पहुंचा तो उन को यह सुन कर असीम वेदना हुई। उन्हें वियोगजन्य अत्यधिक मार्मिक वेदना ने बुरी तरह आहत कर डाला। क्या हुआ, महावीर साधु बन गए, उन्हों ने घरवार को तिलांजलि दे दी, वनों में जाकर तपस्या आरंभ कर दी, फिर

* दीपमाला के सम्बन्ध में अधिक जानने के इच्छुकों को मेरी लिखी "दीपमाला और भगवान महावीर" नाम की पुस्तक देख लेनी चाहिए।

भी वे भाई ही तो थे। भाई की आत्यन्तिक जुदाई से भाई को असह्य वेदना का होना स्वाभाविक ही है। जैन इतिहास कहता है कि भाई के वियोगजन्य दुःख से व्याकुल हो कर भाई ने अन्नजल का त्याग कर दिया, आमरण अनशन कर दिया। नरेश नन्दीवर्धन के इस आमरण अनशन से सारे राज्य में हाहाकार मच गया। अन्त में, भगवान महावीर की बहिन सुदर्शना आई, उसने भाई नंदी-वर्धन को बड़ी मुश्किल से समझाया और आखिर में अपने घर बुला कर भाई को भोजन कराया। जिस दिन भोजन कराया उस दिन कार्तिक शुक्ला द्वितीया थी। जैन परम्परा के अनुसार धीरे-धीरे यह द्वितीया भय्या दूज के नाम से एक पर्व के रूप में परिवर्तित हो गई।

आज भी भय्या-दूज पर्व मनाया जाता है। आज भी बहिन भाई को अपने घर बुलाती है और भाई को तिलक लगा कर सप्रेम उसके साथ भोजन करती है। इस पर्व द्वारा भाई और बहिन के हृदयों में बह रही प्रेम-धारा के आज भी पूर्व की भांति दर्शन किए जा सकते हैं। वस्तुतः भय्यादूज बहिन और भाई के पवित्र प्रेम का प्रतीक है। भाई ग़रीब हो, कितना भी निर्धन क्यों न हो, यहां तक कि दाने-दाने का मोहताज हो, फिर भी बहिन के लिए वह भाई ही रहेगा, बहिन का अटूट प्रेम भाई से टूट नहीं सकता, बहिन का मानस भाई के लिए सदा मंगल कामना करता रहता है और बहिन मृत्युशय्या पर भी क्यों न पड़ी हो, तब भी वह भाई का हित ही सोचती है। यही स्थिति भाई की होती है, अपनी बहिन के प्रति। बहिन कैसी भी दशा में हो, उस का परिवार सम्पन्न हो या खस्ताहाल हो, तथापि भाई बहिन को देवी की तरह पूजता है, अपने सांझे दूध की सदा लाज रखता है। भाई बहिन पर कभी रुष्ट भी हो जाए किन्तु जब बहिन की गीली आंखें देखता है तो झट उसका रोष ग़ायब हो जाता है। हृदय का प्रेम-सरोवर छलकने लग जाता

है। भाई बहिन के इसी पवित्र स्नेह भाव का प्रतीक यह भय्या दूज पर्व माना गया है।

रक्षाबन्धन

राजा पद्म के मंत्री का नाम था बलि। वह जैन साधुओं से घृणा और द्वेष रखता था। किन्तु था बड़ा वीर। एक बार उस ने युद्ध में पराक्रम दिखला कर अपने राजा को प्रसन्न कर लिया। महाराज पद्म ने प्रसन्न हो कर बलि को सात दिन का राज्य दे दिया। इधर अकस्मात् अकम्पनाचार्य अपने सात सौ शिष्यों के साथ उधर आ निकले। बलि को भी पता चला। उसने अपने द्वेष-वश मुनिसंघ को एक बाड़े में घेर कर पुरुष-मेध यज्ञ में बलि करने का निश्चय किया। ऐसे संकट काल में एक वैक्रियलब्धि धारी मुनि विष्णु कुमार से प्रार्थना की गई कि आप पद्म राजा के भाई हैं, अतः आप ही इस मुनिसंघ पर आये संकट को दूर कीजिए। तपस्या में लीन विष्णुकुमार मुनि उक्त प्रार्थना पर नगर में आए और उन्हों ने अपने भाई पद्म राजा को समझाया कि भाई! इस कुरुवंश में तो साधुओं का आदर होता आया है किंतु अब यह क्या अनर्थ होने जा रहा है? पद्मराजा को उक्त घटना से दुःख तो बहुत था, किन्तु वे वचनबद्ध थे, अतः उन्हों ने अपने को विवश बताया। तब विष्णु कुमार मुनि बलि राजा के पास गए और उससे मुनिसंघ के लिए स्थान मांगा। बलि ने कहा कि आप मेरे राजा के भाई हैं, इस लिए आप का मान करता हुआ मैं अढ़ाई क़दम जगह देता हूं, उसी में रह लो। इस पर विष्णु कुमार को रोष आया और अपनी शक्ति का चमत्कार उन्हों ने वहां प्रकट किया। उन्हों ने एक पैर सुमेरु पर्वत पर रखा, और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर और तीसरा कदम बीच में लटकने लगा। यह देख पृथ्वी-वासी लोग अत्यधिक क्षुब्ध हो गए, बलि क्षमा मांगने

लगा, उसने राज्य वापिस कर दिया और इस तरह विष्णुकुमार के प्रभाव से उस समय यह संकट दूर हुआ।

मुनिजनों पर संकट आया देखकर लोगों ने अन्न-जल का त्याग कर दिया था। संकट टलने पर सब ने पारणा किया। और सब विष्णु कुमार जी महाराज द्वारा कृतरक्षा के बन्धन में अपने को बद्ध अनुभव करने लगे। और जिस दिन यह रक्षा हुई थी उसी दिन से प्रति वर्ष रक्षा बंधन के रूप में एक उत्सव या पर्व मनाया जाने लगा। यह सत्य है कि उस समय रक्षा बंधन को मनाने का यह रूप नहीं था, जो आज उपलब्ध हो रहा है। आज तो बहिनें भाइयों के हाथों में राखियां बांध कर इस पर्व को मनाती हैं।

आचार्य-जयन्ती

जैन-धर्म-दिवाकर पूज्य श्री आत्मा राम जी महाराज श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के प्रधानाचार्य थे। आप श्री की जयन्ती भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को समूचे भारत में बड़े समारोह के साथ मनाई जाती है। इस दिन स्थानकवासी समाज में एक नया उत्साह देखने को मिलता है। असहायों और ग़रीब लोगों को भोजन खिलाया जाता है। रात्रि को कवि-सम्मेलन, संगीत-सम्मेलन होते हैं।

श्रद्धेय आचार्य-प्रवर पूज्य श्री आत्मा राम जी महाराज का जन्म वि० सं० १९३९ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को हुआ। पंजाब में ज़िला जालन्धर में तहसील राहों आप की जन्म-भूमि है। वहां के प्रसिद्ध व्यापारी सेठ मनसा राम जी आप के पिता थे और श्री परमेश्वरी देवी माता। जिस ने धर्म-दिवाकर को उदित करके पूर्वदिशा का स्थान ग्रहण करने का सुअवसर प्रदान किया।

आचार्य प्रवर का शैशव काल बड़ा संकटमय रहा। प्रतिकूल परिस्थितियों की थपेड़ें आप को निरन्तर परेशान करती रहीं। आठ

वर्ष की लघुवय में ही आपके माता पिता का निधन हो गया था। १० वर्ष की उम्र में दादी भी आपको निराधार छोड़ कर परलोक सिधार गईं। इस तरह आप ने वाल्यकाल में आराम के दिन नहीं देखे।

वैराग्य—

उक्त घटनाओं के वाद आचार्य प्रवर एक तरह से निराश-हताश से हो गए, उदासीन रहने लगे। घर में उन का मन नहीं लगता था, घर का समस्त वैभव उन्हें नागिन की तरह डसने लगा। वे वहां से चल कर लुधियाना आए और वहां पर विराजमान श्रद्धेय पूज्य श्री जयराम दास जी म०, एवं स्वनामधन्य पूज्य श्री शालिग्राम जी महाराज के दर्शनों से आप की आत्मा को कुछ शान्ति मिली और पूज्य श्री के उपदेश से आप के मन में जो संसार से निराश-हताश हो चुका था, वैराग्य की भावना जागी। वि० सं० १९५९ आषाढ़ शुक्ला ५ को वनूड शहर में श्रद्धेय शालिग्राम जी म० के करकमलों से आप दीक्षित हुए।

शिक्षा-दीक्षा—

श्रद्धेय आचार्य श्री मोती राम जी म० के सांनिध्य में रह कर आपने मुनि जीवन की शिक्षा-दीक्षा पाई तथा उन से ही शास्त्रों का का गंभीर अध्ययन किया, आगममहोदधि का मन्थन किया। आप का आगमज्ञान वड़ा ही विलक्षण और अपूर्व था। आप के गंभीर शास्त्रीय ज्ञान से ही प्रभावित हो कर वि० सं० १९६९ को फाल्गुण मास में आचार्य प्रवर श्री सोहन लाल जी महाराज ने अमृतसर आप को उपाध्याय पद से विभूषित किया।

आचार्य पद—

आप की उच्चता, महत्ता एवं लोकप्रियता प्रतिक्षण वढ़ती

जा रही थी। आप के चारित्रनिष्ठ जीवन ने जनमानस पर अपना अधिकार जमा लिया था। इसी का यह शुभ परिणाम था कि श्रद्धेय आचार्य श्री कांशी राम जी महाराज के स्वर्गवास होने के पश्चात् वि० सं० २००३ चैत्रशुक्ला त्रयोदशी को लुधियाना में आप को पंजाब सम्प्रदाय के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। और वि० सं० २००९, में सादड़ी (मारवाड़) सम्मेलन में स्थानकवासी समाज की सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि मुनिवरों ने आप को श्रमण संघ के प्रधान आचार्य के रूप में स्वीकार किया। आप की अनुपस्थिति में श्रमण संघ द्वारा प्रदान किया गया यह गौरव-पूर्ण पद इस बात का परिचायक है कि श्रद्धेय आचार्य श्री का आदर, सम्मान सर्वतोमुखी था। इस तरह एक ही जीवन में उपाध्याय, एक विशेष सम्प्रदाय के आचार्य और अखिल भारतीय स्थानकवासी श्रमणसंघ के आचार्य पद को प्राप्त करना आपके आध्यात्मिक जीवन की सब से बड़ी सफलता थी। आचार्य श्री की महत्ता, उच्चता तथा लोकप्रियता का इस से बढ़कर और क्या उदाहण हो सकता है ?

साहित्य-निर्माण—

आपने आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। आपका चिन्तन, मनन, भी बहुत गहरा था। शास्त्रों के बहुत से पाठ आप को करामल-कवत् उपस्थित थे, और आगमों में कौन रत्न किस स्थल पर है, यह भी आप की दृष्टि से ओझल नहीं रहा। इसी का परिणाम है कि आप आगम साहित्य से सम्बन्धित अनेकों ग्रन्थों का निर्माण कर सके।

आप के द्वारा लिखित एवं अनुवादित क़रीब ६० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जिन में उत्तराध्ययन सूत्र (३ भाग), दशाश्रुतस्कंध, अनुत्तरोपपातिक-दशा, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक,—

अन्तकृद्दशांग, श्री आचारांग, श्री स्थानांग, श्री तत्त्वार्थ सूत्र-जैनागम समन्वय, जैनतत्त्वकलिका-विकास, जैनागमों में अष्टांग योग, जैनागमों में स्याद्वाद् (दो भाग), जैनागमन्याय संग्रह आदि मुख्य ग्रन्थ रत्न हैं। इन ग्रन्थों का अध्ययन करने से आचार्य श्री के गंभीर ज्ञान का पूर्णतया परिचय मिल जाता है।

साहित्यिक व्यक्तित्व—

प्राकृत भाषा तथा साहित्य के विद्वान् के रूप में आचार्य प्रवर की ख्याति भारत के कोने-कोने में फैल चुकी थी। पाश्चात्य विद्वान भी आप की प्राकृत भाषा की सेवाओं से अत्यधिक प्रभावित हुए। एक बार आप लाहौर में पधारे, वहां पंजाव यूनिवर्सिटी के वाईस चाइन्सलर तथा प्राकृत भाषा के विख्यात विद्वान डा० ए० सी० वूल्नर से आप की भेंट हुई। वार्तालाप प्राकृत भाषा में किया गया। डा० वूल्नर आचार्य श्री के व्यक्तित्व और प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के प्रगाढ़ पाण्डित्य से अत्यधिक प्रभावित हुए। आप को पंजाव यूनिवर्सिटी के हस्तलिखित ग्रन्थों का वृहद् भण्डार दिखाया गया। और आप श्री को मान देने के विचार से डा० वूल्नर ने आप को पंजाव लायब्रेरी का प्रयोग करने के लिए सम्मानित सदस्य वनाया। पंजाब यूनिवर्सिटी का यह विशेष नियम था कि यूनिवर्सिटी से सम्बन्धित व्यक्ति ही लायब्रेरी का प्रयोग कर सकता था किन्तु आप के व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर यह विशेष अधिकार आप को दे गया। इस से साहित्यिक संस्थाओं में आप के व्यापक पाण्डित्य के मान तथा उस की प्रतिष्ठा का भली प्रकार पता लगाया जा सकता है।

आचार्य श्री का जीवन-चरित्र धैर्य आदि महानताओं से भरपूर है। हमने तो यहां कुछ झांकी मात्र दिखाई है। विशेष जानने की इच्छा रखने वाले महानुभावों को मेरे द्वारा लिखित "आचार्य-सम्राट्" नामक पुस्तक पढ़ लेनी चाहिए।

भाव पूजा

सोलहवां अध्याय

प्रश्न—मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में स्थानकवासी समाज का क्या विश्वास है? यह मूर्तिपूजा का समर्थक है या विरोधी ?

उत्तर—पूजा शब्द का अर्थ है—परमात्मा का भक्तिपूर्ण स्मरण या स्तवन। पूजा दो प्रकार की होती है—द्रव्य पूजा और भाव पूजा। मन्दिर में जाकर पाषाण, रजत, सुवर्ण या माटी आदि द्वारा बनी भगवान की मूर्ति को नमस्कार करना, उस पर पुष्प, चावल आदि चढ़ाना, उसे तिलक लगाना, उसके आगे धूप जगाना, टल्लियां बजाना, मूर्ति की परिक्रमा करना आदि सभी व्यापारों को द्रव्य पूजा कहते हैं। भगवान के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भगवान के गुणों का चिन्तन करना, प्रभु के गुणों का स्मरण करना, प्रभु-गुणों को आत्मसात् करने का प्रयास करना भाव पूजा कही जाती है। भाव पूजा में द्रव्य पूजा की भांति पुष्पों की, धूप, की, चन्दन की यहां तक कि किसी भी बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। भावपूजा का सम्बन्ध प्रभु के गुणों के साथ होता है और पूजक को उनमें अपने को निमग्न करना पड़ता है।

द्रव्यपूजा के लिये प्रातः या सायं का समय सुनिश्चित होता है, किन्तु भावपूजा के लिए कोई विशेष समय निश्चित नहीं, यह किसी भी समय की जा सकती है; इसके लिए किसी समय विशेष का प्रतिबंध नहीं है। जिस स्थान पर चाहें और जब चाहें भावपूजा

का लाभ ले सकते हैं। सांसारिक काम धन्धा करते समय यदि नैतिकता, न्यायप्रियता तथा सत्यनिष्ठा का नेतृत्व चल रहा हो, तो उस समय भावपूजा जीवन में साकार रूप लेकर विराजमान हो जाती है। भावपूजा दुष्प्रकृति, खराब स्वभाव या काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि जीवन-विकारों को समाप्त करके क्षमा, सरलता, निर्लोभता आदि सद्‌गुणों को जीवन के व्यवहार में प्रकट करने की भावना में ही निवास करती है। वस्तुतः सत्य और अहिंसा के भावों को विकसित करके निजस्वरूप में रमण करने की प्रेरणा प्रदान करना ही भावपूजा का मुख्य एवं अन्तिम लक्ष्य रहता है और इसी में उस की सफलता मानी गई है।

भावपूजा आत्म कल्याण का निर्झर है, आत्मोत्थान का स्रोत है, द्रव्यपूजा का आत्मकल्याण और आत्मशुद्धि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मकल्याण तो भावपूजा से ही संभव है और भावपूजा ही मानव को उसके समस्त विकारों का नाश करके महामानव के उच्चतम सिंहासन पर विठलाने की क्षमता रखती है। अतः स्थानकवासी परम्परा द्रव्यपूजा को कोई महत्त्व प्रदान नहीं करती। इस के विश्वासानुसार भाव पूजा जीवनोत्थान की पूर्वभूमिका है, और इसी के द्वारा आत्म कल्याण और आत्मशुद्धि की उपलब्धि हो सकती है, ऐसा वह विश्वास रखती है।

प्रश्न—स्थानकवासी परम्परा द्रव्य पूजा में क्या दोष मानती है? और भावपूजा में क्या महत्त्व समझती है?

उत्तर—भावपूजा के महत्त्व की चर्चा पूर्व की जाचुकी है। भाव पूजा सर्वथा निर्दोष है, सात्त्विक है, आत्मशुद्धि की महाप्रेरणा लिए हुए है। इस लिए भावपूजा का अपना विशेष महत्त्व है। यह आत्मा में भगवत्स्वरूप के दर्शन कराती है, और आत्मा के समस्त

विकारों को समाप्त करने का महामार्ग दिखलाती है। इस आत्मा को महात्मा, और धीरे-धीरे महात्मा को परमात्मा के रूप में परिवर्तित कर देती है। इसी लिए इसके आश्रयण की ओर स्थानकवासी परम्परा का झुकाव है।

हज़ारों नहीं लाखों वर्षों से संसार में अहिंसा का पावन स्वर गूंजता रहा है। भगवान महावीर ने जब उस स्वर से अपना स्वर मिलाया तो उन्हों ने कहा था—

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जाविउं न मरिज्जिउं।

तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गन्था वज्जयन्ति णं॥

अर्थात् सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसी लिए निर्ग्रन्थ साधक सदा घोर प्राणिवध से दूर रहते हैं।

कितना विराट् और सात्त्विक सत्य है यह? संसार के प्रत्येक अध्यात्म महापुरुष ने इस सत्य को अपने स्वर के साथ मिला कर गाया है, और महामंत्र मान कर इसकी सब ने आराधना की है। द्रव्यपूजा के अन्य दोषों की चर्चा बाद में करेंगे, सर्व-प्रथम इस में सब से पहला दोष यही है कि जिस सत्य के गीत संसार अनादिकाल से गाता आया है और जिस सत्य को महामंत्र बना कर भगवान महावीर ने अपनी अध्यात्म साधना का श्री गणेश किया था उस सत्य की आत्मा पर यह द्रव्यपूजा प्रहार करती है। यह इस द्रव्य-पूजा में कितना बड़ा दोष है?

द्रव्यपूजा की साधन—सामग्री में चन्दन, धूप आदि के साथ-साथ पुष्प भी हैं। द्रव्य पूजा करते समय पूजक चन्दन घिसाता है, उसका तिलक लगाता है, धूप जलाता है, इस के साथ-साथ वह अपने पूज्य को पुष्प भी अर्पित करता है। समझ में नहीं आता, जिन वीतरागी महापुरुषों ने संसार को अहिंसा का सन्देश दिया

और स्वयं जिन्हों ने अपना सारा जीवन भगवती अहिंसा की साधना में लगाया, जो स्वयं कभी पुष्पों का स्पर्श नहीं करते थे, आगे जिन्होंने अपने श्रमण साधकों को पुष्प स्पर्श का सदा के लिए निषेध कर दिया था, उन्हीं महापुरुषों को निमित्त बना कर पुष्प-जीवों का संहार करना, और उन्हें उपहाररूप से महापुरुषों की प्रतिमाओं पर चढ़ाना कहां तक उचित है, और कहां तक अहिंसक कृत्य है? ज़रा शान्ति से सोचने की आवश्यकता है।

हिंसा तो हिंसा ही है, चाहे वह कहीं भी हो, और किसी भी उद्देश्य को ले कर की गई हो। जिस तरह देवी देवताओं के मन्दिरों में भेड़, बकरी, दुम्बा, भैंस आदि पञ्चेन्द्रिय जीवों की बलि देना एक हिंसक कृत्य है, वैसे ही एकेन्द्रिय, जीवों की हत्या करना भी एक पाप-मय कार्य है। पञ्चेन्द्रिय हो या एकेन्द्रिय, जीवन तो सभी को प्रिय है। सभी जीना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहता। इसी लिए किसी जीव को मारना या सताना पाप माना गया है। फिर एकेन्द्रिय जीवों के शरीर रूप पुष्पों को भगवान की मूर्ति पर चढ़ाना कहां की अहिंसकता है? इस में तो स्पष्टरूप से हिंसा निवास कर रही है। अतः द्रव्य पूजा में यही सब से पहला दोष है, कि वहां हिंसा को अहिंसा का रूप दिया जाता है, और वहां एकेन्द्रिय जीवों की हत्या की जाती है।

धूप जगाना, दीप जलाना, इन कार्यों में एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। सचित्त जल का प्रयोग करने पर जलकायिक जीवों की हिंसा होती है। टल्ली बजाने से वायुकायिक जीव मरते हैं। इस प्रकार द्रव्य पूजा में जल-कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पति कायिक इन सभी जीवों का संहार होता है। इस के अलावा दीपशिखा पर अनेकों त्रसजीवों का भी जीवन जल जाता है। त्रस और स्थावर जीवों की विनाशिका द्रव्यपूजा के दोषों की

गणना कहां तक की जावे ?

जैन सिद्धान्त कहता है कि हिंसा में धर्म न रहा है और न कभी रहेगा। हिन्दी के कवि ने इसी सत्य को कविता की भाषा में कितनी सुन्दरता से व्यक्त किया है ? वह कहता है—

अग्नि जैसे अरविन्द न विलोकियत,
सूरज अस्त में जैसे वासर न जानिए।
सांप के वदन जैसे अमृत न उपजत,
काल कूट खाय जीवन न मानिए ॥
कलह करत नहीं पाइए सुजस रस,
वाढत रसांस रोग नाश न वखानिए।
प्राणवध हिंसा मांही, धर्म की निशानी नहीं,
याही ते वनारसी विवेक मन आनिए।

अर्थात्—अग्निकुण्ड से कमलों का जन्म नहीं होता, सूर्यास्त होने पर दिन नहीं रहता, क्लेश की अवस्थिति में सुयश का रस प्राप्त नहीं होता, सर्प के मुख में अमृत पैदा नहीं होता, विप सेवन से जीवन सुरक्षित नहीं रहता, रसांस के वढ़ने से रोग का नाश नहीं होता। कवि वनारसी दास जी कहते हैं कि जैसे ऊपर की वातें असंभव हैं, ऐसे ही जीव हिंसा में कभी धर्म नहीं ठहर सकता। अत: मनुष्य को यह विवेक मन में धारण कर लेना चाहिए।

इस के अलावा, भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक ५. सूत्र १०९ में श्रावक के पांच अभिगम (साधु के सन्मुख जाते समय श्रावक के पांच कर्तव्य) वतलाए हैं। वे इस प्रकार है—१. सचित्त द्रव्य, पुष्प, ताम्वूल आदि का परित्याग करना। २. अचित्त द्रव्य—शारीरिक वस्त्रों को मर्यादित करना। ३. एक पट वाले दुपट्टे का

उत्तरासंग करना। ४. मुनिराज को देखते ही हाथ जोड़ना। ५. मन को एकाग्र करना।

जो लोग मन्दिर में भगवान की प्रतिमा पर पुष्प चढ़ाते हैं, उन का ऐसा करना कहां तक शास्त्रीय है? ज़रा सोचने का कष्ट करें। जब श्रावक द्वारा मुनिराज के पास तभी जाया जा सकता है जबकि वह सचित्त द्रव्यों का सर्वथा परित्याग कर दे, ऐसी दशा में मन्दिर में भगवान के निमित्त पुष्प ले जाना कैसे उचित माना जा सकता है?

द्रव्य-पूजा में जड़मूर्तियों को नमस्कार किया जाता है, जड़ के आगे चेतन को झुकाया जाता है। जड़ के आगे चेतन का नतमस्तक होना किसी भी तरह संगत और उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नमस्कार शब्द का शाब्दिक अर्थ स्वयं इस बात का विरोध करता है। नमस्कार की व्याख्या करते हुए एक आचार्य कहते हैं—

मत्तस्त्वमुत्कृष्टः, त्वत्तोऽहमपकृष्टः, एतद्द्वयबोधनानुकूल-व्यापारो हि नमः शब्दार्थः। अर्थात् मेरे से आप उत्कृष्ट हैं, गुणों में बड़े हैं और मैं आपसे अपकृष्ट हूं, गुणों में हीन हूं, इन दोनों बातों का बोधक नमः शब्द है। तात्पर्य यह है कि नमस्कार करने वाला व्यक्ति जिस को नमस्कार करता है, वह नमस्कार के द्वारा उस के बड़प्पन को अभिव्यक्त करता है। वह प्रकट करता है कि आप मुझसे बड़े हैं और मैं आप से छोटा हूं।

लौकिक व्यवहार भी नमस्कार शब्द गत इस भावना का पोषक है। पुत्र पिता को नमस्कार करता है, पिता पुत्र को नहीं। ऐसा क्यों है? इसी लिए कि पिता का स्थान ऊंचा है और पुत्र का स्थान नीचा। शिष्य गुरु को प्रणाम करता है। वह भी इसी लिए कि शिष्य गुरु को अपने से उच्च मानता है, और स्वयं को उन से तुच्छ अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार उत्कृष्टता तथा अपकृष्टता प्रकट

करने के लिए ही नमस्कार का उपयोग किया जाता है। इस सत्य से किसी को विरोध नहीं है। यहाँ सब एकमत हैं।

अब मूर्ति की बात लीजिए। मूर्ति को नमस्कार करने से पहले यह समझ लेना चाहिए कि मूर्ति को नमस्कार करने वाले व्यक्ति से ऊंची है या वह व्यक्ति उस से ऊंचा है। यह सर्वविदित सत्य है कि व्यक्ति चेतन है, और मूर्ति जड़ है। दोनों में से चेतन का स्थान ऊंचा है। चेतन जड़ से बड़ा है। ऐसी दशा में चेतन का जड़ के आगे झुकना सर्वथा अयोग्य है, अनुचित है। चेतन का जड़ को प्रणाम करने का क्या मतलब? जड़ के आगे चेतन नतमस्तक हो तो क्या यह चेतनता का उपहास नहीं है? वस्तुतः जड़ को नममस्कार करना अपने चेतन-स्वरूप को अपमानित करना है। इस प्रकार मूर्ति-पूजा या जड़-पूजा का विरोध स्वयं नमस्कार शब्द का अर्थ कर रहा है। इसी लिए स्थानकवासी परम्परा मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखती और इसे वह असंगत और अशास्त्रीय कहती है।

यह सत्य है कि मूर्ति, मूर्ति है। मूर्ति को मूर्ति मानने से किसी को इन्कार नहीं हो सकता, किन्तु मूर्ति को भगवान मानना या भगवान् की भांति उसका पूजन करना, स्तवन करना यह ठीक नहीं है। जड़ को चेतन मान लेना किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता। जैनागमों ने २५ प्रकार के मिथ्यात्वों में से "जड़ को चेतन मानना या चेतन को जड़ मानना," यह भी एक मिथ्यात्व माना है। अतः मूर्ति को चेतन समझना, भगवान मानकर उस को पूजा करना, उसे नमस्कार करना मिथ्यात्व का पोषण करना है, जोकि किसी भी दशा में उचित नहीं है।

मूर्ति को स्नान कराना, तिलक लगाना, उसे भोग लगाना, उसे शृंगारित करना आदि जितना भी आडम्बर है, यह सब किस लिए? यदि यह सब मूर्ति को भगवान समझ कर करते हैं, तब भी

ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान तो इन सब प्रपंचों के त्यागी थे, त्याग का ही उन्हों ने संसार को उपदेश दिया है। ऐसे त्यागी और वीत-रागी जीवन में ऐसे भोगमय नाटकों का क्या उद्देश्य है? जो शृंगार साधुओं के लिए त्याज्य एवं हेय है, फिर वह भगवान के लिए कैसे उपादेय बन सकता है? गीत वीतरागता के गाए जाएं और गेय (जिस के गीत गाए जाते हैं) को भोग-सामग्री से लथपथ कर दिया जाए, यह कहां तक न्याय-संगत तथा तर्कसंगत है? शान्ति से विचार करने की आवश्यकता है।

प्रश्न—यह माना है कि मूर्ति जड़ है किन्तु उस की पूजा तो होनी ही चाहिए। क्योंकि मूर्ति को देखने से मूर्ति-मान इष्टदेव का स्मरण हो जाता है। जो मूर्ति अपने इष्टदेव का स्मरण कराती है उसको नमस्कार करने में क्या बाधा है?

उत्तर—सर्वप्रथम तो यह जान लेना चाहिए कि "मूर्ति मूर्ति-मान पदार्थ का अवश्य स्मरण करा देती है" यह कोई सिद्धान्त नहीं है। यदि यह सिद्धान्त होता तो एक अनभिज्ञ व्यक्ति को भी मूर्ति देख कर मूर्ति-मान व्यक्ति का बोध हो जाना चाहिए था। पर ऐसा होता नहीं है। यदि किसी ने महाराणा प्रताप को नहीं देखा या नहीं सुना है तो भले ही उसके सामने राणा की मूर्ति रख दी जाए, पर वह व्यक्ति कभी यह नहीं कह सकता कि यह राणा की मूर्ति है। यदि "मूर्ति को देखकर मूर्तिमान पदार्थ का ज्ञान हो जाता है" यह बात सत्य होती तो उस व्यक्ति को राणा की मूर्ति को देख कर राणा का अवश्य बोध हो जाना चाहिए था? पर ऐसा होता नहीं है। अतः यह बात सिद्धान्त का रूप नहीं ले सकती।

मूर्ति को देख कर उसी मूर्तिमान पदार्थ का बोध होता है, जहां पहले मूर्तिमान पदार्थ को या तो देखा हो, या उस के सम्बंध में किसी से कुछ समझ रखा हो। मूर्तिमान पदार्थ से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति के सामने यदि मूर्ति आ जाए तो उसे उस से कोई जानकारी नहीं हो सकती। यह एक अटल सत्य है। इसे कभी भी झुठलाया नहीं जा सकता। मूर्तिमान् व्यक्ति से परिचित व्यक्ति यदि उस की मूर्ति को देख लेता है, और उस की ओर ध्यान देता है, तो उसे उस मूर्तिमान व्यक्ति का स्मरण हो सकता है। यह भी सत्य है, इस को मानने से भी कोई इन्कार नहीं है। क्योंकि मूर्तिमान पदार्थ को बार-बार देखने से द्रष्टा के मानसपटल पर ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं जो कि कालान्तर में यदि मूर्तिमान व्यक्ति या उस की मूर्ति सामने आ जाए तो एकदम वे पुराणे संस्कार जागरित हो उठते हैं, परिणाम-स्वरूप द्रष्टा व्यक्ति झट कह देता है कि यह तो अमुक व्यक्ति है, या यह अमुक व्यक्ति की मूर्ति है। इस प्रकार मूर्ति पूर्व संस्कारों को प्रबुद्ध करने में कारण बन जाती है। मूर्ति की इस संस्कार-संस्मारकता से किसी को कोई इन्कार नहीं है।

मूर्ति संस्कारों की संस्मारिका है, यह सत्य है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल संस्कारों की प्रबोधिका होने से मूर्ति वंदनीय है या नमस्करणीय है। क्योंकि मूर्ति द्वारा मूर्तिमान पदार्थ का स्मरण कराना, कोई अपूर्व घटना नहीं है, केवल मूर्ति की ही यह विशेषता नहीं है। यह विशेषता तो प्रत्येक पदार्थ में पाई जाती है। संसार का प्रत्येक पदार्थ संस्कारों का संस्मारक बन सकता है। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो व्यक्ति के तत्सम्बन्धी संस्कारों को प्रबुद्ध न करता हो। दुनिया की हर वस्तु अपने-अपने ढंग से किसी न किसी पदार्थ या घटना की स्मृति कराने में सहायक बन जाती है। यदि केवल संस्कारों की प्रबोधिका होने से मूर्ति वन्दनीय है,

तब तो संसार की प्रत्येक वस्तु वंदनीय माननी पड़ेगी और उसकी पूजा करनी पड़ेगी। संसार की वस्तुएं पुरातन संस्कारों को जगाने में किस तरह कारण बनती हैं ? यह नीचे के उदाहरणों से समझिए।

आप अपने घर के सभी व्यक्तियों को खूब जानते हैं, उन की वेषभूषा से सर्वथा परिचित हैं। आप को पता है कि बड़ा भाई चप्पल पहनता है। जूता उसे पसंद नहीं है। और चप्पल भी साधारण नहीं, अच्छी सुन्दर, कीमती और विदेश-निर्मित है। भाई के इस स्वभाव का आप को पूर्ण बोध है। आप किसी समय स्थानक या मन्दिर में गए तो आप ने सीढ़ियों के एक ओर पड़े भाई के चप्पल देखे तो एक दम आप का हृदय कह उठता है कि ये चप्पल तो भाई साहिब के हैं। मालूम होता है कि भाई साहिब ऊपर अवश्य बैठे हैं। यह सोच कर आप ऊपर गए तो सचमुच आप को भाई साहिब मिल गए। चप्पल को देख कर जो भाई साहिब का आप को ख्याल आया था, वह ठीक निकला। या यूं कहें, चप्पल भाई साहिब का बोध कराने में कारण बन गए।

एक उदाहरण और लीजिए। आप अपने मकान को छोड़ कर किसी दूसरे मकान में जा कर रहने लग गए हैं। अब आप को पहले मकान का कभी ख्याल नहीं आता और नाहीं उस मकान में जो घटनाएं घटित हुई थीं, उन का कभी विचार आता है। एक दिन अकस्मात् आप उस पुराने मकान के पास से निकले तो सहसा मकान देखते ही यह स्मरण हो आया कि इस मकान में कभी हम रहते थे। आप की स्मृति और आगे बढ़ी। आप ने सोचा—इसी मकान में हमारे दादा का देहान्त हुआ था। कितने अच्छे थे हमारे दादा। मरती बार उन्हों ने उफ़ तक न की। रोगों ने शरीर छलनी-छलनी कर दिया था, मगर उन्हों ने कभी सी तक न की। सदा भगवान् भजन गाते रहते थे। बीमारी की दशा में भी प्रभु-भक्ति और प्रभु-

चिन्तन करना उन के जीवन की साधना थी। स्वयं तो सब कुछ किया ही करते थे। किन्तु परिवार से भी कहा करते थे, सब को समझाया करते थे कि प्रभु का भजन करना चाहिए, यही जीवन का अन्तिम साथी है। संसार के समस्त वैभव यहीं रह जाने वाले हैं। कौड़ी भी मनुष्य के साथ नहीं जाती। सिकन्दर दुनिया से क्या ले गया? और तो और, मैंने लाखों कमाए, लाखों की जायदाद बनाई। अब चलने को तैयार हूं। मैं क्या ले जाऊंगा? मैं भी तो यहां से खाली हाथ ही चलता बनूंगा। मैं ही नहीं, मेरी तरह तुम भी ऐसे ही चलोगे, तुम्हारी ही नहीं, तुम्हारे परिवार की भी यही दशा होगी। अतः जीवन में कुछ सत्कर्म करना चाहिए, जीवन के भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयास करना चाहिए।——आदि बातें आपके मस्तिष्क में उत्पन्न हो जाती हैं। किसे देख कर? अपने पुराने मकान को देख कर। इस तरह एक मकान भी अपने ढंग से किसी घटना या सत्य का स्मरण कराने में कारण बन जाता है। मकान ही नहीं अपितु संसार की हर वस्तु अपने-अपने ढंग से किसी न किसी बात का स्मरण कराने में कारण बन सकती है। यदि किसी वस्तु की स्मारिका होने से मूर्ति वंदनीय या पूजनीय मानी जायगी तो मूर्ति की तरह संसार की अन्य वस्तुएं भी पूजनीय स्वीकार करनी पड़ेंगी। यह कैसे हो सकता है कि मूर्तिमान व्यक्ति का स्मरण कराने से मूर्ति को तो नमस्कार किया जाए और दूसरी वस्तुएं जो कि अपने-अपने ढंग से अन्य वस्तुओं का स्मरण कराती हैं उन को नमस्कार न किया जाए? इस तरह मूर्ति की भांति चप्पल, मकान आदि सब पदार्थों को नमस्कार करना पड़ेगा। क्योंकि मूर्ति की तरह इनके द्वारा भी हमें किसी न किसी घटना-चक्र का स्मरण हो आता है।

प्रश्न—यह सत्य है कि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी

अन्य वस्तु या घटना का स्मरण कराने में कारण बन सकती है, किन्तु स्मरण, स्मरण में भी अन्तर होता है। मूर्ति भगवान् का स्मरण कराती है, और दूसरी सांसारिक वस्तु किसी अन्य सांसारिक वस्तु का। किन्तु भगवान् मंगलरूप हैं, इनका स्मरण जन्म-जन्मान्तर के पापों को नष्ट करने का कारण बन सकता है। इनके स्मरण से जीवन उन्नत और समुन्नत बन सकता है। इस के विपरीत अन्य पदार्थों से जिन वस्तुओं का स्मरण होता है, उन का हमारे जीवन-निर्माण के साथ कोई सम्बंध नहीं है। वे हमारे जीवन-कल्याण में सहायक सिद्ध नहीं हो सकतीं, इस लिए वे मूर्ति की भांति पूजनीय कैसे हो सकती हैं? मूर्ति जीवननिर्मात्री साधन-सामग्री की स्मारिका होने से पूजनीय है। इस में बाधा वाली कौनसी बात है?

उत्तर—मूर्ति को यदि इसलिए ही पूजनीय मान लिया जाए कि वह जीवन-कल्याण की कारण-भूत सामग्री का स्मरण कराती है तो जीवन-निर्माण में सहायक वस्तुओं में सभी पदार्थ पूजनीय और नमस्करणीय स्वीकार करने पड़ेंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि भगवान का स्मरण कराने वाली मूर्ति का तो वंदन एवं स्तवन किया जाए और अन्य वस्तुएं जो कल्याण तथा मंगल स्वरूप गुरुदेव आदि अध्यात्म शक्तियों का स्मरण कराती हैं, उनको वंदन या उनका स्तवन न किया जाए। गुरुदेव भी तो जीवन के निर्माण का पाठ पढ़ाते हैं और ज्ञान-ध्यान की पुण्य सामग्री देकर जीवन का कल्याण करते हैं, तो

फिर इनके चरणों की स्मारक साधन सामग्री का पूजन और वंदन क्यों नहीं किया जाना चाहिए ? इस तथ्य को उदाहरणों से समझिए।

एक कागज़ है, उस पर हमारे आराध्य गुरुदेव ने अपने हाथों से महामन्त्र लिख रखा है। उस कागज़ को देखते ही पूज्य गुरुदेव का स्मरण हो आता है।

एक लाठी है, उसे गुरुदेव अपने हाथों में रखा करते थे, उसके सहारे चला करते थे। उस लाठी को देखकर गुरुमहाराज का पवित्र स्वरूप एकदम दर्शक के सामने साकार हो कर खड़ा हो जाता है।

एक मकान है, उस में गुरुदेव ने चातुर्मास कर रखा था। उस में रह कर गुरुदेव सत्य, अहिंसा के पावन उपदेश सुनाया करते थे, जन-गण-कल्याण-कारिणी जिनेन्द्रवाणी के स्रोत वहाया करते थे। जहां-जहां वैठ कर स्वयं दर्शक ने गुरुदेव से अध्यात्मवाद का पाठ पढ़ा था, उस-उस स्थान को देखते ही वन्दनीय गुरुदेव की स्मृति ताज़ा हो उठती है।

वह झांवां या पत्थर का टुकड़ा जिसके द्वारा गुरुदेव अपने पांव साफ किया करते थे, मार्ग में जो मल पांव को लग जाता था उसे उस से धोया करते थे, तथा जिसे गुरुदेव ने संभाल कर एक कोने में रख छोड़ा था, उसे देखते ही गुरुदेव के पांव धोने का दृश्य सामने आ खड़ा होता है, और उस से गुरुदेव की मंगलमूर्ति का स्मरण हो उठता है।

वह क़लम, जिस से गुरुदेव शास्त्र लिखा करते थे, शास्त्र-सम्पादन करके साहित्य भगवान् की अनुपम सेवा किया करते थे, उस क़लम को देखते ही गुरुदेव का शास्त्र-सम्पादन, उनके लिखने की धुन तथा साहित्य-सेवा की निष्ठा स्मृतिपथ हो जाती है। गुरुदेव के सतत परिश्रम तथा उनकी विलक्षण साहित्यसेवा की झांकी की स्मृति उस क़लम को देखते ही ताज़ा हो उठती है।

वह घड़ी, जो प्रायः सदा गुरुदेव के फट्टे के पास पड़ी रहती थी, सामायिक आदि अनुष्ठानों के लिए समय की जानकारी तथा व्याख्यान आदि के वास्ते जिस का सदैव प्रयोग होता था, उस को देख कर भी गुरुदेव के पुण्य दर्शनों की घड़ी याद आ जाती है।

वह पात्र, जो गुरुदेव के हाथों से गिर कर टूट गया था, तथा जिसके टुकडे गुरुदेव ने उठा कर एकान्त स्थान में रख दिए थे, उन का कोई साधु उपयोग कर रहा है, तो उन्हें देख कर सहसा गुरुदेव का स्मरण हो जाता है। अन्तरात्मा बोल उठती है कि ये उसी पात्र के टुकड़े हैं जो गुरुदेव के हाथ से गिर कर टूट गया था।

वह माला, जो गुरुदेव ने पलट दी थी, और जिसे गुरुदेव रोज़ अपने प्रयोग में लाया करते थे, जिस पर, "नमो अरिहन्ताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व-साहूणं" इन पांच पदों का मधुर स्वर से जाप किया करते थे। उस माला को हाथ में लेते ही गुरुदेव की मंगलमय पुण्य स्मृति हो उठती है।

इसी प्रकार वह पाट जिस पर गुरुदेव अधिकतया बैठा करते थे, वह रजोहरण जो गुरुदेव ने पलट दिया है। वह पुस्तक जो गुरुदेव व्याख्यान में लेकर सुनाया करते थे, तथा जिसके सम्बंध में गुरुदेव से एक श्रोता ने प्रश्नोत्तर किए थे। उसे हमें देख कर अपने पूज्य गुरुदेव की याद आ जाती है। यह सब जानते हैं कि गुरुदेव कल्याण-कारी हैं, मंगल के पुण्य स्रोत हैं तथा ज्ञान के जीवित विश्व कोष हैं, जिन का क्षण भर का सम्पर्क भी जीवन के मोड़ को मोड़ कर रख देता है, जीवन को अन्धकार से निकाल कर सत्य अहिंसा के महान प्रकाश में ले आता है। ऐसे पूज्य गुरुदेव का जिन-जिन वस्तुओं को देख कर स्मरण होता है, उन को नमस्कार क्यों न किया जाए? जब मूर्ति केवल भगवान् की स्मारिका होने से नमस्करणीय बन सकती है तो

महामहिम मंगलमूर्ति गुरुदेव की स्मारक सामग्री भी नमस्करणीय क्यों नहीं बन सकती ? भक्तराज कबीर के—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किस के लागू पाय ?
बलिहारी गुरुदेव के, जिस गोविंद दियो बताय ॥

ये शब्द तो स्पष्टतया प्रकट कर रहे हैं कि गुरु का स्थान भगवान् से भी ऊंचा, है तब तो गुरुदेव के पुण्य स्मरण की कारण सामग्री की भी अवश्य पूजा होनी चाहिए। पर मूर्ति-पूजक ऐसा करते नहीं हैं। जिन वस्तुओं से गुरुदेव की याद आती है, कोई मूर्तिपूजक उसे नमस्कार नहीं करता देखा गया। इस से यह प्रमाणित हो जाता है कि यदि मूर्ति जीवन-निर्माण में सहायक कारणसामग्री का स्मरण कराती है, इस लिए वह नमस्करणीय है, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं बन सकता और नाहीं इस में बौद्धिक या व्यावहारिक सत्यता है।

दूसरी बात यह भी है कि मूर्ति का काम यदि केवल भगवान् का स्मरण कराना है, तो मन्दिर में जाने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि मन्दिर जाने की भावना जब मन में आती है तभी व्यक्ति घर से मन्दिर की ओर प्रस्थान करता है, अन्यथा नहीं। जब घर में ही मन्दिर का ध्यान आ गया अर्थात् भगवान् का ध्यान आ गया, तो फिर मन्दिर में जाने का कोई उद्देश्य नहीं रहता। मूर्ति के आगे खड़ा होने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। मन्दिर की मूर्ति ने जिस भगवान् का स्मरण कराना था, उस का तो घर में ही स्मरण हो चुका है।

प्रश्न—मूर्ति जड़ है, यह सत्य है, किन्तु उस में यदि चेतन की भावना कर ली जाए तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—भावना सम्यक् और यथार्थ होनी चाहिए, तभी वह फलवती हो सकती है। लड़की में लड़के की भावना और लड़के में

लड़की की भावना करना किसी भी तरह संगत नहीं कहा जा सकता। भावना मनुष्य को पशु और पशु को मनुष्य नहीं बना सकती। गीता कहती है कि असत् सत् नहीं होता और सत् असत् नहीं बन सकता। यदि आग में पानी की भावना कर ली जाए तो आग पानी बन सकती है? या पानी आग का रूप ले सकता है? उत्तर स्पष्ट है, कभी नहीं।

कल्पना करो। एक व्यक्ति एक कागज़ के टुकड़े पर दस रुपए के नोट की भावना कर लेता है और फिर बाजार में जा कर मुंह मीठा करना चाहता है। कर सकेगा? कदापि नहीं। मुंह मीठा तो क्या होगा? उलटा यह अधिक संभव है कि उस पर दो चार थपेड़ पड़ जाएं। वास्तव में सत्यतापूर्ण भावना ही रंग लाया करती है। वही भवनाशिनी और कार्यसाधिनी हुआ करती है। असत्यपूर्ण भावना का कोई मूल्य नहीं होता। एक विधवा के पास उस के पति की पाषाण-प्रतिमा है, उसे वह हर-तरह संभाल कर रखती है। यदि वह स्त्री उस पाषाणप्रतिमा पर अपने पति की भावना कर ले, पति बुद्धि-से उस मूर्ति के दर्शन करने लगे तो क्या उस से उस का वैधव्य मिट जायगा? और वह संसार में सधवा कहला सकेगी? यदि भावना से ही सब काम बन सकते हों तब तो वह विधवा नारी भी पति की पाषाण-प्रतिमा पर पतिबुद्धि कर लेने के बाद सधवा बन जानी चाहिए। पर संसार में ऐसे कोई विधवा नारी सधवा नहीं बन सकी है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि जड़ में चेतन भगवान् की भावना कर लेने से जड़ मूर्ति भगवान् नहीं बन सकती।

प्रश्न—मूर्तिपूजा से मन टिकता है, अस्थिर मन स्थिर हो जाता है, इस लिए मूर्ति पूजा की आवश्यकता है। फिर

इस का निषेध क्यों ?

उत्तर—मूर्तिपूजा या मूर्ति को वन्दन करने से यदि मन टिकता हो, तब तो जितने भी मूर्तिपूजक हैं, सभी के मन टिक जाने चाहिए थे। किन्तु मूर्तिपूजा करते-करते, किसी को ५०, किसी को ६०, किसी को ७० वर्ष हो गए हैं, तब भी उन का मन नहीं टिका। अतः मूर्तिपूजा से मन टिकता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। यदि कहा जाए कि मूर्ति पर दृष्टि जमा कर मन को एकाग्र किया जा सकता है तो यह भी कोई सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि दृष्टि टिका कर मन को टिकाने के अन्य भी अनेकों साधन हैं। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमा कर मन को स्थिर किया जा सकता है और पांव के अंगूठे पर दृष्टि टिका कर मानसिक चंचलता को हटाया जा सकता है। इस तरह अन्य पदार्थों पर भी दृष्टि स्थिर करके मन को एकाग्र किया जा सकता है। केवल मूर्ति पर ही दृष्टि जमा कर मन को टिकाया जा सकता है, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। मानसिक एकाग्रता के लिए मूर्ति आदि का कोई प्रश्न नहीं है, वहां तो अभ्यास की आवश्यकता होती है। जिस किसी वस्तु पर दृष्टि टिका कर मन को एकाग्र करने का जितना-जितना अभ्यास बढ़ता चला जायगा, उतना-उतना मन एकाग्र होता चला जायगा। और चंचलता छोड़ता चला जायगा। वह अभ्यास किसी भी पदार्थ पर किया जा सकता है। मूर्ति की तो बात ही क्या है ? किसी दीवार पर दृष्टि जमा कर देखते चले जाएं, और उस अभ्यास को बढ़ाते चले जाएं तो एक दिन मन स्थिर हो जायगा। वस्तुतः मन की स्थिरता के लिए मूर्ति आदि किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए तो सतत अभ्यास की जरूरत है। और इसी लिए गीताकार ने मानसिक चंचलता को दूर करने के मूर्ति को साधन

न वता कर अभ्यास और वैराग्य इन दो साधनों में भी अभ्यास को सर्व प्रथम स्थान दिया है। अभ्यास के अनेकों उपाय हैं। मंत्रों को यदि स्वर के उतार-चढ़ाव के साथ पढ़ा जाए, और इस का अभ्यास वढ़ता चला जाए तो मन स्थिर हो सकता है। या मंत्रों को ज़रा मन्थर स्वर से वोलिए, और मुखनिःसृत मंत्र ध्वनि की ओर मन को लगा दीजिये, धीरे-धीरे इस में अभ्यास वढ़ा दीजिए तो एक दिन मन एकाग्र हो जाएगा। इस तरह अभ्यास मानसिक एकाग्रता में सहायक सिद्ध हो जाता है।

यह सत्य है कि मन को स्थिर करने के लिए यदि कोई मूर्ति का भी प्रयोग कर लेता है, तो इस में आपत्ति वाली कोई बात नहीं है। मूर्ति पर दृष्टि जमा कर किया गया अभ्यास भी मानसिक एकाग्रता का कारण वन सकता है। पर इस का यह मतलब नहीं कि मूर्ति को मस्तक झुकाया जाए, और उस पर पुष्प चढ़ाए जाएं, तिलक लगाया जाए या उसे भोग लगाया जाए। क्योंकि मूर्ति को सर झुकाना चेतनता का अपमान करना है। सोने, चांदी, पत्थर, या कागज़ आदि के किसी विशिष्ट आकार के सामने नतमस्तक होना मानव की महत्ता, और अनन्त सूर्यों के सूर्य आत्मदेव की अवहेलना करना है। वह मानव जो साधना की पगडण्डियों पर चल कर इन्द्रों के सिंहासनों को कम्पित कर सकता है, मुक्ति-पुरी के पट खोल सकता है, अध्यात्मवाद की समस्त शक्तियाँ जिसके जीवनाँगण में क्रीड़ाएं कर सकती हैं, संसार के निखिल अध्यात्म वैभव जिस के चरणों में विखरे पड़े हैं, उस महाशक्ति का एक पाषाण खण्ड के आगे अपने को नतमस्तक कर देना, मानवता तथा अध्यात्मवाद का सव से वड़ा तिरस्कार करना है, जिसको कभी न्यायसंगत और वुद्धिसंगत नहीं कहा जा सकता।

इसके अलावा, प्रकृति का एक नियम है। वह यह कि मनुष्य

का मन एक समय में एक ही काम कर सकता है, दो नहीं। इस नियम के अनुसार जब वह मूर्ति को देखता है तो उस समय मूर्तिमान भगवान् का स्मरण नहीं कर सकता, और जब वह मूर्तिमान भगवान् का ध्यान करता है तो उस समय मूर्ति का साक्षात्कार नहीं कर सकता। भले ही मूर्ति सामने पड़ी हो, आंखें भी खुली हों, परन्तु मन के प्रभु-ध्यान-मग्न होने पर मूर्ति दृष्टिगोचर नहीं हो सकती। क्योंकि मन को एक समय में एक ही काम करना होता है। मन जब प्रभु के गुणों में रमण करने लग जाता है तब उसका चक्षु इन्द्रिय से सम्बंध टूट जाता है। मन से असम्बन्धित चक्षु इन्द्रिय किसी भी पदार्थ का साक्षात्कार नहीं कर पाती। ऐसी दशा में मूर्ति मन को एकाग्र बनाने में कैसे कारण बन सकती है ?

प्रश्न–मूर्ति भगवान् का प्रतीक है, उसके सम्पर्क से बुरे विचारों का नाश होता है, और अच्छे विचारों की उत्पत्ति होती है। अतः मूर्ति का सम्मान भगवान् के समान क्यों नहीं किया जाना चाहिए ?

उत्तर–मूर्ति के सम्पर्क से बुरे विचार हट जाते हैं और अच्छे विचारों की प्राप्ति होती है, यह भी कोई सिद्धान्त नहीं है और नाहीं ऐसा संभव हो सकता है। व्यवहार भी इस बात का समर्थक नहीं है। एक बात बताइए, जिस कमरे में भगवान् की मूर्तियां लगी हुई हैं, उस कमरे में रहने वाले स्त्री-पुरुषों के मन में क्या कभी विकार पैदा नहीं होता ? वे सर्वदा निर्विकार रहते हैं ? और वे क्या वहां अपनी वासना-पूर्ति करते हैं या नहीं ? उत्तर स्पष्ट है। वहां सब कुछ होता है। भोग-विलास की सभी प्रवृत्तियाँ वहां चलती हैं। दम्पती जीवन के विलासी जीवन में उस कमरे में अवस्थित भगवान् की मूर्तियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह सत्य प्रतिदिन हमारे

अनुभव में आता है। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि मूर्ति का सम्पर्क पाकर बुरे विचार हट जाते हैं और विचारों में सात्त्विकता का संचार होता है। विश्वास रखो, विचारों की शुद्धि के साथ मूर्ति का सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा होता, तो जिस मकान की दीवारों पर भगवान् की मूर्तियां लगा रखी हैं उस में अवस्थित लोगों के वासनामय संस्कार समाप्त हो जाने चाहिएं थे और उन का अन्तर्जीवन सर्वथा सात्त्विक और निर्विकार बन जाना चाहिए था। पर ऐसा होता नहीं है।

मूर्ति द्वारा जीवन का विकास होता है, यह कथन सर्वथा असत्य है। क्योंकि चित्र ही यदि जीवन को बदल देने वाले होते तो चित्रकारों तथा चित्र-विक्रेताओं के जीवन अवश्य परिवर्तित हुए या निर्विकारी होते हुए दिखाई देने चाहिए थे। और वीतरागी जीवन को चित्रित करने वाला व्यक्ति अवश्य वीतरागता के उच्च शिखर पर पहुंच जाना चाहिए था। पर ऐसा होता नहीं है। और न कभी ऐसा हुआ है, और न कभी ऐसा हो सकेगा। अतः मूर्ति को जीवन के सुधार का या उन्नति का कारण नहीं कहा जा सकता।

इस के अलावा, समाचार-पत्रों द्वारा मन्दिरों में, धर्म-स्थानों में चोरी होजाने के समाचार प्रायः सदा सुनने को मिलते रहते हैं। कहीं यदि भगवान् का मुकुट चुरा लिया जाता है, कहीं जगदम्बा की नथ चुरा ली जाती है। इस प्रकार अनेकों दुर्घटनाएं सुनने को मिलती हैं। ऐसी दशा में मूर्ति का सम्पर्क विचारों की पवित्रता का कारण है, यह कैसे माना जा सकता है? मूर्ति विचारों की पवित्रता का कारण होती तो चोर जब मूर्ति का मुकुट चुराने आता है, उसके अन्य आभूषण चुरा कर ले जाता है तो उस समय उसके विचारों में पवित्रता क्यों नहीं उत्पन्न हो पाती? क्यों भगवान् और भगवती जगदम्बा उससे अपना आप लुटवा बैठते हैं?

प्रश्न—यदि मूर्ति की पूजा सर्वथा निरुपयोगी है तो फिर मूर्ति बनाने का उद्देश्य क्या है?

उत्तर—स्थानकवासी परम्परा को मूर्ति से कोई विरोध नहीं है। वह तो केवल उस की पूजा से विरोध रखती है। मूर्ति को हाथ जोड़ना, स्नान कराना, तिलक लगाना, भोग लगाना, शृंगारित करना, पुष्प आदि सामग्री चढ़ाना, तथा भगवान् की भांति उसकी प्रतिष्ठा करना अदि मान्यताओं का विरोध करती है। मूर्ति सर्वथा अनुपयोगी है, उसकी कोई भी उपयोगिता नहीं है, ऐसी धारणा स्थानकवासी परम्परा की नहीं है।

मूर्ति एक कला है। कलासाहित्य में मूर्ति का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है, उस की कला संज्ञा है। कला के दो प्रकार हैं। एक उपयोगी कला दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। इस के द्वारा मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएं पूर्ण होती हैं। ललित कला के अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला और काव्य कला ये पांच कलाएं आती हैं। वास्तुकला का आधार पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि है, जिस से इमारतें बनाई जाती हैं। चित्रकला का आधार कपड़ा, कागज़, लकड़ी का चित्रपट है, जिस पर चित्रकार अपने ब्रुश या क़लम की सहायता से भिन्न-भिन्न पदार्थों पर जीव-धारियों के प्राकृतिक रूपरंग और आकार आदि का अनुभव करता है। संगीत कला का आधार नाद है, जिस को या तो मनुष्य अपने कण्ठ से या कई प्रकार के यन्त्रों द्वारा उत्पन्न करता है। काव्य कला शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। रही मूर्ति कला की

वात, इसे नीचे की पंक्तियों में समझिए—

मूर्तिकला में मूल आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं, जिन्हें मूर्तिकार कांट, छांट या ढ़ाल कर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है ! मूर्तिकार की छैनी में असली संजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अन्तर्हित होते हैं। वह सब कुछ अर्थात् रंगरूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता है। केवल गति देना उसके सामर्थ्य से वाहिर होता है। जव तक कि वह किसी कल या पुर्जे का आवश्यक प्रयोग न करे। परन्तु ऐसा करना उसकी कला की सीमा से वाहिर है। उस में मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार (मकान आदि बनाने वाले) की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तरखण्ड या धातुखण्ड में जीव-धारियों की प्रतिच्छाया वड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्तिकला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता को प्रकाशित करना है।*

यदि मूर्ति के मूल इतिहास को टटोलने लगें तो पता चलेगा कि पहले-पहल मूर्ति के निर्माण में एक यही उद्देश्य होता था। किन्तु समय ने ऐसा चक्र चलाया कि उसमें अनेकों विकार आ गए और मूर्ति के पीछे जो मूल भावनाएं थीं, वे समाप्त हो गईं, तथा जड़त्व को समाप्त करके उसमें भगवान की कल्पना कर दी गई। भगवान् की भांति उस जड़खण्ड की भी आराधना और उपासना होने लगी। उस को सीस झुकाना, स्नान कराना, तिलक लगाना, उस पर पुष्पों की वर्षा करना, चावल आदि चढ़ाना, दीप और धूप जलाना, और न जाने क्या क्या सामग्री मूर्तिदेव के चरणों में अर्पित की जाने लगी। मूर्ति के पीछे यह जो व्यर्थ का हिंसापूर्ण आडम्बर लगा दिया

*"ललितकला कलाएं और काव्य" नामक लेख में, डा० श्याम सुन्दर जी।

गया है, इसी ने मूर्ति के मूल उद्देश्यों की हत्या कर दी है। फलतः मूर्तिपूजा के विरोध ने जन्म लिया, और मूर्तिपूजा को हिंसा-कृत्य तथा व्यर्थ का आडम्बर बता कर जन-मानस को अन्धकार से निकालने के लिए उसके निषेध का प्रचार होने लगा। ऐसा होना आवश्यक भी था, अन्यथा हिंसा और आडम्बर जनमानस पर सदा के लिए छा जाते।

प्रश्न—आजकल खुदाई में तीर्थंकर देवों की हज़ारों वर्ष पुरानी मूर्तियां निकलती हैं, यदि मूर्तिपूजा अर्वाचीन होती तो हज़ारों वर्ष पुरानी मूर्तियां न निकलतीं ? प्राचीन मूर्तियों की प्राप्ति ही इस बात का प्रमाण है कि पहले मूर्तिपूजा होती थी। फिर मूर्तिपूजा का निषेध क्यों ?

उत्तर—मूर्तिपूजा के निषेध का यह अर्थ नहीं है कि मूर्तियों का भी निषेध हो गया। मूर्तियों का निर्माण तो हज़ारों नहीं, लाखों वर्ष पूर्व का है। इस सत्य से कौन इन्कार कर सकता है ? ७२ कलाओं में से चित्रकला (मूर्ति-कला) भी एक कला है, कला की दृष्टि से मूर्ति का बड़ा ऊँचा स्थान है और यह भी मनुष्य की प्रतिभा का एक अनुपम चमत्कार है। इसी लिए इसे विशेषरूप से ७२ कलाओं में परिगणित किया गया है ? ७२ कलाएं भी स्वयं भगवान् आदिनाथ ने संसार को सिखाई थीं। अतः मूर्ति की प्राचीनता से कोई मत-भेद नहीं है। मतभेद तो मूर्तिपूजा से है। मूर्ति की पूजा करना, चेतन की भांति जड़ की उपासना करना और उसे स्नान कराना, तिलक लगाना, भोग लगाना, पुष्पादि चढ़ाना आदि जितनी भी प्रवृत्तियां हैं, इन का अध्यात्मवाद में कोई स्थान नहीं है।

पुरातत्त्व विभाग के पास खुदाई में जो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, एवं हो रही हैं या भविष्य में होंगी, उनसे केवल भारत की प्राचीन

मूर्तिकला का ही परिचय प्राप्त होता है। भारत के प्राचीन शिल्पी कितने मेधावी और प्रतिभाशाली होते थे? उनके हाथ में कितना विचित्र चमत्कार और अद्‌भुत आकर्षण रहता था? वे अपनी विचार-धारा को मूर्त रूप कैसे और कितनी सफलता के साथ देते थे? आदि सभी बातों की जानकारी प्राप्त होती है। परन्तु इससे मूर्तिपूजा को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अतः खुदाई में निकल रहीं प्राचीन मर्तियों से मूर्तिपूजा की प्राचीनता समझ लेने की भूल कदापि नहीं करना चाहिए।

मूर्ति प्राचीन है, इस लिए वह पूज्य समझी जाए या उसकी पूजा करनी चाहिए, यह कोई सिद्धान्त नहीं बन सकता। क्योंकि प्राचीन तो बहुत सी वस्तुएं मिल सकती हैं, तो क्या सभी की पूजा की जानी चाहिए? खुदाई में तो नानाविध बरतन भी निकलते हैं, अस्थियां भी निकलती हैं, तथा अन्य अनेकों पदार्थ भी निकलते हैं, पर इस का यह अर्थ तो कभी नहीं हो सकता कि वे प्राचीन हैं, इस लिए उनकी पूजा अवश्य होनी चाहिए। जैसे बरतन, अस्थियां आदि पदार्थ पूज्य नहीं माने जा सकते, बिल्कुल वैसी ही स्थिति मूर्तियों की भी है, मूर्तियों को प्राचीन समझ कर उन की पूजा नहीं की जा सकती।

प्रश्न—शास्त्रों* में साधु को चित्रित दीवार देखने का निषेध क्यों किया गया है?

उत्तर—साधु यदि चित्रों के देखने में व्यस्त रहेगा तो उसके ज्ञान-ध्यान में विघ्न पड़ेगा। साधु को ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय, तप, संयम आदि अनुष्ठानों में व्यस्त रहना पड़ता है तथा जन-मानस को सत्य, अहिंसा का उपदेशामृत पिलाना होता है। किन्तु चित्रों के देखने में लगे रहने से समय का दुरुपयोग होगा, और ज्ञान-ध्यान में भी

*"चित्तभित्तिं न निज्झाए" दशवैकालिक अ० ८/५५

विघ्न उपस्थित होगा, इस लिए शास्त्रों में साधु को चित्रित मकान में ठहरने या चित्रित दीवारों को देखने का निषेध किया गया है।

प्रश्न—स्थानकवासी लोगों के घरों में साधु, मुनिराजों के चित्र प्राय: देखने में आते हैं। क्या उन को वंदन करना चाहिए या नहीं? यदि नहीं तो वे क्यों लगाए जाते हैं?

उत्तर—पूर्व कहा जा चुका है कि मूर्ति का कला की दृष्टि से बड़ा महत्त्व-पूर्ण स्थान है। तथा ऐतिहासिक दृष्टि से यदि उसको देखा जाए तो उस से बड़ा लाभ होता है, किन्तु उसको वंदन करना या उसकी पूजा करना किसी तरह भी ठीक नहीं है। मूर्ति भगवान् महावीर की हो, आचार्य श्री, उपाध्याय श्री, गुरुदेव श्री या अन्य किसी मुनिराज की, कोई भी मूर्ति क्यों न हो, किसी को भी हाथ नहीं जोड़ना चाहिए। जड़ के आगे चेतनदेव को झुकाने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए।

रही बात, मूर्ति लगाने की, इसके सम्बंध में इतना ही कहना है कि यदि कोई व्यक्ति परिचय के लिए घरों या दुकानों में चित्र लगाता है। यह हमारे भगवान् महावीर की प्रतिच्छाया है, हमारे आचार्य भगवान् का शारीरिक आकार ऐसा है, या था इत्यादि बातों की जानकारी करने या कराने के लिए, चित्रों का प्रयोग करता है और हाथ नहीं जोड़ता, धूप नहीं जलाता, उस का पूजन या स्तवन नहीं करता तो सैद्धान्तिक दृष्टि से चित्रों के लगाने में कोई दोष नहीं है। स्थानकवासी परम्परा का विरोध मूर्ति से नहीं है बल्कि मूर्तिपूजा से है।

प्रश्न—देवी अथवा देवताओं की मूर्तियों या मढ़ी-मसानी आदि की पूजा व प्रतिष्ठा के सम्बंध में स्थानकवासी परम्परा

की क्या मान्यता है ?

उत्तर—संसार में दो प्रकार की प्रवृत्तियां पाई जाती हैं, प्रथम संसार-मूलक और दूसरी मोक्ष-मूलक। संसार-मूलक प्रवृत्ति सांसारिक जीवन का पोपण करती है जवकि मोक्षमूलक प्रवृत्ति उसका शोषण। सांसारिक प्रवृत्तियों से जन्म-मरण की वृद्धि होती है और अध्यात्म प्रवृत्तियां आत्मा का कल्याण करती हैं, जन्म-मरण की परम्परा से बचा कर आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में ले आती हैं, उसे परमात्मा बना डालती हैं।

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान धर्म है, वह आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए सर्वतोमुखी प्रेरणा प्रदान करता है। आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य परमसाध्य मोक्ष को प्राप्त करना होता है। संसार की मोह-माया उसके लिए बंधन रूप होती है। इसी लिए वह उसे अपनी प्रगति में बाधक समझता है। जन्म-मरण की पोषिका कोई भी प्रवृत्ति उसके लिए त्याज्य एवं हेय होती है, सांसारिकता को बढ़ाने वाली सभी चीज़ों से अध्यात्मजीवन का कोई लगाव नहीं होता। वह सदा उन से दूर रहता है। देवी, देवताओं की पूजा, मढ़ी-मसानी आदि की उपासना सांसारिकता का पोषण करती है, इसी लिए जैन धर्म, देवी देवताओं तथा मढ़ी-मसानी आदि की पूजा में कोई विश्वास नहीं रखता और आध्यात्मिक दृष्टि से उसका सर्वथा निषेध करता है। देवी-देवताओं की पूजा सांसारिकता का पोषण किस प्रकार करती है ? यह नीचे की पंक्तियों में समझ लीजिए।

मढ़ी-मसानी या देवी-देवता की पूजा करने वाला व्यक्ति यही समझ कर पूजा करता है कि इससे मुझे धन की प्राप्ति होगी। मेरा व्यापार चमकेगा। युद्ध में विजयलाभ होगा। मैं शासक बनूंगा।

मेरा परिवार सम्पन्न होगा, लड़के की शादी हो जायगी, ऐसी ही अन्य अनेकों लालसाएं होती है, इन्हीं के कारण मनुष्य देवी-देवता की पूजा करता है, देवी देवताओं के मन्दिर में जा कर अलख जगाता है।

धन, जन, परिवार आदि की लालसा मोह को जन्म देती है, या मोह का सम्वर्धन करती है। मोह से संसार की वृद्धि होती है। संसार की वृद्धि का अर्थ है—जन्म, मरण रूप दुःखों का वढ़ जाना। जन्म-मरण की परम्परा की वृद्धि मुमुक्षु प्राणी को कभी इष्ट नहीं होती। वह तो आत्मा को मोहमाया की बेड़ियों में जकड़ने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति से सदा दूर भागता है। कोई भी ऐसा काम नहीं करता जो उसकी आत्मा को मोक्ष से दूर ले जाए। इसी लिए आध्यात्मिक दृष्टि से मढ़ी, मसानी की पूजा मोहरूप एवं मोहवर्धक होने से त्याज्य मानी गई है।

यदि कोई कहे कि मढ़ी-मसानी या देवी-देवता की पूजा से मोक्ष की प्राप्ति होती है या स्वर्ग की उपलब्धि होती है तो यह उसकी भ्रान्ति है। देवी, देवता में ऐसा करने की शक्ति ही नहीं होती। अशक्त से शक्ति की प्रार्थना करने का कुछ अर्थ ही नहीं होता। धनहीन से जैसे कभी धन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वैसे ही मोक्ष रूप धन से हीन देवी-देवता से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। दूसरी वात यह कि जव देव देवरूप से स्वयं ही मुक्ति में नहीं जा सकता, और जव देव को देवायु समाप्त होने पर अनिच्छा में ही भूतल पर आना पड़ता है, तो वह दूसरों को मुक्ति और स्वर्ग कैसे प्रदान कर सकता है?

यह ठीक है कि जो लोग देव को कर्म फल का निमित्त मान कर देवपूजा करने वाले पर मिथ्यात्वी का आरोप लगाते हैं, यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि वह सम्यक्त्वी है। पदार्थों के सम्यक् वोध का नाम सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व का अभाव अर्थात् सत्य को असत्य, असत्य को

सत्य समझने का नाम मिथ्यात्व कहा गया है। पूजा करने वाले व्यक्ति का यह विश्वास है, और उसकी यह मान्यता है कि मैं जो देवपूजा कर रहा हूं, यह धर्म नहीं है, इस का धर्म से कोई सम्वंध नहीं है। वह यह भी भली भांति जानता है कि मैं यह मोहवर्धक काम कर रहा हूं, इस से मुझे कोई अध्यात्मलाभ नहीं हो सकता, उस की अन्तरात्मा सदा विचारती रहती है कि मैं क्या करूं? मैं गृहस्थ हूं, स्वयं जिस काम को संसारवर्धक मानता हूं, धर्मदृष्टि से जिसे अच्छा नहीं समझता हूं, पर लोक दिखावे के लिए या अपने ऐहिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए ये काम मुझे करने पड़ते हैं। जानता हूं कि वीतराग देव की भक्ति और स्तुति ही संसार-सागर से पार करने वाली है, मढ़ी-मसानी या देवी, देवता की पूजा से आत्मा का पतन होता है, संसार की वृद्धि होती है, तथापि मोहवश मुझे ऐसा करना पड़ रहा है, ऐसा सत्य विश्वास रखने पर भी उसे मिथ्यात्वी या सम्यक्त्वशून्य कैसे कहा व माना जा सकता है?

शास्त्रों के परिशीलन से पता चलता है कि शुभाशुभ कर्म फल की प्राप्ति में अनेकों निमित्त होते हैं। उनमें एक* देव भी है। देवनिमित्रता के शास्त्रों में यत्र तत्र अनेकों उदाहरण मिलते हैं। श्री कल्पसूत्र में लिखा है कि हरिणगमेशी देव ने गर्भस्थ भगवान् महावीर को देवानंदा की कुक्षि से महारानी त्रिशला के यहां परिवर्तित किया था। अन्तकृद्दशांग सूत्र का कहना है कि देव ने सेठानी सुलसा की सन्तति को माता देवकी के यहां, और देवकी की सन्तति को सेठानी सुलसा के यहां पहुंचाया था। श्री ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में लिखा है कि महाराज श्रेणिक के प्रधान मंत्री श्री अभयकुमार के मित्रदेव ने अकाल में मेघ बना कर माता धारिणी का दोहद पूर्ण किया था।

*स्थानांगसूत्र स्थान ५. उद्देशक २.

भगवान् महावीर का जीवन कहता है कि संगम देव भगवान् महावीर को लगातार छः महीने कष्ट देता रहा। इस के अतिरिक्त अन्य भी ऐसे अनेकों उदाहरण शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं, जिन में कर्मफल में देव की निमित्तता सुचारु रूप से प्रकट होती है।

"ऐहिक प्रवृत्तियों में देव बाधक या साधक बन सकता है" यह मान कर तथा "देवपूजा संसार-वर्धिका है" यह समझ कर जो व्यक्ति देवी, देवताओं की पूजा करता है, उस व्यक्ति को मिथ्यात्वी नहीं कहना चाहिए। यदि उसको मिथ्यात्वी मान लिया जायगा तो लगातार तीन उपवास करके देवता का आह्वान करने वाले, सम्यक्त्व के धनी चक्रवर्ती, तीर्थंकर, वासुदेव कृष्ण आदि सभी पूर्व पुरुष मिथ्यात्वी मानने पड़ेंगे। हां, यदि कोई देवी, देवताओं की पूजा को आत्मकल्याण का साधन मानता हो, और मढ़ी-मसानी की उपासना को धर्म समझता हो, तथा उसे मोहवर्धक न मानता हो तो वह एकान्त मिथ्यात्वी है। फिर उसके मिथ्यात्वी होने में कोई सन्देह नहीं है।

प्रश्न—देवपूजा मोहवर्धक होकर सांसारिकता का पोषण करती है तो सम्यक्त्वी का सम्यक्त्व देवपूजा से खण्डित नहीं होता ?

उत्तर—सत्य को सत्य समझना, और असत्य को असत्य के रूप में देखना, इस का नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वी बुराई को बुराई समझता है, और अच्छाई को अच्छाई के रूप में देखता है। जब बुराई को अच्छाई और अच्छाई को बुराई समझ लिया जाता है, तब सम्यक्त्व का घात होता है।

सम्यक्त्व का अर्थ यह नहीं होता कि जीवन में कोई भी भूल न हो। सम्यक्त्वी के जीवन में भी अनेकों दोष रह सकते हैं। सम्यक्त्वी

यदि गृहस्थ है, तो हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह आदि दोष उस में पाए जा सकते हैं, पर अन्तर इतना रहता है कि सम्यक्त्वी इन दोषों को दोष ही समझता है, इन कार्यों को जीवन का दूषण मानता है, इस के विपरीत मिथ्यात्वी इनको दोष नहीं समझता वह इन्हें जीवन का भूषण मान कर चलता है। दूषण को दूषण समझना सम्यक्त्व है, और दूषण को भूषण मानना मिथ्यात्व है।

"देवी देवताओं का पूजन, स्तवन, मोहमाया का सम्वर्धक है" यह ज्ञान रखता हुआ सम्यक्त्वी यदि देवपूजन करता है, तो समझना चाहिए कि सम्यक्त्वी के पास अभी सम्यक् विश्वास ही है, पर अभी वह तदनुसार आचरणशील नहीं बन सका। यह सत्य है कि सम्यक्त्व जब आचरण का स्थान ले लेता है तभी वह निर्वाण का कारण बनता है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि जो सम्यक्त्व आचरण का स्थान नहीं ले पाता, उसका जीवन में क्या फायदा है? इसका उत्तर यह है कि सम्यक्त्व का यह फायदा होता है कि सम्यक्त्वी संसार-वर्धक कार्यों को हेय समझता है। उन को दुःखों का उत्पादक जानता है और उन को छोड़ने का प्रयत्न करता है। यदि करता भी है तो विवशता से करता है और धीरे-धीरे उन से भी अलग रहने का प्रयास करता रहता है, किन्तु सम्यक्त्व-विहीन मनुष्य बुराई को बुराई नहीं समझता है और कभी उस बुराई को छोड़ने का प्रयास भी नहीं करता है, सदा उसमें संलग्न रहता है, सक्षेप में कहा जाए तो सम्यक्त्वी का सुधार संभव है, किन्तु मिथ्यात्वी का सर्वथा असंभव।

जैनधर्म और विश्वसमस्याएं

सतरहवां अध्याय

प्रश्न—जैनधर्म विश्व के निर्माण एवं कल्याण के लिए कैसे सहकारी वन सकता है? विश्व की समस्याओं को समाहित करने में इस की क्या उपयोगिता है?

उत्तर—जैनधर्म विश्वकल्याण का प्रतीक वन कर ही संसार के सन्मुख उपस्थित होता है, और विश्व की समस्याओं को समाहित करने में इस में अत्यन्त उपयोगिता तथा उपादेयता है। वह कैसे है? इसे समझने से पूर्व धर्म की उपयोगिता को समझ लीजिए।

धर्म की सृष्टि व्यक्ति के उत्थान और कल्याण के लिए ही की गई है। इस का कारण स्पष्ट है कि व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, और विश्व से कोई अलग वस्तु नहीं है। व्यक्तियों का समूह परिवार है, परिवारों का समूह समाज है। समाजों का समूह राष्ट्र और राष्ट्रों का समूह ही विश्व के नाम से पुकारा जाता है। अतः आज जिन्हें विश्व की समस्याएं कहा जाता है, वास्तव में उन्हें विश्व में वसने वाले व्यक्तियों की ही समस्याएं समझना चाहिए। यह सत्य है कि व्यक्ति एक एकाई है, किन्तु अनेक एकाइयाँ मिलकर ही दहाई, सैंकड़ा, हज़ार आदि संख्याएं वनती हैं। अतः व्यक्ति के उत्थान के लिए जन्मा हुआ धर्म जव किसी खास व्यक्ति के अभ्युत्थान का कारण न वन कर व्यक्ति मात्र के अभ्युत्थान का कारण वनता है, तव वह विश्व के भी उत्थान का कारण वन सकता है। इसके विपरीत जो धर्म व्यक्ति की समस्याओं को समाहित नहीं कर पाता उस से विश्व की समस्याएं समाहित हो सकेंगी, ऐसा नहीं कहा जा

सकता। इस लिए जैनधर्म का विश्वास है कि धर्म का प्रादुर्भाव व्यक्ति के कल्याण के लिए हुआ है, और उससे जब समष्टि का कल्याण होता है, तब विश्व की समस्याएं अपने-आप समाहित हो जाती हैं।

वर्तमान युग को हम अशान्ति का युग कह सकते हैं। आज संसार के सभी देशों तथा प्रदेशों की स्थितियों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि आज कोई भी ऐसा राष्ट्र नहीं है, जिस में किसी न किसी प्रकार की अशान्ति न हो। सभी देश चिन्ता और भय से ग्रस्त हो रहे हैं। छोटे-बड़े सभी लोग दुःखों के प्रहारों से आहत हैं। कहीं अन्न की समस्या है तो कहीं वस्त्र की। कहीं राजनैतिक समस्याएं उलझ रही हैं तो कहीं साम्प्रदायिक समस्याएं देश की शान्ति को नष्ट कर रही हैं। कहीं भाषा का मोह उपद्रव मचा रहा है तो कहीं प्रान्तीयता की भावना भूचाल ला रही है। इस प्रकार सारा संसार दुःखों की भट्ठी में जल रहा है।

दुखों की इस आग को शान्त करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र प्रयत्नशील है। बड़ी-बड़ी विस्तृत अर्थसाध्य योजनाएं बनाई जा रही हैं। शस्त्र-अस्त्रों के बनाने के लिए फैक्टरियाँ खोली जा रही हैं। परमाणु बम, हाईड्रोजन बम तथा नाइड्रोजन आदि विविध बम तैयार किए जा रहे हैं। इसके अलावा, अन्य अनेकविध नरसंहारक गैसें भी बनाई जा रही हैं, तथा हजारों मील ऊंचे आकाश में उड़ने वाले राकेट तैयार किए गए हैं। ये वे शान्ति के साधन हैं जो प्रकाश में आ चुके हैं। परोक्ष में न जाने कितने जहरीले शस्त्र बनाए गए हैं या बनाए जा रहे हैं। इन साधनों से आशा की जा रही है कि विश्व में शान्ति की स्थापना होगी। विश्व की समस्त समस्याएं समाहित की जाएंगी। मानव का भविष्य सुरक्षित, निरापद बन सकेगा। अधिक क्या? समझा जा रहा है कि इस सामग्री द्वारा स्वर्ग को भूतल पर ला कर रख दिया जाएगा।

आज के वैज्ञानिक कुछ भी समझते रहें और कुछ भी कहते रहें किन्तु यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि विज्ञानजन्य युद्ध-सामग्री चाहे कितनी भी जुटा ली जाए, और चाहे कितने भी बम तैयार कर लिए जाएं पर इस से संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। ये युद्धसाधन विश्व की समस्याओं को कभी समाहित नहीं कर सकते। मकान की नींव में पानी डाल कर उसकी दृढ़ता के स्वप्न देखने से क्या मकान की नींव दृढ़ हो सकती है? आग से आग को शान्त किया जा सकता है? यदि गंभीरता से विचार किया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि आज का मानव धधकते अंगारों को चमकता हुआ हीरा समझ बैठा है, आक के बीज बोकर आम्रफल खाना चाहता है। खून से सने वस्त्र को खून से शुद्ध करना चाहता है और हिंसा की आग से विश्व के उद्यान को हराभरा देखना चाहता है। पर यह उसकी भूल है। विश्व में शस्त्रों, अस्त्रों से शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। बड़े-बड़े बम भी विश्व की समस्याओं को समाप्त नहीं कर सकते। इन हिंसापूर्ण साधनों द्वारा विश्व में अमन स्थापित करने का विचार स्वप्न ही समझना चाहिए। यह सत्यता तथा यथार्थता का रूप कभी नहीं ले सकता।

विश्व की समस्याओं का समाधान न युद्ध से हो सकता है, और न युद्धजनक शस्त्र-अस्त्रों का निर्माण करके संसार को भयभीत करने से। विश्व की समस्याओं का समाधान जब कभी होगा तो वह केवल जैनधर्म के निर्दिष्ट अहिंसा के महापथ पर चलने से ही होगा। अहिंसा ही संसार में शान्ति की स्थापना कर सकती है और अहिंसा ही स्वार्थ की भावना को मिटा कर विश्व में भ्रातृभावना का प्रसार कर सकती है। किसी के साथ बुरी भावना या द्वेषभाव न रख कर सभी के साथ प्रेम और मित्रता का व्यवहार करना अहिंसा है। अहिंसा कहती है कि विश्व के सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं,

मरना कोई नहीं चाहता। दुःख, वेदना, सभी को अप्रिय है। इसलिए किसी जीव को दुःख नहीं देना चाहिए। दूसरों को सता कर प्राप्त किया गया सुख सच्चा सुख नहीं होता। इसके अलावा, कोई व्यक्ति यदि अपने सुख के लिए किसी को सताता है तो यह स्वाभाविक ही है कि दूसरा व्यक्ति भी समय पाकर पहले व्यक्ति को सताएगा। इस प्रकार यदि दूसरों को सता कर सुख प्राप्त करने का सिद्धान्त अपना लिया जाए तो एक दिन सभी जीव दुःखी हो जाएंगे। ढूण्ढने पर भी संसार में कोई सुखी नहीं मिल सकेगा। अतः किसी का अनिष्ट नहीं करना चाहिए।

किसी भी कार्य को करने से पहले यह विचार कर लेना चाहिए कि मेरे इस कार्य से किसी को हानि तो नहीं पहुंचती, किसी का जीवन स्वाहा तो नहीं होता, यदि ऐसा होता हो तो उस कार्य को नहीं करना चाहिए। क्योंकि तुम यदि किसी के हित की चिन्ता करते हो, उसे सुरक्षित रखते हो, तो तुम्हारा हित भी दूसरों द्वारा सुरक्षित रह सकेगा। वस्तुतः "सुखी रहें सब जीव जगत के, कोई कभी न घबरावे" की मंगल कामना ही मानव जगत को आधि, व्याधि और उपाधि जन्य दुःखों से मुक्त कर सकती है और यही भावना परिवार, समाज और राष्ट्र के संघर्षों का अन्त करके विश्व की समस्त समस्याओं को समाहित कर सकती है।

अहिंसा—सिद्धान्त ही विश्व में शान्ति की स्थापना कर सकता है, इस सत्य को प्रमाणित करने के लिए किसी प्राचीन इतिहास को टटोलने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान का इतिहास ही अहिंसा की महत्ता, विश्व की समस्याओं को समाहित करने में, उसकी क्षमता को प्रकट करने में में पर्याप्त है। कोरिया का युद्ध जो विश्वयुद्ध की भूमिका बनता जा रहा था, वह शान्त किस ने किया था? अमेरिका के परमाणुबम, रूस और चीन की प्रचण्ड सैन्यशक्ति जिस युद्ध की

आग को शान्त नहीं कर पाई थी, उस आग पर किसने पानी डाला था? एक कण्ठ से नहीं, हज़ारों कण्ठों से यही कहना होगा कि अहिंसा ने। कोरिया के मैदानों में शान्ति तथा अमन का ध्वज अहिंसा ने लहराया था। इतिहास बताता है कि जब भी कहीं सेना भेजी जाती रही है तो वह केवल शत्रुओं का दमन करने के लिए या अपनी महत्ता का विकास करने के लिए, किन्तु केवल विश्वबन्धुत्व और शान्ति स्थापित करने के लिए आज तक कोई भी सेना किसी भी राष्ट्र की ओर से नहीं भेजी गई। अहिंसा के अग्रदूत भारत वर्ष ने कोरिया में अपनी सेनाएं भेज कर अपना राष्ट्रीय कर्तव्य पालन करने के साथ-साथ अहिंसा की सार्वभौमिकता तथा विश्व-समस्याओं को समाहित करने में उसकी क्षमता को सिद्ध करने का बहुत उत्तम प्रयास किया है।

अहिंसा-सिद्धान्त विश्व को सर्वतोमुखी अभ्युदय और शान्ति का विश्वास प्रदान करता है। इतिहास इस बात का गवाह है कि जैन नरेश चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में प्रजा का जीवन बड़ा शान्तिपूर्ण और पवित्र था, वैरविरोध, ईर्षाद्वेष तथा हिंसा, असत्य आदि पापों से प्रजा प्रायः दूर रहती थी, वह उन्नति और समृद्धि के शिखर पर विराजमान थी। वर्तमानयुग में भी अहिंसा के महाप्रकाश में जो लोग अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक समृद्ध और सुखी नजर आते हैं। यह बात भारत सरकार के रिकार्ड में भली भांति देखी जा सकती है, जिसके आधार पर एक बार एक उच्च राष्ट्रीय राजकर्मचारी ने कहा था कि "फौजदारी अपराध करने वालों में जैनों की संख्या प्रायः शून्य है। जैनों का परम आराध्य धर्म अहिंसा है। जैनों में फौजदारी की वृत्ति की न्यूनता का कारण उन की अहिंसकता ही है"।

आज स्वार्थ-परायणता ने मानव पर अपना अखण्ड साम्राज्य

स्थापित कर लिया है। स्वार्थ-साधना के लिए आज का मनुष्य उचित, अनुचित, कर्तव्य, अकर्तव्य का कोई विचार नहीं करता। स्वार्थ की पूर्ति होनी चाहिए, उसके लिए अनैतिकता का नग्न नृत्य भी क्यों न करना पड़े। "हम ही आगे रहें, दूसरा चाहे कहीं जावे"। इस स्वार्थपूर्ण दृष्टि को आगे रखकर बड़े ऊंचे-ऊंचे सिद्धान्तों की घोषणा की जाती है, जिस प्रकार पंचतंत्र का बूढ़ा बाघ अपने आप को बड़ा भारी अहिंसाव्रती बताकर प्रत्येक पथिक से कहा करता था—"इदं सुवर्ण-कंकण गृह्यताम्'। और जिस प्रकार एक ग़रीब ब्राह्मण उस बाघ के चक्र में आकर प्राणों से हाथ धो बैठा था वैसे ही उच्च सिद्धान्तों की घोषणा करने वाले लोगों के फन्दे में लोग फंस जाते हैं और नाना प्रकार के असह्य दुःखों का उपभोग करते हैं। आश्रितों का शोषण, अपनी श्रेयता का अहंकार, दूसरों से घृणा और प्रतिहिंसा की तीव्र भावना ही आज के उन्नत और सशक्त कहे जाने वाले राष्ट्रों के जीवन का आधार है। पारस्परिक सहानुभूति, समवेदना और सहयोग आदि की बातें आज प्रायः वाचनिक आश्वासन का स्थान ले चुकी हैं। इसका कारण केवल स्वार्थपरायणता है। वस्तुतः स्वार्थ की अविस्थति में मनुष्य बड़े से बड़ा पाप करने को सन्नद्ध हो जाता है। हीरोशिमा द्वीप के नर-संहार को कौन नहीं जानता? अमेरिका ने वहां अणुबम गिरा कर लाखों जापानियों को स्वाहा कर दिया था। अपने स्वार्थ के लिये अन्य देश अथवा राष्ट्र के बच्चे, महिलाओं आदि के जीवन का कोई भी मूल्य नहीं रहता। वे क्षण भर में मौत के घाट उतार दिए जाते हैं। जहां तक ऊपर की चर्चा का सम्बन्ध है, वहां तक तो प्रत्येक राष्ट्र मानवता, करुणा, विश्वप्रेम की ऐसी मोहक बातों की चर्चा करता है, और अपने कामों में इतनी नैतिकता दिखाता है कि नीति, विज्ञान के आचार्य भी चकित रह जाते हैं, किन्तु जब आचरण का प्रश्न आता है तो सब

अपना-अपना स्वार्थ साधते हैं। मानवता और विश्वप्रेम की भावना न जाने कहाँ छिप जाती है। रामायण में वर्णित वकराज ने पम्पासरोवर के निकट मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम जैसे युगपुरुष को भी चारित्र के बारे में भ्रांत बना दिया था और वे इसे धार्मिक सोचने लगे थे? पीछे उनका भ्रम भी दूर हो गया था। आजके स्वार्थप्रिय लोग भी रामायण के वकराज की भांति मानवजगत को भ्रान्त कर रहे हैं। नैतिकता की चर्चा में अपने को बड़े प्रामाणिक और सर्वथा दूध धोए प्रकट करते हैं किन्तु जब आचरण की घड़ी आती है तो वकराज की भाँति मछलियों को हड़प कर जाते हैं, अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए मानवता की अरथी निकाल देते हैं। महाकवि अकबर ने ठीक ही कहा है—

> इल्मी तरक़्क़ियों से ज़बां तो चमक गई।
> लेकिन अमल हैं इनके, फ़रेबो दग़ा के साथ ॥

आज का युग यंत्रों का युग है। यंत्रों का आश्रय पा कर खाद्य वस्तुएं पहले की अपेक्षा आज अधिक परिमाण में उत्पन्न की जा रही है। अन्नोत्पादन खूब प्रगति कर रहा है, टरैक्टरों द्वारा कृषिकर्म को प्रत्येक दृष्टि से समुन्नत किया जा रहा है। तथापि आज मानव रोटी की समस्या का समाधान नहीं कर पाया। अन्ना-भाव के कारण अन्न की स्वल्पता से आज अनेकों राष्ट्र व्याकुल हैं। हज़ारों जीवन अन्न न मिलने के कारण मृत्यु का ग्रास बन रहे हैं। यह सब कुछ क्यों हो रहा है? गंभीरता के साथ विचार करेंगे तो इस में स्वार्थमय वृत्तियों का ही प्रभुत्व मिलेगा। लाखों टन गेहूं तथा अन्य बहुमूल्यखाद्य सामग्री इस लिए जला दी जाती है, या नष्ट कर दी जाती है कि बाज़ार का निर्धारित भाव नीचे न जाने पावे और उस से जो लाभ होता है, वह सुरक्षित बना रहे। विदेशों की बात जाने

दीजिए। बंगाल सरकार ने लाखों बंगालियों को दाने के कण-कण के लिए तरसाया, उन्हें मृत्यु की भेंट हो जाने दिया, किन्तु सरकारी धान्यराशि को हवा तक नहीं लगने दी, हज़ारों मन धान्य सड़ कर नष्ट हो गया पर प्रजा के हितार्थ उस का उपयोग नहीं किया गया। क्या किया जाए? आज की राजनीति की चाल ही ऐसी विचित्र है कि कुछ कहते नहीं बनता, उसके आगे स्वार्थपोषण के अलावा अन्य जनहितसाधक तथा नैतिक तत्त्वों का कोई मूल्य नहीं है। इसी लिए जैन धर्म कहता है कि जब तक स्वार्थपरायणता का बहिष्कार नहीं होता और अहिंसा भगवती का सत्कार नहीं होता तब तक अन्नादि समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। जैन-धर्म का विश्वास है कि "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की मंगलमय कामना का यदि प्रत्येक जनमानस में स्रोत प्रवाहित होने लग जाए तो संसार में दुःख ढूंढने पर भी न मिले और विश्व की सभी समस्याएं एकदम सुलझ जाएं।

अहिंसा-सिद्धान्त विश्व की प्रत्येक समस्या का समाधान करता है, इसके शासन में कोई भी समस्या असमाहित नहीं रहने पाती। अहिंसा के शासन में युद्ध-भावना तो जीवन का सदा के लिए साथ छोड़ देती है। मानव सच्चा मानव बन जाता है, उसे सभी हिंसक प्रवृत्तियों से घृणा हो जाती है, उसका हृदय सदा दया और करुणा से छलछला उठता है, सम्राट् अशोक को कौन नहीं जानता? सम्राट् अशोक ने अपनी कलिंग विजय में जब लाख से ऊपर मनुष्यों की मृत्यु का भीषण दृश्य देखा तो उसकी अन्तरात्मा तिलमिला उठी, उसमें अहिंसा के महा प्रकाश का उदय हुआ। जब से अशोक के मन-मन्दिर में अहिंसा भगवती ने आसन जमाया, तभी से उन्होंने जगत भर में अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि के उज्ज्वल भाव उत्पन्न करने में अपना और अपने विशाल साम्राज्य की शक्ति का उपयोग किया। किन्तु आज की बात निराली ही है। हीरोशिमा द्वीप में लाखों जापानियों को मौत

के घाट उतार कर भी अमेरीका की आंखों का खून नहीं उतरा और न वहां पश्चात्ताप का ही उदय हुआ है। पश्चात्ताप हो भी क्यों? हिंसा के प्रति पश्चात्ताप अहिंसक को ही हो सकता है। अहिंसा भगवती के चरणों की सेवा किए बिना पश्चात्ताप की भावना पैदा नहीं हो सकती। अहिंसक मानस ही किसी दुःखी को देख कर करुणा के आंसू बहा सकता है और हिंसक वृत्तियों के लिए पश्चात्ताप किया करता है, स्वार्थी और अपने ही में घिरा रहने वाला व्यक्ति दूसरे की वेदना की क्यों चिन्ता करे ?

लोग सिंह और बाघ जैसे पशुओं को क्रूर कहते हैं, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मानव की क्रूरता पशुओं से बहुत बढ़ी चढ़ी है, मानव की क्रूरता के सामने पशुओं की क्रूरता किसी गिनती में नहीं है। युद्धों में होने वाले हजारों, लाखों मनुष्यों के संहार के समक्ष पशुओं द्वारा की गई हिंसा कुछ भी नहीं है। पशुओं की क्रूरता अपनी खुराक तक सीमित रहती है, परन्तु मनुष्य तो भोजन के सिवाय अन्य कई विलासप्रिय साधनों के लिए तथा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्त्ति के निमित्त क्रूरता का ताण्डव नृत्य करता रहता है। मनुष्य ने पशुओं को अधिक संख्या में मारा है या पशुओं ने मनुष्य को अधिक तादाद में मारा है? इस का यदि हम विचार करने लगें तो यह सहज में ही प्रतीत हो जायगा कि पशुओं ने जितने मनुष्य मारे होंगे उनसे सैंकड़ों, नहीं नहीं, लाख गुणा अधिक पशुओं को मनुष्य ने मारा होगा ? इससे बढ़कर मनुष्य की स्वार्थप्रियता और अज्ञानता का कौन सा उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है ?

विश्व में यदि अहिंसा का प्रसार हो जाए और प्रत्येक राष्ट्र अहिंसक भावनाओं को अपना ले तो यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि विश्व में शान्ति स्थापित होने में कुछ भी देर न लगे। वस्तुत: भावना के परिवर्तन की ही आवश्यकता है। हिंसक भावना

को छोड़ कर यदि अहिंसक भावना का निर्माण कर लिया जाए तो हिंसाजनक साधन भी हिंसक नहीं रहने पाते, उनका सदुपयोग होने से वे अहिंसकता का ही रूप ले सकते हैं। पिछले दो सौ वर्षों में विज्ञान ने खूब उन्नति की है, उसने ऐसे-ऐसे यंत्र प्रदान किए हैं, जो विश्व का संरक्षण और संहार, दोनों ही कार्य कर सकते हैं। यदि उनका अच्छा उपयोग किया जाए तो उससे विश्व का संरक्षण और यदि उनका बुरा उपयोग किया जाए तो उससे विश्व का संहार भी हो सकता है। वास्तव में वस्तु का लाभ और अलाभ उसके सद् और असद् उपयोग पर निर्भर हुआ करता है। विद्या जैसी उत्तम वस्तु भी दुर्जन के हाथ में जाकर ज्ञान के स्थान में विवाद को जन्म दे देती है। धन को पाकर दुर्जन अभिमानी हो जाता है, किन्तु सज्जन उससे परोपकार करता है। शक्ति पाकर एक व्यक्ति दूसरे को सताता है और दूसरा उसी से आततायियों के हाथों से पीड़ितों की रक्षा करता है। विज्ञान-जनित यंत्र भी एक प्रकार की शक्ति है, यदि देश, जाति के उत्थान तथा निर्माण के लिए उस का उपयोग किया जाए तो वह मनुष्यता के लिए वरदान प्रमाणित हो सकती है किन्तु यह सब कुछ अहिंसा की छाया तले बैठ कर ही हो सकता है।

आज विज्ञान ने दूरी का अन्त कर दिया है, एक दूसरे को एक दूसरे के निकट ला कर खड़ा कर दिया है। विश्व की विभिन्न जातियों और राष्ट्रों को इतना समीप ला दिया है कि वे यदि परस्पर संबद्ध हो कर रहना चाहें तो एक सूत्र में बद्ध हो कर रह सकते हैं। संगठन के अनेक नए साधन आज के विज्ञान ने प्रस्तुत किए हैं, किन्तु आज उन का उपयोग संगठन के लिए हो रहा है, या विघटन के लिए? यह स्वयं सोचा जा सकता है। जंगल में शिकार की खोज में भटकने वाला व्याघ्र अपने नुकीले पंजों, अपने

पैने दांतों का जैसा उपयोग अपने शिकार के साथ करता है। वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न राष्ट्र भी दूसरे राष्ट्रों की छाती पर आज अपने वैज्ञानिक साधनों का वैसा ही उपयोग करते दिखलाई देते हैं। फलतः युद्धों की सृष्टि होती है और राष्ट्रों का धन तथा जनबल उनकी भेंट चढ़ा दिया जाता है। स्वार्थ का पिशाच मानवता की अरथी निकाल कर छोड़ता है। स्वार्थ की उपशान्ति किए विना इन युद्धों को उपशान्त नहीं किया जा सकता। स्वार्थ-शमन केवल अहिंसा के आश्रयण और आसेवन से ही हो सकता है। अहिंसा के औषध विना इस महारोग का अन्य कोई प्रतिकार नहीं है।

अहिंसा की उपयोगिता और उपादेयता का आज अनुभव किया जाने लगा है। युद्ध के महाविनाश ने युद्ध करने वालों को भी भयभीत कर दिया है और अहिंसा-तत्व पर विचार करने के लिए उन्हें भी विवश कर दिया है। अव लोग यह सोचने लग गए हैं कि अहिंसा को छोड़ कर हम शान्ति पा नहीं सकते। अव सव चाहते हैं कि युद्ध न हों किन्तु युद्ध के जो कारण हैं उन्हें कोई नहीं छोड़ता। सर्वत्र राजनैतिक और आर्थिक संघटनों में पारस्परिक अविश्वास और प्रतिहिंसा की भावना छिपी हुई है। दूसरों को वेवकूफ वना कर अपना कार्य साधना ही सव का मूल मंत्र वना हुआ है। राष्ट्रों और जातियों के वीच में आज हिंसामूलक व्यवहार का प्राधान्य है। स्वार्थपरता, वेइमानी, धोखेवाजी ये सव हिंसा के ही रूपान्तर हैं। इनके रहते हुए जैसे दो व्यक्तियों में प्रीति और मैत्री नहीं हो सकती। प्रीति और मैत्री की संस्थापना तो "जीओ और जीने दो" का सर्वोत्तम सिद्धान्त ही कर सकता है। जव तक विभिन्न जातियां और देश इस सिद्धान्त को नहीं अपनाते, तव तक विश्व की समस्याएं नहीं सुलझ सकतीं, वल्कि और उन में अधिक टकराव होगा। अतः विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिए राष्ट्रों की

शासन-प्रणाली में आमूल परिवर्तन होना चाहिए। सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं में संशोधन होना चाहिए। किन्तु यह परिवर्तन और संशोधन अहिंसा-सिद्धान्त को जीवन-पथ के रूप में अपना कर किया जाना चाहिए। अहिंसा की भावना के नेतृत्व के बिना किया गया कोई भी काम धीरे-धीरे हिंसा की ओर ही अग्रेसर होता चला जाता है, अतः जो कुछ भी हो वह अहिंसा के नेतृत्व में ही हो। पर इस के साथ-साथ इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि बलप्रयोग के आधार पर मानवीय सम्बन्धों की भित्ति कभी खड़ी नहीं की जा सकती। कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन के निर्माण में बहुत अंशों तक सहानुभूति, दया, प्रेम तथा सौहार्द की नितान्त आवश्यकता रहती है।

आज जिन देशों में प्रजातंत्र है, उन देशों में यद्यपि अपनी-अपनी जनता के सुख-दुःख का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है, किन्तु दूसरे देशों की जनता के साथ वैसा उत्तम व्यवहार नहीं किया जाता। बातें तो बहुत सात्त्विक और तत्त्वनिर्माण की जाती हैं, परन्तु व्यवहार उन से बिल्कुल उलटा किया जाता है। दूसरे देशों पर अपना स्वत्व बनाए रखने के लिए राजनैतिक गुटबंदियां की जाती हैं, उनके विरुद्ध प्रचार करने के लिए लाखों रुपया स्वाहा किया जाता है, और इस पर भी यह कहा जाता है कि हम उन की भलाई के लिए उन पर शासन कर रहे हैं। शासनतंत्र के द्वारा अपना अधिकार जमा कर उन देशों के धन और जनबल का मनमाना उपयोग किया जाता है। यह सब हिंसा नहीं तो और क्या है? यदि राष्ट्रों का निर्माण अहिंसा के आधार पर किया जाए और हिंसक व्यवहार को कोई स्थान न दिया जाए तो राष्ट्रों में पारस्परिक अविश्वास और प्रतिहिंसा की भावना देखने को भी न मिले। समस्त राष्ट्रों का एक विश्वसंघ हो, जिस में समस्त राष्ट्र, समाज

भ्रातृभाव के आधार पर एक कुटुम्ब के रूप में सम्मिलित हों, न कोई किसी का शासक हो और न कोई शास्य हो। सब के सब सुख-दुःख का बराबर ध्यान रखें। सब के साथ सब का मैत्रीभाव हो, इस तरह "वसुधैव कुटुम्बकम्" के पवित्र और अहिंसक सिद्धान्त को चरितार्थ करके यदि सब राष्ट्र अपनी-अपनी नीयतों की सफाई कर लें और एक प्रेमसूत्र में बंध जावें, तो न कोई युद्ध हो और न युद्ध के भीषण संकटों से जनता को असीम कष्ट भोगना पड़े।

भाषा और प्रान्तीयता को लेकर जो विवाद होते हैं, साम्प्रदायिकता के व्यामोह ने जनमानस को जो पागल बना रखा है, अन्न और वस्त्र के लिए जो उपद्रव किए जाते हैं, तथा अर्थ-समस्या को आधार बना कर मानव के रक्त से जो होली खेली जाती है। ये सब अनर्थ भी सदा के लिए समाप्त हो सकते हैं। मानव जगत आनंद और शान्ति का महामन्दिर बन सकता है। शर्त एक है और वह यह कि सर्वत्र अहिंसा की ही पूजा हो। प्रत्येक मानव अपने मनमन्दिर में भगवती अहिंसा की अर्चना करे, अहिंसा के ही वायुमण्डल में सांस ले, और अहिंसामय ही जीवन व्यतीत करे।

अहिंसा-धर्म प्रत्येक व्यक्ति को आचरण-निर्माण पर ज़ोर देता है, और उसके जीवन से हिंसामूलक व्यवहार को निकाल कर पारस्परिक व्यवहार में मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्यभाव से बरतने की प्रेरणा प्रदान करता है। इतना ही नहीं, वह तो यह भी कहता है कि राजा भी धार्मिक विचारों का होना चाहिए। क्योंकि राजा के अधार्मिक होने से राजनीति दूषित हो जाती है और राजनीति में अधार्मिकता के प्रविष्ट हो जाने पर राष्ट्र भर में नैतिक जीवन गिरना आरंभ हो जाता है। ऐसी दशा में व्यक्ति यदि अनैतिकता से बचना भी चाहे तो भी बच नहीं सकता। अनेक बाहिरी प्रलोभनों और आवश्यकताओं से दब कर वह भी अनर्थ

करने के लिए तत्पर हो जाता है। युद्धकाल से लेकर आज तक चला आ रहा चोर बाज़ार इस तथ्य की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त उदाहरण है। अतः राजनीति और व्यक्ति गत जीवन में यदि अहिंसा को अपना लिया जावे तो राजा और प्रजा दोनों शान्ति से रह सकते हैं।

हिंसा और विनाशकता, अधिकारलिप्सा और असहिष्णुता, सत्तालोलुपता और स्वार्थान्धता से आकुल-व्याकुल संसार में अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ अमृतमय विश्रामभूमि है, जहां पहुंच कर मनुष्य आराम का सांस लेता है, अपने और दूसरों को समान धरातल पर देखने के लिए अहिंसा की आंख का होना नितान्त आवश्यक है। अहिंसा न होती तो मनुष्य न अपने को पहिचानता, और न दूसरों को ही। पशुत्व से ऊपर उठने के लिए अहिंसा का आलम्बन अत्यावश्यक है। संसार भर के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझना अहिंसा है। जिस दिन, जिस घड़ी मनुष्य अपने अन्दर जो जीने का अधिकार लेकर बैठा है, वही जीने का अधिकार सहज भावों से दूसरों को दे देता है, दूसरों की ज़िन्दगियों को अपनी जिन्दगी के समान देख लेता है, और संसार के सब प्राणी उसकी भावना में उसकी अपनी आत्मा के समान बन जाते हैं, और सारे संसार को समान दृष्टि से देखने लगता है। वह यह समझने लग जाता है कि ये सब प्राणी मेरे ही समान हैं, इन में और मुझ में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जो चीज़ मुझे प्यारी है वही औरों को भी प्यारी और पसंद है। उसी दिन और उसी घड़ी उस मनुष्य में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है। अहिंसा उसके मनमन्दिर में अपना आसन जमा लेती है।

अहिंसा से सम्बन्ध में जैनेतर दर्शनों ने भी बहुत कुछ कहा है किन्तु जैन-धर्म की अहिंसा सर्वोपरि है। वैदिक दर्शन में 'मा हिंस्यात्

सर्वभूतानि" यह कह कर हिंसा का विरोध किया गया है किन्तु वही दर्शन "वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" यह कह कर हिंसा का समर्थन करता है। इसीलिए ब्राह्मणसंस्कृति के एक-छत्र राज्य के नीचे भारतीय लोग अपने आराध्यदेव को पशुबलि या नरबलि की भेंट करके अपने को स्वर्गाधिकारी बनाया करते थे। यद्यपि बौद्धों ने ब्राह्मण संस्कृति के "वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" के सिद्धान्त को निरा ढकोसला कहने में ज़रा भी संकोच नहीं किया। और साथ में संसार को अहिंसा का दिव्य संदेश भी दिया, किन्तु उनकी अहिंसा पंगु अहिंसा है, उसमें अनेकों दोष पाए जाते हैं। महात्मा बुद्ध एक ओर अहिंसा की बात कहते हैं और दूसरी ओर स्वयं सूअर आदि पशुओं का मांस निःसंकोच खा जाते हैं।

जापान, लंका और वर्मा आदि के निवासी बौद्ध मांसाहारी हैं, अहिंसा-सिद्धान्त को मानते हुए भी ये लोग मांस खाते हैं, यदि इन से कोई पूछे कि तुम अहिंसा को मान कर भी मांस क्यों खाते हो? तो वे उत्तर में कहते हैं कि हम अपने हाथ से पशुओं को कहां मारते हैं? बाज़ार में मांस मिलता है, और हम उसे खरीद लाते हैं। इसमें हम को हिंसा कहां लगती है? जापान आदि देशों में मांस बेचने वालों की दुकानों पर लगे बोर्डों पर लिखा रहता है—not killed for you, अर्थात्-तुम्हारे वास्ते नहीं मारा गया है। यह मांस तुम्हारे उद्देश्य से तैयार नहीं किया गया है। इन बोर्डों के लगाने का यही उद्देश्य होता है कि बौद्ध साधु "मांस हमारे लिए तैयार नहीं किया गया" यह समझ कर मांस ग्रहण कर सकें। बौद्धों की अहिंसा में पशुजगत की सर्वथा उपेक्षा करदी गई है। ऐसी अहिंसा को शुद्ध अहिंसा कैसे कहा जा सकता है?

ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबिल (BIBLE) की दस आज्ञाओं में एक आज्ञा है"—"Thou shall not kill" अर्थात्—तू किसी को मत

मार। इस प्रकार ईसाई ग्रन्थों में अहिंसा का वर्णन मिलता है। हज़रत ईसा मसीह ने यहां तक कहा है कि "यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत मारता है तो तुम अपना दूसरा गाल उस के सामने कर दो।" किन्तु ईसाई धर्म की यह अहिंसा मानव जीवन तक सीमित है। ईसा की अहिंसा की छाया पशु जगत तक नहीं पहुंचती है। ईसा स्वयं जीवित मछलियों को अपने भक्तों को खिलाते हुए यह नहीं सोचते कि इन हतभाग्य जीवों के मारे जाने पर इन्हें प्राणान्त व्यथा होगी।

इस प्रकार कुछ लोगों ने अहिंसा को केवल मनुष्य जाति तक सीमित कर दिया और कोई उसे आगे ले गया तो वह पशुओं पक्षियों तक सीमित हो गई, किन्तु जन धर्म की अहिंसा में ऐसी कोई मर्यादा नहीं है। जैन अहिंसा के विशाल आंगण में विश्व के समस्त चराचर जीवों का समावेश होता है, उसमें त्रस, स्थावर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति के सभी जीव सुरक्षा का वरदान पाते हैं। कीड़े, मकौड़े, च्यूंटी, मक्खी, गाय, भैंस, घोड़ा, वंदर आदि सभी तिर्यञ्च प्राणी सानंद विहरण करते हैं, किसी को किसी भी प्रकार की कोई वाधा या व्यथा नहीं पहुंचने पाती। मनुष्य जीवन के संरक्षण का तो वहां विशेष ध्यान रखा जाता है, क्योंकि प्राणियों में मनुष्य का सर्वोपरि स्थान है। आचार-विचार की दृष्टि से जितना मनुष्य पूर्ण है या हो सकता है, उतना कोई अन्य प्राणी नहीं। अतः अन्य सभी जीवनों में मनुष्य-जीवन को प्रधान और दुर्लभ स्वीकार किया गया है। ऐसे अनमोल मानव-जीवन की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता है—अहिंसा के प्रांगण में। जैन-अहिंसा का प्रांगण जितना विशाल है, इतना किसी अन्य धम की अहिंसा का नहीं है। जैन-धर्म की अहिंसा आकाश की भांति असीम है, आत्मा की तरह सूक्ष्म है और काल की तरह

अनन्त है।

जैन अहिंसा के नियम यद्यपि कड़े दिखाई देते हैं, किन्तु उनके पालन में मनुष्य की शक्ति और परिस्थिति का ध्यान रखा जाता है। इसलिए उनकी कठोरता चिंताजनक नहीं है। उनका तो एक ही ध्येय है कि मनुष्य स्वयं अपने को नियंत्रण में रखे, और अपनी अनियंत्रित कामनाओं और वासनाओं पर अंकुश लगाना सीखे। उस की दशा नशे में मस्त उस मोटर चालक की सी नहीं होनी चाहिए, जो सरपट मोटर दौड़ाते हुए यह भूल जाता है कि जिस सड़क पर मैं मोटर चला रहा हूं, उस पर कुछ अन्य प्राणी भी चल रहे हैं, जो मेरी मोटर से दब कर मर सकते हैं। उसे जहां अपने जीवन की व अपने सुखचैन की चिन्ता होती है, वहां दूसरों के जीवनों का भी उसे ध्यान रहना चाहिए। इसके अलावा, वह यही न सोचता रहे कि मुझे स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ खाने को मिलने चाहिएं, चाहे दूसरों को सूखा कौर भी न मिले। मेरे खज़ाने में बेकार सोने चांदी का ढेर लगा रहना चाहिए, चाहे दूसरों के तन पर फटा चीथड़ा भी न हो, मेरी साहूकारी सैंकड़ों को ग़रीब बनाती है तो मुझे क्या? मेरे भोगविलास के निमित्त दूसरे के प्राणों पर आती है तो मुझे क्या? मेरे साम्राज्यवाद की चक्की में देश का देश पिस रहा है तो मुझे क्या? इस प्रकार की सभी विचारणाओं पर अंकुश लगाना ही अहिंसा का सर्वतोमुखी लक्ष्य होता है। क्योंकि ये विचार हिंसा को जन्म देते हैं। उन्हीं के कारण परस्पर अविश्वास की तीव्र भावना रातदिन मानव को व्याकुल बनाए रखती है। सब उस अवसर की प्रतीक्षा में रहते हैं कि कब दूसरे का गला दबोचा जाए। इन सब विचारों से बचने का एक ही उपाय है, और वह है—अहिंसा। इस के बिना शान्ति नहीं मिल सकती। अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर ही मनुष्य बुराई को बुराई समझता है और बुराई को करते हुए भी कम से कम

इतना तो नहीं भूलता कि मैं बुरा कर्म कर रहा हूं। बुराई को बुराई समझना भी अहिंसा की ओर बढ़ना है। जो बुराई को बुराई जान लेता है, वह समय आने पर कभी-न-कभी बुराई को छोड़ भीदेता है। बुराई को बुराई के रूप में समझना और अन्त में उस को जीवन से निकलवा देना ही अहिंसा का अपना ध्येय होता है।

अहिंसा पर कुछ आक्षेप किए जाते हैं। कहा जाता है कि अहिंसा सिद्धान्त इतना सूक्ष्म है, और इस की मर्यादा इतनी बढ़ा दी गई है कि वह व्यवहार की वस्तु नहीं रही। जैन-अहिंसा का पालन किया जाए तो जीवन के समस्त व्यापार बंद कर देने पड़ेंगे, समस्त क्रियाएं समाप्त करनी होंगी, और निश्चेष्ट हो कर देह का ही परित्याग कर देना होगा। उनका विश्वास है कि जीवन-व्यवहार चलाना और अहिंसा का पालन करना, ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। इन दोनों बातों का एक दूसरे से मेल नहीं है। या तो मनुष्य इस अहिंसा की उपेक्षा करके जीवन चलावे या फिर अहिंसा के यज्ञ में अपने जीवन की सर्वथा आहुति ही डाल दे, अपने आप को समाप्त करदे। जिस अहिंसा की परिपालना में जीवन ही सुरक्षित न रह सके तो उस अहिंसा का पालन कैसे संभव हो सकता है?

ऊपर ऊपर से जब हम देखते हैं और विचार करते हैं तो ये बातें कुछ तर्क-संगत प्रतीत होती हैं, किन्तु जैन-शास्त्रों में अहिंसा का जो वर्गीकरण किया गया है, साधक की योग्यता तथा भूमिका के आधार पर अहिंसा की जो महाव्रत तथा अणुव्रत, ये दो श्रेणियां बताई हैं, उनको यदि भली भाँति समझ लिया जाए तो ऊपर के आक्षेप में कुछ भी जान नहीं रहने पाती। अहिंसा के भेद और उपभेदों का वर्णन इस पुस्तक के जैन-धर्म नामक स्तंभ के चारित्रधर्म के अहिंसाणुव्रत तथा अहिंसा महाव्रत प्रकरण में किया जा चुका है, पाठक उसे देखने का प्रयास करें।

अहिंसा के सूक्ष्म और विस्तृत भेदों से उपभेदों से हमें भयभीत नहीं होना चाहिए। हिंसा आध्यात्मिकता का सागर है। उस में से जितना भी हम ले सकें, उतना ले लेना चाहिए। कल्पना करो। गंगा अपना विशाल प्रवाह लिए बह रही है, उस की असीम जल-राशि और चौड़े फट को देख कर कोई मनुष्य किनारे पर खड़ा-खड़ा विचार करे कि मैं प्यास से छटपटा रहा हूं। मुझे गंगा का जल पीना चाहिए, मगर कैसे पीऊं ? गंगा का प्रवाह बहुत बड़ा है, और मेरा मुंह बहुत छोटा है। इस छोटे मुंह में इतना बड़ा प्रवाह कैसे समा सकता है ? तो ऐसे विचार करने वाले मनुष्य को क्या कहना चाहिए ? यही न, कि भाई! गंगा का प्रवाह विशाल है, तो इसका तुझे क्या कष्ट है ? तुझे प्रवाह पीना है या पानी ? यह तो आवश्यक नहीं है कि यदि पीए तो सम्पूर्ण प्रवाह को पीए और न पीए तो बिल्कुल ही न पीए, प्यास से ही छटपटाता रहे। देवता ! गंगा के प्रवाह की चिन्ता न कर, तुझे इस की विशालता से क्या ? जितनी प्यास है, तुझे उतना ही पानी पी लेना चाहिए। भाव यह है कि जैसे प्रवाह विशाल या असीम होने के कारण गंगा का जल अपेय नहीं हो जाता, उसी प्रकार अहिंसा-सिद्धान्त विशाल और असीम होने के कारण अनाचरणीय नहीं कहा जा सकता। जैसे गंगा की असीम जलराशि में से एक चुल्लू या एक लोटा या एक घड़ा पानी लेकर व्यवहार में लाया जा सकता है, उसी प्रकार अहिंसा-गंगा के पावन नीर का भी अपनी शक्ति के अनुसार व्यवहार किया जा सकता है।

जैन-धर्म ने साधक-जीवन अनेक श्रेणियों में विभक्त कर दिए हैं। उनके सामर्थ्य के अनुसार अहिंसा की भी अनेक श्रेणियां बना दी गई हैं। मुनिजन सम्पूर्ण अहिंसा का पालन करने की चेष्टा करते हैं और गृहस्थ आंशिक अहिंसा को अपने जीवन में लाने काप्र यत्न करता

है मुनियों के अहिंसाव्रत को महाव्रत और गृहस्थों के अहिंसाव्रत को अणुव्रत कहा गया है। फिर इसमें भी वहुत से प्रकार हैं, वहुत सी कोटियाँ हैं, और जो व्यक्ति जिस प्रकार का या कोटि की अहिंसा का पालन करना चाहे वह उसी का पालन कर सकता है। जैन धर्म जवर्दस्ती किसी पर अहिंसा को नहीं लादता। जैनधर्म ने अहिंसा के सूक्ष्म और स्थूल ये दोनों रूप अध्यात्म जगत के सामने उपस्थित कर दिए हैं। उसको अपनाने वाला अपनी क्षमता तथा शक्ति के के अनुसार जिस रूप को अपनाना चाहे सहर्ष अपना सकता है। जैनागमों में स्थान-स्थान पर "जहासुहं देवाणुप्पिया!" इस वाक्य का आदर किया है। जब किसी साधक ने किसी तीर्थंकर या वीतराग महापुरुष के सामने साधना के महापथ पर चलने के लिए उनकी अनुमति माँगी है तो उन्होंने उत्तर में यही कहा कि * देवानुप्रिय! तुम अपनी शक्ति देखो, क्षमता देखो। यदि तुम्हारे में इस रास्ते पर चलने की शक्ति है तो अवश्य चलो, यदि शक्ति नहीं है तो फिर जितनी शक्ति है, उसका सदुपयोग करो। जैन धर्म ने साधक की क्षमता की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया है। वलात् किसी पर किसी साधना को नहीं लादा। ऐसी ही स्थिति अहिंसा के सिद्धान्त की है। इसे भी यथेच्छ और यथाशक्ति अपनाया जा सकता है।

यह समझना कि अहिंसा का पालन करने से संसार के काम रुक

---

* किसी को सम्बोधित करने के लिए जैनागमों में प्रायः देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग पाया जाता है। देवानुप्रिय शब्द यशस्वी, तेजस्वी, सरल-प्रकृति, देव के समान प्रिय, ऐसे अनेकों अर्थों का परिचायक है। कल्पसूत्र के व्याख्याकार श्री समय-सुन्दर गणी जी देवानुप्रिय शब्द का "देवानपि अनुरूपं प्रीणाति इति देवानुप्रियः" यह अर्थ करते हैं। वक्ता देवानुप्रिय शब्द के सम्बोधन से सम्बोधित व्यक्ति में देवों को प्रसन्न करने की विशिष्ट योग्यता बता कर उस का सम्मान प्रकट करता है।

जाते हैं, यह निरी भ्रान्ति है। इतिहास बतलाता है कि अनेक राजा-महाराजा और सम्राट् हो चुके हैं जो अपने जीवनकाल में अहिंसा-सिद्धान्त का पूर्ण ध्यान रखा करते थे और अहिंसा के नेतृत्व में बड़े-बड़े साम्राज्यों का संचालन किया करते थे। उनके यहां केवल *संकल्पजा हिंसा का त्याग था। आरंभजा और विरोधी हिंसा का त्याग उन्होंने नहीं किया था। निरपराध जीव उनके यहां सर्वथा सुरक्षित रहते थे और अपराधी उनके यहां दण्डित होते थे केवल दुःख देने की भावना से उन को दण्ड नहीं दिया जाता था, बल्कि उनको शिक्षित करने के लिए, अन्याय और अनीति का प्रसार रोकने के लिए ऐसा किया जाता था।

इस प्रकार जब हम अहिंसा की बारीकियों में उतरते हैं और उन पर गंभीरता से विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म की अहिंसा न अव्यवहार्य है और न ही अनाचरणीय। प्रत्युत इस की सुविधापूर्वक पालना की जा सकती है और यह मानव-जीवन को पूर्णतया व्यवस्थित करने के साथ-साथ उसे सात्त्विकता और प्रामाणिकता का पुंज बना डालती है।

अहिंसा-सिद्धान्त पर यह भी आक्षेप किया जाता है कि अहिंसा के प्रचार ने भारतवर्ष को कायर बना दिया है, और दासता की जंजीरों में जकड़ दिया है। इसमें कारण यह बताया जाता है कि हिंसा-जन्य पाप से भयभीत भारतीय लोग शौर्य और वीर्य गंवा बैठे हैं। उसका फल यह हुआ कि यहां की प्रजा में युद्ध करने की भावना सर्वथा समाप्त हो गई और आक्रमणकारियों ने इस देश पर लगातार आक्रमण करके इस देश को अपने अधीन कर लिया। गंभीरता

---

* संकल्पजा आदि हिंसा-भेदों का अर्थ पीछे अहिंसा-प्रकरण में लिखा जा चुका है।

से विचार करने पर मालूम होता है कि इस आक्षेप में कोई तथ्य नहीं है, क्योंकि भारत का प्राचीन इतिहास यह प्रमाणित करता है कि जबतक इस देश में अहिंसकों का शासन बना रहा, तब तक यहां की प्रजा सर्वथा समुन्नत थी, उसमें शौर्य और पराक्रम की कोई कमी नहीं थी। उन अहिंसक शासकों ने अपने देश की रक्षा के लिए शक्तिशाली शत्रुओं के साथ वीरतापूर्ण युद्ध किए और कायरता से उन्हों ने कभी अपना मस्तक उनके आगे नहीं झुकाया। सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक से ऐतिहासिक लोग पूर्णतया परिचित हैं। ये अहिंसा धर्म के सबसे बड़े उपासक और प्रचारक थे। उनके शासन-काल में भारत कभी पराधीन नहीं हुआ। बल्कि भारत की जितनी विशाल सीमाएं उस काल में थीं उतनी कभी नहीं रहीं हैं और न निकट भविष्य में होने की संभावना ही की जा सकती है।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी का जीवन ऊपर के आक्षेप का जीता जागता उत्तर है। गांधी जी अहिंसा के उपासक थे। क्या गांधी जी को कायर कहने का कोई साहस कर सकता है? गांधी जैसा निर्भीक जीवन आज के युग में कोई दूसरा नहीं मिल सकता। गांधी जीने अहिंसा के दिव्य शस्त्र को लेकर शक्तिशाली ब्रीटिश सरकार का डट कर सामना किया और रक्त की एक बूंद बहाए बिना ही उसके पैर उखाड़ दिए, अंग्रेज सत्ता को सदा के लिए भारत की पुण्य भूमि से निकाल दिया। सैंकड़ों वर्षों की भारत की दासता का अन्त आया तो आखिर अहिंसा के ही प्रभाव से। अहिंसा के ही प्रताप तथा उसकी आसाधारण शक्ति से ही भारत परतन्त्रता की बेड़ियों को तोड़ कर स्वतन्त्र बन सका है। अहिंसा एक निराला शस्त्र है, वीरता इसकी दासी है। स्वयं गांधी जी कहा करते थे कि मेरी अहिंसा एक विधायक शक्ति है। कायरता या दुर्बलता को उसमें कोई स्थान नहीं है। गांधी जी का विश्वास था कि एक हिंसक से

अहिंसक बनने की आशा तो की जा सकती है, किन्तु कायर व्यक्ति कभी अहिंसक नहीं बन सकता। वस्तुतः अहिंसा के साथ कायरता का कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत की परतंत्रता का कारण अहिंसा नहीं है। अहिंसा को भारतीय परतंत्रता का कारण कहना एक ज़बर्दस्त ऐतिहासिक भ्रान्ति है। भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि भारत पर जब पृथ्वीराज चौहान का शासन था तो उस समय भारत के साथ विदेशी शक्तियों का संघर्ष चल रहा था। इतिहास बतलाता है कि ग़ज़नी के यवन बादशाह शहाबुद्दीन गौरी ने भारत पर २७ बार आक्रमण किया था, किन्तु २७ बार ही उस को मुंह की खानी पड़ी थी। वीरशिरोमणि पृथ्वीराज चौहान तथा इनके वीर सैनिकों ने बहुत बुरी तरह इसको पछाड़ा था। भारत के वीर सैनिकों की वीरता का वे लोहा मानते थे, किन्तु भारत के अधिनायक जब आपस में ही लड़ने लग गए और जब इन को फूट पिशाचनी ने बहुत बुरी तरह घेर लिया तब इन का सर्वतोमुखी-ह्रास होने लग गया। पृथ्वीराज चौहान और जयचंद की फूट ने तो भारत का सत्यानाश कर दिया। इतिहास बतलाता है कि देशद्रोही जयचंद ने पृथ्वीराज को अपमानित और पराजित करने के लिए स्वयं शहाब्बुद्दीन को निमंत्रण भेजा, उसके साथ मिल कर वह स्वयं पृथ्वीराज से लड़ा। अन्त में, पृथ्वीराज पराजित हो गया, परिणाम यह हुआ कि यवनसत्ता ने भारत को अपने अधीन कर लिया। इस ऐतिहासिक सत्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परतंत्रता का कारण अहिंसा नहीं, बल्कि आपस की फूट है। आपस की फूट ने ही भारत को परतंत्र बनाया और इस की स्वतंत्रता को समाप्त किया। अहिंसा तो मनुष्य को वीर और साहसी बनाती है, उस में विश्वप्रेम का संचार करती है। संसार में जो कुछ शान्ति

दृष्टिगोचर हो रही है और मानव-जगत में दया, क्षमा, करुणा, परोपकार, सहानुभूति आदि जो स्वर्गीय भावनाएं पाई जा रही हैं यह सब अहिंसा की ही बहुमूल्य देन है।

अहिंसा की क्या बात कही जाए ? अहिंसा ही परम धर्म है। अहिंसा ही परम ब्रह्म है। अहिंसा ही सुख-शान्ति देने वाली है। अहिंसा ही संसार का त्राण करने वाली है। यही मानव का सच्चा धर्म है। यही मानव का सच्चा कर्म है। यही वीरों का सच्चा बाना है। यही वीरों की प्रमुख निशानी है। इस के बिना न मानव की शोभा है, और न उसकी शान है। मानव और दानव में अहिंसा और हिंसा का ही तो अन्तर है ? अहिंसा मानवी शक्ति है और हिंसा दानवी। जबसे मानव ने अहिंसा को भुला दिया है, तभी से वह दानव बनता चला जा रहा है और इसकी दानवता का अभिशाप इस विश्व को भुगतना पड़ रहा हैं। विश्व में जो अशान्ति, कलह, उपद्रव हो रहे हैं तथा युद्धों का जो तांता लग रहा है, इस के मूल में दानवी भावना ही काम कर रही है। फिर भी मानव इस सत्य को समझ नहीं पा रहा। किन्तु वह दिन दूर नहीं कि जब यह मानव-जगत अहिंसा की महत्ता को समझेगा और इसे अपना-कर अपने भविष्य को उज्ज्वल, समुज्ज्वल बनाने का बुद्धिशुद्ध प्रयास करेगा। ऐसा किए बिना दूसरा इलाज भी तो कोई नहीं है। अहिंसा ही एक ऐसा सर्वोत्कृष्ट और सर्वोत्तम साधन है कि जो विश्व में शान्ति स्थापित कर सकता है, और विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान भी कर सकता है।

लोक-स्वरूप

अठाहरवां अध्याय

प्रश्न—यह दृश्यमान या अदृश्यमान संसार क्या चीज है? इसका क्या स्वरूप है?

उत्तर—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन छः पदार्थों का सामूहिक नाम ही संसार, जगत, सृष्टि या लोक है। जैन परिभाषा में इन छहों को षड्-द्रव्य कहते हैं। और यह लोक षड्-द्रव्यात्मक कहा जाता है। हिलने, चलने वाले पदार्थों को हिलने-चलने में सहायता देने वाले द्रव्य का नाम धर्म है। ठहरने वाले पदार्थों को ठहरने में मदद करने वाले द्रव्य का नाम अधर्म है। सब पदार्थों के आधार भूत द्रव्य को आकाश कहा जाता है। जो जीव, अजीव पर वरतता है, और उन पदार्थों की नवीन, पुरातन आदि अवस्थाओं के परिवर्तन में सहायक होता है, उस को काल कहते हैं। समय, घड़ी, दिन, मास, युग आदि इसी के विभाग हैं। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप वाले द्रव्य को पुद्गल कहते हैं। शब्द, धूप, छाया, अन्धकार, प्रकाश आदि भी पुद्गलमय ही हैं। जिस में चेतना शक्ति हो वह जीवद्रव्य है। ये छहों द्रव्य अनादि अनन्त हैं, अर्थात् कभी बने नहीं और कभी नष्ट नहीं होंगे, सदा थे और सदा रहेंगे। इसीलिए जैनदर्शन कहता है कि षड्द्रव्यात्मक संसार किसी का बनाया हुआ न हो कर स्वाभाविक है, और अनादि, अनन्त है।

प्रश्न क्या इस संसार का कभी नाश नहीं होता है?

उत्तर—संसार की अवस्थाएं बदली रहती हैं, किन्तु छहों

द्रव्यों का नाश कभी नहीं होता। मनुष्य-क्षेत्र में कहीं-कहीं प्रलय होती है, परन्तु बीज नष्ट कभी नहीं होता।

प्रश्न—भूमण्डल और आकाशमण्डल के सम्बन्ध में जैन-दर्शन की क्या मान्यता है ?

उत्तर—जैनदर्शन ने विश्व को दो भागों में बांटा है। एक लोक और दूसरा अलोक। आकाश के जिस भाग में धर्म, अधर्म, जीव आदि द्रव्य पाए जाते हैं, वह लोक कहलाता है। जहां आकाश के अलावा कोई और द्रव्य न हो, शुद्ध आकाश ही आकाश हो, उसे अलोक कहते हैं। अलोक अनन्त, अखण्ड, अमूर्तिक और केवल पोलारमय होता है। जैसे किसी विशाल स्थान के मध्य में छींका लटका हो, उसी प्रकार अलोक के मध्य में यह लोक है, भूमि पर एक दीपक उलटा रख कर उसके ऊपर दूसरा दीपक सीधा रख दिया जाए, और उस पर तीसरा दीपक फिर उलटा करके रख दिया जाए तो जैसा आकार उन तीनों दीपकों का होता है, वैसा ही आकार इस लोक का माना गया है।

लोक १४ राजू का विस्तार वाला होता है। राजू जैनदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। इसे समझ लीजिए। ३, ८१, २७, ९७० मन वजन को भार कहा जाता है। ऐसे १००० भार के लोहे के गोले को कोई देवता ऊपर से नीचे फैंके। वह गोला छः महीने, छः दिन, छः प्रहर, छः घड़ी में जितने विशाल प्रदेश को लांघ कर जावे उतने विशाल क्षेत्र को एक राजू कहते हैं। ऐसे १४ राजू के विस्तार वाला यह लोक होता है।

लोक के तीन भाग होते हैं। अधः, मध्य और ऊर्ध्व। अधो-लोक सात राजू चौड़ा होता है, यह मेरुपर्वत के समतल के नीचे

९ सौ योजन* की गहराई के बाद गिना जाता है। अधोलोक में सात नरक हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूम-प्रभा, तमः-प्रभा और महातमःप्रभा। नारकियों की निवास-भूमि नरक कहलाती है। ये सातों नरक समश्रेणी में न होकर एक दूसरे के नीचे हैं। उनकी लम्बाई-चौड़ाई आपस में एक समान नहीं है। पहले नरक से दूसरे की लम्बाई-चौड़ाई कम है, दूसरे से तीसरे की, इसी प्रकार छठे से सातवें नरक की लम्बाई-चौड़ाई पूर्वापेक्षया† न्यूनाति-

---

* जिसके दो भागों की कल्पना भी न हो सके, उस निरंश पुद्गल को परमाणु कहते हैं। ऐसे अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के संयोग से एक बादर परमाणु बनता है। अनन्त बादर परमाणुओं का एक उष्ण श्रेणिक (गरमी का) पुद्गल, आठ उष्ण श्रेणिक पुद्गलों का एक शीतश्रेणिक (सरदी का) पुद्गल, आठ शीतश्रेणिक पुद्गलों का एक ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणुओं का एक त्रसरेणु (त्रस जीव के चलने पर उड़ने वाला धूलि का कण), आठ त्रसरेणुओं का एक रथरेणु (रथ के चलने पर उड़ने वाला धूलि का कण), ८ रथरेणुओं का एक देवकुरु या उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, इन ८ बालाग्रों का एक हरिवास, रम्यकवास क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, इन ८ बालाग्रों का एक हैमवत, ऐरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, इन ८ बालाग्रों का एक पूर्वपश्चिम महाविदेह को क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, इन आठ बालाग्रों की एक लीख, आठ लीखों की एक यूका, आठ यूकाओं का एक यवमध्य, आठ यवमध्यों का एक अंगुल, छः अंगुलों का एक पाद (मुट्ठी), दो पादों की एक वितस्ति, दो वितस्तियों का एक हाथ, दो हाथों की एक कुक्षि, दो कुक्षियों का एक धनुष, २००० धनुषों की एक गव्यूति (कोस), चार गव्यूतियों का एक योजन होता है। इस योजन से अशाश्वत वस्तुओं का माप होता है। शाश्वत (नित्य) वस्तुओं का माप ४००० कोस के योजन से होता है।

† जैसे प्रथम नरक की मोटाई १ लाख ८० हजार योजन है, दूसरे की १ लाख ३२ हजार, तीसरे की १ लाख २८ हजार, चतुर्थ की १ लाख २० हजार, पंचम की १ लाख १८ हजार, छठे की १ लाख १६ हजार और सातवें नरक की मोटाई १ लाख ८ हजार योजन की होती है।

न्यून होती जाती है। ये नरक आपस में साथ मिले हुए नहीं हैं। इनमें एक दूसरे के बीच में बहुत बड़ा अन्तर है। इस अन्तर में घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश क्रमशः नीचे-नीचे हैं। अर्थात् पहली नरक-भूमि के नीचे घनोदधि है, घनोदधि के नीचे घनवात, घनवात के नीचे तनुवात और तनुवात के नीचे आकाश है। आकाश के बाद दूसरी नरक-भूमि है। इस भूमि और तीसरी भूमि के बीच भी घनोदधि आदि का वही क्रम है। इसी तरह सातवीं भूमि तक सब भूमियों के नीचे इसी क्रम से घनोदधि आदि विद्यमान हैं। वैसे आकाश सर्वव्यापक है, किन्तु घनोदधि आदि का क्रम समझाने के लिए यह बात कही गई है।

पहली नरक-भूमि कृष्णवर्ण वाले रत्नों से व्याप्त होने से रत्नप्रभा कहलाती है। बरछे, भाले आदि से भी अधिक तीक्ष्ण शर्कराओं-कंकरों की बहुतायत होने से दूसरे नरक को शर्करा-प्रभा कहा जाता है। भडभूंजे की भट्ठ के रेत से भी अधिक उष्ण बालुका-रेत की मुख्यता के कारण तीसरी भूमि वालुकाप्रभा कही गई है। पंक (कीचड़) की अधिकता को लेकर चतुर्थ नरक का नाम पंकप्रभा रखा गया है। राई, मिर्च के धूएं से भी अधिक खारे धूम-धूएं की अधिकता से पांचवां नरक धूमप्रभा, अन्धेरे की विशेषता से छठा नरक तमःप्रभा, और महान तम, घन अन्धकार की प्रचुरता से सातवाँ नरक महातमःप्रभा कहलाता है।

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान आदि अनेक प्रकार के पौद्गलिक परिणाम सातों नरकों में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक अशुभ हैं। सातों नरकों के निवासी नारकियों के शरीर उत्तरोत्तर अधिक-अधिक अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान वाले तथा अधिक-अधिक अशुचि और बीभत्स हैं। सातों नरकों में वेदना उत्तरोत्तर अधिक तीव्र होती चली जाती है। पहले तीन नरकों में

उष्णवेदना, चतुर्थ में उष्णशीत, पाँचवें में शीतउष्ण है।अर्थात् यहां शैत्य का प्राधान्य और उष्णता का स्वाल्प्य होता है। छठे में शीत और सातवें में अधिक शीत वेदना होती है। यह उष्णता और शीतता की वेदना इतनी सख्त होती कि इस वेदना को भोगने वाले नारकीय यदि मनुष्यलोक में की सख्त गरमी या सख्त सरदी आ जाएं तो उन्हें बड़े आराम से नींद आ सकती है।

नरकों में क्षेत्रस्वभाव के कारण सरदी, गरमी का भयंकर दुःख तो है ही, पर वहां पर भूखप्यास का दुःख और भी भयंकर है। भूख का दुःख तो इतना अधिक है कि अग्नि की तरह सब कुछ भक्षण कर लेने पर भी शान्ति नहीं होती, बल्कि और अधिक भूख की ज्वाला भड़क उठती है। प्यास का कष्ट इतना ज़्यादा है कि कितना भी जल क्यों न पी लिया जाए, पर उस से तृप्ति नहीं होने पाती। इस दुःख के उपरान्त बड़ा भारी दुःख तो उनको आपस के वैर और मारपीट से होता है। जैसे कौआ और उल्लू तथा सांप और नेवला जन्म से शत्रु हैं, वैसे ही नारकीय जीव स्वभाव से शत्रु हैं। इसलिए वे एक दूसरे को देख कर कुत्तों की तरह आपस में लड़ते हैं, काटते हैं और गुस्से से जलते हैं।

क्षेत्रस्वभाव-जन्य वेदना और परस्परजनित वेदना के अलावा, एक और वेदना नारकियों को सहन करनी पड़ती है। वह है— परमाधार्मिक देवों द्वारा दी गई वेदना। परमाधार्मिक एक प्रकार के असुरदेव होते हैं, जो बहुत क्रूरस्वभाव वाले होते हैं, और पापमय प्रवृत्तियों में अधिकाधिक रस लेते हैं। इन की अम्ब, अम्बरीष, श्याम, शबल आदि पन्द्रह जातियां हैं। ये स्वभाव से ही ऐसे निन्द्य और कुतूहलप्रिय होते है कि उन्हें दूसरों के सताने में ही आनंद मिलता है। इसलिए नारकियों को अनेक प्रकार के प्रहारों से परि-पीड़ित करते रहते हैं। उन्हें आपस में कुत्तों, भैंसों और मल्लों की

तरह लड़ाते हैं। आपस में उनको लड़ते और मारपीट करते देख कर बहुत खुश होते हैं।

मांसाहारी जीव जब नरक में उत्पन्न होते हैं तो ये परमाधार्मिक देव उनके शरीर का मांस चिमटे से नोंच कर, तेल में तल कर या गरम रेत में भून कर उन्हीं को खिलाते हैं। और कहते हैं कि तुम्हें मांस-भक्षण करने का बड़ा शौक़ था, अब इसे खाओ। जैसे तुम्हें दूसरे प्राणियों का मांस प्रिय था, वैसे ही अब इसे ग्रहण करो। जो लोग मदिरापान के दोष से नरक में उत्पन्न होते हैं, तो उन को ताम्बे, सीसे, (रांगे), लोहे आदि का उबला हुआ रस संडासी से ज़बर्दस्ती मुंह फाड़ कर पिलाते हैं। जो वेश्यागमन और परस्त्रीगमन जनित पाप से नरक में जन्म लेते हैं, तो उन्हें आग में तपा कर लाल, सुर्ख बनाई हुई फौलाद की नारी-प्रतिमा से बलपूर्वक आलिंगन कराते हैं, और कहते हैं कि तुम्हें पर-स्त्री प्यारी लगती थी, तो अब इस से प्यार करो। रोते क्यों हो? कुमार्ग पर चलने वालों को और असत्य, पापकारी उपदेश देकर दूसरों को पापाचारी बनाने वाले जीवों को धधकते हुए अंगारों पर चलाते है, जो लोग जानवरों और मनुष्यों को उनकी शक्ति से अधिक भार लाद कर तड़पाते हैं, उन से कंकर, पत्थर और कांटों से युक्त रास्ते पर लाखों मन भार वाली गाड़ी खिचवाते हैं, ऊपर से तीखी आर वाले चाबुकों के प्रहार करते हैं। मूक पशुओं तथा दीनहीन मनुष्यों पर किए गए अत्याचारों का उन्हें दण्ड देते हैं। माता-पिता आदि वृद्ध और उपकारी जनों को जो सन्ताप देते हैं, उन का हृदय भालों से छेदा जाता है। दग़ाबाजी करने वालों को ऊंचे पहाड़ों से पटका जाता है। इसी प्रकार श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शेन्द्रिय के वश होकर नाना प्रकार के कुकर्म करने वालों को बहुत बुरी तरह व्यथित एवं परिपीड़ित किया जाता है। कानों में उबलता सीसा

डाला जाता है, आंखें शूल से फोड़ी जाती हैं, मिर्चों का भयंकर धुआं सुंघाया जाता है, मुंह में कटार भरी जाती है, घानी में पीड़ा जाता है, अंगारों पर पकाया जाता है। इस प्रकार पूर्व जन्म-कृत कुकृत्यों के अनुसार नारकीय जीवों को नाना प्रकार के घोरातिघोर दुःख दिए जाते हैं। नारकीय जीव भी विवशता से सारा जीवन इन सब तीव्र वेदनाओं के उपभोग में ही व्यतीत कर देते हैं। वेदना कितनी भी क्यों न हो, पर नारकीय जीवों को न कोई शरण है और *उनकी अनपर्वतनीय आयु होने के कारण न उन का जीवन ही समाप्त होता है।

* आयु दो तरह की होती है—अपवर्तनीय और अनपर्वतीय। जो आयु बन्ध-कालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही भोगी जा सके वह अपवर्तनीय और जो आयु बन्ध-कालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्तनीय आयु कहलाती है। जैने दर्शन कहता है कि भावी जन्म की आयु वर्तमान जीवन में निर्माण की जाती है। उस समय यदि परिमाण मंद हों तो आयु का बंध शिथिल होता है, जिससे निमित्त मिलने पर बंधकालीन कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत आयु बंध करते समय यदि परिणाम तीव्र हों तो आयु का बंध प्रगाढ होता है, जिस से निमित्त मिलने पर भी वह बंध-कालीन काल-मर्यादा घटने नहीं पाती, और न उसे एक साथ ही भोगा जा सकता है। जैसे सघन बोए हुए बीजों के पौधे पशुओं के लिए दुष्प्रवेश और विरल-विरल बोए बीजों के पौधे उनके लिए सुप्रवेश होते हैं, वैसे ही तीव्र परिणाम जनितप्रगाढ़ बंध वाली आयु शस्त्र, विष, अग्नि आदि का प्रयोग होने पर अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती और मंदपरिणाम जनित शिथिलबंध वालीआयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत काल मर्यादा पूर्ण होने से पहले ही अन्तर्मुहूर्त्त मात्र काल में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को अपवर्तना या अकाल मृत्यु कहते हैं और नियतस्थितिक भोग को अनपवर्तना या काल-मृत्यु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम (उपक्रमसहित) होती है। तीव्र शस्त्र, तीव्र विष और तीव्र अग्नि आदि जिन निमित्तों से अकालमृत्यु होती है उनका

परमाधार्मिक देव तीसरे नरक तक ही जाते हैं, आगे नहीं। इस लिए आगे के चार नरकों में क्षेत्रस्वभाव-जन्य और परस्पर-जनित ये दो प्रकार की ही वेदनाएं होती हैं। इन चार नरकों में परमाधार्मिक देवकृत वेदनाओं का नारकीय जीवों को उपभोग नहीं करना पड़ता।

नरकावास की भीतों में विल के आकार के नारकियों के उत्पन्न होने के स्थान वने हुए हैं। पापी जीव इन्हीं स्थानों में उत्पन्न होते हैं। नरकीय जीव विलस्थान में उत्पन्न हो कर दो घड़ी के अनन्तर विल के नीचे रही हुई कुंभी में नीचे सर और ऊपर पैर करके गिरते हैं। ये कुम्भियां ठीक विल के नीचे पड़ी रहती हैं। ये चार प्रकार की होती हैं—१—ऊंट की गरदन के समान टेढ़ी-मेढ़ी, २—घी के कुप्पे के समान जिस का मुख चौड़ा और अधोभाग सकड़ा (तंग भाग) होता है, ३—डिब्बे के सामान, जो ऊपर नीचे बराबर परिमाण वाली होती है, ४—अफीम के दौड़े जैसी, पेट चौड़ा और मुख सांकरा तंग)। इन चार प्रकार की कुम्भियों में से किसी एक कुम्भी में

मिलना उपक्रम है। ऐसा उपक्रम अपवर्तनीय आयु में अवश्य होता है, क्योंकि यह आयु नियम से कालमर्यादा समाप्त होने से पहले ही भोगने योग्य होती है। परन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों प्रकार की होती है। इस आयु को अकालमृत्यु लाने वाले उक्त निमित्तों का संनिधान होता भी है और नहीं भी होता। उक्त निमित्तों का सन्निधान होने पर भी अनपवर्तनीय आयु नियत काल-मर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती।

औपपातिक जीव (नारकीय और देव), चरम-शरीरी (जन्मान्तर किए बिना इस शरीर से मोक्ष जाने वाले), उत्तम पुरुषों (तीर्थंकर, चक्रवती, वासुदेव आदि) और असंख्यात् वर्ष-जीवी (असंख्य वर्षों की आयु वाले) जीव अनपवर्तनीय आयु वाले ही होते हैं।

गिरने के पश्चात् नारकीय जीव का शरीर फूल जाता है, शरीर फूल जाने के कारण वह उस में बुरी तरह फंस जाता है। कुम्भी की तीखी धारें उस के चारों ओर चुभती हैं और नारकीय जीव वेदना से तिलमिलाने लगता है। उस समय परमाधार्मिक देव उसे चिमटे से या संडासी से पकड़ कर खींचते हैं, नारकीय जीव के शरीर के टुकड़े बनाकर वहां से उसे निकालते हैं। इससे नारकीय जीव को घोर वेदना तो होती है, मगर वह मरता नहीं। नारकीय जीव के शरीर के वे टुकड़े पारे की तरह मिल जाते हैं और फिर जैसे का तैसा शरीर बन जाता है।

तीसरे नरक तक तो परमाधार्मिक देव नारकियों को कुंभी से निकाल लेते हैं। शेष नरकों में जो कुम्भियां हैं, इन में नारकीय स्वयं ही एक दूसरे को निकालते हैं, स्वयं ही एक दूसरे की मारपीट करके एक दूसरे को पीड़ित करते हैं। वैसे तो सभी नरकों में वेदनाओं का जाल बिछा हुआ है, किन्तु वेदनाओं में तीव्रता आगे-आगे बढ़ती जाती है। सब से कम वेदना पहले नरक में और सर्वाधिक वेदना सातवें नरक में होती है।

रत्न-प्रभा नरक के निवासी नारकियों की जघन्य (कम से कम) स्थिति दस हजार वर्ष की है, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) एक सागरोपम *। शर्करा प्रभा के नारकियों की जघन्य स्थिति एक सागरोपम की होती है और उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की। इसी प्रकार तीसरे नरक की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम, चौथे नरक की जघन्य स्थिति सात और उत्कृष्ट दस, पांचवें नरक की जघन्य दस और उत्कृष्ट १७, छठे की जघन्य स्थिति १७ और उत्कृष्ट २२, तथा सातवें नरक की

---

* सागरोपम की व्याख्या पीछे पृष्ठ ६४७ पर की जा चुकी है।

जघन्य स्थिति २२ और उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की होती है।

असंज्ञी† प्राणी मरकर पहले नरक में उत्पन्न हो सकता है, आगे नहीं। भुजपरिसर्प पहले दो नरक तक, पक्षी तीन भूमि तक, सिंह चार भूमि तक, उरग पाँचवें नरक तक, स्त्री छठे नरक तक, मत्स्य और मनुष्य मर कर सातवें नरक तक जा सकता है। भाव यह है कि तिर्यञ्च और मनुष्य ही नरक में पैदा हो सकते हैं, देव और नारकीय नहीं। देव और नारकीयों का नरक में उत्पन्न न होने का कारण उनमें वैसे अध्यवसाय का अभाव ही समझना चाहिए।

पहले तीन नरकों के नारकीय जीव मनुष्य जन्म पाकर तीर्थंकर पद पा सकते हैं, चार नरकों के नारकीय जीव मनुष्य-गति में निर्वाण पद भी पा सकते हैं। पांच नरकों के नारकीय जीव मनुष्य वन कर संयम का लाभ ले सकते हैं। छः नरकों से निकले हुए नारकोय जीव, देश-विरति (श्रावक-धर्म) और सात नरकों से निकला हुआ नारकीय जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। भाव यह है कि नारकीय जीव का सदा के लिए पतन नहीं हो पाता। वह नरक से निकल कर, मनुष्य-जन्म लेकर सत्य, अहिंसा की साधना द्वारा अपने भविष्य को उज्ज्वल वना सकता है। जिस प्रकार मनुष्य गति का प्राणी आध्यात्मिक समुच्चता

†मन वाले प्राणी को संज्ञी कहते हैं, मन से रहित प्राणी असंज्ञी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय सभी जीव असंज्ञी होते हैं। यह सत्य है कि कृमि आदि विकलेन्द्रिय जीवों में भी अत्यन्त सूक्ष्म मन है, इससे वे हित में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति कर लेते हैं, पर उनका वह कार्य सिर्फ देहमात्रोपयोगी होता है, इससे अधिक नहीं। यहां इतना पुष्ट मन विवक्षित है, जिससे निमित्त मिलने पर देहयात्रा के अलावा और भी अधिक विचार किया जा सके, अर्थात् जिससे पूर्व जन्म तक का स्मरण तक हो सके। इतनी विचार की योग्यता वाला मन ही यहां अपेक्षित है। ऐसे मन वाले को ही संज्ञी और इससे वञ्चित प्राणी असंज्ञी कहा जाता है।

का शिखर उपलब्ध कर सकता है, वैसे ही नरक गति का जीव भी वहाँ से निकल कर, मनुष्यलोक को प्राप्त हो कर आध्यात्मिक साधना द्वारा जीवन का कल्याण कर सकता है।

भवनपति देव—

प्रथम नरक में १३ पाथड़े और १२ अन्तर हैं। *अन्तर असंख्य योजन के लम्बे चौड़े होते हैं और ११५८३ योजन के ऊँचे। इन बारह अन्तरों में से एक सबसे ऊपर का और एक सबसे नीचे का खाली पड़ा है, बीच में दस अन्तर हैं। उनमें अलग-अलग जाति के भवनपति देव रहते हैं। दस में से पहले अन्तर में असुरकुमार जाति के भवनपति देव रहते हैं। दूसरे अन्तर में नागकुमार जाति के भवनपति देव, तीसरे में सुवर्णकुमार जाति के, चौथे में विद्युत्कुमार जाति के, पांचवें में अग्निकुमार जाति के, छठे में द्वीपकुमार जाति के, सातवें में उदधिकुमार जाति के, आठवें में दिशाकुमार जाति के, नौवें में वायुकुमार जाति के और दसवें में स्तनितकुमार जाति के भवनपति देव निवास करते हैं।

सभी भवनपति देव कुमार इसलिए कहे जाते हैं, वे कुमार

*जैसे मकान में मंज़िलें होती हैं, वैसे ही नरक में भी मंज़िलें होती हैं। नरक की मंज़िल को अन्तर कहते हैं। जैसे मंज़िलों के बीच में छत-पृथ्वीपिण्ड रहता है, वैसे ही अन्तरों के बीच के पृथ्वी-पिण्ड को पाथड़ा कहा जाता है। पाथड़ों के मध्य में पर्वतीय गुफाओं के समान पोलार (शून्य प्रदेश) होता है, उसी में नरकावास होते हैं। इन नरकावासों में नारकीय जीव निवास करते हैं। पाथड़े और अन्तर नरकों में होते हैं। सातवें नरक में १ पाथड़ा और छठे में ३ पाथड़े, २ अन्तर। पांचवें में ५ पाथड़े, ४ अन्तर, चौथे नरक में ७ पाथड़े, ६ अन्तर। तीसरे नरक में ९ पाथड़े, ८ अन्तर, दूसरे में ११ पाथड़े, १० अन्तर और प्रथम नरक में १३ पाथड़े और १२ अन्तर होते हैं।

की भाँति देखने में प्रायः सुन्दर, मनोहर तथा सुकुमार होते हैं, और मृदु व मधुर गति वाले तथा क्रीड़ाशील होते हैं। दसों प्रकार के भवनपतियों की शरीरगत चिन्हादि स्वरूप-सम्पत्ति जन्म से ही अपनी-अपनी जाति में जुदा जुदा है। १—असुर-कुमारों के मुकुट में चूड़ामणि का चिन्ह होता है, २—नागकुमार के मुकुट में नाग का, ३—सुवर्णकुमारों के गरुड़ का, ४—विद्युत्कुमारों के वज्र का, ५-अग्निकुमारों के घट का, ६—द्वीपकुमारों के सिंह का, ७—उदधिकुमारों के मकर का, ८—दिक्कुमारों के हस्ती का, १०—स्तनितकुमारों के शराव-युगल का चिन्ह होता है। नागकुमार आदि सभी देवों के चिन्ह उनके अपने आभरणों में होते हैं। सभी के वस्त्र, शस्त्र, भूषण आदि भी विवध प्रकार के होते हैं।

मध्यलोक—

अधोलोक में सात नरक हैं और १० प्रकार के भवनपति देवता पाए जाते हैं। अधोलोक से ऊपर मध्यलोक है। उस का आरम्भ रत्नप्रभा नरक के ऊपर के ९ सौ योजन पृथ्वी-पिण्ड से चालू हो जाता है। रत्नप्रभा नरक के ऊपर एक हज़ार योजन का पृथ्वी-पिण्ड है, उसमें से एक सौ योजन ऊपर और एक सौ योजन नीचे छोड़ कर बीच में ८०० योजन योजन की पोलार है। इस पोलार में आठ प्रकार के व्यन्तरदेव रहते हैं। उनके नाम निम्नोक्त हैं—

१-पिशाच, २-भूत, ३-यक्ष, ४-राक्षस,
५-किन्नर, ६-किंपुरुष, ७-महोरग, ८-गन्धर्व,

व्यन्तरदेव चंचल स्वभाव के होते हैं वे अपनी इच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न जगह जाया करते हैं। उनमें कई-एक तो मनुष्यों की सेवा करते हैं और रुष्ट होने पर कई-एक उनके दुःखों का कारण भी बन जाते हैं। वे विविध प्रकार के

पहाड़ और गुफाओं तथा वनों के अन्तरों में बसने के कारण व्यन्तर कहलाते हैं।

मनुष्य-लोक—

रत्न-प्रभा पृथिवी की छत पर मनुष्य लोक है। इसके मध्य में मेरुपर्वत है। इसकी ऊँचाई एक लाख योजन की है, जिसमें एक हज़ार योजन जितना भाग भूमि में है और ९९००० हज़ार योजन प्रमाण भाग भूमि के ऊपर है। मेरुपर्वत तीनों लोकों का अवगाहन कर रहा है और भद्रशाल, नन्दन, सौमनस तथा पाण्डुक इन चार वनों से घिरा हुआ है। मेरु के तीन काण्ड हैं। पहला काण्ड हज़ार योजन प्रमाण है जो जमीन में है। दूसरा ६३ हज़ार योजन और तीसरा ३६ हजार योजन प्रमाण है। पहले काण्ड में शुद्ध पृथिवी तथा कंकर आदि की बहुलता है, दूसरे में चांदी, स्फटिक आदि की और तीसरे में सोने की प्रचुरता पाई जाती है।

जम्बूद्वीप—

मेरु पर्वत के चारों ओर थाली के आकार का पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक एक लाख योजन का जम्बूद्वीप है। इसमें अनेकों क्षेत्र पाए जाते हैं, जिन में पहला* भरत है, जो मेरुपर्वत से

---

*जम्बू-द्वीप में मेरु पर्वत से ८५००० योजन दक्षिण दिशा में भरत क्षेत्र है, इसके मध्य में वैताढ्य पर्वत है। यह पर्वत भरत-क्षेत्र को दो भागों में बांट देता है। एक दक्षिणार्ध भरत और दूसरा उत्तरार्ध भरत। उत्तर दिशा में भरत क्षेत्र की सीमा पर चुल्लहिमवान पर्वत है, वहां पद्म नाम का एक द्रह (तालाब) है। इसके पूर्व द्वार से गंगा और पश्चिम द्वार से सिन्धु नाम की दो नदियां वैताढ्यपर्वत के नीचे हो कर निकलती हैं और अन्त में लवण समुद्र में जा मिलती हैं। इस प्रकार वैताढ्यपर्वत गंगा एवं सिंधु नदी के कारण भरतक्षेत्र के छः भाग हो जाते हैं। इन्हीं भागों को षट्खण्ड कहते हैं। चक्रवर्ती का राज्य इन्हीं षट्खण्डों में होता है।

दक्षिण की ओर है, भरत से उत्तर की ओर हैमवत, हैमवत से उत्तर में हरि, हरि से उत्तर में विदेह, †विदेह से उत्तर में रम्यक, रम्यक से उत्तर में हैरण्यवत और हैरण्यवत से उत्तर में ऐरावत क्षेत्र है। इन सातों क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग करने वाले उनके बीच छः पर्वत है, जो वर्षधर कहलाते हैं। वे सभी पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा तक लम्बे हैं। भरत और हैमवत क्षेत्र के मध्य में हिनवान पर्वत है। हैमवत और हरिवर्ष का विभाजक महाहिमवान पर्वत है। हरिवर्ष और विदेह को जुदा करने वाला निषधपर्वत है। विदेह और रम्यक को भिन्न करने वाला नीलपर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत को विभक्त करने वाला रुक्मी पर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत के वीच विभाग करने वाला शिखरी पर्वत है।

मेरुपर्वत से दक्षिण में निषधपर्वत के पास उत्तर में अर्ध-चन्द्राकार देवकुरु क्षेत्र है। इस क्षेत्र में ८॥ योजन ऊँचा रत्नमय जम्बू नाम का एक वृक्ष है। इस पर जम्बूवृक्ष का अधिष्ठाता महान् ऋद्धि का धारक अणढी नाम का देवता रहता है। मेरुपर्वत के उत्तर में नीलवन्त पर्वत के पास दक्षिण में देवकुरुक्षेत्र के समान उत्तर कुरुक्षेत्र

†विदेह का ही दूसरा नाम महा-विदेह है। मेरु पर्वत से पूर्व और पश्चिम में यह क्षेत्र है। इसके बीचों बीच मेरु पर्वत के आ जाने से इसके दो विभाग हो जाते हैं पूर्व महा-विदेह और पश्चिम महा-विदेह। पूर्व महा-विदेह के मध्य में सीता नदी और पश्चिम महा-विदेह के मध्य में सीतोदा नाम की नदी के आ जाने से एक-एक के फिर दो विभाग हो जाते हैं। इस प्रकार इस क्षेत्र के चार विभाग बन जाते हैं। इन चारों विभागों में आठ-आठ विजय (क्षेत्र-विशेष) हैं। ये ८×४=३२ होने से महाविदेह में ३२ विजय पाई जाती है। इस क्षेत्र में सदैव चौथे आरे जैसी स्थिति रहती है।

है, वहां जम्बूवृक्ष के समान ही शाल्मली वृक्ष है।

लवणसमुद्र—

जम्बूद्वीप के बाहिर चूड़ी के आकार का जम्बूद्वीप को घेरे हुए २ लाख योजन का विस्तार वाला लवणसमुद्र है। यह किनारे पर तो बाल के अग्रभाग जितना गहरा होता है, किन्तु आगे-आगे इस की गहराई बढ़ती चली जाती है। ९५००० योजन आगे जाने पर इसमें १००० योजन की चौड़ाई में १००० योजन की गहराई आती है। फिर गहराई कम होने लग जाती है, और क्रम से घटती-घटती धातकीखण्ड द्वीप के समीप यह बालाग्र जितना गहरा रह जाता है। लवणसमुद्र का पानी नमक जैसा खारा होता है।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र से उत्तर में स्थित चुल्लहिमवान पर्वत के पूर्व और पश्चिम में दोनों ओर हाथी के दाँत के समान वक्र दो-दो दाढ़ें लवणसमुद्र में गई हुई हैं। एक-एक दाढ दक्षिण की ओर मुड़ी हुई है और एक-एक उत्तर की ओर। इन चारों दाढों पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं, जो एक दूसरे से सैंकड़ों योजन के अन्तर पर हैं। चुल्लहिमवान पर्वत की तरह ऐरावत क्षेत्र की सीमा करने वाला शिखरी पर्वत है, इस की भी चार दाढें लवणसमुद्र में अवस्थित हैं, उन पर भी सात-सात अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार दोनों तरफ के मिल कर सब अन्तर्द्वीप ५६ हो जाते हैं। इन अन्तर्द्वीपों में असंख्यातवें भाग की आयु वाले युगलिया मनुष्य रहते हैं। वहां के मनुष्य मर कर एक मात्र देवगति की आयु को प्राप्त होते हैं।

धातकीखण्ड—

लवणसमुद्र के चारों ओर गोलाकार चार लाख योजन के विस्तार वाला धातकीखण्ड द्वीप है। यह द्वीप लवणसमुद्र को घेरे हुए है। इसके मध्य में पूर्व और पश्चिम द्वार से निकले इक्षुकार

नाम के दो पर्वत हैं। इस से इस खण्ड के पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड ऐसे दो भाग हो जाते हैं। दोनों भागों में एक-एक मेरुपर्वत है। जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकी-खण्ड में मेरु, क्षेत्र और पर्वतों की संख्या दुगुनी है, और नाम सब के एक जैसे हैं।

कालोदधि समुद्र—

धातकीखण्ड द्वीप को चारों ओर से घेरे हुए कंगण के आकार का ८ लाख योजन का चौड़ा और हज़ार योजन का गहरा कालोदधि समुद्र है। इस के पानी का स्वाद साधारण पानी जैसा माना गया है।

पुष्करद्वीप—

कालोदधि समुद्र को चारों ओर से घेरे हुए चूड़ी के आकार का १६ लाख योजन का चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस के मध्य में १७२१ योजन ऊंचा वलयाकार एक मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत के कारण पुष्करद्वीप के दो भाग हो जाते हैं। इस पर्वत के भीतर आधे भाग में ही मनुष्यों की बसति है—(आबादी है), बाहिर नहीं। इसी कारण यह पर्वत मानुषोत्तर पर्वत कहा जाता है।

धातकीखण्ड द्वीप की भांति इस पुष्करद्वीप के मध्य में भी दो इक्षुकार पर्वत हैं, जिन के कारण इस के भी दो विभाग हो जाते हैं—पूर्व पुष्करार्ध द्वीप और पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप। धातकीखण्ड के समान इस में भी दो मेरु पर्वत हैं। ये मेरु, क्षेत्र, पर्वत और नदी आदि सभी पदार्थ धातकीखण्ड के समान ही होते हैं। इन सब का विस्तार धातकीखण्ड द्वीप के समान ही समझना चाहिए।

इस प्रकार एक लाख योजन का जम्बूद्वीप, उसके दोनों तर्फ का चार लाख योजन का लवणसमुद्र, उसके दोनों तर्फ का आठ लाख योजन का धातकीखण्ड द्वीप, इसके दोनों तर्फ १६ लाख योजन का कालोदधि समुद्र और फिर इसके दोनों ओर का सोलह लाख

योजन का पुष्करार्ध द्वीप। इस प्रकार १+४+८+१६+१६=४५ लाख योजन का अढ़ाई द्वीप है। जम्बूद्वीप के मध्य में खड़े होकर एक ओर से पुष्करार्ध द्वीप तक भूखण्ड की चौड़ाई की गणना करने लगें तो २२½ लाख योजन का अढ़ाई द्वीप होता है, परन्तु जब जम्बूद्वीप के दोनों ओर से उसकी गणना करने लगें तो दोनों ओर से २२-२२ लाख योजन बनते हैं, दोनों को मिला कर ४४ लाख और उन में एक लाख योजन का मध्यस्थ जम्बूद्वीप मिलाकर ४५ लाख योजन बनते हैं।

अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्य रहते हैं, इसलिए इसे मनुष्य-क्षेत्र या मनुष्यलोक भी कहते हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहिर मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती, बादर अग्निकाय, द्रह (तालाब), कुण्ड, नदी, गर्जना-शब्द, विद्युत्, मेघ, वर्षा, ओले नहीं होते और दुष्काल भी नहीं पड़ता। मानुषोत्तर पर्वत के बाहिर के पुष्करार्ध द्वीप में देवताओं तथा तिर्यञ्चों का निवास रहता है। विद्या-सम्पन्न मुनि या वैक्रिय-लब्धिधारी ही मनुष्य अढ़ाई द्वीप के बाहिर जा सकते हैं, पर उनका जन्म-मरण तो मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर ही होता है।

मनुष्यजाति के मुख्यतया दो भेद होते हैं—आर्य और म्लेच्छ। निमित्त-भेद से छः प्रकार के आर्य माने गये हैं—१—क्षेत्र से, २—जाति से, ३—कुल से, ४—कर्म से, ५—शिल्प से और ६—भाषा से। क्षेत्र से आर्य वे होते हैं, जो १५ कर्मभूमियों† में और उनमें भी जो

†जहां असि-युद्ध, मसि-लेखनविधि, कृषि-खेती, राज्यनीति, साधु, साध्वी, धर्मव्यवहार, ७२ कला पुरुषों की, ६४ कला स्त्रियों की तथा १०० प्रकार का शिल्प कर्म पाया जाए उसे कर्म-भूमि क्षेत्र कहते हैं। जहां ये सब कार्य न हों वह अकर्म-भूमि कहलाती है। ५ भरत, ५ ऐरावत, ५ महा-विदेह, ये १५ कर्मभूमियों के क्षेत्र माने गये हैं। ५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ हरिवर्ष, ५ रम्यकवर्ष, ५ हैमवत,

†आर्य देश में पैदा होते हैं। जो इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, कुरु, उग्र आदि वंशों में पैदा होते हैं वे जाति से आर्य हैं। कुलकर, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव और दूसरे भी जो विशुद्ध कुलवाले हैं, वे कुल से आर्य हैं। पटन, पाठन, कृषि, लिपि, वाणिज्य आदि से आजीविका करने वाले कर्म से आर्य हैं। जुलाहा, नाई, कुम्हार आदि जो अल्प आरम्भ (हिंसा) वाली और अनिन्द्य आजीविका से जीते हैं वे शिल्प आर्य होते हैं। जो शिष्ट-पुरुष-मान्य भाषा में सुगम रीति से बोलने आदि का व्यवहार करते हैं, वे भाषा से आर्य हैं। इन छः प्रकार के आर्यों से विपरीत लक्षण वाले सभी लोग म्लेच्छ कहलाते हैं। आर्य और म्लेच्छ सभी लोग जहां रहते हैं उसे मनुष्य-लोक कहते हैं। इसी मनुष्य लोक को अढ़ाई द्वीप कहते हैं। अढाई द्वीप में जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड-द्वीप और पुष्करार्व द्वीप आते हैं। पुष्करार्ध द्वीप के चारों ओर ३२ लाख योजन का पुष्कर समुद्र है। इसी प्रकार आगे एक द्वीप और एक समुद्र के क्रम से द्वीप और समुद्र हैं। ये सब द्वीप और समुद्र एक दूसरे से दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं। तीन द्वीपों और तीन समुद्रों का वर्णन किया जा चुका है। आगे के कुछ द्वीपों और समुद्रों के नाम इस प्रकार हैं—

---

५ हिरण्यवत, ये ३० अकर्म-भूमियों के क्षेत्र कहे गए हैं। अकर्मभूमि के मनुष्य १० प्रकार के कल्प-वृक्षों द्वारा अपनी इच्छाएँ पूर्ण किया करते हैं।

†१५ कर्मभूमियां, ३० अकर्म-भूमियां और ५६ अन्तर्द्वीप इस प्रकार उक्त सब मिला कर १०१ मनुष्यों के रहने के क्षेत्र हैं। इन में अकर्म-भूमियों और अन्तर्द्वीपों में युगलिए मनुष्य रहते हैं। वे देवों सरीखे पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों के शुभ फल भोगते हैं। धर्म की तनिक आराधना नहीं कर सकते। धर्माराधना के योग्य कर्मभूमि के ही केवल १५ क्षेत्र हैं। इन में से पांचों महाविदेह-क्षेत्रों में तो सदैव धर्म की प्रवृत्ति बनी रहती है किन्तु पांच भरत और ५ ऐरावत इन १० क्षेत्रों में दस-दस

७-वारुणी द्वीप, ८-वारुणी समुद्र, ९-क्षीर द्वीप,
१०-क्षीर समुद्र, ११-घृत द्वीप, १२-घृत समुद्र,
१३-इक्षु द्वीप, १४-इक्षु समुद्र, १५-*नंदीश्वरद्वीप,
१६-नदीश्वर समुद्र, १७-अरुण द्वीप, १८-अरुण समुद्र
१९-अरुणवर द्वीप, २०-अरुणवर समुद्र, २१-पवन द्वीप,
२२-पवन समुद्र, २३-कुण्डल, द्वीप २४-कुण्डल समुद्र
२५-शंख द्वीप २६-शंख समुद्र २७-रुचक द्वीप†
२८-रुचक समुद्र २९-भुजंग द्वीप, ३०-भुजंग समुद्र

इस प्रकार अगला-अगला द्वीप, समुद्र, पूर्व-पूर्व के द्वीप समुद्र को घेरे हुए हैं। असंख्य द्वीप हैं, असंख्यात समुद्र हैं। जगत में प्रशस्त वस्तुओं के जितने नाम हैं, उतने नाम वाले द्वीप समुद्र माने गए हैं। सब का विस्तार दुगुना-दुगुना होता चला जाता है। इन सब के अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है। उसके १२ योजन दूर चारों ओर

कोडाकोडी सागर, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में से नौ कोडाकोडी सागरोपम जितने काल में युगलिया मनुष्य ही रहते हैं। सिर्फ एक कोडाकोडी सागरोपम से कुछ अधिक काल ही धर्म की प्रवृत्ति रहती है। इन दस क्षेत्रों में प्रत्येक क्षेत्र में ३२-३२ हज़ार देश हैं, इन में से प्रत्येक क्षेत्र में ३१, ९, ७४½ देश अनार्य हैं और केवल २५½ देश आर्य हैं। भरत क्षेत्र के मगध देश, अंग देश, वंग देश, कलिंग देश, काशी-देश, कौशल देश, कुरु देश, पांचाल देश आदि २५½ देश आर्य माने जाते हैं।

*नन्दीश्वर द्वीप में देवता लोग कार्तिक, फाल्गुण और अषाढ़ मास के अन्तिन आठ दिनों में तथा तीर्थंकर भगवान के पंच-कल्याण आदि शुभ दिनों में अष्टान्हिक महोत्सव किया करते हैं।

†रुचक द्वीप तक जंघाचरण मुनि जा सकते हैं।

अलोक है।

ज्योतिष्मण्डल—

मेरु के समतल भूभाग से सात सौ नव्वे योजन की ऊंचाई पर ज्योतिश्चक्र के क्षेत्र का आरंभ होता है, जो वहां से एक सौ दस योजन परिमाण और तिरछा असंख्यात द्वीप परिमाण है। उस में दस योजन की ऊंचाई पर (मेरुपर्वत के समतल से आठ सौ योजन की ऊंचाई पर) सूर्य का विमान है। वहां से ८० योजन की ऊंचाई पर चन्द्र का विमान है। वहां से २० योजन की ऊंचाई तक ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारे हैं। प्रकीर्ण तारे का मतलब यह है कि अन्य कुछ तारे जो अनियतचारी होने से कभी सूर्य, चन्द्र के नीचे भी चलते हैं और कभी ऊपर। चन्द्र के ऊपर बीस योजन की ऊँचाई में पहले चार योजन की ऊँचाई पर नक्षत्र हैं। इसके बाद चार योजन की ऊँचाई पर बुधग्रह, बुध से तीन योजन ऊँचे शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊँचे गुरु, गुरु से तीन योजन ऊँचे मंगल, और मंगल से तीन योजन ऊँचे शनैश्चर है। अनियतचारी तारा जब सूर्य के नीचे चलता है, तब वह सूर्य के नीचे दस योजन प्रमाण ज्योतिष-क्षेत्र में चलता है। ज्योतिष-प्रकाशमान विमान में रहने के कारण सूर्य आदि ज्योतिष्क कहलाते हैं। इन सब के मुकुटों में प्रभामण्डल का सा उज्ज्वल सूर्य आदि के मण्डल जैसा चिन्ह होता है। सूर्य के सूर्यमण्डल का सा, चन्द्र के चन्द्रमण्डल का सा, और तारा के तारामण्डल का सा चिन्ह समझना चाहिए।

मनुष्य-लोक में जो ज्योतिष्क हैं, वे सदा भ्रमण किया करते हैं, इन का भ्रमण मेरु-पर्वत के चारों ओर होता है। अढ़ाई द्वीप से बाहिर जो सूर्य, चन्द्र हैं, वे सदैव स्थिर रहते हैं। उनके के विमान स्वभाव से ही एक जगह स्थिर रहते हैं, इधर से उधर भ्रमण नहीं करते

हैं। काल-विभाग अढ़ाई द्वीप में ही है, इससे बाहिर नहीं है। ज्योतिष्क देवों की गति के आधार पर ही कालविभाग हुआ करता है। अढ़ाई-द्वीप में ज्योतिष्क देवों के भ्रमणशील होने से काल-विभाग होता है। इससे बाहिर उनके स्थिर रहने से काल-विभाग नहीं होता।

जम्बूद्वीप में २ चन्द्र, २ सूर्य हैं। लवण समुद्र में ४ चन्द्र और ४ सूर्य हैं। धातकीखण्डद्वीप में १२ चन्द्र और १२ सूर्य होते हैं। इसी प्रकार आगे भी किसी विवक्षित द्वीप या समुद्र की चन्द्र-संख्या या सूर्य-संख्या तिगुनी करके पिछले द्वीपसमुद्रों की चन्द्र-संख्या या सूर्य-संख्या के जोड़ देने से किसी भी द्वीप और समुद्र के चन्द्रों या सूर्यों की संख्या मालूम की जा सकती है।

एक-एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और छयासठ हजार ९ सौ पचहत्तर कोटाकोटी तारों का है। नक्षत्र और ग्रहों का विवरण "सूर्यप्रज्ञप्ति" तथा "चन्द्रप्रज्ञप्ति" नामक सूत्र में देख लेना चाहिए। वैसे तो लोकमर्यादा के स्वभाव से ही सूर्य, चन्द्र आदि विमानों की स्वाभाविक गति होती है, और उसी गति से चलते हैं, तथापि क्रीड़ाशील सेवक देव भक्तिवश उनके साथ रहते हैं, या उनको उठाते हैं। सूर्य के विमान को १६००० देव उठाते हैं। चन्द्र के विमान को भी १६०० देव उठाते हैं। तारा के विमान को दो हजार देवता और नक्षत्र विमान को चार हजार देवता तथा ग्रहों के विमानों को ८ हजार देव उठाए फिरते हैं।

समय, आवलिका, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास आदि अतीत, वर्तमान और अनागत तथा संख्येय, असंख्येय, आदि रूप से अनेक प्रकार का कालव्यवहार मनुष्यलोक में होता है। इसके बाहिर नहीं। मनुष्यलोक के बाहिर यदि कोई कालव्यवहार करने वाला हो और ऐसा व्यवहार करे तो वह मनुष्यलोक

प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही समझना चाहिए। व्यावहारिक काल-विभाग का मुख्य आधार नियत क्रियामात्र है। ऐसी क्रिया सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति ही है। स्थानविशेष में सूर्य के प्रथम दर्शन से लेकर स्थानविशेष में सूर्य का जो अदर्शन होता है। इस उदय और अस्त के बीच की सूर्य की क्रिया से ही दिन का व्यवहार होता है। इसी तरह सूर्य के अस्त से उदय तक की गति-क्रिया से रात का व्यवहार होता है। दिन का तीसवां भाग मुहूर्त्त माना गया है। पन्द्रह दिन रात का एक पक्ष होता है। इसी प्रकार, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि अनेकविध लौकिक कालविभाग चन्द्र और सूर्य की गतिक्रिया के आधार पर ही किया जाता है। जो क्रिया चालू है, वह वर्तमान काल है। जो होने वाली है वह अनागतकाल और जो हो चुकी हो वह अतीतकाल कहलाता है। जो काल गिनती में आ सकता है उसे संख्येय और जो गिनती में नहीं आ सकता केवल उपमान (उदाहरण) द्वारा जाना जा सकता है वह असंख्येय काल कहा गया है। जिस का अन्त न हो उसे अनन्त कहते हैं।

कालचक्र—

ज्योतिष्क विमानों की गति-क्रिया के आधार पर लौकिक काल-विभाग और परिमाण की कल्पना की जाती है। अतः प्रस्तुत में जैनदर्शनमान्य काल-विभाग को भी समझ लेना चाहिए।

अवसर्पिणी काल—

मुख्य रूप से काल के दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। जिस काल में जीवों की शक्ति, अवगाहना, आयु क्रमशः घटती चली जाती है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है और जिस काल में शक्ति, अवगाहना आदि में क्रमशः वृद्धि होती जाती है उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। अवसर्पिणी काल के छः विभाग होते हैं, जिसे आरा शब्द

से व्यवहृत किया जाता है। वे निम्नोक्त हैं—

१—सुषम-सुषमा, २—सुषमा, ३—सुषम-दुषमा,
४—दुषम-सुषमा, ५—दुषमा, ६—दुषम-दुषमा

सुषमसुषमा—इस आरे में शरीर बड़े बलवान और प्रशस्त डीलडौल वाले होते हैं। मनुष्यों का सौन्दर्य विलक्षण और स्वभाव सरल तथा नम्र होता है। एक साथ ही स्त्री और पुरुष पैदा होते हैं अर्थात् युगल-जोड़ा पैदा होता है। युगल रूप से उत्पन्न होने के कारण इन्हें युगलिया कहा जाता है। जब युगल की आयु १५ मास शेष रहती है तो उस समय वेदमोहनीय कर्म का तीव्र उदय होने से दोनों का सम्बन्ध होता है, और नारी गर्भ धारण करती है, इस से पहले वे भाई-बहिन की तरह ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहते हैं। युगलिनी के गर्भ से युगल ही उत्पन्न होता है। केवल ४९ दिनों तक नवजात युगल का पालनपोषण करना होता है। इतने दिनों में वे होशियार और स्वालम्बी हो जाते हैं। युगल के माता-पिता मरण समय निकट आने पर एक को छींक और दूसरे को जंभाई आने से मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। युगलियों की गति देव-लोक की होती है। उस क्षेत्र के अधिष्ठाता देव युगल के मृतक शरीर का क्षीर-समुद्र में ले जाकर प्रक्षेप कर देते हैं।

तीन-तीन दिनों के अन्तर से युगलियों को भूख लगती है। इन की इच्छाएं दस प्रकार के कल्पवृक्षों से पूर्ण हो जाती हैं। इस आरे में पृथ्वी का स्वाद मिश्री से भी अधिक स्वादिष्ट होता है। पुष्प और फलों का स्वाद चक्रवर्ती के श्रेष्ठ भोजन से भी बढ़ कर होता है। भूमि-भाग अत्यन्त रमणीय विविध वृक्षों और पौधों से सुशोभित होता है। सब प्रकार के सुखों से पूर्ण होने के कारण इस आरे को सुषमसुषमा कहा जाता है। यह आरा चार कोडा-कोड़ी

सागरोपम का होता है।

सुषमा—यह आरा प्रथम आरे के अनंतर आता है। इस आरे में पहले आरे की अपेक्षा वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्तमता में हीनता आ जाती है। इस आरे के मनुष्यों को दो दिन के अन्तर से आहार की इच्छा पैदा होती है। पृथ्वी का का स्वाद मिश्री के बदले शक्कर जैसा रह जाता है, पहले आरे के समान इसमें भी युगल धर्म रहता है। इसमें नवजात युगल का ६४ दिनों तक पालन-पोषण करना होता है। तत्पश्चात् वे स्वावलम्बी बन जाते हैं। यह आरा तीन सागरोपम कोटाकोटि का होता है। शेष कथन पहले आरे के समान समझ लेना चाहिए।

सुषम-दुषमा—इसमें सुख बहुत और दुःख अल्प थोड़ा होता है। यह दो कोटाकोटि सागरोपम का है। इस आरे में पूर्वापेक्षया वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्तमता में ह्रास हो जाता है। एक दिन के अन्तर पर आहार की इच्छा पैदा होती है। पृथ्वी का स्वाद गुड़ जैसा हो जाता है। पहले की भांति इसमें भी युगलधर्म रहता है। इसमें नवजात युगल का ७९ दिनों तक पालन-पोषण करना होता है। इसमें तथा पिछले दो, इस प्रकार तीनों आरों में तिर्यञ्च भी युगल ही होते हैं।

इस आरे के तीसरे भाग की समाप्ति में जब पल्योपम का आठवां भाग शेष रह जाता है, उस समय कालदोष से कल्पवृक्षों की शक्ति न्यून पड़ जाती है। युगलियों में द्वेष और कषायों की मात्रा बढ़ जाती है, आपस में ये विवाद करते हैं। विवाद को शान्त करने के लिए सब एक नेता बनाते हैं, जिसे शास्त्रीय भाषा में कुलकर कहा जाता है। ये कुलकर १५ होते हैं। प्रत्येक कुलकर अपने-अपने समय का प्रताप-शाली और विद्वान् मनुष्य होता है। वह तत्कालीन समाज की मर्यादा और व्यवस्था करता है। प्रारम्भ के ५ कुलकरों तक हकार की दण्ड-

नीति प्रचलित थी। जब कोई मनुष्य कोई अपराध करता था तो उसे कुलकर "हा" ऐसा शब्द कहकर उसके कुकृत्य पर खेद प्रकट किया करता था। अपराधी के लिए इतना दण्ड ही पर्याप्त होता था। इससे वह लज्जित हो जाता था, इसके आगे के पांच कुलकरों तक "मा" की दण्डनीति चलती रही। मा का अर्थ है 'मत'। ऐसा मत करो, इस प्रकार कह देना ही अपराधी के लिए काफी था। इससे आगे के कुलकरों के समय में दण्ड को कुछ कठोर बनाया गया। उस समय अपराधी को "धिक्" शब्द का दण्ड दिया जाता था। इस दण्ड से ही लज्जित होकर उस युग के लोग अपराध से विरत हो जाते थे।

जब अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा समाप्त होने में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और ८½ महीने शेष रह जाते हैं, तब अयोध्या नगरी में महामहिम भगवान ऋषभदेव का जन्म होता है। ये चौदहवें कुलकर नाभि के पुत्र थे। इन की माता का नाम मरुदेवी था। इस अवसर्पिणी काल के ये प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम ही धर्मचक्रवर्ती थे। इन की आयु ८४ लाख पूर्वों[1] की थी। इन्हों ने बीस लाख पूर्व वर्ष कुमारावस्था में व्यतीत किए और ६३ लाख पूर्व तक वर्ष राज्य किया, अपने शासनकाल में प्रजाहित के लिए इन्हों ने लेख, गणित आदि ७२ पुरुषकलाओं❀ और ६४ स्त्रीकलाओं का उपदेश दिया। इसी प्रकार जनता को १०० शिल्पों, असि (युद्ध), मसि (व्यापार) और कृषि (खेती) इन तीन कर्मों की शिक्षा दी। ६३ लाख पूर्व

1. ७० लाख, ५६ हज़ार वर्ष को एक करोड़ से गुणा करने पर ७०,५६,००००,००००,०० वर्षों का एक पूर्व होता है।

❀ ७२ कलाओं के संक्षिप्त स्वरूप के जिज्ञासुओं को मेरे द्वारा अनुवादित विपाकसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के द्वितीय अध्ययन को देखना चाहिए।

राज्य भोग कर इन्हों ने दीक्षा ली। एक वर्ष छद्मस्थ रहे। एक वर्ष कम एक लाख पूर्व केवली रहे, ८४ लाख पूर्व की आयु पूर्ण होने पर निर्वाण पद प्राप्त किया।

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय राजकुल में चक्रवर्ती का जन्म हो जाता है। चक्रवर्ती की माता १४ स्वप्न देखती है। इसके १४ रत्न और ९ निधियां होती हैं। १४ रत्नों में से चक्र, छत्र, दण्ड, खड्ग, मणि, कांगनी और चर्म ये सात एकेन्द्रिय रत्न और सेनापति, गाथापति, वर्धकि, पुरोहित, स्त्री, अश्व और गज ये सात पञ्चेन्द्रिय रत्न होते हैं। उक्त रत्नों का अर्थ इस प्रकार है—

१—**चक्ररत्न**—यह सेना के आगे-आगे आकाश में 'गरणाट' शब्द करता हुआ चलता है, और छः खण्ड साधने का रास्ता बतलाता है।

२—**छत्ररत्न**—यह सेना के ऊपर १२ योजन लम्बे, ८ योजन चौड़े छत्र के रूप में परिणत हो जाता है। शीत, ताप, वायु आदि के उपसर्ग से रक्षा करता है।

३—**दण्ड-रत्न**—यह विषमस्थान को सम करके सड़क जैसा मार्ग बना देता है। वैताढ्य पर्वत की दोनों गुफाओं के द्वार खुले करता है।

४—**खड्गरत्न**—यह पचास अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौड़ा, आधा अंगुल मोटा एवं अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला होता है। हज़ारों कोसों की दूरी पर स्थित शत्रुओं का सिर काट सकता है। ये उक्त चारों रत्न चक्रवर्ती की आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं।

५—**मणि-रत्न**—यह चार अंगुल लम्बा और दो अंगुल चौड़ा, होता है। इसे ऊँचे स्थान पर रख देने से दो योजन तक चन्द्रमा के समान प्रकाश फैल जाता है। हाथी के मस्तक पर रखने से सवार सर्वथा निर्भय हो जाता है।

६—कांगनी-रत्न—यह छहों ओर चार-चार अंगुल लम्बा, चौड़ा, सुनार की ऐरन के समान, छः तले, आठ कोने, बारह हंसे वाला तथा आठ सोनैया भर वजन का होता है। इससे वैताढ्यपर्वत की गुफाओं में एक-एक योजन के अन्तर पर पांच सौ धनुष के गोलाकार ४८ मण्डल किए जाते हैं, इनका प्रकाश चन्द्रमा के समान होता है। और यह जब तक चक्रवर्ती जीवित रहता है, तब तक बना रहता है।

७—चर्म-रत्न—यह दो हाथ लम्बा होता है। यह बारह योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी नौका रूप बन जाता। चक्रवर्ती की सेना इस पर सवार हो कर गंगा और सिंधु जैसी महानदियों को पार करती है। उक्त तीनों रत्न चक्रवर्ती के लक्ष्मी-भण्डार में पैदा होते हैं।

८—सेनापतिरत्न—बीच के दोनों खण्डों को चक्रवर्ती स्वयं जीतता है और चारों कोनों के चारों खण्डों को चक्रवर्ती का सेनापति जीतता है। यह वैताढ्यपर्वत की गुफाओं के द्वार दण्ड का प्रहार करके खोलता है और म्लेच्छों को पराजित करता है।

९—गाथापतिरत्न—चर्म-रत्न को पृथ्वी के आकार का बना कर उस पर २४ प्रकार का धान्य और सब प्रकार के मेवे, शाक, सब्जी आदि सभी पदार्थ दिन के प्रथम प्रहार में बोए जाते हैं, दूसरे पहर में सब पक जाते हैं, तीसरे पहर में उन्हें तैयार करके चक्रवर्ती आदि को खिला देता है। यह सब कार्य करने वाले को ही गाथापति-रत्न कहते हैं।

१०—वर्धकि-रत्न—यह मुहूर्त्त भर में १२ योजन लम्बा, ९ योजन चौड़ा और ४२ खण्ड का महल, पौषधशाला, रथशाला, घुड़शाला, पाकशाला, बाज़ार आदि सब सामग्री से युक्त नगर बना देता है। रास्ते में चक्रवर्ती अपने समस्त परिवार के साथ उस में निवास करते हैं।

११—**पुरोहितरत्न**—यह शुभ महूर्त्त वतलाता है, लक्षण, हस्तरेखा, व्यंजन (तिल, मसा आदि), स्वप्न, अंग का फड़कना आदि सव का शुभाशुभ फल वतलाता है, शान्तिपाठ करता है।

१२—**स्त्रीरत्न** (श्रीदेवी)—चक्रवर्ती की स्त्री वैताढ्यपर्वत की उत्तरश्रेणी के स्वामी विद्याधर की पुत्री होती है, कुमारिका के समान सदा युवति रहती है। इसका देहमान चक्रवर्ती के देहमान से चार अंगुल कम होता है, यह पुत्र प्रसव नहीं करती।

१३—**अश्व-रत्न** (कमला-पति घोड़ा)—यह पूंछ से मुख तक एक सौ आठ अंगुल लम्वा, खुर से कान तक ८० अंगुल ऊंचा, क्षण भर में अभीष्ट स्थान पर पहुंचा देने वाला और विजयप्रद होता है।

१४—**गजरत्न**—यह चक्रवर्ती से दुगुना ऊँचा होता है, यह महान सौभाग्यशील, कार्य-दक्ष और अत्यन्त सुन्दर होता है। उक्त अश्व और हाथी वैताढ्यपर्वत के मूल में उत्पन्न होते हैं।

चक्रवर्ती की नव निधियाँ

१—**नैसर्प-निधि**—इससे ग्राम आदि वसाने की तथा सेना का पड़ाव डालने की सामग्री और विधि प्राप्त होती है।

२—**पण्डूकविधि**—इसमें तोलने और मापने के उपकरण होते हैं।

३—**पिंगल-निधि**—इससे मनुष्यों और पशुओं के सर्वविध आभूषण प्राप्त होते हैं।

४—**सर्वरत्ननिधि**—इससे चक्रवर्ती के १४ रत्न और अन्य सभी रत्नों तथा जवाहरात की प्राप्ति होती है।

५—**महापद्मनिधि**—इससे वस्त्रों तथा वस्त्रों के रंगने की सामग्री प्राप्त होती है।

६—**कालनिधि**—इस से अष्टाँग निमित्त सम्वन्धी, इतिहास-

सम्बन्धी तथा कुम्भकार आदि के शिल्प-सम्बन्धी शास्त्रों की प्राप्ति होती है।

७—महाकाल-निधि—इससे स्वर्ण आदि धातुओं की, वरतनों की और नक़द धन की प्राप्ति होती है।

८—माणवक-निधि—इस से सर्व प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों की प्राप्ति होती है।

९—शंखनिधि—इससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन वतलाने वाले शास्त्र तथा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, संकीर्ण, पद्यरूप शास्त्रों और सर्व प्रकार के वादित्रों की प्राप्ति होती है।

चक्रवर्ती महाराज का छः खण्डों में निष्कण्टक राज्य होता है, ३२ हज़ार मुकुटधारी राजा इनके सेवक होते हैं। ६४ हज़ार रानियां होती हैं। ८४ लाख हाथी, ८४ लाख घोड़े आदि और भी वहुत सा वैभव चक्रवर्ती का होता है। इस वैभव का यदि त्याग करके चक्रवर्ती संयम धारण करले तव तो मोक्ष या स्वर्ग को प्राप्त करता है। अन्यथा राज्य का उपभोग करते-करते यदि मृत्यु को प्राप्त हो तो वह नरक में जाता है। इस अवसर्पिणी काल में १२ चक्रवर्ती माने जाते हैं, जो भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के काल में पैदा हुए थे। उनके नाम निम्नोक्त हैं—

१—भरत, २—सगर, ३—माधव, ४—सनत्कुमार
५—शान्तिनाथ, ६—कुन्थुनाथ, ७—अरनाथ, ८—सम्भूम
९—महापद्म १०—हरिषेण ११—जयसेन १२—ब्रह्मदत्त

इनमें शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ ये तीनों महापुरुष चक्रवर्ती भी थे और तीर्थंकर भी।

दुषमसुषमा—यह आरा ४२ हज़ार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का होता है, इसमें दुःख ज़्यादा और सुख अल्प होता है। पूर्वापेक्षया वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्तमता में कमी आ जाती

है। दिन में एक वार आहार की इच्छा पैदा होती है। इसमें मनुष्यों के छहों †संहनन और छहों संस्थान ❀होते हैं। इस आरे में मनुष्य पांचों गतियों में जाते हैं। २३–तीर्थंकर, ११–चक्रवर्ती, ९–वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव भी इसी आरे में होते हैं।

तीर्थंकर शब्द का अर्थ होता है–तीर्थ की स्थापना करने वाला। तीर्थ शब्द धर्म का परिचायक है। संसार समुद्र से इस आत्मा को तारने वाला एक मात्र धर्म ही है। धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करने वाला तीर्थंकर होता है। धर्म का आचरण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ को भी गौण दृष्टि से तीर्थ

---

†१–वज्रर्षभनाराच-संहनन—एक हजार मन का भरा हुआ शकट शरीर पर से निकल जावे तो कच्चे सूत के समान मालूम पड़े वह संहनन—हड्डियों की रचना-विशेष। २–ऋषभनाराच-संहनन–एक सौ मन का शकट शरीर पर से निकल जावे तो कच्चे धागे की तरह मालूम पड़े वह संहनन। ३—नाराच—संहनन–१० मन का शकट जिस शरीर पर से निकल जावे तो भी कच्चे धागे की तरह मालूम पड़े वह संहनन। ४—अर्द्धनाराच–संहनन–एक मन का.........कच्चे धागे की तरह मालूम देवे वह संहनन। ५—कीलिका-संहनन—जिसमें नरम झाड़ की तरह आसानी से हड्डियां झुक जाती हैं, जो अधिक वजन सहन नहीं कर सकतीं, वह संहनन। ६–सेवार्तकसंहनन–जिस में हड्डियां अधिक दुर्बल हों, साधारण वजन से टूट जाएं वह संहनन।

❀१–समचतुरस्रसंस्थान—जिस में शरीर की रचना, ऊपर, नीचे तथा बीचमें समभाग रूप से हो। २—न्यग्रोध—परिमण्डल-संस्थान-वड़ के समान जिस शरीर की रचना नीचे से खराब और ऊपर से अच्छी हो अर्थात् नाभि से नीचे के अंग छोटे और ऊपर से वड़े हों। ३—स्वाति-संस्थान—जिसमें नाभि से नीचे के अंग पूर्ण और ऊपर के अपूर्ण हों। ४—कुब्जकसंस्थान—जिसमें छाती पर या पीठ पर कुवड़ हो। ५—वामनसंस्थान—जिसमें शरीर बौना हो, ठिगना हो। ६—हुण्डकसंस्थान—जिसमें शारीररिक अंगोपांग किसी विशेष आकार में न हों।

कहा जाता है। अतः इस चतुर्विध तीर्थ की अर्थात् संघ की स्थापना करने वाले भी तीर्थंकर कहलाते हैं। इस अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थंकर माने जाते हैं। पहले तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे, इनका वर्णन पूर्व कर दिया गया है। शेष २३ तीर्थंकरों के नाम निम्नोक्त हैं—

१ श्री अजितनाथ, २ श्री संभवनाथ, ३ श्री अभिनंदन,
४ ,, सुमतिनाथ, ५ ,, पद्मप्रभ, ६ ,, सुपार्श्वनाथ,
७ ,, चन्द्रप्रभ, ८ ,, सुविधिनाथ, ९ ,, शीतलनाथ,
१० ,, श्रेयांस, ११ ,, वासुपूज्य, १२ ,, विमलनाथ
१३ ,, अनंतनाथ, १४ ,, धर्मनाथ, १५ ,, शान्तिनाथ,
१६ ,, कुन्थुनाथ, १७ ,, अरहनाथ, १८ ,, मल्लिनाथ,
१९ ,, मुनिसुव्रत, २० ,, नमिनाथ, २१ ,, अरिष्टनेमि,
२२ ,, पार्श्वनाथ, २३ ,, महावीर स्वामी

वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीन आरे व्यतीत हो चुके थे, चौथे आरे का भी अधिकांश भाग बीत चुका था, उसके अवशेष होने में केवल ७४ वर्ष ११ मास ७½ रात दिन बाकी थे। महावीरस्वामी का जन्म इसी समय हुआ था। चतुर्थ आरा समाप्त होने में जब तीन वर्ष और चार मास शेष रहते थे, तब भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया था।

चक्रवर्ती १२ होते हैं। इन का नाम-निर्देश पहले किया जा चुका है। वासुदेव ९ होते हैं। वासुदेव पूर्व भव में निर्मल तप, संयम का पालन करके निदान (नियाणा) करते हैं। आयु पूर्ण होने पर ये अवतारी पुरुष एक भव करके उत्तम कुल में अवतरित होते है। वासुदेव के पद की प्राप्ति के समय सुदर्शनचक्र, अमोघ खड्ग, कौमुदी

गदा, पुष्पमाला, धनुष, अमोघवाण (शक्ति), कौस्तुभमणि और महारथ ये सात रत्न पैदा हो जाते हैं। वासुदेव के शरीर में चक्रवर्ती का आधा वल होता है।

वासुदेव से पहले प्रति-वासुदेव पैदा होता है। यह दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र पर राज्य करता है। पर वासुदेव इसे मार कर उसके राज्य के अधिकारी बन जाते हैं। वासुदेव का तीन खण्डों पर एक-छत्र राज्य होता है। बलदेव, वासुदेव से पहले जन्म लेते हैं और वासुदेव के समान होते हैं। दोनों के पिता एक होते हैं, और माता अलग-अलग होती है। दोनों भाइयों में परस्पर अत्यन्त प्रेम होने से दोनों ही मिल कर तीन खण्डों में राज्य करते हैं। वासुदेव से आधा बल बलदेव में होता है। वलदेव की आयु पूर्ण हुए वाद वे संयम धारण करके आयु का अन्त होने पर स्वर्ग या मोक्ष में चले जाते हैं।

इस अवसर्पिणी काल में ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ वलदेव माने जाते हैं। वासुदेवों के नाम ये हैं—

१—त्रिपृष्ठ, २—द्विपृष्ठ, ३—स्वयंभू,
४—पुरुषोत्तम, ५—पुरुषसिंह, ६—पुरुषपुण्डरीक,
७—दत्त, ८—लक्ष्मण, ९—कृष्ण।

९ प्रतिवासुदेव

१—सुग्रीव, २—तारक, ३—मेरक,
४—मधुकोट ५—नसुंभ, ६—बल,
७—प्रह्लाद, ८—रावण, ९—जरासंध,

९ बलदेव

१—अचल, २—विजय, ३—भद्र, ४—सुप्रभ, ५—सुदर्शन
६—आनन्द, ७—नन्दन, ८—पद्मरथ (राम), ९—बलभद्र

दुषमा—यह आरा २१ हजार वर्षों का होता है। इसमें भी

पूर्वापेक्षया वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्तमता में कमी आ जाती है। दिन में दो वार आहार की इच्छा पैदा होती है। इस आरे में निम्नोक्त १० बातों का अभाव हो जाता है—

१—केवल ज्ञान, २—मनःपर्यवज्ञान ३—परमावधिज्ञान ४—परिहारविशुद्धि, ५—सूक्ष्मसम्पराय, ६—यथाख्यात ७—पुलाकलब्धि, ८—आहारक शरीर, ९—क्षायिक सम्यक्त्व, १०—जिनकल्पी मुनि* ।

इस आरे में जन्मा कोई भी जीव मुक्ति नहीं पा सकता। पर चतुर्थ आरे में जन्मे मनुष्य को इस आरे में केवल-ज्ञान हो सकता है, ऐसा व्यक्ति मुक्ति भी प्राप्त करता है। जैसे जम्बूस्वामी। यह आरा दुःख-प्रधान है, इसलिए इस का नाम दुषमा रखा गया है। इस आरे के अन्त में सभी धर्मों का विच्छेद हो जाएगा, राजनीति, धर्मनीति आदि सब नीतियां समाप्त हो जाएँगी। बादर (स्थूल) अग्नि भी उस समय समाप्त हो जायगी।

दुषमदुषमा—यह आरा भी २१ हजार वर्षों का होता है। यह काल मनुष्यों और पशुओं के दुःख-जनित हाहाकार से व्याप्त होगा। इस आरे के आरम्भ में धूलिमय भयंकर आंधियां चलेंगी, दिशाएं धूलि से भर जाएंगी। सर्वत्र अंधकार छा जायगा। मेघ आग, विष आदि प्राणनाशक पदार्थों की वर्षा करेंगे। प्रलय-कालीन पवन और वर्षा के प्रभाव से विविध वनस्पतियां और त्रस प्राणी नष्ट हो जाएंगे। पहाड़ और नगर पृथ्वी से मिल जाएंगे। पर्वतों में एक वैताढ्य पर्वत ही बचेगा। नदियों में गंगा और सिंधु शेष रहेंगी। काल के अत्यन्त रुक्ष होने से सूर्य खूब तपेगा, चंद्रमा अति शीत होगा। भरतक्षेत्र की भूमि अंगार और तपे हुए तव के समान बन

---

* इन दसों का शाब्दिक अर्थ पृष्ठ ६७६ पर लिखा जा चुका है।

जाएगी।

इस आरे के मनुष्यों की शारीरिक उत्कृष्ट अवगाहना एक हाथ की और उत्कृष्ट आयु सोलह और बीस वर्ष की होगी। ये अधिक सन्तान वाले होंगे। छः वर्ष की नारी सन्तान को जन्म देगी। इन के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श अशुभ होंगे। शरीर नाना-विध व्याधियों से ग्रसित रहेगा। हृदय राग, द्वेष की भट्ठी वन जायगा। धर्म, कर्म का इन्हें कोई भान नहीं होगा। वैताढ्यपर्वत में ७२ विलें होंगी, वे ही इन के निवासस्थान होंगे। ये लोग सूर्योदय और सूर्यास्त के समय अपने-अपने विलों से निकलेंगे और गंगा, सिंधु महानदी से मच्छ, कच्छप आदि जीवों को पकड़ कर रेत में गाड़ देंगे। सायं के गाडे हुए मच्छ आदि को सुवह निकाल कर खाएंगे, और सुवह के गाड़े हुए मच्छ आदि को सायं को निकाल कर खाएंगे। ये माँसाहारी जीव मर कर नरकों में उत्पन्न होंगे।

उत्सर्पिणीकाल—

अवसर्पिणीकाल के जिन छः आरों का वर्णन ऊपर दिया गया है, वही छः आरे उत्सर्पिणी काल में होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि उत्सर्पिणीकाल में ये उलटे क्रम से होते हैं। उन का संक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है—

दुषमदुषमा—यह आरा २१ हजार वर्षों का होता है। इस में मनुष्यों का वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श आदि प्रशस्त होना आरंभ हो जाता। यह आरा अवसर्पिणी कालीन छठे आरे के समान होता है।

दुषमा—यह भी २१ हज़ार वर्षों का होता है। यह आरा पहले श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से चालू होता है। इसके आरंभ होते ही पांच प्रकार की वृष्टि सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में होती है। प्रथम वर्षा से धरती की उष्णता दूर हो जाती है। दूसरी से पृथ्वी की दुर्गन्ध दूर

हो जाती है। तीसरी से पृथ्वी में स्निग्धता आती है। चौथी से २४ प्रकार के धान्यों के तथा अन्यान्य वनस्पतियों के अंकुर भूमि से निकल पड़ते हैं और पांचवीं से वनस्पति में मधुर, कटुक, तीक्ष्ण, कषैले और अम्लरस की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति की यह निराली लीला देख कर बिलों के निवासी जीव बिलों से बाहिर निकलते हैं, वे पृथ्वी को सरस, सुन्दर और रमणीय देख कर फूले नहीं समाते। एक दूसरे को बुला कर परस्पर हर्षोत्सव मनाते हैं। पत्र, पुष्प, फल आदि से शोभित वनस्पतियों से अपना निर्वाह होते देख वे मिल कर प्रतिज्ञा करते हैं कि आज से हम लोग मांसाहार नहीं करेंगे, आज से हमारे लिए मांसाहारी की छाया भी त्याज्य होगी।

पांच प्रकार की वर्षा बरसाने वाले क्रमशः पुष्कर, क्षीर, घृत, अमृत और रस ये पञ्चविध मेघ हैं। प्रत्येक मेघ सप्ताह भर वर्षा करता है। पुष्कर और अमृत मेघ के वर्षा कर देने के अनन्तर सात-सात दिन तक वर्षा बन्द रहती है। इस प्रकार पांच सप्ताह वर्षा के और दो सप्ताह बिना वर्षा के इन समस्त दिनों को मिला कर ७×५=३५+१४ ४९ दिन होते हैं। ५०वें दिन सभी बिल निवासियों ने प्रतिज्ञा की थी और यह दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से लेकर भाद्रपद शुक्ला पंचमी को आता है। व्यवहार में उस ही दिन सम्वत्सर का आरंभ होने से ५०वें दिन संवत्सरी महापर्व मनाया जाता है। सम्वत्सरी पर्व के सम्बंध में पृष्ठ ८२५ पर प्रकाश डाला जा चुका है।

उत्सर्पिणी-कालीन द्वितीय आरे में पूर्वापेक्षया मनुष्यों तथा अन्य पदार्थों के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श आदि की उत्तमता में उन्नति होती चली जाती है। इस आरे के जीव मर कर अपने-अपने कर्मों के अनुसार चारों गतियों में उत्पन्न होंगे, किन्तु सिद्ध पद कोई

प्राप्त नहीं करेगा।

दुषम-सुषमा—यह आरा ४२ हज़ार वर्ष कम, एक कोटा-कोटि सागरोपम का होता है। इस की सब स्थिति अवसर्पिणी-कालीन चौथे आरे के समान जाननी चाहिए। इसके तीन वर्ष और ८½ मास व्यतीत होने के वाद प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है। पहले कहने के अनुसार इस आरे में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ वलदेव होंगे। पुद्गल की वर्ण, रस आदि पर्यायों में वृद्धि होगी।

सुषम-दुषमा—यह आरा दो कोटाकोटि सागरोपम का शुभ होगा, और सारी वातें अवसर्पिणी के तीसरे आरे के समान होंगी। इसके भी तीन भाग होंगे, किन्तु क्रम उल्टा होगा। अवसर्पिणी के तीसरे भाग के समान इस आरे का प्रथम भाग होगा। इस आरे में श्री ऋषभदेव के समान चौवीसवें तीर्थंकर होंगे। १२ वां चक्रवर्ती होगा, करोड़ पूर्व का समय हो जाने के वाद कल्पवृक्षों की उत्पत्ति होने लगती है। उन्हीं से मनुष्यों और पशुओं की इच्छाएं पूर्ण होंगी। तव असि, मसि और कृषि के धन्धे समाप्त होंगे और युगधर्म चालू होगा। इस प्रकार चतुर्थ आरे में सब मनुष्य अकर्म-भूमि वन जाएंगे।

सुषमा—तीन कोटाकोटि सागरोपम का यह पांचवाँ आरा है। इस का समस्त वृत्तान्त अवसर्पिणी काल के दूसरे आरे के समान है। वर्ण, रस, गन्ध आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाएगी।

सुषम-सुषमा—यह आरा चार कोटा-कोटि सागरोपम का है। इस का विवरण अवसर्पिणी कालीन प्रथम आरे के समान जान लेना चाहिए।

इस प्रकार दस कोटाकोटि सागरोपम का अवसर्पिणी काल

और दस कोटाकोटि सागरोपम का उत्सर्पिणी-काल है। दोनों को मिला कर वीस कोटाकोटि सागरोपम का एक कालचक्र कहलाता है।

ऊर्ध्वलोक—

मेरुपर्वत के समतल से ९ सौ योजन नीचे और ९ सौ योजन ऊपर, कुल १८ सौ योजन में मध्यलोक है। इस में सर्वोच्च शनैश्चर का विमान है। शनैश्चर के विमान की ध्वजा से ऊर्ध्व-लोक का आरंभ होता है। यहां से १½ राजू ऊपर प्रथम सौधर्म तथा ईशान देवलोक है। जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिण-दिशा में सौधर्म और उत्तर-दिशा में दूसरा देवलोक है। पहले देवलोक के स्वामी का नाम शक्रेन्द्र महाराज है और दूसरे देवलोक के स्वामी ईशानेन्द्र हैं।

उक्त दोनों देवलोकों की सीमा के ऊपर तीसरा देवलोक सनत्कुमार और चौथा माहेन्द्र देवलोक है। मेरुपर्वत से दक्षिण-दिशा में सनत्कुमार और उत्तर-दिशा में माहेन्द्र है। इन दोनों देवलोकों की सीमा से आधा राजू ऊपर मेरुपर्वत पर बराबर मध्य में पांचवां ब्रह्मलोक नाम का देवलोक है। इसी देवलोक की चारों दिशाओं और विदिशाओं में ९ लोकान्तिक जाति के देवता रहते हैं। ये देवता सम्यग्दृष्टि हैं और ये विषयरति से रहित होने के कारण देवर्षि कहलाते हैं, तथा आपस में छोटे, बड़े न होने के कारण सभी स्वतन्त्र हैं और जो तीर्थंकरों की दीक्षा के अवसर पर "बुज्झह-बुज्झह" कह कर प्रतिबोध करने का अपना आचार पालन करते हैं, लोक के किनारे पर रहने के कारण इन्हें लोकान्तिक कहा जाता है।

ब्रह्मलोक देवलोक के ऊपर समश्रेणी में क्रम से लान्तक, महा-शुक्र और सहस्रार देवलोक हैं। ये तीनों देवलोक एक दूसरे के ऊपर हैं। इनके ऊपर सौधर्म और ऐशान की भांति आनत और प्राणत ये दो देवलोक हैं। इनके ऊपर समश्रेणि में सनत्कुमार और माहेन्द्र की तरह आरण, अच्युत देवलोक हैं। इन देवलोकों के ऊपर

क्रम से नव-विमान ऊपर-ऊपर हैं। जो पुरुषाकृति लोक के ग्रीवा-स्थानीय भाग में होने के कारण ग्रैवेयक कहलाते हैं। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पांच विमान ऊपर-ऊपर हैं। ये सब से उत्तर-प्रधान होने के कारण अनुत्तर विमान कहलाते हैं।

सौधर्म से अच्युत तक के देवता कल्पोपपन्न और इनके ऊपर के सभी देव कल्पातीत कहलाते हैं। कल्पोपपन्न में स्वामी, सेवक भाव है, पर कल्पातीत में नहीं है। वे तो सभी इन्द्र के समान होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। मनुष्यलोक में किसी निमित्त से जाना हो तो कल्पोपपन्न देव ही आते-जाते हैं। कल्पातीत देव अपने स्थान को छोड़ कर कहीं नहीं जाते।

पहले-दूसरे देवलोक के देवता मनुष्यों की तरह काम-भोग का सेवन करते हैं। तीसरे और चौथे देवलोक के देवता देवी के स्पर्शमात्र से भली प्रकार तृप्त हो जाते हैं। पाँचवे, छठे देवलोक के देव, देवियों के सुसज्जित रूप को देखकर ही विषय-सुख-जन्य सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। सातवें, आठवें स्वर्ग के देवों की कामवासना देवियों के विविध शब्द मात्र सुनने से शान्त हो जाती है और उन्हें विषय-सुख के अनुभव का आनन्द मिल जाता है। नववें, दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें, इन चार स्वर्गों के देवों की वैषयिक तृप्ति केवल देवियों के चिन्तन मात्र से हो जाती है। इस तृप्ति के लिए उन्हें देवियों के न स्पर्श की, न रूप देखने की और न उन के गीत सुनने की अपेक्षा रहती है।

देवियों की उत्पत्ति दूसरे देवलोक तक होती है, इस से ऊपर नहीं। पहले और दूसरे देवलोक की देवियां जब तीसरे, चौथे आदि ऊपर के स्वर्ग में रहने वाले देवों को विषय-सुख के लिए उत्सुक और इस कारण अपनी ओर आदरशील जानती हैं, तभी वे ऊपर के देवों के

पास पहुंच जाती हैं, वहां पहुंचते ही उनके हस्त आदि के स्पर्श मात्र से तीसरे, चौथे स्वर्ग के देवों की काम-तृप्ति हो जाती है। उनके शृंगार-सज्जित मनोहर रूप को देखने मात्र से पांचवें और छठे स्वर्ग के देवों की लालसा पूर्ण हो जाती है। इसी तरह उनके सुन्दर संगीत-मय शब्द को सुनने मात्र से सातवें और आठवें स्वर्ग के देव वैषयिक आनन्द का अनुभव कर लेते हैं। देवियों की पहुंच सिर्फ आठवें स्वर्ग तक ही है, इसके ऊपर नहीं। नववें से बारहवें तक स्वर्ग के देवों की काम-सुख-तृप्ति केवल देवियों के चिन्तन मात्र से ही हो जाती है। बारहवें स्वर्ग से ऊपर जो देव हैं, वे शान्त और काम-लालसा से रहित हो जाते हैं। इसलिए उनको देवियों के स्पर्श, रूप, शब्द या चिंतन द्वारा कामसुख भोगने की अपेक्षा नहीं रहती, फिर भी वे अन्य देवों से अधिक संतुष्ट और अधिक सुखी होते हैं। कारण स्पष्ट है, और वह यह है कि ज्यों-ज्यों कामवासना की प्रबलता होती है, त्यों-त्यों चित्त-संक्लेश अधिक होता है, ज्यों-ज्यों चित्तसंक्लेश अधिक होता है त्यों-त्यों उसको मिटाने के लिए विषयभोग अधिक सेवन किए जाते हैं। दूसरे स्वर्ग तक के देवों की अपेक्षा तीसरे और चौथे के देवों की, और उनकी अपेक्षा पांचवें और छठे के देवों की, इस तरह ऊपर-ऊपर के स्वर्ग के देवों की कामवासना मंद होती है, इसलिए उनके चित्तसंक्लेश की मात्रा भी कम होती जाती है।इसीलिए उनके कामभोग के साधन भी अल्प होते हैं। बारहवें स्वर्ग के ऊपर वाले देवों की काम-वासना शान्त होती है, इस कारण उन्हें स्पर्श, रूप, शब्द, चिन्तन आदि में से किसी भी भोग की इच्छा नहीं होती। वे सन्तोष-जन्य परमसुख में सदा निमग्न रहते हैं। यही कारण है कि नीचे-नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवों का सुख अधिकाधिक माना गया है।

जैसे यहां राजा के यहां उमराव, पुरोहित, अंगरक्षक आदि लोग रहते हैं, वैसे देवलोक में इन्द्रों के यहां भी देव होते हैं, उनके

सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये भेद हैं। जो आयु में इन्द्र के के समान हों, अमात्य, पिता, गुरु आदि की भांति पूज्य हों, जिनमें केवल इन्द्रत्व नहीं होता, शेष सब इन्द्र-वैभव होता है, ऐसे इन्द्र-समान देव सामानिक कहलाते हैं। जो देव पुरोहित का काम करते हैं वे त्रायस्त्रिंश, जो मित्रों का काम करते हैं वे पारिषद्य, जो शस्त्र उठाए हुए आत्मरक्षक के रूप में पीठ की ओर खड़े रहते हैं वे आत्मरक्षक देव हैं। लोकपाल वे हैं जो सरहद की रक्षा करते हैं। जो देव सैनिक रूप में हैं, तथा अश्व, गज, रथ, बैल आदि का रूप बनाकर जो सैनिक रूप से इन्द्र के काम आते है, वे देव अनीक कहलाते हैं। जो नगर-निवासी और देशवासी के समान हैं वे प्रकीर्णक, जो दासतुल्य हैं वे आभियोग्य-सेवक, और जो अन्त्यज के समान हैं, उनको किल्विषिक कहते हैं।

देवों की उत्पत्ति उत्पादशय्या में होती है।यह देव-दूष्य (देववस्त्र) से ढकी रहती है। धर्मात्मा और पुण्यात्मा जीव जब इसमें उत्पन्न होते हैं तो वह अङ्गारों पर डाली हुई रोटी के समान फूल जाती है। तब पास में रहे हुए देव तथा उस के अधीन देव हर्षोत्सव मनाते हैं, जय-जयकार ध्वनि से विमान को गूंजा देते हैं। अन्तर्मुहूर्त्त के बाद उत्पन्न हुआ देव तरुण वय वाले मनुष्य की भांति शरीर बना कर, देव-दूष्य-देववस्त्रों से शरीर को आच्छादित करके बैठ जाता है। तब पास में खड़े देव इससे प्रश्न करते हैं—आपने क्या करनी की थी जो आप हमारे नाथ बने? तब वह देव देवयोनि के स्वभाव से प्राप्त हुए अवधि ज्ञान से अपने पूर्व-जन्म पर विचार करता है, और यहां के मित्र आदि का विचार आते ही यहाँ आना चाहता है तो वे देव कहते हैं—वहां जाकर यहाँ का क्या हाल सुनाओगे? पहले दो घड़ी यहाँ के नाटक तो देख लो। तब उसे ३२ प्रकार के नाटक दिखलाए

जाते हैं। इन नाटकों में यहाँ के २००० वर्ष पूरे हो जाते हैं। वह देव वहां के सुखों में लुब्ध हो जाता है, और वहीं भोगोपभोगों में रमण करता रहता है।

सर्वार्थसिद्ध नामक विमान के मध्य छत में, एक चन्दोवा २५६ मोतियों का होता है। उन सबके बीच का एक मोती ६४ मन का होता है। उसके चारों तर्फ चार मोती ३२-३२ मन के हैं। इनके पास आठ मोती १६-१६ मन के हैं। इनके पास १६ मोती आठ-आठ मन के हैं। इनके पास बत्तीस मोती चार-चार मन के हैं। इनके पास ६४ मोती दो-दो मन के हैं और इन के पास १२८ मोती एक-एक मन के हैं। ये मोती हवा से आपस में टकराते हैं तो उनमें से छः राग और छत्तीस रागनियां निकलती हैं। सर्वार्थसिद्ध के देव एक ही भव करके अर्थात् मनुष्य हो कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। यहां के देव सर्वाधिक सुख के भोक्ता होते हैं।

जिस देव की जितने सागरोपम की आयु होती है, वह उतने ही पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेता है और उतने ही हज़ार वर्ष में उसे आहार करने की इच्छा पैदा होती है। जैसे सर्वार्थसिद्ध के विमान की देव की आयु ३३ सागरोपम होती है, तो वह तेतीस पक्ष में (१६½ महीनों में) एक वार श्वासोच्छ्वास लेते हैं, और तेतीस हज़ार वर्षों के बाद आहार ग्रहण करते हैं। देव कवलाहार नहीं करते, रोमाहार करते हैं। जब इन्हें आहार की इच्छा होती है तो रत्नों के शुभ पुद्गलों को रोमों द्वारा खींच लेते हैं।

नीचे-नीचे के देवों से ऊपर-ऊपर के देव सात बातों में अधिक होते हैं—स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिविषय। स्थिति को लेकर ऊपर के देवों की जो अधिकता है, सर्वप्रथम इस को समझ लीजिए—

पहले देवलोक में जघन्य स्थिति एक पल्योपम की, उत्कृष्ट दो सागरोपम की

दूसरे ,, ,, कुछ अधिक एक ,, ,, कुछ अधिक दो ,,

तीसरे ,, ,, दो सागरोपम की, ,, सात सागरोपम की

चौथे ,, ,, कुछ अधिक दो ,, ,, कुछ अधिक सात ,,

पांचवें ,, ,, ,, ,, सात ,, ,, दस सागरोपम की

छठे ,, ,, ,, ,, दस ,, ,, १४ ,, ,,

सातवें ,, ,, ,, ,, १४ ,, ,, १७ ,, ,,

आठवें ,, ,, ,, ,, १७ ,, ,, १८ ,, ,,

नववें ,, ,, ,, ,, १८ ,, ,, २० ,, ,,

दसवें ,, ,, ,, ,, १८ ,, ,, २० ,, ,,

ग्यारहवें ,, ,, ,, २० ,, ,, २२ ,, ,,

बारहवें ,, ,, ,, २० ,, ,, २२ ,, ,,

नव ग्रैवेयकों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति निम्नोक्त है —

ग्रैवेयक	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
१	२२ सागरोपम	२३ सागरोपम
२	२३ सागरोपम	२४ सागरोपम
३	२४ ,,	२५ ,,
४	२५ ,,	२६ ,,
५	२६ ,,	२७ ,,
६	२७ ,,	२८ ,,
७	२८ ,,	२९ ,,
८	२९ ,,	३० ,,
९	३० ,,	३१ ,,

२२वें देवलोक से लेकर २५वें देवलोक तक के देवों की जघन्य आयु ३१ सागरोपम और उत्कृष्ट आयु ३२ सागरोपम* है।

*तत्त्वार्थसूत्र के मतानुसार

और सर्वार्थ सिद्ध विमान के देव की आयु ३३ सागरोपम है। यहां जघन्य और उत्कृष्ट भेद नहीं है।

प्रभाव—

निग्रह, अनुग्रह करने का सामर्थ्य, अणिमा महिमा आदि सिद्धि का सामर्थ्य और आक्रमण करके दूसरे से काम करवाने का बल, यह सब बातें प्रभाव के अन्तर्गत हैं। ऐसा प्रभाव यद्यपि ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होता है, तथापि उन में उत्तरोत्तर अभिमान व संक्लेश कम होने से वे अपने प्रभाव का उपयोग कम ही करते हैं।

सुख और द्युति—

इन्द्रियों के द्वारा उन के ग्राह्यविषयों का अनुभव करना सुख कहा जाता है। शरीर, वस्त्र और आभरण आदि की दीप्ति ही द्युति है। सुख और द्युति ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होने के कारण उत्तरोत्तर क्षेत्र स्वभाव जन्य शुभ पुद्गल परिणाम की प्रकृष्टता ही है।

*लेश्या की विशुद्धि—

पहले दो स्वर्गों के देवों में पीत अर्थात् तेजो लेश्या होती है। तीसरे से पांचवें स्वर्ग तक के देवों में पद्मलेश्या और छठे से सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त के देवों में शुक्ललेश्या होती है। यह नियम शरीरवर्णरूप द्रव्य लेश्या का है, क्योंकि अध्यवसायरूप भावलेश्या तो सब देवों में छहों पाई जाती हैं। भाव यह है कि ऊपर के देवों की लेश्या संक्लेश

---

* लेश्या (परिणाम की धारा) छः होती हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म, और शुक्ल। कृष्ण लेश्या वाला पांच आश्रवों का सेवन स्वयं करता है, दूसरों से कराता है, तीव्र परिणामों द्वारा छःकाया का आरंभ करता है, हिंसा आदि पापों में सदा प्रसन्न रहता है। नीललेश्या वाला ईर्ष्यालु होता है। दूसरों के गुणों को सहन

की कमी होने के कारण उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर ही होती है।

इन्द्रिविषय–

दूर से इष्ट विषयों को ग्रहण करने का जो इन्द्रियों का सामर्थ्य है, वह भी उत्तारोत्तार गुण की वृद्धि और संक्लेश की न्यूनता के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक अधिक है।

* अवधिज्ञान का विषय–

अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी ऊपर-ऊपर के देवों में ज़्यादा ही होता है। पहले दूसरे स्वर्ग के देव अधोभाग में रत्नप्रभा तक, तिरछे भाग में असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वभाग में अपने-अपने विमान की ध्वजा तक अवधिज्ञान से जानने का सामर्थ्य रखते हैं। तीसरे, चौथे स्वर्ग के देव अधोभाग में शर्करा प्रभा तक, तिरछे भाग असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वभाग में अपने-अपने विमान की ध्वजा तक अवधिज्ञान से देख सकते हैं। जिन देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र समान होता है, उन में भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देव

नहीं करता, स्वयं तप नहीं करता। न दूसरों को करने देता है। नित्यकपटी, लज्जा-रहित, रसगृद्ध और महान आलसी होता है। कापोतलेश्यावाला बांका बोलता है, चलता है, स्व-दोषों को ढकता है, दूसरे के दोषों को प्रकट करता है। चौर्य आदि दूषणों का कन्द्र होता है। तेजो-लेश्या वाला-न्यायी स्थिरस्वभाव, सरल, कुतूहल-रहित, दान्त, पापभीरु, धर्मी और प्रियधर्मी होता है। पद्मलेश्या वाला सदा उपशान्त रहता है, मन, वाणी और काया को वश में रखता है। शुक्ल-लेश्या वाला आर्त और रौद्र ध्यान से अलग होकर धर्म और शुक्ल ध्यान में मग्न रहता है। दान्त, सरागसंयमी या वीतरागी होता है।

* इन्द्रियों और मन की सहायता लिए विना ही केवल आत्मा की शक्ति से रूपी पदार्थों का मर्यादा-पूर्वक जो ज्ञान ग्रहण किया जाता है, उसे अवधि-ज्ञान कहते हैं।

विशुद्धतर ज्ञान का सामर्थ्य रखते हैं।

चार बातें ऐसी हैं जो नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवों में कम-कम पाई जाती है। गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान। गमन क्रिया की शक्ति और गमन क्रिया में प्रवृत्ति ये दोनों ऊपर-ऊपर के देवों में कम पाई जाती है। क्योंकि ऊपर-ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर महानुभावता और उदासीनता अधिक होने के कारण देशान्तर विषयक क्रीडा करने की रति कम-कम होती जाती है। सानत्कुमार आदि के देव जिन की जघन्य स्थिति दो सागरोपम की होती है, वे अधोभाग में सातवें नरक तक और तिरछे असंख्यात हजार कोडा-कोड़ी योजन पर्यन्त जाने का सामर्थ्य रखते हैं। इसके बाद जघन्य स्थिति वाले देवों का गति-सामर्थ्य घटते-घटते यहां तक घट जाता है कि ऊपर के देव अधिक से अधिक तीसरे नरक तक ही जाने का सामर्थ्य रखते हैं। शक्ति चाहे अधिक हो, पर कोई देव अधो-भाग में तीसरे नरक से आगे न गया है और न जायेगा।

शरीर का परिमाण पहले, दूसरे स्वर्ग में सात हाथ का, चौथे स्वर्ग में छः हाथ का, पांचवें, छठे स्वर्ग में पांच हाथ का, सातवें और आठवें में चार हाथ का, नववें से बारहवें स्वर्ग तक में तीन-तीन हाथ का, ग्रैवेयक में दो हाथका, और अनुत्तरविमान में एक हाथ का है।

पहले स्वर्ग में ३२ लाख विमान, दूसरे में २८ लाख, तीसरे में १२ लाख, चौथे में आठ लाख, पांचवें में चार लाख, छठे में पचास हजार, सातवें में ४० हजार, आठवें से ६ हजार, नववें से, १२वें तक सात सौ, सात सौ, अधोवर्ती तीन ग्रैवेयक में १११, मध्यम तीन ग्रैवेयक में १०७, ऊर्ध्व तीन ग्रैवेयक में १०० और अनुत्तर में सिर्फ पांच ही विमान का परिग्रह है।

अभिमान अहंकार को कहते हैं। स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति, स्थिति आदि में अभिमान पैदा होता है। ऐसा

अभिमान कषाय की कमी के कारण ऊपर ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम ही होता है।

प्रश्न—जैनागमों में स्वर्ग और नरक का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है, जैनाचार्यों ने स्वर्ग और नरक के विवेचन को इतना महत्त्व क्यों दिया है?

उत्तर—यह सत्य है कि जैनागमों का अधिक भाग स्वर्ग और नरक के वर्णक पाठों से भरा पड़ा है और यह भी सत्य है कि आज के शिक्षित व्यक्ति को स्वर्ग और नरक सम्बन्धी वर्णन से प्रायः चिढ़ सी है, तथा वह इसे कल्पना समझता है, उसके विचार में स्वर्ग-सम्बन्धी ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है। तथापि जैनाचार्यों ने स्वर्ग-नरक सम्बन्धी वर्णन को महत्त्व किया है, इसके पीछे एक रहस्य है और वह निम्नोक्त है—

यदि हम आत्मतत्त्व की सत्ता को स्वीकार करते हैं तो हमें स्वर्ग और नरक भी स्वीकार करने होंगे। जो व्यक्ति आत्मतत्त्व में विश्वास नहीं रखता उस के लिए स्वर्ग नरक कल्पना मात्र है, किन्तु आत्मतत्त्व में विश्वास रखने वाला व्यक्ति स्वर्ग नरक का कैसे विरोध कर सकता है? क्योंकि स्वर्ग-नरक भी हमारे भूमण्डल के विशिष्ट अंग हैं। ऐसी दशा में सर्वज्ञ सर्व-दर्शी जगत का अधिकांश भाग विना वर्णन किए कैसे छोड़ सकते थे? नरक-स्वर्ग-सम्बन्धी वर्णन निकाल देने पर कर्मवाद, आत्मवाद, मुक्ति आदि सभी सिद्धान्त समाप्त हो जाते हैं, और जैन धर्म का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। अतः आत्मवादी जैनाचार्यों के लिए स्वर्ग-नरक का वर्णन करना अत्यावश्यक था।

सिद्धशिला—

सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊपर ४५ लाख योजन की

लम्बी चौड़ी गोलाकार सिद्ध-शिला है। वह मध्य में आठ योजन मोटी और चारों तर्फ क्रम से घटती-घटती किनारे पर मक्खी के पंख से भी अधिक पतली हो जाती है। इस सिद्धशिला के एक योजन ऊपर अग्रभाग में ४५ लाख योजन लम्बे-चौड़े और ३३३ धनुप और ३२ अंगुल जितने ऊंचे क्षेत्र में अनन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं। यहीं लोक का अन्त हो जाता है। लोक के चारों ओर अनन्त और असीम अलोकाकाश में आकाश द्रव्य के अलावा और कोई द्रव्य नहीं होता। खाली आकाश ही आकाश है।

इस प्रकार सारा विश्व तीन भागों में विभक्त है। सब से नीचे नरक हैं और सबसे ऊपर सिद्धशिला है। जैनदर्शन ने भूमण्डल, आकाशमण्डल का जो स्वरूप बतलाया है, उसका यह संक्षिप्त सा वर्णन है।

प्रश्न—जैनदर्शन द्वारा मान्य भूगोल और खगोल का आधुनिक भूसिद्धान्त और खसिद्धान्त का मेल नहीं खाता, इस का क्या कारण है?

उत्तर—भूमण्डल और आकाशमण्डल के सम्बन्ध में जैनदर्शन ने जो तथ्य साहित्य-जगत के सामने ऊपर स्थित किए हैं, वे सर्वथा सत्य हैं, उन्हें किसी भी तरह झुठलाया नहीं जा सकता है। भूगोल के विषय में यद्यपि आधुनिक प्रचलित भूगोल और भूभ्रमण के सिद्धान्त जैनदर्शन के भूसम्बन्धी सिद्धान्तों से विरोध रखते हैं किन्तु यह विरोध चिरस्थायी नहीं है, सदा ठहरने वाला प्रतीत नहीं होता। वह घड़ी बहुत शीघ्र आने वाली प्रतीत होती है जब जैनदर्शन का भूसम्बन्धी और खसम्बन्धी सिद्धान्त सर्वमान्य होगा तथा आधुनिक भूवेत्ताओं के सिद्धान्त उलट-पुलट हो जाएंगे। इसका कारण इतना ही है कि भूगोल के विषय में यूरोपीय विद्वानों के सिद्धान्त अभी स्थिर नहीं हो

सके हैं। भूगोल को लेकर उनमें अब भी अनेकों मत-भेद हैं। इस मत-भेद के अनेकों उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। कोई विद्वान यदि सूर्य को स्थिर मानता है तो कोई उसी सूर्य को "लिए" नामक तारे की ओर प्रति घण्टा वीस हज़ार मील दौड़ता हुआ लिखता है। कोई सूर्य को पृथ्वी से तेरह लाख गुना और कोई पन्द्रह लाख गुना वतलाता है। अभी कुछ वर्ष पहले उत्तरी ध्रुव का पता लगाने वाले कैनेडा के एक विद्वान ने यह पता लगाया है कि वर्तमान भूगोल में उत्तरी ध्रुव में जो १३ मील का एक गढ़ाह माना जाता है। वह ग़लत है, वहां पर उसे चौरस पृथ्वी मिली है। कोई विद्वान् कहता है कि पृथ्वी थाली के समान गोल और स्थिर है, नारंगी के समान नहीं है और घूमती नहीं है। कोई कहता है कि सूर्य एक नहीं है, अनेक हैं। आदि प्रमाणों से यह भली भांति प्रमाणित हो जाता है कि वर्तमान भूगोल और भूभ्रमण का सिद्धान्त अभी निश्चित और असंदिग्ध नहीं है। सिद्धान्त निश्चित वही होता है जो सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहे, कभी हिले-चले नहीं, परिवर्तित न हो। आधुनिक भूमण्डल और आकाशमण्डल सम्बन्धी सिद्धान्त अभी स्थिर नहीं कहे जा सकते हैं। अभी तो पाश्चात्य विद्वान स्वयं ही इसका अन्वेषण समाप्त नहीं कर पाए हैं। ऐसी अवस्था में जैनदर्शन के भूसिद्धान्त को असत्य या अपूर्ण कैसे कहा जा सकता है ?

जैनसिद्धान्त की ऐसी अनेकों मान्यताएं मिलती हैं, जो पूर्व स्वीकार नहीं की जाती थीं, किन्तु अब उन्हें सहर्ष स्वीकार किया जा रहा है। जैनसिद्धान्त सदा से वनस्पति में जीवसत्ता स्वीकार करता आया है, किन्तु जन-साधारण इस को सत्य मानने को तैयार नहीं था, और इस मान्यता को कपोल-कल्पित कहता था, किन्तु आज विज्ञान ने इसे प्रमाणित कर दिया है। ऐसे विज्ञान जव उन्नति और विकास के महामन्दिर तक चरण रखेगा तो संभव है कि वह

जैनदर्शन द्वारा मान्य भूगोल और खगोल के सिद्धान्त भी स्वीकार कर ले।

श्री मदन कुमार मेहता द्वारा हिन्दी में अनुवादित भगवती-सूत्र की प्रस्तावना के पृष्ठ १५ से लेकर पृष्ठ २६ तक श्री मोहनलाल जी बांठिया ने विज्ञान स्वीकृत जैन सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डाला है। जिज्ञासुओं को वह स्थल अवश्य देख लेना चाहिए।

इसके अलावा, एक बात और विचारणीय है कि कोलम्बस से पहले अमेरिका अज्ञात अवस्था में ही था, कोलम्बस का जहाज यदि अकस्मात अमेरीका न पहुंचता तो उसका किसी को पता ही न लगता, ऐसे ही न जाने आज भी कितने अमेरीका अज्ञात पड़े हैं? जैन दृष्टि से वर्तमान में उपलब्ध देशों की संख्या बहुत अल्प है, समय ने यदि कोलम्बस जैसे अन्वेषक और पैदा कर दिए तो संभव है उन का पता मिल जाए।

पृष्ठ ८१५ से ९४४ तक जैन प्रिंटिंग प्रैस अम्बाला शहर में छपी